ॐ

❀ श्रीमद्भगवद्गीता ❀

शांकरभाष्य हिन्दी-अनुवाद-सहित

मूल श्लोक, भाष्य, भाष्यार्थ, टिप्पणी तथा श्लोकोंके पदोंकी अकारादिक्रम सूचीसहित

अनुवादक

श्रीहरिकृष्णदास गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८८ से संवत् २००१ तक १८,२५०
सं० २००८ सप्तम संस्करण १०,०००
सं० २०१० अष्टम संस्करण १०,०००
कुल ३८,२५०

मूल्य २॥।) दो रुपया बारह आना मात्र

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वृन्दावन-विहारी

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

भूमिका

श्रीमद्भगवद्गीता संसारके अनेकानेक धर्मग्रन्थोमे एक विशेष स्थान रखती है। श्रीकृष्णभगवान् स्वयं इसके वक्ता है और उनका कहना है *'गीता मे हृदयं पार्थ ।'* अतएव गीता सनातनधर्मावलम्बियोके हृदयकी राजेश्वरी हो, इसमे कोई आश्चर्य नहीं । साथ ही अन्य धर्मावलम्बियो एवं देश-देशान्तर-वासियोद्वारा भी यह अति प्रशंसित है। इसका दिव्य सन्देश किसी जाति वा देशविशेषके ही लिये उपादेय नहीं इसका अमूल्य उपदेश सार्वभौम है । अपनी-अपनी भावनाके अनुसार असंख्य मनुष्योने गीताके उपदेशोका अनुसरण कर संसारयात्राको सुखपूर्वक पूरा किया है, उसके दृढ़ आलम्बनसे वे केवल भवसागर ही पार नहीं उतरे, अपने और मनोरथोंकी भी सिद्धि कर सके है। गीता सर्वशास्त्रमयी है । समस्त शास्त्रोका मथन कर अमृतमयी गीताका आविर्भाव हुआ है। सर्वसिद्धान्तोका जैसा सुन्दर और युक्तियुक्त समन्वय गीतामे मिलता है वैसा अन्य किसी ग्रन्थमे कदाचित् ही उपलब्ध हो।

मतमतान्तरोके वाद्विवाद, परम नि.श्रेयसकी प्राप्तिके नाना मार्गोंकी बदाबदीका कोलाहल गीताके गम्भीर उपदेशमे शान्त होकर परस्पर सहायक हो जाता है । गीतामे नाना सिद्धान्तोका एकीकरण ऐसी सुन्दरतासे किया गया है कि तत्त्व-जिज्ञासुको समस्त पथ एक ही राजमार्गकी ओर प्रवृत्त करते है। अधिकार और भावनाके अनुरूप ही साधनका आदेश मिल जाता है। एक और भी विशेषता इस ग्रन्थरत्नमे देखनेको मिलती है। मनुष्यके लिये उच्चतम आदर्शका निश्चय किया गया है और साथ ही उसको प्राप्त करनेके लिये सुलभ-से-सुलभ साधन भी बताये गये है। यही कारण है कि इस सात सौ श्लोककी छोटी-सी गीताको कामधेनु और कल्पवृक्षकी उपमा दी जाती है। महात्माओने इसपर भाष्य रचकर आचार्यकी पदवी पायी। अनेक टीकाकारोने अपनी बुद्धिको इस कसौटीपर कस पण्डित और ज्ञानीकी दुर्लभ ख्याति पायी और ज्ञानचक्षु प्रदानकर इसके तत्त्वानुसन्धानमे साधारण गतिके लोगोको इसका मर्म हृदयङ्गम करनेमे सहायता प्रदान की। विद्याका परमलाभ गीताके रहस्यको समझना ही माना गया है।

आचार्योंने अपने-अपने सिद्धान्तोकी प्रामाणिकता स्थापन करनेमे गीताको एक मुख्य आधार माना है । गीतापर भाष्य रच अपने सिद्धान्तोको गीता-सम्मत बताना ही उनका लक्ष्य रहा है। गीता-विरोधी किसी धर्म वा सम्प्रदायका प्रचार वे असम्भव समझते और जिस धर्म, आचार वा सिद्धान्तको ब्रह्मरूपा गीतासे सिद्ध कर दिया, वह अवश्य ही सर्वशास्त्र और वेद-सम्मत मान लिया जाता है।

सम्प्रदाय, जाति और देशकी भिन्नताका निराकरण करनेवाला गीता एक सार्वभौम सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थ-रत्न है । उसके उपदेश और निर्दिष्ट साधनोंने मानव-जातिके लिये एक महान् धर्मकी नींव डाली है, उसके प्रचारसे प्राणिमात्रका कल्याण सम्भव है । हृदय-दौर्बल्यपर विजयी होकर गीतोक्त उपदेशसे मनुष्य कर्मरत हो सकता है। वह भक्तिरसामृतका आस्वादन करता हुआ ज्ञानी बन सकता है । ऐहिक और पारमार्थिक दोनो ही सुखोकी प्राप्ति उसे अल्प प्रयाससे ही उपलब्ध होनेमे कोई सन्देह नहीं रहता । आधुनिक कालमे जो अनेकानेक जटिल प्रश्न नित्यप्रति समाज और व्यक्तिके समक्ष उपस्थित होते रहते है और बुद्धिको चकरा देते है, उनके सुलझानेके लिये भी गीतामे

पर्याप्त सामग्री विद्यमान है । परन्तु खेद तो यह है कि ऐसे अवसरोंपर गीतासे पूर्ण सहायता नहीं ली जाती । इस त्रुटिकी पूर्तिके लिये गीता-प्रचार ही एकमात्र उपाय है ।

गीताके अध्ययन, श्रवण आदिसे जो लाभ होना है उसको भगवान्‌ने स्वयं अर्जुनके प्रति अपने उपदेशकी समाप्तिमे कहा है; फिर गीता-प्रचारसे अधिक भगवत्प्रीत्यर्थ और कौन कार्य मनुष्यसे बन सकता है । भगवदाज्ञाको यथाशक्ति पालन करने और उन्हींके कल्याणकारी उपदेशोंके प्रचारकी प्रेरणासे गीताका यह संस्करण प्रकाशित हुआ है । शांकरभाष्यका छपा हुआ मूल तो सुलभ प्राप्त है परन्तु मूलके साथ ही सरल हिन्दी-अनुवाद नहीं मिलता । नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊसे प्रकाशित 'नवल-भाष्य' मे कई संस्कृत भाष्य और टीकाएँ प्रकाशित हुई थीं; परन्तु वह हिन्दी-अनुवाद स्वतन्त्र था । तिसपर भी वह ग्रन्थ अप्राप्य है और मूल्य अत्यधिक होनेसे सुलभ नहीं । दूसरा ग्रन्थ जिसमे अद्वैत-सिद्धान्तकी टीकाएँ शांकरभाष्यके साथ छपी थीं वह कान्यकुब्ज श्रीजगन्नाथ शुक्लद्वारा सम्पादित होकर कलकत्तेसे प्रकाशित हुआ था । संवत् १९२७ का द्वितीय संस्करण हमारे देखनेमें आया है । इसमे भी हिन्दी-अनुवाद स्वतन्त्र है । शांकरभाष्यका अनुवाद नहीं है और वह पुस्तक भी दुष्प्राप्य है । गीताका एक संस्करण उपादेय था । उसका प्रकाशन श्रीज्वालाप्रसाद भार्गवने आगरेसे किया था । इस पुस्तकका केवल उत्तरभाग हमारे पास है । लीथोकी छपी पुस्तक है, संवत् दिया नहीं है । इसमे शांकर और रामानुज-भाष्यके साथ तीन टीकाएँ भी दी हैं और भाषा-अनुवाद शंकरके आधारपर है । श्रीभार्गवजी बडे विद्वान् थे । समग्र महाभारतको मूल और अनुवादसहित उन्होंने प्रकाशित किया था और वेदोंको भी अर्थसहित छापा था । उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना हमारा धर्म है । खेद यही है कि उनके ग्रन्थ कहीं खोजनेपर भी अब नहीं मिलते । इन बातोंके उल्लेखसे केवल यही तात्पर्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थकी उपादेयता हमको स्वीकार करना अभीष्ट है । मूल और हिन्दी-अनुवाद शांकरभाष्यका इससे पहले कहीं प्रकाशित हुआ है, ऐसा नहीं जान पडता । हिन्दी-भाषा-भाषियोंका परम सौभाग्य है जो अल्प मूल्यमे ही वे इस उच्च कोटिके ग्रन्थको, जिसपर इतनी टीकाएँ हो चुकी है, अब सहजमे प्राप्त कर सकते है ।

हमारे धर्मग्रन्थोमे गीताका क्या स्थान है और अन्य ग्रन्थोसे उसका क्या सम्बन्ध है, विज्ञ सुधीजन भली प्रकार जानते है, उसका संक्षिप्त वर्णन ही पर्याप्त होगा। अखिल धर्मोंका मूल हिन्दूलोग वेदको मानते है । वेद स्वतःप्रमाण और ईश्वरकी वाणी है । वेदकी आज्ञाके अनुसार धर्म और अधर्म-कार्यका अन्तिम निर्णय होता है । ईश्वरीय ज्ञान भी हमको वेदसे ही प्राप्त होता है । अन्य धर्मग्रन्थ वेदोक्त और वेद-प्रतिपादित धर्मको सुलभ रीतिसे समझानेके लिये निर्मित हुए है । वेद ही उनका आधार है । परन्तु वेदके दो भाग है—मन्त्र और ब्राह्मण । ब्राह्मण-भागके अन्तर्गत यज्ञादि कर्मकाण्ड है और दूसरा आरण्यक वा ज्ञानकाण्ड है । इसी ज्ञानकाण्डमे उपनिषदोंकी गणना है । प्राचीन शास्त्र और विद्याओमे प्राय: एक उपनिषद्-भाग हुआ करता था जो तद्विषयक रहस्यमय ज्ञानकी शिक्षा देता था । उच्च कोटिके अधिकारी उसको गुरुमुखसे श्रवण कर प्राप्त कर सकते थे । साधारण जिज्ञासुओंको उस रहस्यमय तात्त्विक ज्ञानका अधिकारी नहीं समझा जाता था और उसकी प्राप्तिके लिये गुरुका उपदेश परमावश्यक माना जाता था ।

वेदान्त-शास्त्रमें उपनिषद्का इसी प्रकार मुख्य स्थान है। वेदोंका अन्तिम उपदेश ही वेदान्त है। कर्मकाण्डीको उपनिषद्के रहस्यमय आध्यात्मिक ज्ञानका अधिकारी बननेपर ही उपदेशसे लाभ हो सकता था। इतना ध्यान रखनेकी बात है कि गुह्यविद्या या उपदेश अनधिकारीको न देनेसे उसीका कल्याण था। स्वार्थवश गुप्त रखना सिद्धान्तानुकूल नहीं था।

वेदान्तके तीन प्रस्थान है। श्रौत-प्रस्थान उपनिषद् है जो वेदके ही अङ्ग है, दूसरा स्मार्त-प्रस्थान है जो गीता है और तीसरा प्रस्थान दार्शनिक है जो वेदव्यास-प्रणीत ब्रह्मसूत्र है। इन प्रस्थानत्रयके आधारपर समस्त वेदान्त-साहित्यकी रचना हुई है। इन्हींपर भाष्य लिखकर महात्माओ और धर्म-प्रवर्तकोने आचार्य-पदवी प्राप्त की है। देशकी यही प्रणाली थी कि प्रस्थानत्रयपर भाष्य रचकर अपने सिद्धान्तोकी पुष्टि एवं प्रचार किया जाता था। इनका समन्वय भाष्योद्वारा किये विना किसी सिद्धान्त-को वेद या धर्म-मूलक कहनेका कोई साहस नहीं कर सकता था। मतलब यह कि सिद्धान्तप्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचनाकी अपेक्षा प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखनेको अधिक महत्त्व दिया गया था और भाष्योके समन्वयसे मतकी पुष्टि की जाती थी।

गीताके अध्यायोकी समाप्तिमे 'उपनिषत्सु' शब्द आता है। भगवान्के श्रीमुखसे यह उपदेश हुआ है तो वेद और उपनिषद्का दर्जा उसे दिया गया तो कोई आश्चर्य नहीं; परन्तु वेद अपौरुषेय है और उपनिषद् श्रौत है अतएव गीता स्मार्त-प्रस्थानके ही अन्तर्गत है।

गीतापर अनेक भाष्य और टीकाएँ बनी है और अब भी उसके विवेचनमे जो साहित्य बनता जाता है, वह भी उपेक्षणीय नहीं है। परन्तु गीताका अध्ययन स्वतन्त्ररूपसे बहुत कम हुआ है। सिद्धान्त-प्रतिपादन और साम्प्रदायिक दृष्टिसे ही उसपर अधिक विचार हुआ है। उसका परिणाम यह हुआ है कि गीताका वास्तविक अर्थ कठिनतासे समझमे आता है। प्रतिभाशाली आचार्यों और टीकाकारोके मत-विभिन्नतासे साधारण बुद्धिके लोग घबड़ा जाते है। महाकवि और उसके उत्कृष्ट काव्यमे ऐसी शक्ति होती है कि समाजकी प्रगतिके साथ उसमे नये अर्थ निकाले जाते है और उसके द्वारा नवीन भावनाओकी पूर्ति होती रहती है। फिर गीता-जैसे अतुलनीय ग्रन्थमे समय-समयपर आवश्यकतानुसार अनेक आशय और अर्थ निकाले गये तो कोई नयी बात नहीं है। इससे ग्रन्थकी महिमाका परिचय मिलता है। परन्तु उसके मूल सिद्धान्तोको यथावत् निश्चयपूर्वक खोज निकालना अवश्य ही अति कठिन हो जाता है। जिस ग्रन्थने अपूर्व समन्वय किया है, वही मत-विभिन्नताके कारण परस्परविरोधी सिद्धान्तो-का समर्थक बना लिया गया है। मनुष्यको सत्यका अंश भी बुद्धिगम्य हो जाय तो वह कृतकृत्य हो जाता है। भाष्यकारोने जैसा अपने अनुभवसे गीताके तत्त्वको समझा, वैसा ही वर्णन किया है। उनके समन्वयमे जो आनन्द है, वह उनके पक्षपात और विरोधकी आलोचनामे नहीं है। अतएव इस बातकी चर्चा यहाँ अभीष्ट नहीं है कि गीताके वास्तविक अर्थकी रक्षा भगवान् शंकराचार्यने अपने भाष्यमे कहाँतक की है। प्रचारकको सम्भवतः अत्युक्तिका आश्रय आवश्यक होता है।

यह भी याद रखना उचित है—

शङ्करः शङ्करः साक्षाद् व्यासो नारायणः स्वयम्।
तयोर्विवादे सम्प्राप्ते न जाने किं करोम्यहम्॥

भगवान् शंकराचार्यके कुछ सिद्धान्तोका स्थूलरूपसे वर्णन करना युक्तियुक्त है जिससे गीताभाष्यमे जो उनका दृष्टिविन्दु है वह सहजमें अवगत हो जाय। इस बातके माननेमें हमे कोई संकोच नहीं कि अनेक वाक्य गीतामे ऐसे मिल सकते हैं, जिनको द्वैत और अद्वैतसिद्धान्ती अपना प्रमाणवचन बना सकते है, गीताके कई मार्मिक श्लोक दोनो पक्षोंके समर्थक समझे जा सकते हैं।

श्रीशंकराचार्यसे पूर्व जो गीतापर भाष्य लिखे गये उनमेसे अब एक भी नहीं मिलता। भर्तृप्रपञ्चके भाष्यका श्रीशंकराचार्यने उल्लेख किया है और उसका खण्डन भी किया है। भर्तृप्रपञ्चके अनुसार कर्म और ज्ञान दोनोसे मिलकर मोक्षकी प्राप्ति होती है, श्रीशंकराचार्य केवल विशुद्ध ज्ञान ही मोक्षप्राप्तिका उपाय बताते है। यही भेद एकायन-सम्प्रदाय और उपनिषद्मे भी है। एकायनके मतमे आत्मा परमेश्वरका अंश है और उसीके आश्रित है। उपनिषद् आत्मा और ब्रह्मकी अभिन्नताका निरूपण करते है। उपनिषद्मे ज्ञान मोक्षका साधन है और एकायन प्रपत्तिमे मोक्ष मानते है। और गीतामे स्पष्ट ऐसे वचन है कि जीव ईश्वरका सनातन अंश है *'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'* और ईश्वरकी शरणागति और आश्रयमे ही उसका कल्याण है, *'मामेकं शरणं व्रज'* यह सिद्धान्तवाक्य प्रपत्तिका पोषक है। भक्तिहीन कर्म व्यर्थ है और भक्तिहीन ज्ञान शुष्क एवं नीरस है। उपनिषद्के अनुसार प्रकृति मिथ्या है और एकायन प्रकृतिको नित्य परन्तु परमेश्वरके अधीन मानते है। उपनिषद्के अनुसार ज्ञानीके लिये प्रकृति विलीन हो जाती है और एकायनका मत है कि ज्ञानी प्रकृतिके खेलको देखा करता है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि पाञ्चरात्र और एकायनके सिद्धान्त गीतामे स्पष्ट मिलते है। परन्तु यह भी सहसा नहीं कहा जा सकता कि श्रीशंकराचार्यके सिद्धान्तोका भी समर्थन गीता पूर्णत. नहीं करती।

वैसे तो शाकरसिद्धान्तका विस्तृतरूपसे प्रतिपादन ब्रह्मसूत्रके शारीरक नामक भाष्यमे किया गया है, परन्तु गीता-भाष्यसे भी वह भली प्रकार अवगत हो जाता है। सिद्धान्त अति संक्षेपसे यह है कि मनुष्यको निष्कामभावसे स्वकर्ममे प्रवृत्त रहकर चित्तशुद्धि करनी चाहिये। चित्तशुद्धिका उपाय ही फलाकाक्षाको छोड़कर कर्म करना है। जबतक चित्तशुद्धि न होगी, जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हो सकती, विना जिज्ञासाके मोक्षकी इच्छा ही असम्भव है। पश्चात् विवेकका उदय होता है। विवेकका अर्थ है नित्य और अनित्य वस्तुका भेद समझना। संसारके सभी पदार्थ अनित्य है और केवल आत्मा उनसे पृथक् एवं नित्य है ऐसा अनुभव होनेसे विवेकमे दृढता होती है, दृढ विवेकसे वैराग्य उत्पन्न होता है। लोक-परलोकके यावत् सुख और भोगोके प्रति पूर्ण विरक्ति बिना वैराग्य दृढ नहीं होता। अनित्य वस्तुओमे वैराग्य मोक्षका प्रथम कारण है और इसीसे शम, दम, तितिक्षा और कर्म-त्याग सम्भव होते है, इसके पश्चात् मोक्षका कारण जो ज्ञान है, उसका उदय होता है। बिना विशुद्ध ज्ञानके मोक्ष किसी प्रकार भी नहीं मिल सकता।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मकबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा॥

जिन साधनोका फल अनित्य है वे मोक्षके कारण हो ही नहीं सकते। मोक्षका स्वरूप है जीवात्मा-परमात्माकी अभिन्नताका ज्ञान। दोनो एक स्वरूप है, इसी ज्ञानका नाम मोक्ष है।

जीवात्मा-परमात्मामे जो भेद मालूम होता है वह प्रकृतिके कारणसे है। इस भ्रान्तिकी निवृत्ति ज्ञानद्वारा होती है। द्वैत जो भासता है उसका कारण माया है और वह माया अनिर्वचनीया है। न तो वह सत् है और न असत् है और दोनोंहीके धर्म उसमे भासते है। इसीलिये उसको 'अनिर्वचनीया' विशेषण दिया गया है। वास्तवमे माया भी मिथ्या है। क्योंकि सत्से असत्की उत्पत्ति सम्भव नहीं और सत्-असत्का मेल भी सम्भव नहीं और असत्मे कोई शक्ति ही नहीं। अतएव जगत् केवल भ्रान्तिमात्र है और स्वप्नवत् है।

भगवान् शंकराचार्यको 'मायावादी' कहना न्यायसंगत नहीं। उन्होने मायाका प्रतिपादन नहीं किया। जब विपक्षी दृश्यमान परन्तु मिथ्या जगत्का कारण आग्रहपूर्वक पूछता है तो मायाको, जो स्वयं मिथ्या है, बता दिया जाता है। यही कारण है कि जीवभाव वा जीवका यह अनुभव कि वह बद्ध है, वास्तवमे कल्पित है, अज्ञानके आवरणसे जीव अपने स्वरूपको भूला हुआ है और ज्ञान ही इस अज्ञानका नाशक है।

भगवान् शंकराचार्य निवृत्तिमार्गके उपदेष्टा है और गीताको भी उन्होने निवृत्तिमार्गप्रतिपादक ग्रन्थ माना है। उनके मतानुसार संन्यासके बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। यही उनका पुनः-पुनः कथन है। परन्तु इतना ध्यान रखना उचित है कि कर्म वा प्रवृत्तिमार्गको वे चित्तशुद्धिके लिये आवश्यक समझते है। अतएव वे सभीको संन्यासका अधिकारी नहीं मानते। सच्चा संन्यास अर्थात् विद्वत्संन्यास वही है जिसमे मनुष्य किसी वस्तुका त्याग नहीं करता वरं पके फल-जैसे वृक्षसे आप ही गिर पड़ते है, संसारसे वह सर्वथा निर्लिप्त हो जाता है। लोहेके तप्त गोलेको हाथसे छोड़ देनेके लिये किसके आदेशकी प्रतीक्षा होती है ?

गीताभाष्यमे यही सिद्धान्त भगवान् शंकराचार्यने प्रतिपादित किया है। आधुनिक संसारके इतिहासमे शंकर-जैसा कोई ज्ञानी और दार्शनिक दूसरा नहीं मिलता। उनके सिद्धान्तोको समझनेमे यह हिन्दी-अनुवाद अत्यन्त सहायक होगा, इसमे कोई सन्देह नहीं। अनुवादक महाशयके सराहनीय परिश्रमकी सफलता इसीमे है कि आचार्यके सिद्धान्तोसे हम सुगमतापूर्वक परिचय प्राप्त करें और हममे मुमुक्षुताका भाव भली प्रकार जाग्रत् हो।

काशी हिन्दूविश्वविद्यालय
आश्विन शुक्ल ४, सं० १९८८

जीवनशंकर याज्ञिक

वंशीवट कालिन्दी-तट नट-नागर नित्य निहारूँ ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

नम्र निवेदन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

परम आदरणीय जगद्गुरु श्रीश्रीआद्यशंकराचार्य भगवान्कृत विश्वविख्यात श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्यको कौन नहीं जानता ? आज यह भाष्य गीताके समस्त भाष्य और टीकाओंमें मुकुटमणि माना जाता है, वेदान्तके पथिकोंके लिये तो यह परमोत्कृष्ट पथप्रदर्शक है, इसीलिये प्रायः सभी अद्वैतवादी टीकाकारोंने इसका सर्वथा अनुसरण किया है। आचार्यके कथनसे यह सिद्ध होता है कि उनके भाष्य-निर्माणके समय श्रीमद्भगवद्गीतापर अन्य बहुत-सी टीकाएँ प्रचलित थीं, खेद है कि आज उनमेंसे एक भी उपलब्ध नहीं है। परन्तु आचार्य कहते हैं कि उनसे ग्रन्थका यथार्थ तत्त्व भलीभाँति समझमें नहीं आता था, उसी यथार्थ तत्त्वको दिखलानेके लिये आचार्यको स्वतन्त्र भाष्य-रचना करनी पड़ी। इस भाष्यमें आचार्यने बड़ी ही बुद्धिमानीके साथ अपने मतकी स्थापना की है। स्थान-स्थानपर शास्त्रार्थकी पद्धतिसे विस्तृत विवेचन कर अर्थको सुस्पष्ट किया है ।

कुछ समयसे जगत्में श्रीमद्भगवद्गीताका प्रचार जोरसे बढ़ रहा है। सभी प्रकारके विद्वान् अपनी-अपनी दृष्टिसे गीताका मनन कर रहे हैं, परन्तु गीताका मनन करनेके लिये आचार्यकृत भाष्यको समझनेकी बड़ी ही आवश्यकता है। इसीसे अनेक विभिन्न भाषाओंमें भाष्यका अनुवाद भी हो चुका है। हिन्दीमें भी दो-एक अनुवाद इससे पूर्व निकले थे, परन्तु कई कारणोंसे उनसे हिन्दी-जनता विशेष लाभ नहीं उठा सकी, इसीसे हिन्दीमें एक ऐसे अनुवादके प्रकाशित होनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जिससे गीताप्रेमी हिन्दी-भाषी पाठक सुगमतासे आचार्यका मत जान सकें।

मेरे पूजनीय ज्येष्ठ भ्राता श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने, जिनके अनवरत सङ्ग और सदुपदेशों-से मेरी इस ओर किञ्चित् प्रवृत्ति हुई और होती है, मुझे भाष्यका अनुवाद करनेकी आज्ञा दी; पहले तो अपनी विद्या-बुद्धिकी ओर देखकर मेरा साहस नहीं हुआ, परन्तु उनकी कृपाभरी प्रेरणाने अन्तमें मुझे इस कार्यमें प्रवृत्त कर ही दिया ।

गत सं० १९८४ के मार्गशीर्ष-मासमें मैंने व्यापारके कामसे प्रतिदिन कुछ समय निकालकर अनुवाद करना आरम्भ किया और माघके अन्ततक सतरहवें अध्यायतकका अनुवाद लिख गया। इसके पश्चात् अनेक बार ग्रन्थके प्रकाशित करनेकी बात उठी, परन्तु अपनी अल्पज्ञताके कारण किसी

अच्छे विद्वान्‌को दिखलाकर संशोधन करवाये बिना छपानेका साहस नहीं हुआ। इस बार मेरे प्रार्थना करनेपर श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती-अस्पताल कलकत्ताके प्रसिद्ध वैद्य पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी काव्य-सांख्य-स्मृति-तीर्थ महोदयने प्रायः एक मासतक कठिन परिश्रम करके समस्त ग्रन्थको मूल भाष्यके साथ अक्षरशः मिलाकर यथोचित संशोधन कर देनेकी कृपा की। इसीसे आज यह आपलोगोंकी सेवामें मुद्रितरूपमें उपस्थित किया जा सका है। इस कृपाके लिये मैं सम्मान्य श्रीजोशीजी महाराजका हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

अपनी अल्पबुद्धि और सीमित सामर्थ्यके अनुसार यथासाध्य मैंने सरल हिन्दीमें आचार्यका भाव ज्यों-का-त्यों रखनेकी चेष्टा की है, तथापि मैं यह कह नहीं सकता, मैं इसमें सम्पूर्णतया सफल हुआ हूँ। एक तो परम तात्त्विक विषय, दूसरे आचार्यकी लिखी हुई उस कालकी कठिन संस्कृत, जिसमें बड़े-बड़े विद्वान् भी गीता-सम्बन्धी विषयका अध्ययन कम होनेके कारण भ्रममें पड़ जाया करते हैं, मुझ जैसा साधारण मनुष्य सर्वथा भ्रमरहित होनेका दावा कैसे कर सकता है? तथापि भगवत्कृपासे जो कुछ हो सका है, वह आपके सामने है। विषयकी कठिनतासे कहीं-कहीं वाक्य-रचनामें कठिनता आ गयी हो तो सहृदय पाठक क्षमा करें। ऐसे ग्रन्थके अनुवादमें किन-किन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है और अपनी स्वतन्त्रताको छोड़कर पराधीनताके किन-किन नियमोंमें कैसे बँध जाना पड़ता है, इसका अनुभव उन्हीं पाठक और लेखक महोदयोंको है जो कभी इस प्रकारका कार्य कर चुके हैं, या कर रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्णके परम अनुग्रहसे मुझ-सरीखे व्यक्तिको आचार्यकृत भाष्यके किञ्चित् मननका सुअवसर प्राप्त हुआ, यह मेरे लिये बड़े ही सौभाग्यका विषय है। श्रद्धेय विद्वन्मण्डली और गीताप्रेमी महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वे बालकके इस प्रयासको स्नेहपूर्वक देखें और जहाँ कहीं प्रमादवश भूल रह गयी हो, उसे बतलानेकी कृपा अवश्य करें, जिससे मुझे अपनी भूलोंको सुधारनेका अवसर मिले और यदि सम्भव हो तो आगामी संस्करणमें भूलें सुधार दी जायँ।

यद्यपि मैं मराठी नहीं जानता, तथापि जहाँ कुछ विशेष समझनेकी आवश्यकता हुई है वहाँ मैंने पूना आचार्यकुलके आचार्य भक्त पं० श्रीविष्णु वामन बापट शास्त्रीजीकृत मराठी भाष्यार्थसे सहायता ली है, इसके लिये मैं पण्डितजीका कृतज्ञ हूँ।

एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये। अनुवाद कैसा ही क्यों न हो, जो आनन्द और स्वारस्य मूल ग्रन्थमें होता है वह अनुवादमें नहीं आ सकता। इसी विचारसे इसमें मूल भाष्य भी साथ रक्खा गया है। साधारण संस्कृत जाननेवाले सज्जन भी आचार्यके मूल लेखको सहज ही समझ सकें, इसके लिये भाष्यके पद अलग-अलग करके और वाक्योंके छोटे-छोटे भाग करके लिखे गये हैं। व्याकरणके नियमानुसार यदि इसमें किसी प्रकारकी त्रुटि जान पड़े तो विद्वान् महोदयगण क्षमा करें।

जहाँ शास्त्रार्थकी पद्धतिसे भाष्य लिखा गया है वहाँ अनुवादमें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षकी कल्पना करके 'पू०–' और 'उ०–' शब्द लिख दिये गये हैं। आशा है, पाठकोंको इससे विषयके समझनेमें बहुत सुविधा होगी।

भाष्यमें मूल श्लोकके जो शब्द आये हैं, वे दूसरे टाइपोंमें, तथा जहाँ प्रतीक आये हैं, वे दूसरे टाइपोंमें दिये गये हैं। मूल श्लोकके पदोंका आगे-पीछेका सम्बन्ध जोड़नेके लिये भाष्यकारने जैसा लिखा है वैसा ही कर दिया गया है; परन्तु सभी जगह यह बात हिन्दीमें लिखकर नहीं जनायी जा सकी, अतः कहीं-कहीं तो टिप्पणीमें इसका स्पष्टीकरण कर दिया है, कहीं श्लोकके अन्तमें लिखा गया है और कही उसके अनुसार कार्य कर दिया गया है, शब्दोंका अर्थ नहीं दिया गया है।

आचार्यने समासोंका जो विग्रह दिखाया है, उसके सम्बन्धमें भी यही बात है। जहाँतक बन पड़ा है, उसी प्रणालीसे अनुवादमें समासका विग्रह दिखलानेकी चेष्टा की गयी है, परन्तु जहाँ भाषाकी शैली बिगड़ती दिखलायी दी है वहाँ उस विग्रहके अनुकूल केवल अर्थ लिख दिया गया है, विग्रह नहीं दिखलाया गया है। पाठकगण मेरी असुविधाओंको देखकर इसके लिये क्षमा करेंगे।

आचार्यने श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहासोंके जो प्रमाण उद्धृत किये हैं, वे किस ग्रन्थके किस स्थलके हैं, यह भी दिखलानेकी चेष्टा की गयी है। वहाँ जिन सांकेतिक चिह्नोंका प्रयोग किया गया है, उनकी सूची अलग छपी है।

अनुवादमें पर्याय बतलानेके लिये कहीं 'अर्थात्' शब्दसे तथा कहीं (—) डैससे काम लिया गया है। समास करनेके लिये (-) छोटी लाइन लगायी गयी है।

प्रकाशककी प्रार्थनापर काशी हिन्दूविश्वविद्यालयके विद्वान् प्रोफेसर सम्मान्य पं० जीवनशंकरजी याज्ञिक एम्० ए० महोदयने इस ग्रन्थकी सुन्दर भूमिका लिखनेकी कृपा की है, इसके लिये मैं उनका हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

विनीत

हरिकृष्णदास गोयन्दका

प्रकाशकका निवेदन

तीसरे संस्करणमें अनुवादक महोदयने यत्र-तत्र और भी आवश्यक संशोधन और परिवर्तन कर दिया था। संशोधनके सम्बन्धमें जिन-जिन सज्जनोंने अपनी मूल्यवान् सम्मति दी थी उनके हम आभारी हैं।

परमार्थ-प्रिय प्रेमी ग्राहकोंने इस पुस्तकको आदर देकर इसके छः संस्करण जल्दी बिक जानेमें जो हमे सहायता दी उसके लिये हम सबके कृतज्ञ हैं।

पिछले छः-सात वर्षोंसे इस पुस्तककी लगातार माँग रहनेपर भी मुद्रणकी अनेक कठिनाइयोंके कारण यह सातवाँ संस्करण हम अबतक प्रकाशित न कर सके इसके लिये हम प्रेमी पाठकोंसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं। आशा है कि वे लोग अब इससे लाभ उठावेंगे।

विनीत

प्रकाशक

अध्याय-सूची

अध्याय			पृष्ठ	अध्याय			पृष्ठ
प्रथमोऽध्यायः	...	...	१७	दशमोऽध्यायः	...	..	२४५
द्वितीयोऽध्यायः	...	..	२४	एकादशोऽध्यायः	...	...	२६०
तृतीयोऽध्यायः	...	..	७६	द्वादशोऽध्यायः	...	...	२८५
चतुर्थोऽध्यायः	...	..	१०६	त्रयोदशोऽध्यायः	...	...	२९८
पञ्चमोऽध्यायः	...	...	१४२	चतुर्दशोऽध्यायः	...	..	३५०
षष्ठोऽध्यायः	...	...	१६७	पञ्चदशोऽध्यायः	...	...	३६५
सप्तमोऽध्यायः	...	...	१९६	षोडशोऽध्यायः	...	...	३८०
अष्टमोऽध्यायः	...	...	२११	सप्तदशोऽध्यायः	...	...	३९२
नवमोऽध्यायः	...	...	२२६	अष्टादशोऽध्यायः	...	...	४०४

सांकेतिक चिह्नोंका स्पष्टीकरण

संकेत	स्पष्ट	संकेत	स्पष्ट
बृह० उ०	=बृहदारण्यक उपनिषद्	नृ० पू० उ०	=नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्
छा० उ०	=छान्दोग्य उपनिषद्	मु० उ०	=मुण्डकोपनिषद्
ना० उ०	=नारायणोपनिषद्	तै० ब्रा०	=तैत्तिरीय ब्राह्मण
जाबा० उ०	=जाबालोपनिषद्	तै० आर०	=तैत्तिरीय आरण्यक
तै० सं०	=तैत्तिरीयसंहिता	महा० शान्ति०	=महाभारत शान्तिपर्व
तै० उ०	=तैत्तिरीय उपनिषद्	महा० स्त्री०	=महाभारत स्त्रीपर्व
के० उ०	=केन उपनिषद्	मनु०	=मनुस्मृति
प्र० उ०	=प्रश्नोपनिषद्	विष्णुपु०	=विष्णुपुराण
क० उ०	=कठोपनिषद्	बोधा० स्मृ०	=बोधायनस्मृति
ई० उ०	=ईशोपनिषद्	गौ० स्मृ०	=गौतमस्मृति
श्वे० उ०	=श्वेताश्वतरोपनिषद्	आ० स्मृ०	=आपस्तम्बस्मृति

चित्र-सूची

१–वृन्दावन-विहारी	(रंगीन)	...	...	भूमिकाके सामने
२–भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजी	(,,)	...	...	पृष्ठ १३
३–मोहनाशक श्रीकृष्ण	(,,)	...	...	पृष्ठ ३१

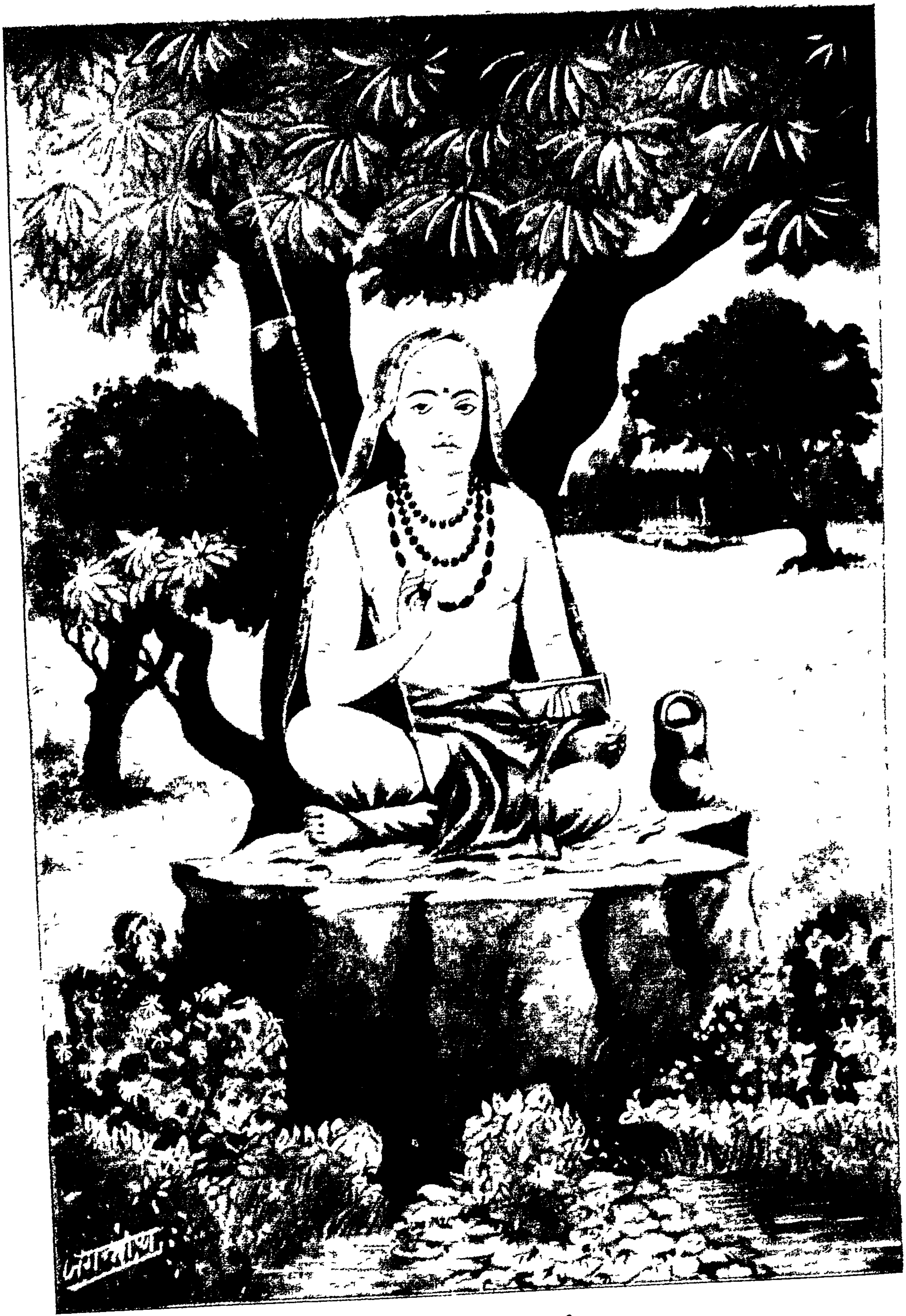

भगवान् श्रीशंकराचार्यजी

* श्रीहरिः *

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

शांकरभाष्य

हिन्दी-भाषानुवादसहित

(उपोद्घात)

ॐ नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥

अव्यक्तसे अर्थात् मायासे श्रीनारायण—आदिपुरुष सर्वथा अतीत (अस्पृष्ट) हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अव्यक्त—प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है, ये भूः, भुवः आदि सब लोक और सात द्वीपोंवाली पृथिवी ब्रह्माण्डके अन्तर्गत है ।

स भगवान् सृष्ट्वा इदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकीर्षुः मरीच्यादीन् अग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम् ।

इस जगत्को रचकर इसके पालन करनेकी इच्छावाले उस भगवान्‌ने पहले मरीचि आदि प्रजापतियोंको रचकर उनको वेदोक्त प्रवृत्तिरूप धर्म (कर्मयोग) ग्रहण करवाया ।

ततः अन्यान् च सनकसनन्दनादीन् उत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास ।

फिर उनसे अलग सनक, सनन्दनादि ऋषियोंको उत्पन्न करके उनको ज्ञान और वैराग्य जिसके लक्षण हैं ऐसा निवृत्तिरूप धर्म (ज्ञानयोग) ग्रहण करवाया ।

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणः च ।

वेदोक्त धर्म दो प्रकारका है—एक प्रवृत्तिरूप, दूसरा निवृत्तिरूप ।

जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैः वर्णिभिः आश्रमिभिः च श्रेयोऽर्थिभिः अनुष्ठीयमानः ।

जो जगत्की स्थितिका कारण तथा प्राणियोंकी उन्नतिका और मोक्षका साक्षात् हेतु है एवं कल्याणकामी ब्राह्मणादि वर्णाश्रम अवलम्बियोंद्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है उसका नाम धर्म है ।

दीर्घेण कालेन अनुष्ठातॄणां कामोद्भवाद् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेन अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुः भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवाद् अंशेन कृष्णः किल संबभूव ।

बहुत कालके बाद, जब धर्मानुष्ठान करनेवालोंके अन्तःकरणमें कामनाओंका विकास होनेसे विवेक-विज्ञानका ह्रास हो जाना ही जिसकी उत्पत्तिका कारण है ऐसे अधर्मसे धर्म दबता जाने लगा और अधर्मकी वृद्धि होने लगी तब जगत्‌की स्थिति सुरक्षित रखनेकी इच्छावाले वे आदिकर्ता नारायण-नामक श्रीविष्णुभगवान् भूलोकके ब्रह्मकी अर्थात् भूदेवों (ब्राह्मणों) के ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेके लिये श्रीवसुदेवजीसे श्रीदेवकीजीके गर्भमें अपने अंशसे (लीलाविग्रहसे) श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए। यह प्रसिद्ध है ।

ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मः तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम् ।

ब्राह्मणत्वकी रक्षासे ही वैदिक धर्म सुरक्षित रह सकता है क्योंकि वर्णाश्रमोंके भेद उसीके अधीन हैं ।

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानाम् ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः अपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते ।

ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदिसे सदा सम्पन्न वे भगवान् यद्यपि अज, अविनाशी, सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव हैं, तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी मायाको वशमें करके अपनी लीलासे शरीरधारीकी तरह उत्पन्न हुए-से और लोगोंपर अनुग्रह करते हुए-से दीखते हैं ।

स्वप्रयोजनाभावे अपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयम् अर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नाय उपदिदेश, गुणाधिकैः हि गृहीतः अनुष्ठीयमानः च धर्मः प्रचयं गमिष्यति इति ।

अपना कोई प्रयोजन न रहनेपर भी भगवान्‌ने भूतोंपर दया करनेकी इच्छासे, यह सोचकर कि अधिक गुणवान् पुरुषोंद्वारा ग्रहण किया हुआ और आचरण किया हुआ धर्म अधिक विस्तारको प्राप्त होगा, शोकमोहरूप महासमुद्रमें डूबे हुए अर्जुनको दोनों ही प्रकारके वैदिक धर्मोंका उपदेश किया ।

तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैः उपनिबबन्ध ।

उक्त दोनों प्रकारके धर्मोंको भगवान्‌ने जैसे-जैसे कहा था ठीक वैसे ही सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यासजीने गीतानामक सात सौ श्लोकोंके रूपमें ग्रथित किया ।

तद् इदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम् ।

ऐसा यह गीताशास्त्र सम्पूर्ण वेदार्थका सार-संग्रह-रूप है और इसका अर्थ समझनेमें अत्यन्त कठिन है ।

तदर्थाविष्करणाय अनेकैः विवृतपदपदार्थ-वाक्यार्थन्यायम् अपि अत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकैः गृह्यमाणम् उपलभ्य अहं विवेकतः अर्थनिर्धारणार्थं संक्षेपतो विवरणं करिष्यामि ।

तस्य अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम् । तत् च सर्वकर्मसंन्यास-पूर्वकाद् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद् धर्माद् भवति ।

तथा इमम् एव गीतार्थधर्मम् उद्दिश्य भगवता एव उक्तम् *'स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने'* इति अनुगीतासु ।

किं च अन्यदपि तत्रैव उक्तम्—

'नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी ।
यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन् ॥'

'ज्ञानं संन्यासलक्षणम्' इति च ।

इह अपि च अन्ते उक्तम् अर्जुनाय—*'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'* इति

अभ्युदयार्थः अपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णाश्रमान् च उद्दिश्य विहितः स देवादि-स्थानप्राप्तिहेतुः अपि सन् ईश्वरार्पणबुद्ध्या अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभि-सन्धिवर्जितः ।

शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्ति-द्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वम् अपि प्रतिपद्यते ।

यद्यपि उसका अर्थ प्रकट करनेके लिये अनेक पुरुषोंने पदच्छेद, पदार्थ, वाक्यार्थ और आक्षेप, समाधानपूर्वक उनकी विस्तृत व्याख्याएँ की हैं, तो भी लौकिक मनुष्योंद्वारा उस गीताशास्त्रका अनेक प्रकारसे (परस्पर) अत्यन्त विरुद्ध अनेक अर्थ ग्रहण किये जाते देखकर, उसका विवेकपूर्वक अर्थ निश्चित करनेके लिये मैं संक्षेपसे व्याख्या करूँगा ।

संक्षेपमें इस गीताशास्त्रका प्रयोजन परमकल्याण अर्थात् कारणसहित संसारकी अत्यन्त उपरति हो जाना है, वह (परमकल्याण) सर्वकर्मसंन्यास-पूर्वक आत्मज्ञाननिष्ठारूप धर्मसे प्राप्त होता है ।

इसी गीतार्थरूप धर्मको लक्ष्य करके स्वयं भगवान्‌ने ही अनुगीतामें कहा है कि **'ब्रह्मके परमपदको (मोक्षको) प्राप्त करनेके लिये वह (गीतोक्त ज्ञान-निष्ठारूप) धर्म ही सुसमर्थ है ।'**

इसके सिवा वहीं ऐसा भी कहा है कि, **'जो न धर्मी, न अधर्मी और न शुभाशुभी होता है तथा जो कुछ भी चिन्तन न करता हुआ तूष्णीभावसे एक जगदाधार ब्रह्ममें लीन हुआ रहता है (वही उसको पाता है) ।'**

यह भी कहा है कि **'ज्ञानका लक्षण (चिह्न) संन्यास है ।'**

यहाँ (गीताशास्त्रमें) भी अन्तमें अर्जुनसे कहा है—**'सब धर्मोंको छोड़कर एकमात्र मेरी शरणमें आ जा ।'**

अभ्युदय—सांसारिक उन्नति ही जिसका फल है ऐसा जो प्रवृत्तिरूप धर्म, वर्ण और आश्रमोंको लक्ष्य करके कहा गया है, वह यद्यपि स्वर्गादिकी प्राप्तिका ही साधन है तो भी फल-कामना छोड़कर ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया जानेपर अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाला होता है ।

तथा शुद्धान्तःकरण पुरुषको पहले ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता-प्राप्ति कराकर फिर ज्ञानोत्पत्तिका कारण होनेसे (वह प्रवृत्तिरूपधर्म) कल्याणका भी हेतु होता है ।

तथा च इमम् एव अर्थम् अभिसंधाय वक्ष्यति— *'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि'* *'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'* इति ।

इमं द्विप्रकारं धर्मं निःश्रेयसप्रयोजनं परमार्थतत्त्वं च वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म अभिधेयभूतं विशेषतः—अभिव्यञ्जयद् विशिष्टप्रयोजनसम्बन्धाभिधेयवद् गीताशास्त्रम् ।

यतः तदर्थे विज्ञाते समस्तपुरुषार्थसिद्धिः अतः तद्विवरणे यत्नः क्रियते मया ।

इसी अर्थको लक्ष्यमें रखकर आगे कहेंगे कि, **'कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण कर' 'योगिजन आसक्ति छोड़कर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं'** इत्यादि ।

परमकल्याण ही जिनका प्रयोजन है, ऐसे इन दो प्रकारके धर्मोंको और लक्ष्यभूत वासुदेवनामक परब्रह्मरूप परमार्थतत्त्वको विशेषरूपसे अभिव्यक्त (प्रकट) करनेवाला यह गीताशास्त्र, असाधारण प्रयोजन, सम्बन्ध और विषयवाला है ।

ऐसे इस (गीताशास्त्र) का अर्थ जान लेनेपर समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है, अतएव इसकी व्याख्या करनेके लिये मैं प्रयत्न करता हूँ ।

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे होनेवाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय बोला—उस समय राजा दुर्योधन पाण्डवोंकी सेनाको व्यूहरचनासे युक्त देखकर गुरु द्रोणके पास जाकर कहने लगा ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

गुरुजी ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहरचनासे युक्त की हुई पाण्डवोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

इस सेनामे महाधनुर्धर वीर, लड़नेमे भीम और अर्जुनके समान सात्यकि, विराट और महारथी द्रुपद, बलवान् धृष्टकेतु, चेकितान तथा काशिराज एवं नरश्रेष्ठ पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैव्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पॉचो पुत्र ये सभी महारथी हैं ॥४,५,६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम ! हमारे पक्षके भी जो प्रधान हैं उनको आप समझ लीजिये । आपकी जानकारीके लिये मैं उनके नाम बतलाता हूँ जो कि मेरी सेनाके नेता हैं ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

आप, पितामह भीष्म, कर्ण और रणविजयी कृपाचार्य, वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र (भूरिश्रवा) ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

इनके सिवा अन्य भी बहुत-से शूरवीर मेरे लिये प्राण देनेको तैयार हैं, जो कि नाना प्रकारके शस्त्रास्त्रोंको धारण करनेवाले और सब-के-सब युद्धविद्यामें निपुण हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

ऐसी वह पितामह भीष्मद्वारा रक्षित हमारी सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन पाण्डवोंकी यह सेना सहज ही जीती जा सकती है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अतः आपलोग सब-के-सब सभी मोरचोंपर अपनी-अपनी जगह डटे हुए, केवल पितामह भीष्मकी ही रक्षा करते रहें ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

इसके बाद कुरुवंशियोंमें वृद्ध प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहके समान गर्जकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

फिर एक साथ ही शङ्ख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंगा आदि बाजे बजे; वह शब्द बड़ा भयङ्कर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

फिर सफेद घोड़ोंसे युक्त बड़े भारी रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी अपने अलौकिक शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

श्रीकृष्णने पाञ्चजन्यनामक और अर्जुनने देवदत्तनामक शङ्ख बजाया । भयानक कर्मकारी वृकोदर भीमने पौण्ड्रनामक अपना महान् शङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय, नकुलने सुघोष और सहदेवने मणिपुष्पकनामवाला शङ्ख बजाया ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! महाधनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न और विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद और द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा महाबाहु सुभद्रापुत्र अभिमन्यु इन सबने भी सब ओरसे अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १७, १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

वह भयङ्कर शब्द आकाश और पृथिवीको गुँजाता हुआ धृतराष्ट्र-पुत्रोंके हृदय विदीर्ण करने लगा ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! फिर उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय युद्धके लिये सजकर डटे हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंको देखकर कपिध्वज अर्जुन धनुष उठाकर श्रीकृष्णसे इस तरह कहने लगा कि, हे अच्युत ! जबतक मैं इन खड़े हुए युद्धेच्छुक वीरोंको भलीभाँति देखूँ कि इस रण-उद्योगमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है तबतक आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा रखिये ॥ २०, २१, २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

(मेरी यह प्रबल इच्छा है कि) दुर्मति दुर्योधनका युद्धमें भला चाहनेवाले जो ये राजालोग यहाँ आये हैं, उन युद्ध करनेवालोंको मैं भली प्रकार देखूँ ॥ २३ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजय बोला—हे भारत ! निद्राजित् अर्जुनद्वारा इस प्रकार प्रेरित हुए श्रीकृष्ण उस उत्तम रथको दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके तथा अन्य सब राजाओंके सामने खड़ा करके बोले, हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख ॥ २४, २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

फिर वह पृथापुत्र अर्जुन वहाँ दोनों सेनाओंमें खड़े हुए अपने ताऊ-चाचोंको, दादोंको, गुरुओंको, मामोंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको, मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृद्वर्गको देखने लगा । वहाँ उन सभी कुटुम्बियोंको खड़े हुए देखकर अत्यन्त करुणासे घिरकर वह कुन्तीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ इस प्रकार कहने लगा, हे कृष्ण ! सामने खड़े हुए युद्धेच्छुक स्वजन-समुदायको देखकर मेरे सब अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, मेरे शरीरमें कम्प और रोमाञ्च होते हैं ॥ २६, २७, २८, २९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

गाण्डीव धनुष हाथसे खिसक रहा है, त्वचा बहुत जलती है, साथ ही मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, (अधिक क्या) मै खड़ा रहनेमें भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

हे केशव ! इसके सिवा और भी सब लक्षण मुझे विपरीत ही दिखायी देते है, युद्धमें अपने कुलको नष्ट करके मै कल्याण नहीं देखता ॥ ३१ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

हे कृष्ण ! मै न विजय ही चाहता हूँ और न राज्य या सुख ही चाहता हूँ । हे गोविन्द ! हमे राज्यसे, भोगोसे या जीवित रहनेसे क्या प्रयोजन है ! ॥ ३२ ॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

हमे जिनके लिये राज्य, भोग और सुख आदि इष्ट हैं, वे ये हमारे गुरु, ताऊ, चाचा, लडके, दादा, मामा, ससुर, पोते, साले और अन्य कुटुम्बी लोग धन और प्राणोको त्यागकर युद्धमे खड़े हैं ॥ ३३,३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे मधुसूदन ! मुझपर वार करते हुए भी इन सम्बन्धियोंको त्रिलोकीका राज्य पानेके लिये भी मैं मारना नहीं चाहता, फिर जरा-सी पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्र-पुत्रोको मारनेसे हमे क्या प्रसन्नता होगी ? प्रत्युत इन आततायियोंको मारनेसे हमे पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

इसलिये हे माधव ! अपने कुटुम्बी धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मारना हमें उचित नहीं है, क्योंकि अपने कुटुम्बको नष्ट करके हम कैसे सुखी होंगे ? ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि लोभके कारण जिनका चित्त भ्रष्ट हो चुका है ऐसे ये कौरव कुलक्षयजनित दोषको और मित्रोंके साथ वैर करनेमे होनेवाले पापको नहीं देख रहे हैं ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

तो भी हे जनार्दन ! कुलनाशजन्य दोषको भली प्रकार जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे बचनेका उपाय क्यों नहीं खोजना चाहिये ? ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

(यह तो सिद्ध ही है कि) कुलका नाश होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मका नाश होनेसे सारे कुलको सब ओरसे पाप दबा लेता है ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण ! इस तरह पापसे घिर जानेपर उस कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित होनेपर उस कुलमे वर्णसंकरता आ जाती है ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

वह वर्णसंकरता उन कुलघातियोंको और कुलको नरकमे ले जानेका कारण बनती है, क्योंकि उनके पितरलोग पिण्डक्रिया और जलक्रिया नष्ट हो जानेके कारण अपने स्थानसे पतित हो जाते हैं ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

(इस प्रकार) वर्णसंकरताको उत्पन्न करनेवाले उपर्युक्त दोषोंसे उन कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट हो चुके है ऐसे मनुष्योका निस्सन्देह नरकमे वास होता है, ऐसा हमने सुना है ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो ! शोक है कि, हमलोग बड़ा भारी पाप करनेका निश्चय कर बैठे है, जो कि इस राज्य-सुखके लोभसे अपने कुटुम्बका नाश करनेके लिये तैयार हो गये है ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि मुझ शस्त्ररहित और सामना न करनेवालेको ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्रपुत्र (दुर्योधन आदि) रणभूमिमे मार डाले तो वह मेरे लिये बहुत ही अच्छा हो ॥ ४६ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

संजय बोला—उस रणभूमिमे वह अर्जुन इस प्रकार कहकर बाणोसहित धनुषको छोड़ शोकाकुल-चित्त हो रथके ऊपर (पहले सैन्य देखनेके लिये जहाँ खड़ा हुआ था वहीं) बैठ गया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीता-
सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषाद-
योगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजय बोला—इस तरह आँसूभरे कातर नेत्रोंसे युक्त करुणासे घिरे हुए उस शोकातुर अर्जुनसे भगवान् मधुसूदन यह वचन कहने लगे ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! तुझे यह श्रेष्ठ पुरुषोंसे असेवित, स्वर्गका विरोधी और अपकीर्ति करनेवाला मोह इस रणक्षेत्रमें क्यों हुआ ? ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे पार्थ ! कायरता मत ला, यह तुझमें शोभा नहीं पाती, हे शत्रुतापन ! हृदयकी क्षुद्र दुर्बलता-को छोड़कर युद्धके लिये खड़ा हो ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—हे मधुसूदन ! रणभूमिमें पितामह भीष्म और गुरु द्रोणके साथ मैं किस प्रकार बाणोंसे युद्ध कर सकूँगा ? क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजाके पात्र हैं ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

ऐसे महानुभाव पूज्योंको न मारकर इस जगत्‌में भीख माँगकर खाना भी अच्छा है, क्योंकि इन गुरुजनोंको मारकर इस संसारमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा अर्थात् उनको मारनेसे भी केवल भोग ही तो मिलेंगे ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

हम यह नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना अच्छा है, (पता नहीं इस युद्धमे) हम जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे । (अहो !) जिनको मारकर हम जीवित रहना भी नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे सामने खड़े है ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कायरतारूप दोषसे नष्ट हुए स्वभाववाला और धर्मका निर्णय करनेमे मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ, जो निश्चित की हुई हितकर बात हो वह मुझे बतलाइये । मै आपका शिष्य हूँ, आपके शरणमे आये हुए मुझ दासको उपदेश दीजिये ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

क्योकि पृथ्वीमे निष्कण्टक धन-धान्य-सम्पन्न राज्यको या देवताओके स्वामित्वको पाकर भी मै ऐसा कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ जो मेरी इन्द्रियोके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके ॥ ८ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

सजय बोला—हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र ! निद्राविजयी अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कह चुकनेके बाद साफ-साफ यह बात कहकर कि मै युद्ध नहीं करूँगा, चुप हो गया ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

हे भारत ! इस तरह दोनो सेनाओके बीचमे शोक करते हुए उस अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्ण मुसकराकर यह वचन कहने लगे ॥ १० ॥

अत्र च—'*दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्*' इत्यारभ्य '*न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह*' इति एतदन्तः प्राणिनां शोकमोहादिसंसारबीजभूतदोषोद्भवकारणप्रदर्शनार्थत्वेन व्याख्येयो ग्रन्थः ।

यहाँ 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' इस श्लोकसे लेकर 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह' इस श्लोकतकके ग्रन्थकी व्याख्या यों कर लेनी चाहिये कि, यह प्रकरण प्राणियोके शोक, मोह आदि जो ससारके बीजभूत दोष हैं, उनकी उत्पत्तिका कारण दिखलानेके लिये है ।

तथा हि अर्जुनेन राज्यगुरुपुत्रमित्रसुहृत्स्वजनसंबन्धिबान्धवेषु 'अहम् एषां मम एते' इति एवं भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्तस्नेहविच्छेदादिनिमित्तौ आत्मनः शोकमोहौ प्रदर्शितौ *'कथं भीष्ममहं संख्ये'* इत्यादिना ।

शोकमोहाभ्यां हि अभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षात्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तः अपि तस्माद् युद्धाद् उपरराम । परधर्मं च भिक्षाजीवनादिकं कर्तुं प्रववृते ।

तथा च सर्वप्राणिनां शोकमोहादिदोषाविष्टचेतसां स्वभावत एव स्वधर्मपरित्यागः प्रतिषिद्धसेवा च स्यात् ।

स्वधर्मे प्रवृत्तानाम् अपि तेषां वाङ्मनःकायादीनां प्रवृत्तिः फलाभिसंधिपूर्विका एव साहंकारा च भवति ।

तत्र एवं सति धर्माधर्मोपचयाद् इष्टानिष्टजन्मसुखदुःखसंप्राप्तिलक्षणः संसारः अनुपरतो भवति, इत्यतः संसारबीजभूतौ शोकमोहौ ।

तयोः च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञानाद् न अन्यतो निवृत्तिः इति, तदुपदिदिक्षुः सर्वलोकानुग्रहार्थम् अर्जुनं निमित्तीकृत्य आह भगवान् वासुदेवः—*'अशोच्यान्'* इत्यादि ।

तत्र केचिद् आहुः, सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञाननिष्ठामात्राद् एव केवलात् कैवल्यं न प्राप्यते एव, किं तर्हि अग्निहोत्रादिश्रौतस्मार्तकर्मसहिताद् ज्ञानात् कैवल्यप्राप्तिः इति सर्वासु गीतासु निश्चितः अर्थ इति ।

क्योंकि 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि श्लोकोंद्वारा अर्जुनने इसी तरह राज्य, गुरु, पुत्र, मित्र, सुहृद्, स्वजन, सम्बन्धी और बान्धवोंके विषयमें 'यह मेरे हैं, मैं इनका हूँ' इस प्रकार अज्ञानजनित स्नेह-विच्छेद आदि कारणोंसे होनेवाले अपने शोक और मोह दिखाये हैं ।

यद्यपि (वह अर्जुन) स्वयं ही पहले क्षात्रधर्मरूप युद्धमें प्रवृत्त हुआ था तो भी शोक-मोहके द्वारा विवेक-विज्ञानके दब जानेपर (वह) उस युद्धसे रुक गया और भिक्षाद्वारा जीवन-निर्वाह करना आदि दूसरोंके धर्मका आचरण करनेके लिये प्रवृत्त हो गया ।

इसी तरह शोक-मोह आदि दोषोंसे जिनका चित्त घिरा हुआ हो, ऐसे सभी प्राणियोंसे स्वधर्मका त्याग और निषिद्ध धर्मका सेवन स्वाभाविक ही होता है ।

यदि वे स्वधर्मपालनमें लगे हुए हों तो भी उनके मन, वाणी और शरीरादिकी प्रवृत्ति फलाकांक्षापूर्वक और अहंकारसहित ही होती है ।

ऐसा होनेसे पुण्य-पाप दोनों बढ़ते रहनेके कारण अच्छे-बुरे जन्म और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिरूप संसार निवृत्त नहीं हो पाता, अतः शोक और मोह यह दोनों संसारके बीजरूप हैं ।

इन दोनोंकी निवृत्ति सर्व-कर्म-संन्यासपूर्वक आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य उपायसे नहीं हो सकती । अतः उसका (आत्मज्ञानका) उपदेश करनेकी इच्छावाले भगवान् वासुदेव सब लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये अर्जुनको निमित्त बनाकर कहने लगे—'अशोच्यान्' इत्यादि ।

इसपर कितने ही टीकाकार कहते हैं कि केवल सर्व-कर्म-संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान-निष्ठामात्रसे ही कैवल्यकी (मोक्षकी) प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु अग्निहोत्रादि श्रौत-स्मार्त-कर्मोंसहित ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, यही सारी गीताका निश्चित अभिप्राय है ।

ज्ञापकं च आहुः अस्य अर्थस्य—*'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि' 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्'* इत्यादि ।

हिंसादियुक्तत्वाद् वैदिकं कर्म अधर्माय इति इयम् अपि आशङ्का न कार्या, कथम्, क्षात्रं कर्म युद्धलक्षणं गुरुभ्रातृपुत्रादिहिंसालक्षणम् अत्यन्तक्रूरम् अपि स्वधर्मः इति कृत्वा न अधर्माय, तदकरणे च *'ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि'* इति ब्रुवता यावज्जीवादिश्रुतिचोदितानां पश्वादिहिंसालक्षणानां च कर्मणां प्राग् एव न अधर्मत्वम् इति सुनिश्चितम् उक्तं भवति इति ।

तद् असत्, ज्ञानकर्मनिष्ठयोः विभागवचनाद् बुद्धिद्वयाश्रययोः ।

'अशोच्यान्' इत्यादिना भगवता यावत् *'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य'* इति एतदन्तेन ग्रन्थेन यत् परमार्थात्मतत्त्वनिरूपणं कृतं तत् सांख्यम्, तद्विषया बुद्धिः आत्मनो जन्मादि षड्विक्रियाभावाद् अकर्ता आत्मा इति प्रकरणार्थनिरूपणाद् या जायते सा सांख्यबुद्धिः, सा येषां ज्ञानिनाम् उचिता भवति ते सांख्याः ।

एतस्या बुद्धेः जन्मनः प्राग् आत्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यपेक्षो धर्माधर्मविवेकपूर्वको मोक्षसाधनानुष्ठाननिरूपणलक्षणो योगः, तद्विषया बुद्धिः योगबुद्धिः, सा येषां कर्मिणाम् उचिता भवति ते योगिनः ।

इस अर्थमें वे प्रमाण भी बतलाते हैं, जैसे—**'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि' 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्'** इत्यादि ।

(वे यह भी कहते हैं कि) हिंसा आदिसे युक्त होनेके कारण वैदिक कर्म अधर्मका कारण है, ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये । क्योंकि गुरु, भ्राता और पुत्रादिकी हिंसा ही जिसका स्वरूप है ऐसा अत्यन्त क्रूर युद्धरूप क्षात्रकर्म भी स्वधर्म माना जानेके कारण अधर्मका हेतु नहीं है, ऐसा कहनेवाले तथा उसके न करनेमें **'ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि'** इस प्रकार दोष बतलानेवाले भगवान्का यह कथन तो पहले ही सुनिश्चित हो जाता है कि 'जीवनपर्यन्त कर्म करे' इत्यादि श्रुतिवाक्योंद्वारा वर्णित पशु आदिकी हिंसारूप कर्मोंको करना अधर्म नहीं है ।

परन्तु वह (उन लोगोंका कहना) ठीक नहीं है; क्योंकि भिन्न-भिन्न दो बुद्धियोंके आश्रित रहनेवाली ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठाका अलग-अलग वर्णन है ।

'अशोच्यान्' इस श्लोकसे लेकर **'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य'** इस श्लोकके पहलेके प्रकरणसे भगवान्ने जिस परमार्थ-आत्मतत्त्वका निरूपण किया है वह सांख्य है, तद्विषयक जो बुद्धि है अर्थात् आत्मामें जन्मादि छओं विकारोंका अभाव होनेके कारण आत्मा अकर्ता है, इस प्रकारका जो निश्चय उक्त प्रकरणके अर्थका विवेचन करनेसे उत्पन्न होता है, वह सांख्यबुद्धि है, वह जिन ज्ञानियोंके लिये उचित होती है (जो उसके अधिकारी हैं)वे सांख्ययोगी हैं ।

इस(उपर्युक्त) बुद्धिके उत्पन्न होनेसे पहले-पहले, आत्माका देहादिसे पृथक्पन, कर्तापन और भोक्तापन माननेकी अपेक्षा रखनेवाला, जो धर्म-अधर्मके विवेकसे युक्त मार्ग है, मोक्षसाधनोंका अनुष्ठान करनेके लिये चेष्टा करना ही जिसका स्वरूप है, उसका नाम योग है, और तद्विषयक जो बुद्धि है, वह योग-बुद्धि है, वह जिन कर्मियोंके लिये उचित होती है (जो उसके अधिकारी हैं) वे योगी हैं ।

तथा च भगवता विभक्ते द्वे बुद्धी निर्दिष्टे—'*एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु*' इति।

इसी प्रकार भगवान्‌ने '**एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु**' इस श्लोकसे अलग-अलग दो बुद्धियाँ दिखलायी हैं।

तयोः च सांख्यबुद्ध्याश्रयां ज्ञानयोगेन निष्ठां सांख्यानां विभक्तां वक्ष्यति—'*पुरा वेदात्मना मया प्रोक्ता*' इति।

उन दोनो बुद्धियोमेसे सांख्यबुद्धिके आश्रित रहनेवाली सांख्ययोगियोंकी ज्ञानयोगसे (होनेवाली) निष्ठाको '**पुरा वेदात्मना मया प्रोक्ता**' इत्यादि वचनोंसे अलग कहेगे।

तथा च योगबुद्ध्याश्रयां कर्मयोगेन निष्ठां विभक्तां वक्ष्यति—'*कर्मयोगेन योगिनाम्*' इति।

तथा योगबुद्धिके आश्रित रहनेवाली कर्मयोगसे (होनेवाली) निष्ठाको '**कर्मयोगेन योगिनाम्**' इत्यादि वचनोंसे अलग कहेगे।

एवं सांख्यबुद्धिं योगबुद्धिं च आश्रित्य द्वे निष्ठे विभक्ते भगवता एव उक्ते ज्ञानकर्मणोः कर्तृत्वाकर्तृत्वैकत्वानेकत्वबुद्ध्याश्रययोः एकपुरुषाश्रयत्वासंभवं पश्यता।

कर्तापन-अकर्तापन और एकता-अनेकता-जैसी भिन्न-भिन्न बुद्धिके आश्रित रहनेवाले जो ज्ञान और कर्म हैं उन दोनोका एक पुरुषमे होना असम्भव माननेवाले भगवान्‌ने ही स्वय उपर्युक्त प्रकारसे सांख्यबुद्धि और योगबुद्धिका आश्रय लेकर अलग-अलग दो निष्ठाएँ कही है।

यथा एतद् विभागवचनं तथैव दर्शितं शातपथीये ब्राह्मणे—'*एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तो ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति*' (बृ० ४।४।२२) इति सर्वकर्मसंन्यासं विधाय तच्छेषेण—'*किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः*' (बृ० ४।४।२२) इति।

जिस प्रकार (गीताशास्त्रमे) इन दोनो निष्ठाओंका अलग-अलग वर्णन है वैसे ही शतपथ ब्राह्मणमे भी दिखलाया गया है। (वहाँ) '**इस आत्मलोकको ही चाहनेवाले वैराग्यशील ब्राह्मण संन्यास लेते है**' इस प्रकार सर्व-कर्म-संन्यासका विधान करके उसी वाक्यके शेष (सहायक) वाक्यसे कहा है कि '**जिन हमलोगोंका यह आत्मा ही लोक है (वे हम) सन्ततिसे क्या (सिद्ध) करेंगे।**'

तत्र एव च—'*प्राग्दारपरिग्रहात्पुरुष आत्मा प्राकृतो धर्मजिज्ञासोत्तरकाल लोकत्रयसाधन पुत्र द्विप्रकार च वित्त मानुषं दैव च तत्र मानुषं वित्त कर्मरूपं पितृलोकप्राप्तिसाधन विद्या च दैवं वित्त देवलोकप्राप्तिसाधन सोऽकामयत*' (बृ० १।४।१७)।

वहीं यह भी कहा है कि '**प्राकृत आत्मा अर्थात् अज्ञानी मनुष्य धर्मजिज्ञासाके बाद और विवाहसे पहले तीनों लोकोंकी प्राप्तिके साधनरूप पुत्रकी तथा दैव और मानुष ऐसे दो प्रकारके धनकी इच्छा करने लगा। इनमे पितृलोककी प्राप्तिका साधनरूप 'कर्म' तो मानुष धन है और देवलोककी प्राप्तिका साधनरूप 'विद्या' दैव-धन है।**'

इति अविद्याकामवत एव सर्वाणि कर्माणि श्रौतादीनि दर्शितानि।

इस तरह (उपर्युक्त श्रुतिमे) अविद्या और कामनावाले पुरुषके लिये ही श्रौतादि सम्पूर्ण कर्म बताये गये है।

'तेभ्यो व्युत्थाय प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति व्युत्थानम् आत्मानम् एव लोकम् इच्छतः अकामस्य विहितम्।

तद् एतद् विभागवचनम् अनुपपन्नं स्याद् यदि श्रौतकर्मज्ञानयोः समुच्चयः अभिप्रेतः स्याद् भगवतः।

न च अर्जुनस्य प्रश्न उपपन्नो भवति।

'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इत्यादिः।

एकपुरुषानुष्ठेयत्वासंभवं बुद्धिकर्मणोः भगवता पूर्वम् अनुक्तं कथम् अर्जुनः अश्रुतं बुद्धेः च कर्मणो ज्यायस्त्वं भगवति अध्यारोपयेद् मृषा एव *'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः'* इति।

किं च यदि बुद्धिकर्मणोः सर्वेषां समुच्चय उक्तः स्याद् अर्जुनस्य अपि स उक्त एव इति—*'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्'* इति कथम् उभयोः उपदेशे सति अन्यतरविषयः एव प्रश्नः स्यात्।

न हि पित्तप्रशमनार्थिनो वैद्येन मधुरं शीतं च भोक्तव्यम् इति उपदिष्टे तयोः अन्यतरत् पित्तप्रशमनकारणं ब्रूहि इति प्रश्नः संभवति।

अथ अर्जुनस्य भगवदुक्तवचनार्थविवेकानवधारणनिमित्तः प्रश्नः कल्प्येत, तथापि भगवता प्रश्नानुरूपं प्रतिवचनं देयम्, मया बुद्धिकर्मणोः समुच्चय उक्तः किमर्थम् इत्थं त्वं भ्रान्तः असि इति।

न तु पुनः प्रतिवचनम् अननुरूपं पृष्टाद् अन्यद् एव द्वे निष्ठे मया पुरा प्रोक्ते इति वक्तुं युक्तम्।

'उन सब (कर्मों) से निवृत्त होकर संन्यास ग्रहण करते हैं' इस कथनसे केवल आत्मलोकको चाहनेवाले निष्कामी पुरुषके लिये संन्यासका ही विधान किया है।

यदि (इसपर भी यह बात मानी जायगी कि) भगवान्‌को श्रौतकर्म और ज्ञानका समुच्चय इष्ट है तो यह उपर्युक्त विभक्त विवेचन अयोग्य ठहरेगा।

तथा (ऐसा मान लेनेसे) 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इत्यादि जो अर्जुनका प्रश्न है वह भी नहीं बन सकता।

यदि ज्ञान और कर्मका एक पुरुषद्वारा एक साथ किया जाना असम्भव और कर्मकी अपेक्षा ज्ञानका श्रेष्ठत्व भगवान्‌ने पहले न कहा होता, तो इस तरह अर्जुन बिना सुनी हुई बातका झूठे ही भगवान्‌में अध्यारोप कैसे करता कि 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः'।

यदि सभीके लिये ज्ञान और कर्मका समुच्चय कहा होता तो अर्जुनके लिये भी वह कहा ही गया था, फिर दोनोंका समुच्चित उपदेश होते हुए 'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' इस प्रकार दोनोंमेंसे एकके ही सम्बन्धमें प्रश्न कैसे होता?

क्योंकि पित्तकी शान्ति चाहनेवालेको वैद्यके द्वारा यह उपदेश दिया जानेपर कि, मधुर और शीत पदार्थ सेवन करना चाहिये, रोगीका यह प्रश्न नहीं बन सकता कि उन दोनोंमेंसे किसी एकको ही पित्तकी शान्तिका उपाय बतलाइये।

यदि ऐसी कल्पना की जाय कि भगवान्‌द्वारा कहे हुए वचन न समझनेके कारण अर्जुनने प्रश्न किया है, तो फिर भगवान्‌को प्रश्नके अनुरूप ही यह उत्तर देना चाहिये था कि मैंने तो ज्ञान और कर्मका समुच्चय बतलाया है, तू ऐसा भ्रान्त क्यों हो रहा है?

परन्तु प्रश्नसे विपरीत दूसरा ही उत्तर देना कि मैंने दो निष्ठाएँ पहले कही हैं (उपर्युक्त कल्पनाके) उपयुक्त नहीं है।

न अपि स्मार्तेन एव कर्मणा बुद्धेः समुच्चये अभिप्रेते विभागवचनादि सर्वम् उपपन्नम् ।

किं च क्षत्रियस्य युद्धं स्मार्तं कर्म स्वधर्म इति जानतः *'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि'* इति उपालम्भः अनुपपन्नः ।

तस्माद् गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेण अपि श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणा आत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद् दर्शयितुं शक्यः ।

यस्य तु अज्ञानाद् रागादिदोषतो वा कर्मणि प्रवृत्तस्य यज्ञेन दानेन तपसा वा विशुद्धसत्त्वस्य ज्ञानम् उत्पन्नं परमार्थतत्त्वविषयम् एकम् एव इदं सर्वं ब्रह्म अकर्तृ च इति ।

तस्य कर्मणि कर्मप्रयोजने च निवृत्ते अपि लोकसंग्रहार्थं यत्नपूर्वं यथा प्रवृत्तः तथा एव कर्मणि प्रवृत्तस्य यत् प्रवृत्तिरूपं दृश्यते न तत् कर्म येन बुद्धेः समुच्चयः स्यात् ।

यथा भगवतो वासुदेवस्य क्षात्रकर्मचेष्टितं न ज्ञानेन समुच्चीयते पुरुषार्थसिद्धये तद्वत् फलाभिसंध्यहंकाराभावस्य तुल्यत्वाद् विदुषः ।

तत्त्ववित् तु न अहं करोमि इति मन्यते । न च तत्फलं अभिसंधत्ते ।

यथा च स्वर्गादिकामार्थिनः अग्निहोत्रादिकामसाधनानुष्ठानाय आहिताग्नेः काम्ये एव अग्निहोत्रादौ प्रवृत्तस्य सामिकृते विनष्टे अपि कामे तद् एव अग्निहोत्रादि अनुतिष्ठतः अपि न

इसके सिवा यदि केवल स्मार्त-कर्मके साथ ही ज्ञानका समुच्चय माना जाय तो भी विभक्त वर्णन आदि सब उपयुक्त नहीं ठहरते ।

तथा ऐसा माननेसे युद्धरूप स्मार्त-कर्म क्षत्रियका स्वधर्म है, यह जाननेवाले अर्जुनका इस प्रकार उलाहना देना भी नहीं बन सकता कि **'तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि'** ।

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि गीताशास्त्रमें किञ्चिन्मात्र भी श्रौत या स्मार्त किसी भी कर्मके साथ आत्मज्ञानका समुच्चय कोई भी नहीं दिखा सकता ।

अज्ञानसे या आसक्ति आदि दोषोंसे कर्ममें लगे हुए जिस पुरुषको यज्ञसे, दानसे या तपसे अन्तःकरण शुद्ध होकर परमार्थ-तत्त्वविषयक ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि यह सब एक ब्रह्म ही है और वह अकर्ता है ।

उसके कर्म और फल दोनों ही यद्यपि निवृत्त हो चुकते हैं तो भी लोकसंग्रहके लिये पहलेकी भाँति यत्नपूर्वक कर्मोंमें लगे रहनेवाले ऐसे पुरुषका जो प्रवृत्तिरूप कर्म दीखा करता है, वह वास्तवमें कर्म नहीं है, जिससे कि ज्ञानके साथ उसका समुच्चय हो सके ।

जैसे भगवान् वासुदेवद्वारा किये हुए क्षात्रकर्मोंका मोक्षकी सिद्धिके लिये ज्ञानके साथ समुच्चय नहीं होता वैसे ही फलेच्छा और अहंकारके अभावकी समानता होनेके कारण ज्ञानीके कर्मोंका भी (ज्ञानके साथ समुच्चय नहीं होता) ।

क्योंकि आत्मज्ञानी न तो ऐसा ही मानता है कि मैं करता हूँ और न उन कर्मोंका फल ही चाहता है ।

इसके सिवा जैसे काम-साधनरूप अग्निहोत्रादि कर्मोंका अनुष्ठान करनेके लिये सकाम अग्निहोत्रादिमें लगे हुए स्वर्गादिकी कामनावाले अग्निहोत्रीकी कामना यदि आधा कर्म कर चुकनेपर नष्ट हो जाय और फिर भी उसके द्वारा वही अग्निहोत्रादि कर्म होता रहे, तो भी वह काम्य-कर्म नहीं होता (वैसे

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे । गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

तथा च दर्शयति भगवान् *'कुर्वन्नपि' 'न करोति न लिप्यते'* इति तत्र तत्र ।

यच्च *'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'* इति तत् तु प्रविभज्य विज्ञेयम् ।

तत् कथम्, यदि तावत् पूर्वे जनकादयः तत्त्वविदः अपि प्रवृत्तकर्माणः स्युः ते लोकसंग्रहार्थं *'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'* इति ज्ञानेन एव संसिद्धिम् आस्थिताः, कर्मसंन्यासे प्राप्ते अपि कर्मणा सह एव संसिद्धिम् आस्थिता न कर्मसंन्यासं कृतवन्त इति एषः अर्थः ।

अथ न ते तत्त्वविदः, ईश्वरसमर्पितेन कर्मणा साधनभूतेन संसिद्धिं सत्त्वशुद्धिं ज्ञानोत्पत्तिलक्षणां वा संसिद्धिम् आस्थिता जनकादयः इति व्याख्येयम् ।

एतम् एव अर्थं वक्ष्यति भगवान् *'सत्त्वशुद्धये कर्म कुर्वन्ति'* इति ।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इति उक्त्वा सिद्धिं प्राप्तस्य च पुनः ज्ञाननिष्ठां वक्ष्यति *'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म'* इत्यादिना ।

तस्माद् गीतासु केवलाद् एव तत्त्वज्ञानाद् मोक्षप्राप्तिः न कर्मसमुच्चिताद् इति निश्चितः अर्थः ।

यथा च अयम् अर्थः तथा प्रकरणशो विभज्य तत्र तत्र दर्शयिष्यामः ।

तत्र एवं धर्मसंमूढचेतसो महति शोकसागरे निमग्नस्य अर्जुनस्य अन्यत्र आत्मज्ञानाद् उद्धरणम् अपश्यन् भगवान् वासुदेवः ततः अर्जुनम् उद्दिधारयिषुः आत्मज्ञानाय अवतारयन् आह—

'कुर्वन्नपि न लिप्यते' 'न करोति न लिप्यते' इत्यादि वचनोसे भगवान् भी जगह-जगह यही बात दिखलाते है ।

इसके सिवा जो **'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'** इत्यादि वचन है उनको विभागपूर्वक समझना चाहिये ।

वह किस प्रकार समझे ? यदि वे पूर्वमे होनेवाले जनकादि तत्त्ववेत्ता होकर भी लोकसंग्रहके लिये कर्मोंमे प्रवृत्त थे, तब तो यह अर्थ समझना चाहिये कि **'गुण ही गुणोंमें बरत रहे है'** इस ज्ञानसे ही वे परम सिद्धिको प्राप्त हुए अर्थात् कर्म-संन्यासकी योग्यता प्राप्त होनेपर भी कर्मोंका त्याग नहीं किया, कर्म करते-करते ही परमसिद्धिको प्राप्त हो गये ।

यदि वे जनकादि तत्त्वज्ञानी नहीं थे तो ऐसी व्याख्या करनी चाहिये कि वे ईश्वरके समर्पण किये हुए साधनरूप कर्मोंद्वारा चित्त-शुद्धिरूप सिद्धिको अथवा ज्ञानोत्पत्तिरूप सिद्धिको प्राप्त हुए ।

यही बात भगवान् कहेंगे कि **'(योगी) अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते है ।'**

तथा **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** ऐसा कहकर फिर उस सिद्धिप्राप्त पुरुषके लिये **'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म'** इत्यादि वचनोसे ज्ञाननिष्ठा कहेंगे ।

सुतरा गीताशास्त्रमे निश्चय किया हुआ अर्थ यही है कि केवल तत्त्वज्ञानसे ही मुक्ति होती है, कर्मसहित ज्ञानसे नहीं ।

जैसा यह भगवान्‌का अभिप्राय है वैसा ही प्रकरणके अनुसार विभागपूर्वक यथास्थानपर हम आगे दिखलायेंगे ।

इस प्रकार धर्मके विषयमे जिसका चित्त मोहित हो रहा है और जो महान् शोकसागरमे डूब रहा है, ऐसे अर्जुनका विना आत्मज्ञानके उद्धार होना असम्भव समझकर उस शोक-समुद्रसे अर्जुनका उद्धार करनेकी इच्छावाले भगवान् वासुदेव आत्मज्ञानकी प्रस्तावना करते हुए बोले—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

न शोच्या अशोच्या भीष्मद्रोणादयः सद्वृत्तत्वात् परमार्थरूपेण च नित्यत्वात्, तान् *अशोच्यान् अन्वशोचः* अनुशोचितवान् असि ते म्रियन्ते मन्निमित्तम् अहं तैः विनाभूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिना इति ।

जो शोक करने योग्य नहीं होते उन्हे अशोच्य कहते है, भीष्म, द्रोण आदि सदाचारी और परमार्थरूपसे नित्य होनेके कारण अशोच्य है । उन न शोक करने योग्य भीष्मादिके निमित्त तू शोक करता है कि वे मेरे हाथो मारे जायँगे, मै उनसे रहित होकर राज्य और सुखादिका क्या करूँगा ?

त्वं प्रज्ञावादान् प्रज्ञावतां बुद्धिमतां वादान् च वचनानि *च भाषसे* । तद् एतद् मौढ्यं पाण्डित्यं च विरुद्धम् आत्मनि दर्शयसि उन्मत्त इव इति अभिप्रायः ।

तथा तू प्रज्ञावानोके अर्थात् बुद्धिमानोके वचन भी बोलता है, अभिप्राय यह कि इस तरह तू उन्मत्तकी भाँति मूर्खता और बुद्धिमत्ता इन दोनो परस्पर-विरुद्ध भावोको अपनेमे दिखलाता है ।

यस्माद् *गतासून्* गतप्राणान् मृतान् *अगतासून्* अगतप्राणान् जीवतः *च न अनुशोचन्ति पण्डिताः* आत्मज्ञाः ।

क्योकि जिनके प्राण चले गये है—जो मर गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये—जो जीते है उनके लिये भी पण्डित—आत्मज्ञानी शोक नहीं करते।

पण्डा आत्मविषया बुद्धिः येषां ते हि पण्डिताः *'पाण्डित्यं निर्विद्य' (बृ० ३ । ५ । १)* इति श्रुतेः ।

'पाण्डित्यको सम्पादन करके' इस श्रुति-वाक्यानुसार आत्मविषयक बुद्धिका नाम पण्डा है और वह बुद्धि जिनमे हो वे पण्डित है ।

परमार्थतः तु नित्यान् अशोच्यान् अनुशोचसि अतो मूढः असि इति अभिप्रायः ॥११॥

परन्तु परमार्थदृष्टिसे नित्य और अशोचनीय भीष्म आदि श्रेष्ठ पुरुषोके लिये तू शोक करता है, अतः तू मूढ है । यह अभिप्राय है ॥११॥

कुतः ते अशोच्याः, यतो नित्याः । कथम्—

वे भीष्मादि अशोच्य क्यो है ? इसलिये कि वे नित्य है । नित्य कैसे है ?—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

न तु एव जातु कदाचिद् *अहं न आसं* किन्तु आसम् एव, अतीतेषु देहोत्पत्तिविनाशेषु नित्यम् एव अहम् आसम् इति अभिप्रायः ।

किसी कालमे मैं नहीं था, ऐसा नहीं किन्तु अवश्य था अर्थात् भूतपूर्व शरीरोकी उत्पत्ति और विनाश होते हुए भी मै सदा ही था ।

तथा *न त्वं* न आसीः किन्तु आसीः एव । तथा *न इमे जनाधिपाः* न आसन् किन्तु आसन् एव ।

वैसे ही तू नहीं था सो नहीं किन्तु अवश्य था, ये राजागण नहीं थे सो नहीं किन्तु ये भी, अवश्य थे ।

तथा न च एव न भविष्यामः, किन्तु भविष्याम एव सर्वे वयम् अतः अस्माद् देहविनाशात् परम् उत्तरकाले अपि, त्रिषु अपि कालेषु नित्या आत्मस्वरूपेण इति अर्थः ।

देहभेदानुवृत्त्या बहुवचनं न आत्मभेदाभिप्रायेण ॥ १२ ॥

इसके बाद अर्थात् इन शरीरोंका नाश होनेके बाद भी हम सब नहीं रहेंगे सो नहीं किन्तु अवश्य रहेंगे । अभिप्राय यह है कि तीनों कालोंमें ही आत्मरूपसे सब नित्य हैं ।

यहाँ बहुवचनका प्रयोग देहभेदके विचारसे किया गया है, आत्मभेदके अभिप्रायसे नहीं ॥ १२ ॥

तत्र कथम् इव नित्य आत्मा इति दृष्टान्तम् आह—

आत्मा किसके सदृश नित्य है ? इसपर दृष्टान्त कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

देहः अस्य अस्ति इति देही तस्य देहिनो देहवदात्मनः अस्मिन् वर्तमाने देहे यथा येन प्रकारेण कौमारं कुमारभावो बाल्यावस्था, यौवनं यूनो भावो मध्यमावस्था, जरा वयोहानिः जीर्णावस्था इति एताः तिस्रः अवस्था अन्योन्यविलक्षणाः ।

तासां प्रथमावस्थानाशे न नाशो द्वितीयावस्थोपजनने न उपजननम् आत्मनः, किं तर्हि, अविक्रियस्य एव द्वितीयतृतीयावस्थाप्राप्तिः आत्मनो दृष्टा ।

तथा तद्वद् एव देहाद् अन्यो देहान्तरं तस्य प्राप्तिः देहान्तरप्राप्तिः अविक्रियस्य एव आत्मन इत्यर्थः ।

धीरो धीमान् तत्र एवं सति न मुह्यति न मोहम् आपद्यते ॥ १३ ॥

जिसका देह है वह देही है, उस देहीकी अर्थात् शरीरधारी आत्माकी इस—वर्तमान शरीरमें जैसे कौमार—बाल्यावस्था, यौवन—तरुणावस्था और जरा—वृद्धावस्था—ये परस्पर विलक्षण तीनों अवस्थाएँ होती हैं ।

इनमें पहली अवस्थाके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता और दूसरी अवस्थाकी उत्पत्तिसे आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती; तो फिर क्या होता है ? कि निर्विकार आत्माको ही दूसरी और तीसरी अवस्थाकी प्राप्ति होती हुई देखी गयी है ।

वैसे ही निर्विकार आत्माको ही देहान्तरकी प्राप्ति अर्थात् इस शरीरसे दूसरे शरीरका नाम देहान्तर है, उसकी प्राप्ति होती है (होती हुई-सी दीखती है) ।

ऐसा होनेसे अर्थात् आत्माको निर्विकार और नित्य समझ लेनेके कारण धीर—बुद्धिमान् इस विषयमें मोहित नहीं होता—मोहको प्राप्त नहीं होता ॥ १३ ॥

यद्यपि आत्मविनाशनिमित्तो मोहो न संभवति नित्य आत्मा इति विजानतः तथापि शीतोष्णसुखदुःखप्राप्तिनिमित्तो मोहो लौकिको दृश्यते, सुखवियोगनिमित्तो दुःखसंयोगनिमित्तः च शोक इति एतद् अर्जुनस्य वचनम् आशङ्क्य आह—

यद्यपि 'आत्मा नित्य है' ऐसे जाननेवाले ज्ञानीको आत्म-विनाश-निमित्तक मोह होना तो सम्भव नहीं, तथापि शीत-उष्ण और सुख-दुःख-प्राप्ति-जनित लौकिक मोह तथा सुख-वियोग-जनित और दुःख-संयोग-जनित शोक भी होता हुआ देखा जाता है, ऐसे अर्जुनके वचनोंकी आशङ्का करके भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

मात्रा आभिः मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि, मात्राणां स्पर्शाः शब्दादिभिः संयोगाः ते शीतोष्णसुखदुःखदाः शीतम् उष्णं सुखं दुःखं च प्रयच्छन्ति इति ।

अथवा स्पृश्यन्ते इति स्पर्शा विषयाः शब्दादयः, मात्राः च स्पर्शाः च शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

शीतं कदाचित् सुखं कदाचित् दुःखं तथा उष्णम् अपि अनियतरूपं सुखदुःखे पुनः नियतरूपे यतो न व्यभिचरतः अतः ताभ्यां पृथक् शीतोष्णयोः ग्रहणम् ।

यस्मात् ते मात्रास्पर्शादय आगमापायिन आगमापायशीलाः तस्माद् अनित्या अतः तान् शीतोष्णादीन् तितिक्षस्व प्रसहस्व तेषु हर्षं विषादं च मा कार्षीः इत्यर्थः ॥ १४ ॥

मात्रा अर्थात् शब्दादि विषयोंको जिनसे जाना जाय ऐसी श्रोत्रादि इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके स्पर्श अर्थात् शब्दादि विषयोंके साथ उनके संयोग, वे सब शीत-उष्ण और सुख-दुःख देनेवाले हैं अर्थात् शीत-उष्ण और सुख-दुःख देते हैं ।

अथवा जिनका स्पर्श किया जाता है वे स्पर्श अर्थात् शब्दादि विषय, (इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह अर्थ होगा कि) मात्रा और स्पर्श यानी श्रोत्रादि इन्द्रियाँ और शब्दादि विषय (ये सब) शीत-उष्ण और सुख-दुःख देनेवाले है ।

शीत कभी सुखरूप होता है कभी दुःखरूप, इसी तरह उष्ण भी अनिश्चितरूप है, परन्तु सुख और दुःख निश्चितरूप है, क्योंकि उनमें व्यभिचार (फेरफार) नहीं होता । इसलिये सुख-दुःखसे अलग शीत और उष्णका ग्रहण किया गया है ।

जिससे कि वे मात्रा-स्पर्शादि (इन्द्रियाँ उनके विषय और उनके संयोग) उत्पत्ति-विनाशशील हैं, इससे अनित्य हैं, अतः उन शीतोष्णादिको तू सहन कर अर्थात् उनमें हर्ष और विषाद मत कर ॥ १४ ॥

शीतोष्णादीन् सहतः किं स्याद् इति शृणु—

शीत-उष्णादि सहन करनेवालेको क्या (लाभ) होता है ? सो सुन—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

यं हि पुरुषं समदुःखसुखं समे दुःखसुखे यस्य तं समदुःखसुखं सुखदुःखप्राप्तौ हर्षविषादरहितं धीरं धीमन्तं न व्यथयन्ति न चालयन्ति नित्यात्मदर्शनाद् एते यथोक्ताः शीतोष्णादयः ।

स नित्यात्मदर्शननिष्ठो द्वन्द्वसहिष्णुः अमृतत्वाय अमृतभावाय मोक्षाय कल्पते समर्थो भवति ॥ १५ ॥

सुख-दुःखको समान समझनेवाले अर्थात् जिसकी दृष्टिमें सुख-दुःख समान हैं—सुख-दुःखकी प्राप्तिमें जो हर्ष-विषादसे रहित रहता है ऐसे जिस धीर—बुद्धिमान् पुरुषको ये उपर्युक्त शीतोष्णादि व्यथा नहीं पहुँचा सकते अर्थात् नित्य आत्मदर्शनसे विचलित नहीं कर सकते ।

वह नित्य आत्मदर्शननिष्ठ और शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करनेवाला पुरुष आत्मतृप्त हो जानेके लिये यानी मोक्षके लिये समर्थ होता है ॥ १५ ॥

इतः च शोकमोहौ अकृत्वा शीतोष्णादि-सहनं युक्तं यस्मात्—

इसलिये भी शोक और मोह न करके शीतोष्णादि-को सहन करना उचित है, जिससे कि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

नासतः अविद्यमानस्य शीतोष्णादेः सकारणस्य न विद्यते नास्ति भावो भवनम् अस्तिता । न हि शीतोष्णादि सकारणं प्रमाणैः निरूप्यमाणं वस्तु संभवति ।

वास्तवमे अविद्यमान शीतोष्णादिका और उनके कारणोका भाव अर्थात् अस्तित्व है ही नहीं, क्योंकि प्रमाणोंद्वारा निरूपण किये जानेपर शीतोष्णादि और उनके कारण कोई पदार्थ ही नहीं ठहरते ।

विकारो हि सः । विकारः च व्यभिचरति, यथा घटादिसंस्थानं चक्षुषा निरूप्यमाणं मृद्व्यतिरेकेण अनुपलब्धेः असत् तथा सर्वो विकारः कारणव्यतिरेकेण अनुपलब्धेः असन् ।

क्योंकि वे शीतोष्णादि सब विकार हैं, और विकार-का सदा नाश होता है । जैसे चक्षुद्वारा निरूपण किया जानेपर घटादिका आकार मिट्टीको छोड़कर और कुछ भी उपलब्ध नहीं होता इसलिये असत् है, वैसे ही सभी विकार कारणके सिवा उपलब्ध न होनेसे असत् है ।

जन्मप्रध्वंसाभ्यां प्राग् ऊर्ध्वं च अनुप-लब्धेः ।

क्योंकि उत्पत्तिसे पूर्व और नाशके पश्चात् उन सबकी उपलब्धि नहीं है ।

मृदादिकारणस्य तत्कारणस्य च तत्कारण-व्यतिरेकेण अनुपलब्धेः असत्त्वम् । तदसत्त्वे च सर्वाभावप्रसङ्ग इति चेत् ।

पू०—मिट्टी आदि कारणका और उसके भी कारण-का उसके निजी कारणसे पृथक् उनकी उपलब्धि नहीं होनेसे अभाव सिद्ध हुआ, फिर इसी तरह उसका भी अभाव सिद्ध होनेसे सबके अभावका प्रसङ्ग आ जाता है ।

न, सर्वत्र बुद्धिद्वयोपलब्धेः सद्बुद्धिः असद्-बुद्धिः इति ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वत्र सत्-बुद्धि और असत्-बुद्धि ऐसी दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती है ।

यद्विषया बुद्धिः न व्यभिचरति तत् सत्, यद्विषया बुद्धिः व्यभिचरति तद् असद् इति सदसद्विभागे बुद्धितन्त्रे स्थिते ।

जिस पदार्थको विषय करनेवाली बुद्धि नष्ट नहीं होती वह पदार्थ सत् है और जिसको विषय करने-वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है वह असत् है । इस प्रकार सत् और असत्का विभाग बुद्धिके अधीन है ।

सर्वत्र द्वे बुद्धी सर्वैः उपलभ्येते समाना-धिकरणे ।

सभी जगह समानाधिकरणमे (एक ही अधिष्ठानमे) सबको दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती है ।

न नीलोत्पलवत् सन् घटः सन् पटः सन् हस्ती इति एवं सर्वत्र ।

नील कमलके सदृश नहीं, किन्तु घड़ा है, कपड़ा है, हाथी है, इस तरह सब जगह दो-दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं ।*

तयोः बुद्ध्योः घटादिबुद्धिः व्यभिचरति, तथा च दर्शितम् । न तु सद्बुद्धिः ।

उन दोनो बुद्धियोंमेसे घटादिको विषय करने-वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, यह पहले दिखलाया जा चुका है परन्तु सत्-बुद्धि नष्ट नहीं होती ।

* अर्थात् 'नीलोत्पलम्' इस ज्ञानमे जैसे कमलमे कमलत्वकी और नीलापनकी दो बुद्धियाँ होती हैं उसी प्रकार गुण-गुणी-भावसे यहाँ दो बुद्धियाँ नहीं ली गयी हैं किन्तु मृगतृष्णिकामे भ्रान्तिके कारण जैसे अधिष्ठानसे अतिरिक्त जलबुद्धि भी रहती है उसी तरहकी दो बुद्धियाँ दिखायी गयी हैं ।

तस्माद् घटादिबुद्धिविषयः असन् व्यभिचारात्, न तु सद्बुद्धिविषयः अव्यभिचारात् ।

घटे विनष्टे घटबुद्धौ व्यभिचरन्त्यां सद्बुद्धिः अपि व्यभिचरति इति चेत् ।

न, पटादौ अपि सद्बुद्धिदर्शनात् । विशेषणविषया एव सा सद्बुद्धिः ।

सद्बुद्धिवद् घटबुद्धिः अपि घटान्तरे दृश्यते इति चेत् ।

न, पटादौ अदर्शनात् ।

सद्बुद्धिरपि नष्टे घटे न दृश्यते इति चेत् ।

न, विशेष्याभावात् । सद्बुद्धिः विशेषणविषया सती विशेष्याभावे विशेषणानुपपत्तौ किंविषया स्यात्, न तु पुनः सद्बुद्धेः विषयाभावात् ।

एकाधिकरणत्वं घटादिविशेष्याभावे न युक्तम् इति चेत् ।

न, इदम् उदकम् इति मरीच्यादौ अन्यतराभावे अपि समानाधिकरण्यदर्शनात् ।

तस्माद् देहादेः द्वन्द्वस्य च सकारणस्य असतो न विद्यते भाव इति ।

तथा सतः च आत्मनः अभाव. अविद्यमानता न विद्यते सर्वत्र अव्यभिचाराद् इति अवोचाम ।

अतः घटादि बुद्धिका विषय (घटादि) असत् है क्योंकि उसका व्यभिचार होता है । परन्तु सत्-बुद्धिका विषय (अस्तित्व) असत् नहीं है, क्योंकि उसका व्यभिचार नहीं होता ।

पू०—घटका नाश हो जानेपर घटविषयक बुद्धिके नष्ट होते ही सत्-बुद्धि भी तो नष्ट हो जाती है ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वस्त्रादि अन्य वस्तुओमे भी सत्-बुद्धि देखी जाती है । वह सत्-बुद्धि केवल विशेषणको ही विषय करनेवाली है ।

पू०—सत् बुद्धिकी तरह घट-बुद्धि भी तो दूसरे घटमे दीखती है !

उ०—यह ठीक नहीं.क्योंकि वस्त्रादिमें नहीं दीखती ।

पू०—घटका नाश हो जानेपर उसमे सत्-बुद्धि भी तो नहीं दीखती ।

उ०—यह ठीक नहीं; क्योंकि (वहाँ) घटरूप विशेष्यका अभाव है । सत्-बुद्धि विशेषणको विषय करनेवाली है सो जब घटरूप विशेष्यका अभाव हो गया, बिना विशेष्यके विशेषणकी अनुपपत्ति होनेसे वह (सत्-बुद्धि) किसको विषय करे ? पर विषयका अभाव होनेसे सत्-बुद्धिका अभाव नहीं होता ।

पू०—घटादि विशेष्यका अभाव होनेसे एकाधिकरणता (दोनो बुद्धियोका एक अधिष्ठानमे होना) युक्तियुक्त नहीं होती ।

उ०—यह ठीक नहीं, क्योंकि मृगतृष्णिकादिमे अधिष्ठानसे अतिरिक्त अन्य वस्तुका (जलका) अभाव है तो भी 'यह जल है' ऐसी बुद्धि होनेसे समानाधिकरणता देखी जाती है ।*

इसलिये असत् जो शरीरादि एवं शीतोष्णादि द्वन्द्व और उनके कारण हैं उनका किसीका भी भाव—अस्तित्व नहीं है ।

वैसे ही सत् जो आत्मतत्त्व है उसका अभाव अर्थात् अविद्यमानता नहीं है; क्योंकि वह सर्वत्र अटल है यह पहले कह आये है ।

* ... अभिप्राय दो वस्तुओंकी प्रतीतिसे है, वास्तविक सत्तासे नहीं ।

एवम् आत्मानात्मनोः सदसतोः उभयोः अपि दृष्ट उपलब्धः अन्तो निर्णयः सत् सद् एव असद् असद् एव इति तु अनयोः यथोक्तयोः तत्त्वदर्शिभिः।

इस प्रकार सत्–आत्मा और असत्–अनात्मा—इन दोनोका ही यह निर्णय तत्त्वदर्शियोद्वारा देखा गया है अर्थात् प्रत्यक्ष किया जा चुका है कि सत् सत् ही है और असत् असत् ही है।

तद् इति सर्वनाम सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम तद् इति तद्भावः तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यं तद् द्रष्टुं शीलं येषां ते तत्त्वदर्शिनः तैः तत्त्वदर्शिभिः।

'तत्' यह सर्वनाम है और सर्व ब्रह्म ही है, अतः उसका नाम 'तत्' है, उसके भावको अर्थात् ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको तत्त्व कहते हैं, उस तत्त्वको देखना जिनका स्वभाव है वे तत्त्वदर्शी है, उनके द्वारा उपर्युक्त निर्णय देखा गया है।

त्वम् अपि तत्त्वदर्शिनां दृष्टिम् आश्रित्य शोकं मोहं च हित्वा शीतोष्णादीनि नियतानियत-रूपाणि द्वन्द्वानि विकारः अयम् असन् एव मरीचिजलवत् मिथ्या अवभासते इति मनसि निश्चित्य तितिक्षस्व इति अभिप्रायः॥ १६॥

तू भी तत्त्वदर्शी पुरुषोकी बुद्धिका आश्रय लेकर शोक और मोहको छोड़कर तथा नियत और अनियत-रूप शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको, इस प्रकार मनमे समझकर कि ये सब विकार हैं, ये वास्तवमे न होते हुए ही मृगतृष्णाके जलकी भाँति मिथ्या प्रतीत हो रहे है, (इनको) सहन कर। यह अभिप्राय है॥ १६॥

किं पुनः तद् यत् सद् एव सर्वदा एव अस्ति इति उच्यते—

तो, जो निस्सन्देह सत् है और सदैव रहता है वह क्या है? इसपर कहा जाता है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

अविनाशि न विनष्टुं शीलम् अस्य इति। तु शब्दः असतो विशेषणार्थः।

नष्ट न होना जिसका स्वभाव है, वह अविनाशी है। 'तु' शब्द असत्से सत्की विशेषता दिखानेके लिये है।

तद् विद्धि विजानीहि। किं येन सर्वम् इदं जगत् ततं व्याप्तं सदाख्येन ब्रह्मणा साकाशम् आकाशेन इव घटादयः।

उसको तू (अविनाशी) जान–समझ. किसको? जिस सत् नामके ब्रह्मसे यह आकाशसहित सम्पूर्ण विश्व आकाशसे घटादिके सदृश व्याप्त है।

विनाशम् अदर्शनम् अभावम् अव्ययस्य न व्येति, उपचयापचयौ न याति इति अव्ययं तस्य अव्ययस्य।

इस अव्ययका अर्थात् जिसका व्यय नहीं होता जो घटता-बढता नहीं उसे अव्यय कहते हैं, उसका विनाश–अभाव (करनेके लिये कोई भी समर्थ नहीं है)।

न एतत् सदाख्यं ब्रह्म स्वेन रूपेण व्येति व्यभिचरति निरवयवत्वाद् देहादिवत्।

क्योंकि यह सत् नामक ब्रह्म अवयवरहित होनेके कारण देहादिकी तरह अपने स्वरूपसे नष्ट नहीं होता अर्थात् इसका व्यय नहीं होता।

न अपि आत्मीयेन आत्मीयाभावात्, यथा देवदत्तो धनहान्या व्येति न तु एवं ब्रह्म व्येति ।

तथा इसका कोई निजी पदार्थ नहीं होनेके कारण निजी पदार्थोंके नाशसे भी इसका नाश नहीं होता, जैसे देवदत्त अपने धनकी हानिसे हानिवाला होता है, ऐसे ब्रह्म नहीं होता ।

अतः अव्ययस्य अस्य ब्रह्मणो विनाशं न कश्चित् कर्तुम् अर्हति न कश्चिद् आत्मानं विनाशयितुं शक्नोति ईश्वरः अपि ।

इसलिये कहते हैं कि इस अविनाशी ब्रह्मका विनाश करनेके लिये कोई भी समर्थ नहीं है । कोई भी अर्थात् ईश्वर भी अपने आपका नाश नहीं कर सकता ।

आत्मा हि ब्रह्म स्वात्मनि च क्रियाविरोधात् ॥ १७ ॥

क्योंकि आत्मा ही स्वयं ब्रह्म है और अपने-आपमे क्रियाका विरोध है ॥ १७ ॥

किं पुनः तद् असद् यत् स्वात्मसत्तां व्यभिचरति इति उच्यते—

तो फिर वह असत् पदार्थ क्या है जो अपनी सत्ताको छोड़ देता है ? (जिसकी स्थिति बदल जाती है) इसपर कहते है—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अन्तवन्तः अन्तो विनाशो विद्यते येषां ते अन्तवन्तो यथा मृगतृष्णिकादौ सद्बुद्धिः अनुवृत्ता प्रमाणनिरूपणान्ते विच्छिद्यते स तस्या अन्तः तथा इमे देहाः स्वप्नमायादेहादिवत् च अन्तवन्तः ।

जिनका अन्त होता है—विनाश होता है वे सब अन्तवाले हैं । जैसे मृगतृष्णादिमे रहनेवाली जल-विषयक सत्-बुद्धि प्रमाणद्वारा निरूपण की जानेके बाद विच्छिन्न हो जाती है वही उसका अन्त है, वैसे ही ये सब शरीर अन्तवान् हैं तथा स्वप्न और मायाके शरीरादिकी भाँति भी ये सब शरीर अन्तवाले है ।

नित्यस्य शरीरिणः शरीरवतः अनाशिनः अप्रमेयस्य आत्मनः अन्तवन्त इति उक्ता विवेकिभिः इत्यर्थः ।

इसलिये इस अविनाशी, अप्रमेय, शरीरधारी नित्य आत्माके ये सब शरीर विवेकी पुरुषोंद्वारा अन्तवाले कहे गये है । यह अभिप्राय है ।

नित्यस्य अनाशिन इति न पुनरुक्तं नित्यत्वस्य द्विविधत्वात् लोके नाशस्य च ।

'नित्य' और 'अविनाशी' यह कहना पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि संसारमे नित्यत्वके और नाशके दो-दो भेद प्रसिद्ध है ।

यथा देहो भस्मीभूतः अदर्शनं गतो नष्ट उच्यते विद्यमानः अपि अन्यथा परिणतो व्याध्यादियुक्तो जातो नष्ट उच्यते ।

जैसे, शरीर जलकर भस्मीभूत हुआ अदृश्य होकर भी 'नष्ट हो गया' कहलाता है और रोगादिसे युक्त हुआ विपरीत परिणामको प्राप्त होकर विद्यमान रहता हुआ भी 'नष्ट हो गया' कहलाता है ।

तत्र अनाशिनो नित्यस्य इति द्विविधेन अपि नाशेन असंबन्धः अस्य इत्यर्थः।

अन्यथा पृथिव्यादिवद् अपि नित्यत्वं स्याद् आत्मनः तद् मा भूद् इति नित्यस्य अनाशिन इति आह।

अप्रमेयस्य न प्रमेयस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैः अपरिच्छेद्यस्य इत्यर्थः।

ननु आगमेन आत्मा परिच्छिद्यते प्रत्यक्षादिना च पूर्वम्।

न, आत्मनः स्वतःसिद्धत्वात्। सिद्धे हि आत्मनि प्रमातरि प्रमित्सोः प्रमाणान्वेषणा भवति।

न हि पूर्वम् इत्थम् अहम् इति आत्मानम् अप्रमाय पश्चात् प्रमेयपरिच्छेदाय प्रवर्तते। न हि आत्मा नाम कस्यचिद् अप्रसिद्धो भवति।

शास्त्रं तु अन्त्यं प्रमाणम् अतद्धर्माध्यारोपणमात्रनिवर्तकत्वेन प्रमाणत्वम् आत्मनि प्रतिपद्यते न तु अज्ञातार्थज्ञापकत्वेन।

तथा च श्रुतिः *'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः'* (बृ० ३।४।१) इति।

यस्माद् एवं नित्यः अविक्रियः च आत्मा तस्माद् युध्यस्व युद्धाद् उपरमं मा कार्षीः इत्यर्थः।

अतः 'अविनाशी' और 'नित्य' इन दो विशेषणोंका यह अभिप्राय है कि इस आत्माका दोनो प्रकारके ही नाशसे सम्बन्ध नहीं है।

ऐसे नहीं कहा जाता तो आत्माका नित्यत्व भी पृथ्वी आदि भूतोंके सदृश होता। परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिये, इसलिये इसको 'अविनाशी' और 'नित्य' कहा है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जिसका स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सके वह अप्रमेय है।

पू०—जब कि वेदवाक्योंद्वारा आत्माका स्वरूप निश्चित किया जाता है, तब प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उसका जान लेना तो पहले ही सिद्ध हो चुका (फिर वह अप्रमेय कैसे है ?)

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा स्वतः सिद्ध है। प्रमातारूप आत्माके सिद्ध होनेके बाद ही जिज्ञासुकी प्रमाणविषयक खोज (शुरू) होती है।

क्योंकि 'मैं अमुक हूँ' इस प्रकार पहले अपनेको बिना जाने ही अन्य जाननेयोग्य पदार्थको जाननेके लिये कोई प्रवृत्त नहीं होता। तथा अपना आपा किसीसे भी अप्रत्यक्ष (अज्ञात) नहीं होता है।

शास्त्र जो कि अन्तिम प्रमाण है* वह आत्मामें किये हुए अनात्मपदार्थोंके अध्यारोपको दूर करनेमात्रसे ही आत्माके विषयमें प्रमाणरूप होता है, अज्ञात वस्तुका ज्ञान करवानेके निमित्तसे नहीं।

ऐसे ही श्रुति भी कहती है कि 'जो साक्षात् अपरोक्ष है वही ब्रह्म है जो आत्मा सबके हृदयमें व्याप्त है' इत्यादि।

जिससे कि आत्मा इस प्रकार नित्य और निर्विकार सिद्ध हो चुका है, इसलिये तू युद्ध कर, अर्थात् युद्धसे उपराम न हो।

* प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—इन तीन प्रमाणोंमें आगम अर्थात् शास्त्र अन्तिम प्रमाण है। जो वस्तु शास्त्रद्वारा बतलायी जाती है वह पहलेसे किसी-न-किसीद्वारा प्रत्यक्ष की हुई होनी है या अनुमानसे समझी हुई होती है, यह युक्तियुक्त बात है, इस युक्तिको लेकर ही उपर्युक्त शङ्का है। उसका यह उत्तर दिया गया है।

न हि अत्र युद्धकर्तव्यता विधीयते। युद्धे प्रवृत्त एव हि असौ शोकमोहप्रतिबद्धः तूष्णीम् आस्ते, तस्य कर्तव्यप्रतिबन्धापनयनमात्रं भगवता क्रियते। तस्मात् 'युध्यस्व' इति अनुवादमात्रं न विधिः ॥ १८॥

यहाँ (उपर्युक्त कथनसे) युद्धकी कर्तव्यताका विधान नहीं है, क्योंकि युद्धमें प्रवृत्त हुआ ही वह (अर्जुन) शोक-मोहसे प्रतिबद्ध होकर चुप हो गया था, उसके कर्तव्यके प्रतिबन्धमात्रको भगवान् हटाते हैं। इसलिये 'युद्ध कर' यह कहना अनुमोदन-मात्र है, विधि (आज्ञा) नहीं है ॥ १८॥

शोकमोहादिसंसारकारणनिवृत्त्यर्थं गीताशास्त्रं न प्रवर्तकम् इति, एतस्य अर्थस्य साक्षिभूते ऋचौ आनिनाय भगवान्।

गीताशास्त्र संसारके कारणरूप शोक-मोह आदिको निवृत्त करनेवाला है, प्रवर्तक नहीं है। इस अर्थकी साक्षिभूत दो ऋचाओंको भगवान् उद्धृत करते हैं।

यत् तु मन्यसे युद्धे भीष्मादयो मया हन्यन्ते अहम् एव तेषां हन्ता इति एषा बुद्धिः मृषा एव ते। कथम्—

जो तू मानता है कि 'मेरेद्वारा युद्धमें भीष्मादि मारे जायँगे, मैं ही उनका मारनेवाला हूँ'—यह तेरी बुद्धि (भावना) सर्वथा मिथ्या है। कैसे?—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९॥

य एनम् प्रकृतं देहिनं वेत्ति जानाति हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारम्, यः च एनम् अन्यो मन्यते हतं देहहननेन 'हतः अहम् इति' हननक्रियायाः कर्मभूतम्।

तौ उभौ न विजानीतो न ज्ञातवन्तौ अविवेकेन आत्मानम् अहंप्रत्ययविषयम्।

'हन्ता अहं हतः अस्मि अहम्' इति देहहननेन आत्मानं यौ विजानीतः तौ आत्मस्वरूपानभिज्ञौ इत्यर्थः।

यस्माद् न अयम् आत्मा हन्ति न हननक्रियायाः कर्ता भवति, न हन्यते न च कर्म भवति इत्यर्थः अविक्रियत्वात् ॥ १९॥

जिसका वर्णन ऊपरसे आ रहा है, इस आत्माको जो मारनेवाला समझता है अर्थात् हननक्रियाका कर्ता मानता है और जो दूसरा (कोई) इस आत्माको देहके नाशसे 'मैं नष्ट हो गया'—ऐसे नष्ट हुआ मानता है—अर्थात् हननक्रियाका कर्म मानता है।

वे दोनों ही अहंप्रत्ययके विषयभूत आत्माको अविवेकके कारण नहीं जानते।

अभिप्राय यह कि जो शरीरके मरनेसे आत्माको 'मैं मारनेवाला हूँ' 'मैं मारा गया हूँ'—इस प्रकार जानते हैं वे दोनों ही आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ हैं।

क्योंकि यह आत्मा विकाररहित होनेके कारण न तो किसीको मारता है और न मारा जाता है अर्थात् न तो हननक्रियाका कर्ता होता है और न कर्म होता है ॥ १९॥

कथम् अविक्रिय आत्मा इति द्वितीयो मन्त्रः—

आत्मा निर्विकार कैसे है? इसपर दूसरा मन्त्र (इस प्रकार है)—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

न जायते न उत्पद्यते जनिलक्षणा वस्तुविक्रिया न आत्मनो विद्यते इत्यर्थः । न म्रियते वा । वाशब्दः चार्थे ।

यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता अर्थात् उत्पत्तिरूप वस्तुविकार आत्मामे नहीं होता और यह मरता भी नहीं । 'वा' शब्द यहाँ 'च' के अर्थमे है ।

न म्रियते च इति अन्त्या विनाशलक्षणा विक्रिया प्रतिषिध्यते ।

'मरता भी नहीं' इस कथनसे विनाशरूप अन्तिम विकारका प्रतिषेध किया जाता है ।

कदाचित् शब्दः सर्वविक्रियाप्रतिषेधैः संबध्यते न कदाचिद् जायते, न कदाचिद् म्रियते, इति एवम् ।

'कदाचित्' शब्द सभी विकारोके प्रतिषेधके साथ सम्बन्ध रखता है अर्थात् यह आत्मा न कभी जन्मता है, न कभी मरता है ।

यस्माद् अयम् आत्मा भूत्वा भवनक्रियाम् अनुभूय पश्चाद् अभविता अभावं गन्ता न भूयः पुनः तस्माद् न म्रियते । यो हि भूत्वा न भविता स म्रियते इति उच्यते लोके ।

जिससे कि यह आत्मा उत्पन्न होकर अर्थात् उत्पत्तिरूप विकारका अनुभव करके फिर अभावको प्राप्त होनेवाला नहीं है इसलिये मरता नहीं, क्योंकि जो उत्पन्न होकर फिर नहीं रहता वह 'मरता है' इस प्रकार लोकमे कहा जाता है ।

वाशब्दाद् नशब्दात् च अयम् आत्मा अभूत्वा भविता वा देहवद् न भूयः पुनः तस्माद् न जायते । यो हि अभूत्वा भविता स जायते इति उच्यते, न एवम् आत्मा अतो न जायते ।

'वा' शब्दसे और 'न' शब्दसे यह भी पाया जाता है कि यह आत्मा शरीरकी भाँति पहले न होकर फिर होनेवाला नहीं है इसलिये यह जन्मता नहीं; क्योकि जो न होकर फिर होता है वही 'जन्मता है' यह कहा जाता है । आत्मा ऐसा नहीं है, इसलिये नहीं जन्मता ।

यस्माद् एवं तस्माद् अजः यस्माद् न म्रियते तस्माद् नित्यः च ।

ऐसा होनेके कारण आत्मा अज है और मरता नहीं, इसलिये नित्य है ।

यद्यपि आद्यन्तयोः विक्रिययोः प्रतिषेधे सर्वा विक्रियाः प्रतिषिद्धा भवन्ति तथापि मध्यभाविनीनां विक्रियाणां स्वशब्दैः एव तदर्थैः प्रतिषेधः कर्तव्य इति अनुक्तानाम् अपि यौवनादिसमस्तविक्रियाणां प्रतिषेधो यथा स्याद् इति आह 'शाश्वत' इत्यादिना ।

यद्यपि आदि और अन्तके दो विकारोके प्रतिषेधसे (बीचके) सभी विकारोका प्रतिषेध हो जाता है, तो भी बीचमे होनेवाले विकारोका भी उन-उन विकारोंके प्रतिषेधार्थक खास-खास शब्दोंद्वारा प्रतिषेध करना उचित है । इसलिये ऊपर न कहे हुए जो यौवनादि सब विकार हैं उनका भी जिस प्रकार प्रतिषेध हो, ऐसे भावको 'शाश्वत' इत्यादि शब्दोंसे कहते हैं—

शाश्वत इति अपक्षयलक्षणा विक्रिया प्रतिषिध्यते शश्वद्भवः शाश्वतः । न अपक्षीयते स्वरूपेण निरवयवत्वाद् निर्गुणत्वात् च न अपि गुणक्षयेण अपक्षयः।

सदा रहनेवालेका नाम शाश्वत है, 'शाश्वत' शब्दसे अपक्षय (क्षय होना) रूप विकारका प्रतिषेध किया जाता है क्योंकि आत्मा अवयवरहित है, इस कारण स्वरूपसे उसका क्षय नहीं होता और निर्गुण होनेके कारण गुणोंके क्षयसे भी उसका क्षय नहीं होता ।

अपक्षयविपरीता अपि वृद्धिलक्षणा विक्रिया प्रतिषिध्यते पुराण इति । यो हि अवयवागमेन उपचीयते स वर्धते अभिनव इति च उच्यते । अयं तु आत्मा निरवयवत्वात् पुरा अपि नव एव इति पुराणो न वर्धते इत्यर्थः ।

'पुराण' इस शब्दसे, अपक्षयके विपरीत जो वृद्धिरूप विकार है उसका भी प्रतिषेध किया जाता है । जो पदार्थ किसी अवयवकी उत्पत्तिसे पुष्ट होता है वह 'बढ़ता है' 'नया हुआ है' ऐसे कहा जाता है, परन्तु यह आत्मा तो अवयवरहित होनेके कारण पहले भी नया था, अतः 'पुराण' है अर्थात् बढ़ता नहीं ।

तथा न हन्यते न विपरिणम्यते हन्यमाने विपरिणम्यमाने अपि शरीरे ।

तथा शरीरका नाश होनेपर यानी विपरीत परिणामको प्राप्त हो जानेपर भी आत्मा नष्ट नहीं होता अर्थात् दुर्बलतादि बुरी अवस्थाको प्राप्त नहीं होता ।

हन्तिः अत्र विपरिणामार्थो द्रष्टव्यः अपुनरुक्ततायै न विपरिणम्यते इत्यर्थः ।

यहाँ हन्ति क्रियाका अर्थ पुनरुक्तिदोषसे बचनेके लिये विपरीत परिणाम समझना चाहिये, इसलिये यह अर्थ हुआ कि आत्मा अपने स्वरूपसे बदलता नहीं ।

अस्मिन् मन्त्रे षड्भावविकारा लौकिकवस्तुविक्रिया आत्मनि प्रतिषिध्यन्ते । सर्वप्रकारविक्रियारहित आत्मा इति वाक्यार्थः ।

इस मन्त्रमें लौकिक वस्तुओंमें होनेवाले छः भावविकारोंका आत्मामें अभाव दिखलाया जाता है । आत्मा सब प्रकारके विकारोंसे रहित है, यह इस श्लोकका वाक्यार्थ है ।

यस्माद् एवं तस्माद् उभौ तौ न विजानीत इति पूर्वेण मन्त्रेण अस्य संबन्धः ॥ २० ॥

ऐसा होनेके कारण वे दोनों ही (आत्मस्वरूपको) नहीं जानते । इस प्रकार पूर्व मन्त्रसे इसका सम्बन्ध है ॥ २० ॥

'य एनं वेत्ति हन्तारम्' इति अनेन मन्त्रेण हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवति इति प्रतिज्ञाय *'न जायते'* इति अनेन अविक्रियत्वे हेतुम् उक्त्वा प्रतिज्ञातार्थम् उपसंहरति--

'य एनं वेत्ति हन्तारम्'—इस मन्त्रसे 'आत्मा हननक्रियाका कर्ता और कर्म नहीं है'—यह प्रतिज्ञा करके, तथा 'न जायते' इस मन्त्रसे आत्माकी निर्विकारताके हेतुको बतलाकर, अब प्रतिज्ञा किये हुए अर्थका उपसंहार करते हैं—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

वेद विजानाति अविनाशिनम् अन्त्यभावविकाररहितं नित्यं विपरिणामरहितं यो वेद इति संबन्ध एनं पूर्वेण मन्त्रेण उक्तलक्षणम् अजं जन्मरहितम् अव्ययम् अपक्षयरहितम्।

पूर्व मन्त्रमें कहे हुए लक्षणोंसे युक्त इस आत्माको जो अविनाशी—अन्तिम भाव-विकाररूप मरणसे रहित, नित्य—रोगादिजनित दुर्बलता, क्षीणता आदि विकारोंसे रहित, अज—जन्मरहित और अव्यय—अपक्षयरूप विकारसे रहित जानता है।

कथं केन प्रकारेण स विद्वान् पुरुषः अधिकृतो हन्ति हननक्रियां करोति। कथं वा घातयति हन्तारं प्रयोजयति।

वह आत्मतत्त्वका ज्ञाता–अधिकारी पुरुष कैसे (किसको) मारता है और कैसे (किसको) मरवाता है? अर्थात् वह कैसे तो हननरूप क्रिया कर सकता है और कैसे किसी मारनेवालेको नियुक्त कर सकता है?

न कथंचित् कंचिद् हन्ति न कथंचित् कंचिद् घातयति इति। उभयत्र आक्षेप एव अर्थः प्रश्नार्थासंभवात्।

अभिप्राय यह कि वह न किसीको किसी प्रकार भी मारता है और न किसीको किसी प्रकार भी मरवाता है। इन दोनों बातोंमें 'किम्' और 'कथम्' शब्द आक्षेपके बोधक हैं, क्योंकि प्रश्नके अर्थमें यहाँ इनका प्रयोग सम्भव नहीं।*

हेत्वर्थस्य अविक्रियत्वस्य तुल्यत्वाद् विदुषः सर्वकर्मप्रतिषेध एव प्रकरणार्थः अभिप्रेतो भगवतः।

निर्विकारतारूप हेतुका तात्पर्य सभी कर्मोंका प्रतिषेध करनेमें समान है, इससे इस प्रकरणका अर्थ भगवान्‌को यही इष्ट है कि आत्मवेत्ता किसी भी कर्मका करने, करवानेवाला नहीं होता।

हन्तेः तु आक्षेप उदाहरणार्थत्वेन।

अकेली हननक्रियाके विषयमें आक्षेप करना उदाहरणके रूपमें है।†

विदुषः कं कर्मासंभवे हेतुविशेषं पश्यन् कर्माणि आक्षिपति भगवान् '*कथं स पुरुषः*' इति।

पू०—कर्म न हो सकनेमें कौन-से खास हेतुको देखकर ज्ञानीके लिये भगवान् 'कथं स पुरुषः' इस कथनसे कर्मविषयक आक्षेप करते हैं?

ननु उक्त एव आत्मनः अविक्रियत्वं सर्वकर्मासंभवकारणविशेषः।

उ०—पहले ही कह आये हैं कि आत्माकी निर्विकारता ही (ज्ञानी-कर्तृक) सम्पूर्ण कर्मोंके न होनेका खास हेतु है।

सत्यम् उक्तो न तु स कारणविशेषः, अन्यत्वाद् विदुषः अविक्रियाद् आत्मन इति, न हि अविक्रियं स्थाणुं विदितवतः कर्म न संभवति इति चेत्।

पू०—कहा है सही, परन्तु अविक्रिय आत्मासे उसको जाननेवाला भिन्न है, इसलिये (वह ऊपर बतलाया हुआ) खास कारण उपयुक्त नहीं है। क्योंकि स्थाणुको अविक्रिय जाननेवालेसे कर्म नहीं होते ऐसा नहीं।

* अर्थात् आत्मा किसीको किसी प्रकार भी मारने या मरवानेवाला नहीं हो सकता—यह बतलानेके लिये ही यहाँ 'किम्' और 'कथम्' शब्द हैं, प्रश्नके उद्देश्यसे नहीं।

† अर्थात् ज्ञानी केवल हननक्रियाका ही कर्ता और कर्म नहीं हो सकता, इतना ही नहीं, आत्मा निर्विकार और नित्य होनेके कारण वह किसी भी क्रियाका कर्ता और कर्म नहीं हो सकता। यहाँ जो केवल हननक्रियाका ही प्रतिषेध किया गया है, उसे उदाहरणके रूपमें समझना चाहिये।

न, विदुष आत्मत्वात् । न देहादिसंघातस्य विद्वत्ता । अतः पारिशेष्याद् असंहत आत्मा विद्वान् अविक्रिय इति, तस्य विदुषः कर्मासंभवाद् आक्षेपो युक्तः *'कथं स पुरुषः'* इति ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा स्वयं ही जाननेवाला है । देह आदि संघातमें (जड होनेके कारण) ज्ञातापन नहीं हो सकता, इसलिये अन्तमें देहादि संघातसे भिन्न आत्मा ही अविक्रिय ठहरता है और वही जाननेवाला है । ऐसे उस ज्ञानीसे कर्म होना असम्भव है, अतः **'कथं स पुरुषः'** यह आक्षेप उचित ही है ।

यथा बुद्ध्याद्याहृतस्य शब्दाद्यर्थस्य अविक्रिय एव सन् बुद्धिवृत्त्यविवेकविज्ञानेन अविद्यया उपलब्धा आत्मा कल्प्यते ।

जैसे (वास्तवमें) निर्विकार होनेपर भी आत्मा, बुद्धि-वृत्ति और आत्माका भेदज्ञान न रहनेके कारण अविद्या-के सम्बन्धसे, बुद्धि आदि इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये हुए शब्दादि विषयोंका ग्रहण करनेवाला मान लिया जाता है।

एवम् एव आत्मानात्मविवेकज्ञानेन बुद्धिवृत्त्या विद्यया असत्यरूपया एव परमार्थतः अविक्रिय एव आत्मा विद्वान् उच्यते ।

ऐसे ही आत्म-अनात्मविषयक विवेकज्ञानरूप जो बुद्धिवृत्ति है जिसे विद्या कहते हैं, वह यद्यपि असत्-रूप है, तो भी उसके सम्बन्धसे, वास्तवमें जो अविकारी है, ऐसा आत्मा ही विद्वान् कहा जाता है ।

विदुषः कर्मासंभववचनाद् यानि कर्माणि शास्त्रेण विधीयन्ते तानि अविदुषो विहितानि इति भगवतो निश्चयः अवगम्यते ।

ज्ञानीके लिये सभी कर्म असम्भव बतलाये हैं, इस कारण भगवान्‌का यह निश्चय समझा जाता है कि शास्त्रद्वारा जिन कर्मोंका विधान किया गया है वे सब अज्ञानियोंके लिये ही विहित हैं ।

ननु विद्या अपि अविदुष एव विधीयते, विदितविद्यस्य पिष्टपेषणवद् विद्याविधानानर्थक्यात् । तत्र अविदुषः कर्माणि विधीयन्ते न विदुष इति विशेषो न उपपद्यते ।

पू०—विद्या भी अज्ञानीके लिये ही विहित है, क्योंकि जिसने विद्याको जान लिया उसके लिये पिसेको पीसनेकी भाँति विद्याका विधान व्यर्थ है । अतः अज्ञानीके लिये कर्म कहे गये हैं, ज्ञानीके लिये नहीं, इस प्रकार विभाग करना नहीं बन सकता ।

न, अनुष्ठेयस्य भावाभावविशेषोपपत्तेः अग्निहोत्रादिविध्यर्थज्ञानोत्तरकालम् अग्निहोत्रादिकर्म अनेकसाधनोपसंहारपूर्वकम् । अनुष्ठेयम् 'कर्ता अहं मम कर्तव्यम्' इति एवंप्रकारविज्ञानवतः अविदुषो यथा अनुष्ठेयं भवति न तु तथा *'न जायते'* इत्यादि आत्मस्वरूपविध्यर्थज्ञानोत्तरकालभावि किंचिद् अनुष्ठेयं भवति ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्तव्यके भाव और अभावसे भिन्नता सिद्ध होती है, अभिप्राय यह कि अग्निहोत्रादि कर्मोंका विधान करनेवाले विधिवाक्योंके अर्थको जान लेनेके बाद 'अनेक साधन और उपसंहारके सहित अमुक अग्निहोत्रादि कर्म अनुष्ठान करनेके योग्य है' 'मैं कर्ता हूँ' 'मेरा अमुक कर्तव्य है'—इस प्रकार जाननेवाले अज्ञानीके लिये जैसे कर्तव्य बना रहता है वैसे **'न जायते'** इत्यादि आत्मस्वरूपका विधान करनेवाले वाक्योंके अर्थको जान लेनेके बाद उस ज्ञानीके लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता ।

किन्तु 'न अहं कर्ता न भोक्ता' इत्यादि आत्मैकत्वाकर्तृत्वादिविषयज्ञानाद् अन्यद् न उत्पद्यते इति एष विशेष उपपद्यते ।

क्योंकि (ज्ञानीको) 'मैं न कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ' इत्यादि जो आत्माके एकत्व और अकर्तृत्व आदि-विषयक ज्ञान है इससे अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारका भी ज्ञान नहीं होता । इस प्रकार यह (ज्ञानी और अज्ञानीके कर्तव्यका) विभाग सिद्ध होता है ।*

यः पुनः 'कर्ता अहम्' इति वेत्ति आत्मानं तस्य 'मम इदं कर्तव्यम्' इति अवश्यम्भाविनी बुद्धिः स्यात्, तदपेक्षया सः अधिक्रियते इति तं प्रति कर्माणि । स च अविद्वान्—*'उभौ तौ न विजानीतः'* इति वचनात् ।

जो अपनेको ऐसा समझता है कि 'मैं कर्ता हूँ' उसकी यह बुद्धि अवश्य ही होगी कि 'मेरा अमुक कर्तव्य है' उस बुद्धिकी अपेक्षासे वह कर्मोंका अधिकारी होता है, इसीसे उसके लिये कर्म है । और **'उभौ तौ न विजानीतः'** इस वचनके अनुसार वही अज्ञानी है ।

विशेषितस्य च विदुषः कर्माक्षेपवचनात् *'कथं स पुरुषः'* इति ।

क्योंकि पूर्वोक्त विशेषणोंद्वारा वर्णित ज्ञानीके लिये तो **'कथं स पुरुषः'** इस प्रकार कर्मोंका निषेध करनेवाले वचन है ।

तस्माद् विशेषितस्य अविक्रियात्मदर्शिनो विदुषो मुमुक्षोः च सर्वकर्मसंन्यासे एव अधिकारः ।

सुतरां (यह सिद्ध हुआ कि) आत्माको निर्विकार जाननेवाले विशिष्ट विद्वान्‌का और मुमुक्षुका भी सर्वकर्मसंन्यासमे ही अधिकार है ।

अत एव भगवान् नारायणः सांख्यान् विदुषः अविदुषः च कर्मिणः प्रविभज्य द्वे निष्ठे ग्राहयति—*'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्'* इति ।

इसीलिये भगवान् नारायण **'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्'** इस कथनसे सांख्ययोगी—ज्ञानियो और कर्मी—अज्ञानियोंका विभाग करके अलग-अलग दो निष्ठा ग्रहण करवाते है ।

तथा च पुत्राय आह भगवान् व्यासः—*'द्वाविमावथ पन्थानौ' (महा० शा० २४१ । ६)* इत्यादि । तथा च *'क्रियापथश्चैव पुरस्तात्पश्चात् संन्यासश्च'* इति ।

ऐसे ही अपने पुत्रसे भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं कि **'ये दो मार्ग हैं'** इत्यादि, तथा यह भी कहते है कि **'पहले क्रियामार्ग और पीछे संन्यास ।'**

एतम् एव विभागं पुनः पुनः दर्शयिष्यति भगवान् । *'अतत्त्ववित् अहंकारविमूढात्मा कर्ता अहम् इति मन्यते'*, *'तत्त्ववित्तु न अहं करोमि'* इति । तथा च *'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते'* इत्यादि ।

इसी विभागको बारबार भगवान् दिखलायेगे । जैसे **'अहंकारसे मोहित हुआ अज्ञानी मैं कर्ता हूँ, ऐसे मानता है' 'तत्त्ववेत्ता मैं नही करता ऐसे मानता है'** तथा **'सब कर्मोंको मनसे त्यागकर रहता है'** इत्यादि ।

* अर्थात् अज्ञानीके लिये कर्तव्य शेष रहता है, ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता । इसलिये ज्ञानीका कर्मोंमे अधिकार नहीं है और अज्ञानीका अधिकार है, यह भेद करना उचित ही है ।

तत्र केचित् पण्डितंमन्या वदन्ति जन्मादिषड्भावक्रियारहितः अविक्रियः अकर्ता एकः अहम् आत्मा इति न कस्यचिद् ज्ञानम् उत्पद्यते यस्मिन् सति सर्वकर्मसंन्यास उपदिश्यते।

इस विषयमे कितने ही अपनेको पण्डित समझनेवाले कहते हैं कि जन्मादि छः भावविकारोंसे रहित निर्विकार, अकर्ता, एक आत्मा मै हूँ—ऐसा ज्ञान किसीको होता ही नहीं कि जिसके होनेसे सर्वकर्मोंके संन्यासका उपदेश किया जा सके।

न, *'न जायते'* इत्यादि शास्त्रोपदेशानर्थक्यात्।

यह कहना ठीक नहीं। क्योकि (ऐसा मान लेनेसे) **'न जायते'** इत्यादि शास्त्रका उपदेश व्यर्थ होगा।

यथा च शास्त्रोपदेशसामर्थ्याद् धर्मास्तित्वविज्ञानं कर्तुः च देहान्तरसंबन्धिज्ञानं च उत्पद्यते, तथा शास्त्रात् तस्य एव आत्मनः अविक्रियत्वाकर्तृत्वैकत्वादिविज्ञानं कस्मात् न उत्पद्यते इति प्रष्टव्याः ते।

उनसे यह पूछना चाहिये कि जैसे शास्त्रोपदेशकी सामर्थ्यसे कर्म करनेवाले मनुष्यको धर्मके अस्तित्वका ज्ञान और देहान्तरकी प्राप्तिका ज्ञान होता है, उसी तरह उसी पुरुषको शास्त्रसे आत्माकी निर्विकारता, अकर्तृत्व और एकत्व आदिका विज्ञान क्यो नहीं हो सकता ?

करणागोचरत्वाद् इति चेत्।

यदि वे कहे कि (मन-बुद्धि आदि) कारणोंसे आत्मा अगोचर है इस कारण (उसका ज्ञान नहीं हो सकता)।

न, *'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'* (बृ० ४।४।१९) इति श्रुतेः। शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्।

तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि **'मनके द्वारा उस आत्माको देखना चाहिये'** यह श्रुति है, अतः शास्त्र और आचार्यके उपदेशद्वारा एवं शम, दम आदि साधनोंद्वारा शुद्ध किया हुआ मन आत्मदर्शनमे 'करण' (साधन) है।

तथा च तदधिगमाय अनुमाने आगमे च सति ज्ञानं न उपपद्यते इति साहसम् एतत्।

इस प्रकार उस ज्ञान-प्राप्तिके विषयमे अनुमान और आगमप्रमाणोंके रहते हुए भी यह कहना कि ज्ञान नहीं होता, साहसमात्र है !

ज्ञानं च उत्पद्यमानं तद्विपरीतम् अज्ञानम् अवश्यं बाधते इति अभ्युपगन्तव्यम्।

यह तो मान ही लेना चाहिये कि उत्पन्न हुआ ज्ञान अपनेसे विपरीत अज्ञानको अवश्य नष्ट कर देता है।

तत् च अज्ञानं दर्शितं हन्ता अहं हतः अस्मि इति। *'उभौ तौ न विजानीतः'* इति अत्र च आत्मनो हननक्रियायाः कर्तृत्वं कर्मत्वं हेतुकर्तृत्वं च अज्ञानकृतं दर्शितम्।

वह अज्ञान 'मै मारनेवाला हूँ' 'मै मारा गया हूँ' **'ऐसे माननेवाले दोनों नहीं जानते'** इन वचनोंद्वारा पहले दिखलाया ही था, फिर यहाँ भी यह बात दिखायी गयी है कि आत्मामे हननक्रियाका कर्तृत्व, कर्मत्व और हेतुकर्तृत्व अज्ञानजनित है।

तत् च सर्वक्रियासु अपि समानं कर्तृत्वादेः अविद्याकृतत्वम् अविक्रियत्वाद् आत्मनः। विक्रियावान् हि कर्ता आत्मनः कर्मभूतम् अन्यं प्रयोजयति कुरु इति।

आत्मा निर्विकार होनेके कारण 'कर्तृत्व' आदि भावोंका अविद्यामूलक होना सभी क्रियाओंमे समान है। क्योकि विकारवान् ही (स्वयं) कर्ता (बनकर) अपने कर्मरूप दूसरेको कर्ममे नियुक्त करता है कि 'तू अमुक कर्म कर।'

तद् एतद् अविशेषेण विदुषः सर्वक्रियासु कर्तृत्वं हेतुकर्तृत्वं च प्रतिषेधति भगवान् विदुषः कर्माधिकाराभावप्रदर्शनार्थं *'वेदाविनाशिनम्'* *'कथं स पुरुषः'* इत्यादिना ।

सुतरां ज्ञानीका कर्मोंमे अधिकार नहीं है यह दिखानेके लिये भगवान् **'वेदाविनाशिनम्'** **'कथं स पुरुषः'** इत्यादि वाक्योंसे सभी क्रियाओंमे समान भावसे विद्वान्के कर्ता और प्रयोजक कर्ता होनेका प्रतिषेध करते हैं ।

क्व पुनः विदुषः अधिकार इति एतद् उक्तं पूर्वम् एव *'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्'* इति । तथा च सर्वकर्मसंन्यासं वक्ष्यति *'सर्वकर्माणि मनसा'* इत्यादिना ।

ज्ञानीका अधिकार किसमे है ? यह तो **'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्'** इत्यादि वचनोंद्वारा पहले ही बतलाया जा चुका है वैसे ही फिर भी **'सर्वकर्माणि मनसा'** इत्यादि वाक्योंसे सर्व कर्मोंका संन्यास (भगवान्) कहेंगे ।

ननु मनसा इति वचनाद् न वाचिकानां कायिकानां च संन्यास इति चेत् ।

पू० -(उक्त श्लोकमे) 'मनसा' यह शब्द है, इसलिये मानसिक कर्मोंका ही त्याग बतलाया है, शरीर और वाणीसम्बन्धी कर्मोंका नहीं ।

न, सर्वकर्माणि इति विशेषितत्वात् ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि 'सर्वकर्मोंको छोड़कर' इस प्रकार कर्मोंके साथ 'सर्व' विशेषण है ।

मानसानाम् एव सर्वकर्मणाम् इति चेत् ।

पू०—यदि मनसम्बन्धी सर्व कर्मोंका त्याग मान लिया जाय तो ?

न, मनोव्यापारपूर्वकत्वाद् वाक्काय-व्यापाराणां मनोव्यापाराभावे तदनुपपत्तेः ।

उ०—ठीक नहीं । क्योंकि वाणी और शरीरकी क्रिया मनोव्यापारपूर्वक ही होती है । मनोव्यापार-के अभावमे उनकी क्रिया बन नहीं सकती ।

शास्त्रीयाणां वाक्कायकर्मणां कारणानि मानसानि वर्जयित्वा अन्यानि सर्वकर्माणि मनसा संन्यसेद् इति चेत् ।

पू०-शास्त्रविहित कायिक-वाचिक कर्मोंके कारण-रूप मानसिक कर्मोंके सिवा अन्य सब कर्मोंका मनसे संन्यास करना चाहिये—यह मान लिया जाय तो ?

न, न एव कुर्वन् न कारयन् इति विशेषणात् ।

उ०—ठीक नहीं । क्योंकि 'न करता हुआ और न करवाता हुआ' यह विशेषण साथमे है (इसलिये तीनो तरहके कर्मोंका संन्यास सिद्ध होता है) ।

सर्वकर्मसंन्यासः अयं भगवता उक्तो मरिष्यतो न जीवत इति चेत् ।

पू०—यह भगवान्‌द्वारा कहा हुआ सर्व कर्मोंका संन्यास तो मुमूर्षुके लिये है, जीते हुएके लिये नहीं, यह माना जाय तो ?

न, नवद्वारे पुरे देही आस्ते, इति विशेषणा-नुपपत्तेः ।

उ०—ठीक नहीं । क्योंकि ऐसा मान लेनेसे 'नौ द्वारवाले शरीररूप पुरमे आत्मा रहता है' इस विशेषणकी उपयोगिता नहीं रहती ।

न हि सर्वकर्मसंन्यासेन मृतस्य तद्देहे आसनं संभवति अकुर्वतः अकारयतः च ।

कारण, जो सर्वकर्मसंन्यास करके मर चुका है, उसका न करते हुए और न करवाते हुए उस शरीरमे रहना सम्भव नहीं ।

देहे संन्यस्य इति संबन्धो न देहे आस्ते इति चेत् ।

न, सर्वत्र आत्मनः अविक्रियत्वावधारणात् । आसनक्रियायाः च अधिकरणापेक्षत्वात् तदनपेक्षत्वात् च संन्यासस्य, संपूर्वः तु न्यास-शब्द इह त्यागार्थो न निक्षेपार्थः ।

तस्माद् गीताशास्त्रे आत्मज्ञानवतः संन्यासे एव अधिकारो न कर्मणि इति तत्र तत्र उपरिष्टाद् आत्मज्ञानप्रकरणे दर्शयिष्यामः ।२१।

पू०—उक्त वाक्यमे शरीरमें कर्मोंको रखकर, इस तरह सम्बन्ध है 'शरीरमे रहता है' इस प्रकार सम्बन्ध नहीं है, ऐसा मानें तो ?

उ०—ठीक नहीं है । क्योंकि सभी जगह आत्माको निर्विकार माना गया है । तथा 'आसन' क्रियाको आधारकी अपेक्षा है और 'संन्यास' को उसकी अपेक्षा नहीं है । एवं 'सं' पूर्वक 'न्यास' शब्दका अर्थ यहाँ त्यागना है, निक्षेप (रख देना) नहीं ।

सुतरां गीताशास्त्रमे आत्मज्ञानीका संन्यासमे ही अधिकार है, कर्मोंमे नहीं । यही बात आगे चलकर आत्मज्ञानके प्रकरणमे हम जगह-जगह दिखलायेंगे ॥ २१ ॥

प्रकृतं तु वक्ष्यामः, तत्र आत्मनः अविनाशित्वं प्रतिज्ञातं तत् किम् इव इति उच्यते—

अब हम प्रकृत विषय वर्णन करेंगे । यहाँ (प्रकरणमे) आत्माके अविनाशित्वकी प्रतिज्ञा की गयी है वह किसके सदृश है ? सो कहा जाता है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

वासासि **वस्त्राणि** जीर्णानि **दुर्बलतां गतानि** यथा **लोके** विहाय **परित्यज्य** नवानि **अभिनवानि** गृह्णाति **उपादत्ते** नरः **पुरुषः** अपराणि **अन्यानि** तथा **तद्वद् एव** शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति **संगच्छति** नवानि देही **आत्मा पुरुषवद् अविक्रिय एव इत्यर्थः** ॥२२॥

जैसे जगत्‌मे मनुष्य पुराने—जीर्ण वस्त्रोंको त्याग-कर अन्य नवीन वस्त्रोंको ग्रहण करते है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरको छोड़कर अन्यान्य नवीन शरीरोंको प्राप्त करता है । अभिप्राय यह कि (पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नये धारण करनेवाले) पुरुषकी भाँति जीवात्मा सदा निर्विकार ही रहता है ॥ २२ ॥

कस्माद् अविक्रिय एव इति । आह—

आत्मा सदा निर्विकार किस कारणसे है ? सो कहते है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

एनं **प्रकृतं देहिनं** न छिन्दन्ति शस्त्राणि **निरवयवत्वाद् न अवयवविभागं कुर्वन्ति शस्त्राणि असादीनि** ।

इस उपर्युक्त आत्माको शस्त्र नहीं काटते, अभिप्राय यह कि अवयवरहित होनेके कारण तलवार आदि शस्त्र इसके अङ्गोंके टुकड़े नहीं कर सकते ।

तथा न एनं दहति पावकः अग्निः अपि न भस्मीकरोति ।

तथा न एनं क्लेदयन्ति आपः । अपां हि सावयवस्य वस्तुन आर्द्रीभावकरणेन अवयवविश्लेषापादने सामर्थ्यं तद् न निरवयवे आत्मनि संभवति ।

तथा स्नेहवद् द्रव्यं स्नेहशोषणेन नाशयति वायुः एनं स्वात्मानं न शोषयति मारुतः अपि ॥ २३ ॥

वैसे ही अग्नि इसको जला नहीं सकता अर्थात् अग्नि भी इसको भस्मीभूत नहीं कर सकता ।

जल इसको भिगो नहीं सकता । क्योंकि सावयव वस्तुको ही भिगोकर उसके अङ्गोंको पृथक्-पृथक् कर देनेमें जलकी सामर्थ्य है । निरवयव आत्मामें ऐसा होना सम्भव नहीं ।

उसी तरह वायु आर्द्र द्रव्यका गीलापन शोषण करके उसको नष्ट करता है अतः वह वायु भी इस स्व-स्वरूप आत्माका शोषण नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

यत एवं तस्मात्—

ऐसा होनेके कारण—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

यस्माद् अन्योन्यनाशहेतूनि भूतानि एनम् आत्मानं नाशयितुं न उत्सहन्ते । तस्माद् नित्यः ।

नित्यत्वात् सर्वगतः सर्वगतत्वात् स्थाणुः स्थाणुः इव स्थिर इति एतत् । स्थिरत्वाद् अचलः अयम् आत्मा अतः सनातनः चिरंतनो न कारणात् कुतश्चिद् निष्पन्नः अभिनव इत्यर्थः ।

न एतेषां श्लोकानां पौनरुक्त्यं चोदनीयम् । यद् एकेन एव श्लोकेन आत्मनो नित्यत्वम् अविक्रियत्वं च उक्तम् *'न जायते म्रियते वा'* इत्यादिना । तत्र यद् एव आत्मविषयं किंचिद् उच्यते तद् एतस्मात् श्लोकार्थाद् न अतिरिच्यते किंचित् शब्दतः पुनरुक्तं किंचिद् अर्थत इति ।

दुर्बोधत्वाद् आत्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसङ्गम् आपाद्य शब्दान्तरेण तद् एव वस्तु निरूपयति भगवान् वासुदेवः कथं नु नाम संसारिणाम् अव्यक्तं तत्त्वं बुद्धिगोचरताम् आपन्नं सत् संसारनिवृत्तये स्याद् इति ॥ २४ ॥

(यह आत्मा न कटनेवाला, न जलनेवाला, न गलनेवाला और न सूखनेवाला है) । आपसमें एक दूसरेका नाश कर देनेवाले पञ्चभूत इस आत्माका नाश करनेके लिये समर्थ नहीं है । इसलिये यह नित्य है ।

नित्य होनेसे सर्वगत है । सर्वव्यापी होनेसे स्थाणु है अर्थात् स्थाणु (ठूँठ) की भाँति स्थिर है । स्थिर होनेसे यह आत्मा अचल है और इसीलिये सनातन है अर्थात् किसी कारणसे नया उत्पन्न नहीं हुआ है । पुराना है ।

इन श्लोकोंमें पुनरुक्तिके दोषका आरोप नहीं करना चाहिये, क्योंकि **'न जायते म्रियते वा'** इस एक श्लोकके द्वारा ही आत्माकी नित्यता और निर्विकारता तो कही गयी, फिर आत्माके विषयमें जो भी कुछ कहा जाय वह इस श्लोकके अर्थसे अतिरिक्त नहीं है । कोई शब्दसे पुनरुक्त है और कोई अर्थसे (पुनरुक्त है) ।

परन्तु आत्मतत्त्व बड़ा दुर्बोध है—सहज ही समझमें आनेवाला नहीं है, इसलिये बारबार प्रसंग उपस्थित करके दूसरे-दूसरे शब्दोंसे भगवान् वासुदेव उसी तत्त्वका निरूपण करते हैं, यह सोचकर कि किसी भी तरह वह अव्यक्त तत्त्व इन संसारी पुरुषोंके बुद्धिगोचर होकर संसारकी निवृत्तिका कारण हो ॥ २४ ॥

किं च— | तथा—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अव्यक्तः सर्वकरणाविषयत्वाद् न व्यज्यते इति अव्यक्तः अयम् आत्मा ।

अत एव अचिन्त्यः अयम् । यद् हि इन्द्रियगोचरं वस्तु तत् चिन्ताविषयत्वम् आपद्यते अयं तु आत्मा अनिन्द्रियगोचरत्वाद् अचिन्त्यः ।

अविकार्यः अयम्, यथा क्षीरं दध्यातश्चनादिना विकारि न तथा अयम् आत्मा ।

निरवयवत्वात् च अविक्रियः । न हि निरवयवं किंचिद् विक्रियात्मकं दृष्टम् । अविक्रियत्वाद् अविकार्यः अयम् आत्मा उच्यते ।

तस्माद् एवं यथोक्तप्रकारेण एनम् आत्मानं विदित्वा त्वं न अनुशोचितुम् अर्हसि हन्ता अहम् एषां मया एते हन्यन्ते इति ॥ २५ ॥

यह आत्मा बुद्धि आदि सब करणोंका विषय नहीं होनेके कारण व्यक्त नहीं होता (जाना नहीं जा सकता) इसलिये अव्यक्त है ।

इसीलिये यह अचिन्त्य है, क्योंकि जो पदार्थ इन्द्रियगोचर होता है वही चिन्तनका विषय होता है । यह आत्मा इन्द्रियगोचर न होनेसे अचिन्त्य है ।

यह आत्मा अविकारी है अर्थात् जैसे दहीके जाँवन आदिसे दूध विकारी हो जाता है वैसे यह नहीं होता ।

तथा अवयवरहित (निराकार) होनेके कारण भी आत्मा अविक्रिय है, क्योंकि कोई भी अवयवरहित (निराकार) पदार्थ, विकारवान् नहीं देखा गया । अतः विकाररहित होनेके कारण यह आत्मा अविकारी कहा जाता है ।

सुतरां इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे समझकर तुझे यह शोक नहीं करना चाहिये कि 'मैं इनका मारनेवाला हूँ' 'मुझसे ये मारे जाते है' इत्यादि ॥ २५ ॥

आत्मनः अनित्यत्वम् अभ्युपगम्य इदम् उच्यते—

औपचारिक रूपसे आत्माकी अनित्यता स्वीकार करके यह कहते है—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अथ च इति अभ्युपगमार्थः ।

एनं प्रकृतम् आत्मानं नित्यजातं लोकप्रसिद्ध्या प्रत्यनेकशरीरोत्पत्ति जातो जात इति मन्यसे । तथा प्रतितद्विनाशं नित्यं वा मन्यसे मृतं मृतो मृत इति ।

'अथ' 'च' ये दोनो अव्यय औपचारिक स्वीकृतिके बोधक हैं ।

यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला अर्थात् लोकप्रसिद्धिके अनुसार अनेक शरीरोंकी प्रत्येक उत्पत्तिके साथ-साथ उत्पन्न हुआ माने तथा उनके प्रत्येक विनाशके साथ-साथ सदा नष्ट हुआ माने ।

तथापि **तथाभाविनि अपि आत्मनि** त्वं महाबाहो एवं न शोचितुम् अर्हसि, **जन्मवतो नाशो नाशवतो** जन्म च इति एतौ अवश्यं-भाविनौ इति ॥ २६ ॥

तो भी अर्थात् ऐसे नित्य जन्मने और नित्य मरनेवाले आत्माके निमित्त भी हे महाबाहो ! तुझे इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है । क्योंकि जन्मनेवालेका मरण और मरनेवालेका जन्म, यह दोनों अवश्य ही होनेवाले है ॥ २६ ॥

तथा च सति—

ऐसा होनेसे—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

जातस्य हि **लब्धजन्मनो** ध्रुवः **अव्यभिचारी** मृत्युः **मरणं** ध्रुवं जन्म मृतस्य च तस्माद् **अपरिहार्यः अयं जन्ममरणलक्षणः अर्थः तस्मिन्** अपरिहार्ये अर्थे न त्वं शोचितुम् अर्हसि ॥ २७ ॥

जिसने जन्म लिया है उसका मरण ध्रुव—निश्चित है और जो मर गया है उसका जन्म ध्रुव—निश्चित है, इसलिये यह जन्म-मरणरूप भाव अपरिहार्य है अर्थात् किसी प्रकार भी इसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता, इस अपरिहार्य विषयके निमित्त तुझे शोक करना उचित नहीं ॥ २७ ॥

कार्यकरणसंघातात्मकानि अपि भूतानि उद्दिश्य शोको न युक्तः कर्तुं यतः—

कार्य-करणके संघातरूप ही प्राणियोंको माने तो उनके उद्देश्यसे भी शोक करना उचित नहीं है, क्योंकि—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

अव्यक्तादीनि अव्यक्तम् अदर्शनम् अनुपलब्धिः आदिः येषां भूतानां पुत्रमित्रादिकार्यकरणसंघातात्मकानां तानि अव्यक्तादीनि भूतानि **प्राग् उत्पत्तेः ।**

अव्यक्त यानी न दीखना—उपलब्ध न होना ही जिनकी आदि है ऐसे ये कार्य-करणके संघातरूप पुत्र, मित्र आदि समस्त भूत अव्यक्तादि हैं अर्थात् जन्मसे पहले ये सब अदृश्य थे ।

उत्पन्नानि च प्राग् मरणाद् व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि एव **पुनः अव्यक्तम् अदर्शनं निधनं मरणं येषां तानि अव्यक्तनिधनानि मरणाद् ऊर्ध्वम् अपि अव्यक्तताम् एव प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः ।**

उत्पन्न होकर मरणसे पहले-पहले बीचमें व्यक्त हैं—दृश्य हैं । और पुनः अव्यक्त-निधन हैं, अदृश्य होना ही जिनका निधन यानी मरण है उनको अव्यक्त-निधन कहते हैं, अभिप्राय यह कि मरनेके बाद भी ये सब अदृश्य हो ही जाते है ।

तथा च उक्तम्—'*अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः । नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना ॥*' (महा० स्त्री० २ । १३) **इति ।**

ऐसे ही कहा भी है कि 'यह भूतसंघात अदर्शनसे आया और पुनः अदृश्य हो गया । न वह तेरा है और न तू उसका है, व्यर्थ ही शोक किसलिये ?'

तत्र का परिदेवना को वा प्रलापः अदृष्टदृष्ट-प्रणष्टभ्रान्तिभूतेषु भूतेषु इत्यर्थः ॥ २८ ॥

सुतरां इनके विषयमे अर्थात् बिना हुए ही दीखने और नष्ट होनेवाले भ्रान्तिरूप भूतोंके विषयमे चिन्ता ही क्या है ? रोना-पीटना भी किसलिये है ? ॥ २८ ॥

दुर्विज्ञेयः अयं प्रकृत आत्मा किं त्वाम् एव एकम् उपालभे साधारणे भ्रान्तिनिमित्ते । कथं दुर्विज्ञेयः अयम् आत्मा इति । आह—

जिसका प्रकरण चल रहा है यह आत्मतत्त्व दुर्विज्ञेय है । सर्वसाधारणको भ्रान्ति करा देनेवाले विषयमे केवल एक तुझे ही क्या उलाहना दूँ ? यह आत्मा दुर्विज्ञेय कैसे है ? सो कहते है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

आश्चर्यवद् आश्चर्यम् अदृष्टपूर्वम् अद्भुतम् अकस्माद् दृश्यमानं तेन तुल्यम् आश्चर्यवद् आश्चर्यम् इव एनम् आत्मानं पश्यति कश्चित् ।

पहले जो नहीं देखा गया हो अकस्माद् दृष्टिगोचर हुआ हो ऐसे अद्भुत पदार्थका नाम आश्चर्य है, उसके सदृशका नाम आश्चर्यवत् है, इस आत्माको कोई (महापुरुष) ही आश्चर्यमय वस्तुकी भाँति देखता है ।

आश्चर्यवद् एनं वदति तथा एव च अन्यः । आश्चर्य-वत् च एनम् अन्यः शृणोति । श्रुत्वा दृष्ट्वा उक्त्वा अपि एनं वेद न च एव कश्चित् ।

वैसे ही दूसरा (कोई एक) इसको आश्चर्यवत् कहता है, अन्य (कोई) इसको आश्चर्यवत् सुनता है एवं कोई इस आत्माको सुनकर, देखकर और कहकर भी नहीं जानता ।

अथ वा यः अयम् आत्मानं पश्यति स आश्चर्यतुल्यो यो वदति, यः च शृणोति, सः अनेकसहस्रेषु कश्चिद् एव भवति, अतो दुर्बोध आत्मा इति अभिप्रायः ॥ २९ ॥

अथवा जो इस आत्माको देखता है वह आश्चर्य-के तुल्य है, जो कहता है और जो सुनता है वह भी (आश्चर्यके तुल्य है) । अभिप्राय यह कि अनेक सहस्रोंमेसे कोई एक ही ऐसा होता है । इसलिये आत्मा बड़ा दुर्बोध है ॥ २९ ॥

अथ इदानीं प्रकरणार्थम् उपसंहरन् ब्रूते—

अब यहाँ प्रकरणके विषयका उपसंहार करते हुए कहते है—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

देही शरीरी नित्यं सर्वदा सर्वावस्थासु अवध्यो निरवयवत्वाद् नित्यत्वात् च तत्र अवध्यः अयं देहे शरीरे सर्वस्य सर्वगतत्वात् स्थावरादिषु स्थितः अपि ।

यह जीवात्मा सर्वव्यापी होनेके कारण सबके स्थावर-जंगम आदि शरीरोंमे स्थित है तो भी अवयवरहित और नित्य होनेके कारण सदा—सब अवस्थाओंमे अवध्य ही है ।

सर्वस्य **प्राणिजातस्य देहे वध्यमाने अपि अयं देही न वध्यो यस्मात्** तस्माद् **भीष्मादीनि** सर्वाणि भूतानि **उद्दिश्य** न त्वं शोचितुम् अर्हसि ॥ ३० ॥

जिससे कि सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंका नाश किये जानेपर भी इस आत्माका नाश नहीं किया जा सकता, इसलिये भीष्मादि सब प्राणियोंके उद्देश्यसे तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥ ३० ॥

इह परमार्थतत्त्वापेक्षायां शोको मोहो वा न संभवति इति उक्तम्, न केवलं परमार्थ-तत्त्वापेक्षायाम् एव किन्तु—

यहाँ यह कहा गया कि परमार्थ-तत्त्वकी अपेक्षासे शोक या मोह करना नहीं बन सकता। केवल इतना ही नहीं कि परमार्थ-तत्त्वकी अपेक्षासे शोक और मोह नहीं बन सकते, किन्तु—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

स्वधर्मम् अपि **स्वो धर्मः क्षत्रियस्य युद्धं तम् अपि** अवेक्ष्य **त्वं** न विकम्पितुं **प्रचलितुं न** अर्हसि; **स्वाभाविकाद् धर्माद् आत्मस्वाभाव्याद् इति अभिप्रायः।**

तत् च युद्धं पृथिवीजयद्वारेण धर्मार्थं प्रजारक्षणार्थं च इति धर्माद् अनपेतं परं धर्म्यं तस्माद् धर्म्याद् युद्धात् श्रेयः अन्यद् क्षत्रियस्य न विद्यते हि **यस्मात्** ॥ ३१ ॥

क्षत्रियके लिये जो युद्धरूप स्वधर्म है उसे देखकर भी तुझे कम्पित होना उचित नहीं है, अभिप्राय यह कि अपने स्वाभाविक धर्मसे विचलित होना (हटना) भी तुझे उचित नहीं है।

क्योंकि वह युद्ध पृथ्वी-विजयद्वारा धर्म-पालन और प्रजा-रक्षणके लिये किया जाता है इसलिये धर्मसे ओतप्रोत परम धर्म्य है, अतः उस धर्ममय युद्धके सिवा दूसरा कुछ क्षत्रियके लिये कल्याणप्रद नहीं है ॥ ३१ ॥

कुतः च तद् युद्धं कर्तव्यम् इति उच्यते—

और भी वह युद्ध किसलिये कर्तव्य है सो कहते हैं—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

यदृच्छया च **अप्रार्थितया** उपपन्नम् **आगतं** स्वर्गद्वारम् अपावृतम् **उद्घाटितं ये तद्** ईदृशं युद्धं लभन्ते क्षत्रियाः हे पार्थ, **किं न** सुखिनः **ते** ॥ ३२ ॥

हे पार्थ! अनिच्छासे प्राप्त—बिना माँगे मिले हुए, ऐसे खुले हुए स्वर्गद्वाररूप युद्धको जो क्षत्रिय पाते हैं, क्या वे सुखी नहीं हैं? ॥ ३२ ॥

एवं कर्तव्यताप्राप्तम् अपि—

इस प्रकार कर्तव्यरूपसे प्राप्त होनेपर भी—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं **धर्माद् अनपेतं** संग्रामं **युद्धं** न करिष्यसि **चेत्** ततः **तदकरणात्** स्वधर्मं कीर्तिं च **महादेवादिसमागमनिमित्तां** हित्वा **केवलं** पापम् अवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

यदि तू यह धर्मयुक्त—धर्मसे ओतप्रोत युद्ध नहीं करेगा, तो उस युद्धके न करनेके कारण अपने धर्मको और महादेव आदिके साथ युद्ध करनेसे प्राप्त हुई कीर्तिको नष्ट करके केवल पापको ही प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

न केवलं स्वधर्मकीर्तिपरित्यागः—

केवल स्वधर्म और कीर्तिका त्याग होगा, इतना ही नहीं—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अकीर्तिं च अपि भूतानि कथयिष्यन्ति ते **तव** अव्ययां **दीर्घकालाम् । धर्मात्मा शूर इति एवमादिभिः गुणैः** संभावितस्य च अकीर्तिः मरणाद् अतिरिच्यते । **संभावितस्य च अकीर्तेः वरं मरणम् इत्यर्थः** ॥ ३४ ॥

सब लोग तेरी बहुत दिनोंतक स्थायी रहनेवाली अपकीर्ति (निन्दा) भी किया करेंगे । धर्मात्मा शूरवीर इत्यादि गुणोंसे प्रतिष्ठा पाये हुए पुरुषके लिये अपकीर्ति, मरणसे भी अधिक होती है । अभिप्राय यह है कि संभावित (इज्जतदार) पुरुषके लिये अपकीर्तिकी अपेक्षा मरना अच्छा है ॥ ३४ ॥

किं च—

तथा—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

भयात् **कर्णादिभ्यो** रणाद् **युद्धाद्** उपरतं **निवृत्तं** मंस्यन्ते **चिन्तयिष्यन्ति न कृपया इति** त्वां महारथा **दुर्योधनप्रभृतयः** येषां च त्वं **दुर्योधनादीनां** बहुमतो **बहुभिः गुणैः युक्त इति एवं बहुमतो** भूत्वा **पुनः** यास्यसि लाघवं **लघुभावम्** ।

जिन दुर्योधनादिके मतमें तू पहले बहुमत अर्थात् बहुत गुणोंसे युक्त माना जाकर अब लघुताको प्राप्त होगा, वे दुर्योधन आदि महारथीगण तुझे कर्णादिके भयसे ही युद्धसे निवृत्त हुआ मानेंगे, 'दया करके हट गया है' ऐसा नहीं ॥ ३५ ॥

किं च—

तथा—

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अवाच्यवादान् **अवक्तव्यवादान्** च बहून् **अनेकप्रकारान्** वदिष्यन्ति तव अहिताः **शत्रवो** निन्दन्तः **कुत्सयन्तः** तव **त्वदीयं** सामर्थ्यं **निवातकवचादियुद्धनिमित्तम्** ।

वे तेरे शत्रुगण, निवातकवचादिके साथ युद्ध करनेमें दिखलाये हुए तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए बहुत-से—अनेक प्रकारके न कहनेयोग्य वाक्य भी तुझे कहेंगे ।

तस्मात् ततो निन्दाप्राप्तेः दुःखाद् दुःखतरं नु किम् । ततः कष्टतरं दुःखं न अस्ति इत्यर्थः ॥३६॥

उस निन्दाजनित दुःखसे अधिक बड़ा दुःख क्या है ? अर्थात् उससे अधिक कष्टकर कोई भी दुःख नहीं है ॥ ३६ ॥

युद्धे पुनः क्रियमाणे कर्णादिभिः—

पक्षान्तरमें कर्ण आदि शूरवीरोंके साथ युद्ध करनेपर—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं हतः सन् स्वर्गं प्राप्स्यसि जित्वा वा कर्णादीन् शूरान् भोक्ष्यसे महीम् । उभयथा अपि तव लाभ एव इति अभिप्रायः ।

—या तो उनके द्वारा मारा जाकर (तू) स्वर्गको प्राप्त करेगा अथवा कर्णादि शूरवीरोंको जीतकर पृथिवीका राज्य भोगेगा । अभिप्राय यह कि दोनों तरहसे तेरा लाभ ही है ।

यत एवं तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयो जेष्यामि शत्रून् मरिष्यामि वा इति निश्चयं कृत्वा इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

जब कि यह बात है, इसलिये हे कौन्तेय ! युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा अर्थात् 'मैं या तो शत्रुओंको जीतूँगा या मर ही जाऊँगा' ऐसा निश्चय करके खडा हो जा ॥ ३७ ॥

तत्र युद्धं स्वधर्म इति एवं युध्यमानस्य उपदेशम् इमं शृणु—

'युद्ध स्वधर्म है' यह मानकर युद्ध करनेवालेके लिये यह उपदेश है, सुन—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुखदुःखे समे तुल्ये कृत्वा रागद्वेषौ अकृत्वा इति एतत् । तथा लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वा ततो युद्धाय युज्यस्व घटस्व । न एवं युद्धं कुर्वन् पापम् अवाप्स्यसि इति एष उपदेशः प्रासङ्गिकः ॥ ३८ ॥

सुख-दुःखको समान—तुल्य समझकर अर्थात् (उनमें) राग-द्वेष न करके तथा लाभ-हानिको और जय-पराजयको समान समझकर, उसके बाद तू युद्धके लिये चेष्टा कर, इस तरह युद्ध करता हुआ तू पापको प्राप्त नहीं होगा । यह प्रासङ्गिक उपदेश है ॥ ३८ ॥

शोकमोहापनयनाय लौकिको न्यायः *'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य'* इत्याद्यैः श्लोकैः उक्तो न तु तात्पर्येण ।

'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इत्यादि श्लोकोंद्वारा शोक और मोहको दूर करनेके लिये लौकिक न्याय बतलाया गया है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टिसे यह बात नहीं है ।

परमार्थदर्शनं तु इह प्रकृतं तत् च उक्तम् उपसंहरति *'एषा तेऽभिहिता'* इति शास्त्रविषयविभागप्रदर्शनाय ।

यहाँ प्रकरण परमार्थ-दर्शनका है, जो कि पहले (श्लोक ३०) तक कहा गया है । अब शास्त्रके विषयका विभाग दिखलानेके लिये 'एषा तेऽभिहिता' इस श्लोकद्वारा उस (परमार्थ-दर्शन) का उपसंहार करते हैं ।

इह हि दर्शिते पुनः शास्त्रविषयविभागे उपरिष्टात् *'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्'* इति निष्ठाद्वयविषयं शास्त्रं सुखं प्रवर्तिष्यते श्रोतारः च विषयविभागेन सुखं ग्रहीष्यन्ति इति अत आह—

क्योंकि यहाँ शास्त्रके विषयका विभाग दिखलाया जानेसे यह होगा कि आगे चलकर **'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्'** इत्यादि जो दो निष्ठाओंको बतानेवाला शास्त्र है वह सुखपूर्वक समझाया जा सकेगा और श्रोतागण भी विषयविभागपूर्वक अनायास ही उसे ग्रहण कर सकेंगे। इसलिये कहते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

एषा ते **तुभ्यम्** अभिहिता **उक्ता** सांख्ये **परमार्थ-वस्तुविवेकविषये** बुद्धिः **ज्ञानं साक्षात् शोक-मोहादिसंसारहेतुदोषनिवृत्तिकारणम्** ।

योगे तु **तत्प्राप्त्युपाये निःसङ्गतया द्वन्द्व-प्रहाणपूर्वकम् ईश्वराराधनार्थे कर्मयोगे कर्मानु-ष्ठाने समाधियोगे च** इमाम् **अनन्तरम् एव उच्यमानां** बुद्धिं शृणु ।

तां बुद्धिं स्तौति प्ररोचनार्थम्—

बुद्ध्या यया **योगविषयया** युक्तो हे पार्थ कर्मबन्धं **कर्म एव धर्माधर्माख्यो बन्धः कर्म-बन्धः तं** प्रहास्यसि **ईश्वरप्रसादनिमित्तज्ञानप्राप्तेः इति अभिप्रायः** ॥ ३९ ॥

मैंने तुझसे सांख्य अर्थात् परमार्थ वस्तुकी पहिचान-के विषयमें यह बुद्धि यानी ज्ञान कह सुनाया। यह ज्ञान, संसारके हेतु जो शोक, मोह आदि दोष हैं, उनकी निवृत्तिका साक्षात् कारण है।

इसकी प्राप्तिके उपायरूप योगके विषयमें अर्थात् आसक्तिरहित होकर सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंके त्याग-पूर्वक ईश्वराराधनके लिये कर्म किये जानेवाले कर्म-योगके विषयमें और समाधियोगके विषयमें इस बुद्धि-को, जो कि अभी आगे कही जाती है, सुन—

रुचि बढ़ानेके लिये उस बुद्धिकी स्तुति करते हैं—

हे अर्जुन! जिस योगविषयक बुद्धिसे युक्त हुआ तू धर्माधर्म नामक कर्मरूप बन्धनको ईश्वर-कृपासे होनेवाली ज्ञान-प्राप्तिद्वारा नाश कर डालेगा ॥ ३९ ॥

किं च अन्यत्—

इसके सिवा और भी सुन—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

न इह **मोक्षमार्गे कर्मयोगे** अभिक्रमनाशः **अभिक्रमणम् अभिक्रमः प्रारम्भः तस्य नाशो न** अस्ति **यथा कृष्यादेः योगविषये प्रारम्भस्य न अनैकान्तिकफलत्वम् इत्यर्थः** ।

आरम्भका नाम अभिक्रम है, इस कर्मयोगरूप मोक्षमार्गमें अभिक्रमका यानी प्रारम्भका कृषि आदिके सदृश नाश नहीं होता। अभिप्राय यह कि योगविषयक प्रारम्भका फल अनैकान्तिक (संशययुक्त) नहीं है।

किं च न अपि चिकित्सावत् प्रत्यवायो विद्यते।

किं तु भवति । स्वल्पम् अपि अस्य **योग-धर्मस्य अनुष्ठितं** त्रायते **रक्षति** महतः **संसार-भयात्** जन्ममरणादिलक्षणात् ॥ ४० ॥

तथा चिकित्सादिकी तरह (इसमें) प्रत्यवाय (विपरीत फल) भी नहीं होता है ।

तो क्या होता है ? इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान (साधन) जन्म-मरणरूप महान् संसारभयसे रक्षा किया करता है ॥४०॥

या इयं सांख्ये बुद्धिः उक्ता योगे च वक्ष्यमाणलक्षणा सा—

जो यह बुद्धि सांख्यके विषयमें कही गयी है और जो योगके विषयमे अब कही जानेवाली है वह—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

व्यवसायात्मिका **निश्चयस्वभावा** एका **एव बुद्धिः इतरविपरीतबुद्धिशाखाभेदस्य बाधिका सम्यक्प्रमाणजनितत्वाद् इह श्रेयोमार्गे हे** कुरुनन्दन ।

याः पुनः इतरा बुद्धयो यासां शाखाभेद-प्रचारवशाद् अनन्तः अपारः अनुपरतः संसारो नित्यप्रततो विस्तीर्णो भवति, प्रमाण-जनितविवेकबुद्धिनिमित्तवशात् च उपरतासु अनन्तभेदबुद्धिषु संसारः अपि उपरमते ।

ता बुद्धयो बहुशाखा **बह्व्यः शाखा यासां ता बहुशाखा बहुभेदा इति एतत्। प्रतिशाखाभेदेन** हि अनन्ताः च बुद्धयः, **केषाम्** अव्यवसायिना **प्रमाणजनितविवेकबुद्धिरहितानाम् इत्यर्थः** ।४१।

हे कुरुनन्दन ! इस कल्याण-मार्गमें व्यवसायात्मिका—निश्चय स्वभाववाली बुद्धि एक ही है, यानी यथार्थ प्रमाणजनित होनेके कारण अन्य विपरीत बुद्धियोंके शाखा-भेदोंकी बाधक है ।

जो इतर (दूसरी) बुद्धियाँ हैं, जिनके शाखा-भेदके विस्तारसे संसार अनन्त, अपार और अनुपरत होता है अर्थात् निरन्तर अत्यन्त विस्तृत होता है, उन अनन्त भेदोंवाली बुद्धियोंका, प्रमाण-जनित विवेक-बुद्धिके बलसे, अन्त हो जानेपर संसारका भी अन्त हो जाता है ।

परन्तु जो अव्यवसायी हैं, जो प्रमाणजनित विवेक-बुद्धिसे रहित हैं उनकी वे बुद्धियाँ बहुत शाखा अर्थात् बहुत भेदोंवाली और प्रति शाखा-भेदसे अनन्त होती हैं ॥ ४१ ॥

येषां व्यवसायात्मिका बुद्धिः नास्ति ते—

जिनमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं है वे—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

याम् इमा **वक्ष्यमाणां** पुष्पिता **पुष्पितवृक्ष इव शोभमानां श्रूयमाणरमणीयां** वाचं **वाक्य-लक्षणां** प्रवदन्ति ।

इस आगे कही जानेवाली, पुष्पित वृक्षों-जैसी शोभित—सुननेमें ही रमणीय जिस वाणीको कहा करते हैं ।

के, अविपश्चितः अल्पमेधसः अविवेकिन इत्यर्थः । वेदवादरता बह्वर्थवादफलसाधनप्रकाशकेषु वेदवाक्येषु रताः ।

हे पार्थ न अन्यत् स्वर्गप्राप्त्यादिफलसाधनेभ्यः कर्मभ्यः अस्ति इति एवं वादिनो वदनशीलाः ॥ ४२ ॥

कौन कहा करते हैं ? अज्ञानी अर्थात् अल्प-बुद्धिवाले अविवेकी, जो कि बहुत अर्थवाद और फलसाधनोंको प्रकाश करनेवाले वेदवाक्योंमे रत हैं ।

तथा हे पार्थ ! जो ऐसे भी कहनेवाले हैं कि स्वर्ग-प्राप्ति आदि फलके साधनरूप कर्मोंसे अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं ॥ ४२ ॥

ते च—

तथा वे—

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

कामात्मानः कामस्वभावाः कामपरा इत्यर्थः । स्वर्गपराः स्वर्गः परः पुरुषार्थो येषां ते स्वर्गपराः स्वर्गप्रधाना जन्मकर्मफलप्रदां कर्मणः फलं कर्मफलं जन्म एव कर्मफलं जन्मकर्मफलं तत् प्रददाति इति जन्मकर्मफलप्रदा तां वाचं प्रवदन्ति इति अनुषज्यते ।

क्रियाविशेषबहुलां क्रियाणां विशेषाः क्रियाविशेषाः ते बहुला यस्यां वाचि तां स्वर्गपशुपुत्राद्यर्था यया वाचा बाहुल्येन प्रकाश्यन्ते । भोगैश्वर्यगतिं प्रति भोगः च ऐश्वर्यं च भोगैश्वर्ये तयोः गतिः प्राप्तिः भोगैश्वर्यगतिः तां प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषाः तद्बहुलां तां वाचं प्रवदन्तो मूढाः संसारे परिवर्तन्ते इति अभिप्रायः ॥ ४३ ॥

कामात्मा—जिन्होंने कामको ही अपना स्वभाव बना लिया है ऐसे कामपरायण और स्वर्गको प्रधान माननेवाले यानी स्वर्ग ही जिनका परम पुरुषार्थ है ऐसे पुरुष जन्मरूप कर्मफलको देनेवाली ही बाते किया करते हैं। कर्मके फलका नाम 'कर्म-फल' है, जन्मरूप कर्मफल 'जन्म-कर्म-फल' कहलाता है, उसको देनेवाली वाणी 'जन्म-कर्म-फल-प्रदा' कही जाती है । ऐसी वाणी कहा करते हैं ।

इस प्रकार भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये जो क्रियाओंके भेद है वे जिस वाणीमे बहुत हों अर्थात् स्वर्ग, पशु, पुत्र आदि अनेक पदार्थ जिस वाणीद्वारा अधिकतासे बतलाये जाते हो, ऐसी बहुत-से क्रियाभेदोको बतलानेवाली वाणीको बोलनेवाले वे मूढ बारंबार संसार-चक्रमे भ्रमण करते है, यह अभिप्राय है ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

तेषां च—भोगैश्वर्यप्रसक्तानां भोगः कर्तव्यम् ऐश्वर्यं च इति भोगैश्वर्ययोः एव प्रणयवतां तदात्मभूतानां तया क्रियाविशेषबहुलया वाचा अपहृतचेतसाम् आच्छादितविवेकप्रज्ञानां व्यवसायात्मिका सांख्ये योगे वा बुद्धिः समाधौ

जो भोग और ऐश्वर्यमे आसक्त है, अर्थात् भोग और ऐश्वर्य ही पुरुषार्थ है ऐसे मानकर उनमे ही जिनका प्रेम हो गया है इस प्रकार जो तद्रूप हो रहे है, तथा क्रियाभेदोको विस्तारपूर्वक बतलानेवाली उस उपर्युक्त वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है अर्थात् (जिनकी) विवेक-बुद्धि आच्छादित हो रही है; उनकी समाधिमे सांख्यविषयक या योगविषयक निश्चयात्मिका बुद्धि (नहीं ठहरती) ।

समाधीयते अस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वम् इति समाधिः अन्तःकरणं बुद्धिः तस्मिन् समाधौ न विधीयते न भवति इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

'पुरुषके भोगके लिये जिसमें सब कुछ स्थापित किया जाता है, उसका नाम समाधि है।' इस व्युत्पत्तिके अनुसार समाधि अन्तःकरणका नाम है, उसमें बुद्धि नहीं ठहरती अर्थात् उत्पन्न ही नहीं होती ॥ ४४ ॥

ये एवं विवेकबुद्धिरहिताः तेषां कामात्मनाम्—

जो इस प्रकार विवेक-बुद्धिसे रहित हैं, उन कामपरायण पुरुषोंके—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

त्रैगुण्यविषयाः त्रैगुण्यं संसारो विषयः प्रकाशयितव्यो येषां ते वेदाः त्रैगुण्यविषयाः त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भव अर्जुन निष्कामो भव इत्यर्थः ।

वेद त्रैगुण्यविषयक हैं अर्थात् तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारको ही प्रकाशित करनेवाले हैं । परन्तु हे अर्जुन ! तू असंसारी हो—निष्कामी हो ।

निर्द्वन्द्वः सुखदुःखहेतू सप्रतिपक्षौ पदार्थौ द्वन्द्वशब्दवाच्यौ ततो निर्गतो निर्द्वन्द्वो भव । त्वं नित्यसत्त्वस्थः सदा सत्त्वगुणाश्रितो भव ।

तथा निर्द्वन्द्व हो अर्थात् सुख-दुःखके हेतु जो परस्पर-विरोधी (युग्म) पदार्थ हैं उनका नाम द्वन्द्व है, उनसे रहित हो और नित्य सत्त्वस्थ हो अर्थात् सदा सत्त्वगुणके आश्रित हो ।

तथा निर्योगक्षेमः अनुपात्तस्य उपादानं योग उपात्तस्य रक्षणं क्षेमः, योगक्षेमप्रधानस्य श्रेयसि प्रवृत्तिः दुष्करा इति अतो निर्योगक्षेमो भव ।

तथा निर्योगक्षेम हो । अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेका नाम योग है और प्राप्त वस्तुके रक्षणका नाम क्षेम है, योगक्षेमको प्रधान माननेवालेकी कल्याण-मार्गमें प्रवृत्ति होनी अत्यन्त कठिन है, अतः तू योगक्षेमको न चाहनेवाला हो ।

आत्मवान् अप्रमत्तः च भव । एष तव उपदेशः स्वधर्मम् अनुतिष्ठतः ॥ ४५ ॥

तथा आत्मवान् हो अर्थात् (आत्म-विषयोंमें) प्रमादरहित हो । तुझ स्वधर्मानुष्ठानमें लगे हुएके लिये यह उपदेश है ॥ ४५ ॥

सर्वेषु वेदोक्तेषु कर्मसु यानि अनन्तानि फलानि तानि न अपेक्ष्यन्ते चेत् किमर्थं तानि ईश्वराय इति अनुष्ठीयन्ते इति, उच्यते शृणु—

सम्पूर्ण वेदोक्त कर्मोंके जो अनन्त फल हैं, उन फलोंको यदि कोई न चाहता हो तो वह उन कर्मोंका अनुष्ठान ईश्वरके लिये क्यों करे ? इसपर कहते हैं, सुन—

यावानर्थ उदपाने सर्वतःसंप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

यथा लोके कूपतडागाद्यनेकस्मिन् उदपाने परिच्छिन्नोदके यावान् यावत्परिमाणः स्नानपानादिः अर्थः फलं प्रयोजनं स सर्वः अर्थः सर्वत.संप्लुतोदके तावान् एव सम्पद्यते तत्र अन्तर्भवति इत्यर्थः।

एवं तावान् तावत्परिमाण एव सम्पद्यते सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तेषु कर्मसु यः अर्थो यत् कर्मफलम्। सः अर्थो ब्राह्मणस्य संन्यासिनः परमार्थतत्त्वं विजानतो यः अर्थो विज्ञानफलं सर्वतःसंप्लुतोदकस्थानीयं तस्मिन् तावान् एव सम्पद्यते तत्र एव अन्तर्भवति इत्यर्थः।

'*सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद*' (छा० ४।१।४) इति श्रुतेः।

'*सर्वं कर्माखिलम्*' इति च वक्ष्यति।

तस्मात् प्राग् ज्ञाननिष्ठाधिकारप्राप्तेः कर्मणि अधिकृतेन कूपतडागाद्यर्थस्थानीयम् अपि कर्म कर्तव्यम्॥ ४६॥

जैसे जगत्‌मे कूप, तालाव आदि अनेक छोटे-छोटे जलाशयोंमें जितना स्नान-पान आदि प्रयोजन सिद्ध होता है, वह सब प्रयोजन सब ओरसे परिपूर्ण महान् जलाशयमे उतने ही परिमाणमें (अनायास) सिद्ध हो जाता है। अर्थात् उसमें उनका अन्तर्भाव है।

इसी तरह सम्पूर्ण वेदोंमे यानी वेदोक्त कर्मोंसे जो प्रयोजन सिद्ध होता है अर्थात् जो कुछ उन कर्मोंका फल मिलता है, वह समस्त प्रयोजन परमार्थ-तत्त्वको जाननेवाले ब्राह्मणका यानी संन्यासीका जो सब ओरसे परिपूर्ण महान् जलाशय-स्थानीय विज्ञान आनन्दरूप फल है, उसमें उतने ही परिमाणमे (अनायास) सिद्ध हो जाता है। अर्थात् उसमें उसका अन्तर्भाव है।

श्रुतिमे भी कहा है कि—'**जिसको वह (रैक) जानता है उस (परब्रह्म) को जो भी कोई जानता है, वह उन सबके फलको पा जाता है कि जो कुछ प्रजा अच्छा कार्य करती है।**' आगे गीतामे भी कहेंगे कि '**सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं।**' इत्यादि।

सुतरां यद्यपि कूप, तालाव आदि छोटे जलाशयोकी भॉति कर्म अल्प फल देनेवाले है तो भी ज्ञाननिष्ठाका अधिकार मिलनेसे पहले-पहले कर्माधिकारीको कर्म करना चाहिये॥ ४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

कर्मणि एव अधिकारो न ज्ञाननिष्ठायां ते तव। तत्र च कर्म कुर्वतो मा फलेषु अधिकारः अस्तु कर्मफलतृष्णा मा भूत् कदाचन कस्यांचिद् अपि अवस्थायाम् इत्यर्थः।

यदा कर्मफले तृष्णा ते स्यात् तदा कर्मफलप्राप्तेः हेतुः स्याः, एवं मा कर्मफलहेतु. भूः।

तेरा कर्मंमे ही अधिकार है, ज्ञाननिष्ठामें नहीं। वहाँ (कर्ममार्गमे) कर्म करते हुए तेरा फलमें कभी अधिकार न हो, अर्थात् तुझे किसी भी अवस्थामे कर्मफलकी इच्छा नहीं होनी चाहिये।

यदि कर्मफलमे तेरी तृष्णा होगी तो तू कर्म-फल-प्राप्तिका कारण होगा। अतः इस प्रकार कर्म-फल-प्राप्तिका कारण तू मत बन।

यदा हि कर्मफलतृष्णाप्रयुक्तः कर्मणि प्रवर्तते तदा कर्मफलस्य एव जन्मनो हेतुः भवेत् ।

क्योंकि जब मनुष्य कर्म-फलकी कामनासे प्रेरित होकर कर्ममें प्रवृत्त होता है तब वह कर्म-फलरूप पुनर्जन्मका हेतु बन ही जाता है ।

यदि कर्मफलं न इष्यते किं कर्मणा दुःखरूपेण इति मा ते तव सङ्गः अस्तु अकर्मणि अकरणे प्रीतिः मा भूत् ॥ ४७ ॥

'यदि कर्म-फलकी इच्छा न करे तो दुःखरूप कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है ?' इस प्रकार कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति-प्रीति नहीं होनी चाहिये ॥ ४७ ॥

यदि कर्मफलप्रयुक्तेन न कर्तव्यं कर्म कथं तर्हि कर्तव्यम् इति उच्यते—

यदि कर्म-फलसे प्रेरित होकर कर्म नहीं करने चाहिये तो फिर किस प्रकार करने चाहिये ? इसपर कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

योगस्थः सन् कुरु कर्माणि केवलं ईश्वरार्थं तत्र अपि ईश्वरो मे तुष्यतु इति सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।

हे धनंजय ! योगमें स्थित होकर केवल ईश्वरके लिये कर्म कर । उनमें भी 'ईश्वर मुझपर प्रसन्न हो ।' इस आशारूप आसक्तिको भी छोड़कर कर ।

फलतृष्णाशून्येन क्रियमाणे कर्मणि सत्त्वशुद्धिजा ज्ञानप्राप्तिलक्षणा सिद्धिः तद्विपर्ययजा असिद्धिः तयोः सिद्ध्यसिद्ध्योः अपि समः तुल्यो भूत्वा कुरु कर्माणि ।

फलतृष्णारहित पुरुषद्वारा कर्म किये जानेपर अन्तःकरणकी शुद्धिसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञान-प्राप्ति तो सिद्धि है और उससे विपरीत (ज्ञान-प्राप्तिका न होना) असिद्धि है, ऐसी सिद्धि और असिद्धिमें भी सम होकर अर्थात् दोनोंको तुल्य समझकर कर्म कर ।

कः असौ योगो यत्रस्थः कुरु इति उक्तम् इदम् एव तत् सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

वह कौन-सा योग है, जिसमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहा है ? यही जो सिद्धि और असिद्धिमें समत्व है, इसीको योग कहते हैं ॥ ४८ ॥

यत् पुनः समत्वबुद्धियुक्तम् ईश्वराराधनार्थं कर्म एतस्मात् कर्मणः ।

जो समत्व-बुद्धिसे ईश्वराराधनार्थ किये जानेवाले कर्म हैं उनकी अपेक्षा (सकाम कर्म निकृष्ट हैं, यह दिखलाते हैं)—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

दूरेण **अतिविप्रकर्षेण** हि अवरं **निकृष्टं** कर्म **फलार्थिना क्रियमाणं** बुद्धियोगात् **समत्वबुद्धियुक्तात् कर्मणो जन्ममरणादिहेतुत्वाद्** धनंजय ।

यत एवं योगविषयायां बुद्धौ तत्परिपाकजायां वा सांख्यबुद्धौ शरणम् **आश्रयम् अभयप्राप्तिकारणम्** अन्विच्छ **प्रार्थयस्व परमार्थज्ञानशरणो भव इत्यर्थः** ।

यतः अवरं कर्म कुर्वाणाः कृपणा **दीनाः** फलहेतवः **फलतृष्णाप्रयुक्ताः सन्तः** *'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'* (बृ० ३ । ८ । १०) **इति श्रुतेः** ॥ ४९ ॥

हे धनंजय ! बुद्धियोगकी अपेक्षा, अर्थात् समत्वबुद्धिसे युक्त होकर किये जानेवाले कर्मोंकी अपेक्षा, कर्मफल चाहनेवाले सकामी मनुष्योंद्वारा किये हुए कर्म, जन्म-मरण आदिके हेतु होनेके कारण अत्यन्त ही निकृष्ट है ।

इसलिये तू योगविषयक बुद्धिमे, या उसके परिपाकसे उत्पन्न होनेवाली सांख्यबुद्धिमे, शरण—आश्रय अर्थात् अभयप्राप्तिके हेतुको पानेकी इच्छा कर । अभिप्राय यह कि परमार्थ ज्ञानकी शरणमे जा ।

क्योंकि फलतृष्णासे प्रेरित होकर सकाम कर्म करनेवाले कृपण हैं—दीन है । श्रुतिमे भी कहा है—**'हे गार्गी ! जो इस अक्षर ब्रह्मको न जानकर इस लोकसे जाता है वह कृपण है'** ॥ ४९ ॥

समत्वबुद्धियुक्तः सन् स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् यत् फलं प्राप्नोति तत् शृणु—

समत्व-बुद्धिसे युक्त होकर स्वधर्माचरण करनेवाला पुरुष, जिस फलको पाता है वह सुन—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

बुद्धियुक्तः **समत्वविषयया बुद्ध्या युक्तो बुद्धियुक्तो** जहाति **परित्यजति** इह **अस्मिन् लोके** उभे सुकृतदुष्कृते **पुण्यपापे सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण यतः**, तस्मात् **समत्वबुद्धि**योगाय युज्यस्व **घटस्व** ।

योगो हि कर्मसु कौशलं **स्वधर्माख्येषु कर्मसु वर्तमानस्य या सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वबुद्धिः ईश्वरार्पितचेतस्तया तत् कौशलं कुशलभावः** ।

तद् हि कौशलं यद् बन्धस्वभावानि अपि कर्माणि समत्वबुद्ध्या स्वभावाद् निवर्तन्ते । **तस्मात् समत्वबुद्धियुक्तो** भव त्वम् ॥ ५० ॥

समत्वयोगविषयक बुद्धिसे युक्त हुआ पुरुष, अन्तःकरणकी शुद्धिके और ज्ञानप्राप्तिके द्वारा सुकृत-दुष्कृतको—पुण्य-पाप दोनोको यहीं त्याग देता है, इसी लोकमे कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है । इसलिये तू समत्वबुद्धिरूप योगकी प्राप्तिके लिये यत्न कर—चेष्टा कर ।

क्योकि योग ही तो कर्मोंमे कुशलता है अर्थात् स्वधर्मरूप कर्ममे लगे हुए पुरुषका जो ईश्वरसमर्पित-बुद्धिसे उत्पन्न हुआ, सिद्धि-असिद्धिविषयक समत्व-भाव है, वही कुशलता है ।

यही इसमे कौशल है कि स्वभावसे ही बन्धन करनेवाले जो कर्म है वे भी समत्व-बुद्धिके प्रभावसे अपने स्वभावको छोड़ देते है, अतः तू समत्व-बुद्धिसे युक्त हो ॥ ५० ॥

यस्मात्— | क्योंकि—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

कर्मजं फलं त्यक्त्वा इति व्यवहितेन सम्बन्धः ।

इष्टानिष्टदेहप्राप्तिः कर्मजं फलं कर्मभ्यो जातं बुद्धियुक्ताः समत्वबुद्धियुक्ता हि यस्मात् फलं त्यक्त्वा परित्यज्य मनीषिणो ज्ञानिनो भूत्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ता जन्म एव बन्धो जन्मबन्धः तेन विनिर्मुक्ता जीवन्त एव जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तः पदं परमं विष्णोः मोक्षाख्यं गच्छन्ति अनामयं सर्वोपद्रवरहितम् इत्यर्थः ।

अथ वा *'बुद्धियोगाद्धनंजय'* इति आरभ्य परमार्थदर्शनलक्षणा एव सर्वतःसंप्लुतोदकस्थानीया कर्मयोगजसत्त्वशुद्धिजनिता बुद्धिः दर्शिता साक्षात् सुकृतदुष्कृतप्रहाणादिहेतुत्वश्रवणात् ॥ ५१ ॥

'कर्मजम्' इस पदका 'फलं त्यक्त्वा' इस अगले पदसे सम्बन्ध है ।

कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली जो इष्टानिष्टदेहप्राप्ति है वही कर्मज फल कहलाता है, समत्वबुद्धियुक्त पुरुष, उस कर्म-फलको छोडकर मनीषी अर्थात् ज्ञानी होकर जीवित अवस्थामे ही जन्म-बन्धनसे निर्मुक्त होकर अर्थात् जन्म नामके बन्धनसे छूटकर विष्णुके मोक्ष नामक अनामय—सर्वोपद्रवरहित परमपदको पा लेते हैं ।

अथवा (यों समझो कि) 'बुद्धियोगाद्धनंजय' इस श्लोकसे लेकर (यहाँतक बुद्धि शब्दसे) कर्मयोगजनित सत्त्व शुद्धिसे उत्पन्न हुई जो सर्वत.-संप्लुतोदकस्थानीय परमार्थ-ज्ञानरूपा बुद्धि है वही दिखलायी गयी है । क्योंकि (यहाँ) यह बुद्धि पुण्य-पापके नाशमे साक्षात् हेतुरूपसे वर्णित है ॥ ५१ ॥

योगानुष्ठानजनितसत्त्वशुद्धिजा बुद्धिः कदा प्राप्यते इति उच्यते—

योगानुष्ठानजनित सत्त्व-शुद्धिसे उत्पन्न हुई बुद्धि कब प्राप्त होती है ? इसपर कहते है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

यदा यस्मिन्काले ते तव मोहकलिलं मोहात्मकम् अविवेकरूपं कालुष्यं येन आत्मानात्मविवेकबोधं कलुषीकृत्य विषयं प्रति अन्तःकरणं प्रवर्तते तत् तव बुद्धिः व्यतितरिष्यति व्यतिक्रमिष्यति शुद्धिभावं आपत्स्यते इत्यर्थः ।

तदा तस्मिन्काले गन्तासि प्राप्स्यसि निर्वेदं वैराग्यं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च तदा श्रोतव्यं श्रुतं च निष्फलं प्रतिपद्यते इति अभिप्रायः ॥ ५२ ॥

जब तेरी बुद्धि मोहकलिलको अर्थात् जिसके द्वारा आत्मानात्मके विवेक-विज्ञानको कलुषित करके अन्त करण विषयोंमे प्रवृत्त किया जाता है उस मोहात्मक अविवेक कालिमाको उल्लङ्घन कर जायगी अर्थात् जब तेरी बुद्धि बिल्कुल शुद्ध हो जायगी,

तब—उस समय तू सुननेयोग्यसे और सुने हुएसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा । अर्थात् तब तेरे लिये सुननेयोग्य और सुने हुए (सब विषय) निष्फल हो जायँगे, यह अभिप्राय है ॥ ५२ ॥

मोहकलिलात्ययद्वारेण लब्धात्मविवेकजप्रज्ञः कदा कर्मयोगजं फलं परमार्थयोगम् अवाप्स्यामि इति चेत् तत् शृणु—

यदि तू पूछे कि, मोहरूप मलिनतासे पार होकर आत्मविवेकजन्य बुद्धिको प्राप्त हुआ मैं, कर्मयोगके फलरूप परमार्थयोगको (ज्ञानको) कब पाऊँगा ? तो सुन—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना अनेकसाध्यसाधनसम्बन्धप्रकाशनश्रुतिभिः श्रवणैः विप्रतिपन्ना नानाप्रतिपन्ना श्रुतिविप्रतिपन्ना विक्षिप्ता सती ते तव बुद्धिः यदा यस्मिन्काले स्थास्यति स्थिरीभूता भविष्यति निश्चला विक्षेपचलनवर्जिता सती समाधौ समाधीयते चित्तम् अस्मिन् इति समाधिः आत्मा तस्मिन् आत्मनि इति एतत् । अचला तत्रापि विकल्पवर्जिता इति एतत् । बुद्धिः अन्तःकरणम्,

तदा तस्मिन्काले योगम् अवाप्स्यसि विवेकप्रज्ञां समाधिं प्राप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अनेक साध्य, साधन और उनका सम्बन्ध बतलानेवाली श्रुतियोंसे विप्रतिपन्न अर्थात् नाना भावोंको प्राप्त हुई—विक्षिप्त हुई तेरी बुद्धि जब समाधिमें यानी जिसमें चित्तका समाधान किया जाय वह समाधि है, इस व्युत्पत्तिसे आत्माका नाम समाधि है, उसमें अचल और दृढ़ स्थिर हो जायगी—यानी विक्षेपरूप चलनसे और विकल्पसे रहित होकर स्थिर हो जायगी,

तब तू योगको प्राप्त होगा अर्थात् विवेकजनित बुद्धिरूप समाधिनिष्ठाको पावेगा ॥ ५३ ॥

प्रश्नबीजं प्रतिलभ्य अर्जुन उवाच लब्धसमाधिप्रज्ञस्य लक्षणबुभुत्सया—

प्रश्नके कारणको पाकर, समाधिप्रज्ञाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण जाननेकी इच्छासे अर्जुन बोला—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

स्थिता प्रतिष्ठिता अहम् अस्मि परं ब्रह्म इति प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञः तस्य का भाषा किं भाषणं वचनं कथम् असौ परैः भाष्यते समाधिस्थस्य समाधौ स्थितस्य केशव ।

स्थितधीः स्थितप्रज्ञः स्वयं वा किं प्रभाषेत । किम् आसीत व्रजेत किम् । आसनं व्रजनं वा तस्य कथम् इत्यर्थः ।

स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् अनेन श्लोकेन पृच्छति ॥ ५४ ॥

जिसकी बुद्धि इस प्रकार प्रतिष्ठित हो गयी है कि 'मैं परब्रह्म परमात्मा ही हूँ', वह स्थितप्रज्ञ है । हे केशव ! ऐसे समाधिमें स्थित हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषकी क्या भाषा होती है ? यानी वह अन्य पुरुषोंद्वारा किस प्रकार—किन लक्षणोंसे बतलाया जाता है ?

तथा वह स्थितप्रज्ञ पुरुष स्वयं किस तरह बोलता है ? कैसे बैठता है ? और कैसे चलता है ? अर्थात् उसका बैठना, चलना किस तरहका होता है ?

इस प्रकार इस श्लोकसे अर्जुन स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण पूछता है ॥ ५४ ॥

यो हि आदित एव संन्यस्य कर्माणि ज्ञानयोगनिष्ठायां प्रवृत्तो यः च कर्मयोगेन, तयोः स्थितप्रज्ञस्य 'प्रजहाति' इति आरभ्य अध्यायपरिसमाप्तिपर्यन्तं स्थितप्रज्ञलक्षणं साधनं च उपदिश्यते।

जो पहलेसे ही कर्मोंको त्यागकर ज्ञाननिष्ठामे स्थित है और जो कर्मयोगसे (ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त हुआ है) उन दोनो प्रकारके स्थितप्रज्ञोंके लक्षण और साधन 'प्रजहाति' इत्यादि श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त कहे जाते हैं।

सर्वत्र एव हि अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तानि एव साधनानि उपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात्। यानि यत्नसाध्यानि साधनानि लक्षणानि च भवन्ति तानि।

अध्यात्मशास्त्रमें सभी जगह कृतार्थ पुरुषके जो लक्षण होते है, वे ही यत्नद्वारा साध्य होनेके कारण (दूसरोंके लिये) साधनरूपसे उपदेश किये जाते है। जो यत्नसाध्य साधन होते है वे ही (सिद्ध पुरुषके स्वाभाविक) लक्षण होते है।

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

प्रजहाति प्रकर्षेण जहाति परित्यजति यदा यस्मिन्काले सर्वान् समस्तान् कामान् इच्छाभेदान्। हे पार्थ मनोगतान् मनसि प्रविष्टान् हृदि प्रविष्टान्।

हे पार्थ! जब मनुष्य मनमे स्थित—हृदयमे प्रविष्ट सम्पूर्ण कामनाओंको—सारे इच्छा-भेदोंको भली प्रकार त्याग देता है—छोड़ देता है।

सर्वकामपरित्यागे तुष्टिकारणाभावात् शरीरधारणनिमित्तशेषे च सति उन्मत्तप्रमत्तस्य इव प्रवृत्तिः प्राप्ता इति अत उच्यते—

सारी कामनाओका त्याग कर देनेपर तुष्टिके कारणोका अभाव हो जाता है और शरीरधारणका हेतु जो प्रारब्ध है, उसका अभाव होता नहीं, अतः शरीरस्थितिके लिये उस मनुष्यकी उन्मत्त—पूरे पागलके सदृश प्रवृत्ति होगी, ऐसी शंका प्राप्त होनेपर कहते हैं—

आत्मनि एव प्रत्यगात्मस्वरूपे एव आत्मना स्वेन एव बाह्यलाभनिरपेक्षः तुष्टः परमार्थदर्शनामृतरसलाभेन अन्यस्माद् अलंप्रत्ययवान् स्थितप्रज्ञः स्थिता प्रतिष्ठिता आत्मानात्मविवेकजा प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञो विद्वान् तदा उच्यते।

तब वह अपने अन्तरात्मस्वरूपमे ही किसी बाह्य लाभकी अपेक्षा न रखकर अपने आप सन्तुष्ट रहनेवाला अर्थात् परमार्थदर्शनरूप अमृतरस-लाभसे तृप्त, अन्य सब अनात्मपदार्थोंसे अलंबुद्धिवाला तृष्णारहित पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है अर्थात् जिसकी आत्म-अनात्मके विवेकसे उत्पन्न हुई बुद्धि स्थित हो गयी है, वह स्थितप्रज्ञ यानी ज्ञानी कहा जाता है।

त्यक्तपुत्रवित्तलोकैषणः संन्यासी आत्माराम आत्मक्रीडः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः॥ ५५॥

अभिप्राय यह कि पुत्र, धन और लोककी समस्त तृष्णाओंको त्याग देनेवाला संन्यासी ही आत्माराम, आत्मक्रीड और स्थितप्रज्ञ है॥ ५५॥

किं च—

तथा—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखेषु आध्यात्मिकादिषु प्राप्तेषु न उद्विग्नं न प्रक्षुभितं दुःखप्राप्तौ मनो यस्य सः अयम् अनुद्विग्नमनाः ।

तथा सुखेषु प्राप्तेषु विगता स्पृहा तृष्णा यस्य न अग्निः इव इन्धनाद्याधाने सुखानि अनु-विवर्धते स विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधो रागः च भयं च क्रोधः च वीता विगता यस्मात् स वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीः स्थितप्रज्ञो मुनिः संन्यासी तदा उच्यते ॥ ५६ ॥

आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकारके दुःखोंके प्राप्त होनेमे जिसका मन उद्विग्न नहीं होता अर्थात् क्षुभित नहीं होता उसे 'अनुद्विग्नमना' कहते हैं ।

तथा सुखोंकी प्राप्तिमें जिसकी स्पृहा—तृष्णा नष्ट हो गयी है अर्थात् ईंधन डालनेसे जैसे अग्नि बढ़ती है वैसे ही सुखके साथ-साथ जिसकी लालसा नहीं बढ़ती, वह 'विगतस्पृह' कहलाता है ।

एवं आसक्ति, भय और क्रोध जिसके नष्ट हो गये हैं, वह 'वीतरागभयक्रोध' कहलाता है, ऐसे गुणोंसे युक्त जब कोई हो जाता है तब वह स्थितधी यानी स्थितप्रज्ञ और मुनि यानी सन्यासी कहलाता है ॥५६॥

किं च—

तथा—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

यो मुनिः सर्वत्र देहजीवितादिषु अपि अनभिस्नेहः अभिस्नेहवर्जितः तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं तत् तत् शुभम् अशुभं वा लब्ध्वा न अभिनन्दति न द्वेष्टि शुभं प्राप्य न तुष्यति न हृष्यति अशुभं च प्राप्य न द्वेष्टि इत्यर्थः ।

तस्य एवं हर्षविषादवर्जितस्य विवेकजा प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति ॥५७॥

जो मुनि सर्वत्र अर्थात् शरीर, जीवन आदितकमें भी स्नेहसे रहित हो चुका है तथा उन-उन शुभ या अशुभको पाकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष ही करता है अर्थात् शुभको पाकर प्रसन्न नहीं होता और अशुभको पाकर उससे द्वेष नहीं करता ।

जो इस प्रकार हर्ष-विषादसे रहित हो चुका है उसकी विवेकजनित बुद्धि प्रतिष्ठित होती है ॥५७॥

किं च—

तथा—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

यदा संहरते सम्यग् उपसंहरते च अयं ज्ञाननिष्ठायां प्रवृत्तो यतिः कूर्मः अङ्गानि इव सर्वशो यथा कूर्मो भयात् स्वानि अङ्गानि उपसंहरति सर्वत एवं ज्ञाननिष्ठ इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वविषयेभ्य उपसंहरते । तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता इति उक्तार्थं वाक्यम् ॥५८॥

जब यह ज्ञाननिष्ठामे स्थित हुआ संन्यासी कछुएके अङ्गोकी भाँति अर्थात् जैसे कछुआ भयके कारण सब ओरसे अपने अङ्गोको संकुचित कर लेता है, उसी तरह सम्पूर्ण विषयोसे सब ओरसे इन्द्रियोको खींच लेता है—भलीभाँति रोक लेता है तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है । इस वाक्यका अर्थ पहले कहा हुआ है ॥ ५८ ॥

तत्र विषयान् अनाहरत आतुरस्य अपि इन्द्रियाणि निवर्तन्ते कूर्माङ्गानि इव संह्रियन्ते न तु तद्विषयो रागः, स कथं संह्रियते, इति उच्यते—

विषयोंको ग्रहण न करनेवाले रोगी मनुष्यकी भी इन्द्रियाँ तो विषयोंसे हट जाती हैं, यानी कछुएके अङ्गोंकी भाँति संकुचित हो जाती हैं, परन्तु विषयसम्बन्धी राग (आसक्ति) नष्ट नहीं होता। उसका नाश कैसे होता है ? सो कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

यद्यपि विषयोपलक्षितानि विषयशब्दवाच्यानि इन्द्रियाणि अथ वा विषया एव निराहारस्य अनाह्रियमाणविषयस्य कष्टे तपसि स्थितस्य मूर्खस्य अपि विनिवर्तन्ते देहिनो देहवतः, रसवर्जं रसो रागो विषयेषु यः तं वर्जयित्वा ।

रसशब्दो रागे प्रसिद्धः *'स्वरसेन प्रवृत्तो रसिको रसज्ञः'* इत्यादिदर्शनात् ।

सः अपि रसो रञ्जनरूपः सूक्ष्मः अस्य यतेः परं परमार्थतत्त्वं ब्रह्म दृष्ट्वा उपलभ्य अहम् एव तद् इति वर्तमानस्य निवर्तते निर्बीजं विषयविज्ञानं संपद्यते इत्यर्थः ।

न असति सम्यग्दर्शने रसस्य उच्छेदः, तस्मात् सम्यग्दर्शनात्मिकायाः प्रज्ञाया स्थैर्यं कर्तव्यम् इति अभिप्रायः ॥ ५९ ॥

यद्यपि विषयोंको ग्रहण न करनेवाले, कष्टकर तपमें स्थित, देहाभिमानी अज्ञानी पुरुषकी भी, विषय-शब्दवाच्य इन्द्रियाँ अथवा केवल शब्दादि विषय तो निवृत्त हो जाते हैं परन्तु उन विषयोंमें रहनेवाला जो रस अर्थात् आसक्ति है उसको छोड़कर निवृत्त होते हैं, अर्थात् उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती ।

रस-शब्द राग (आसक्ति) का वाचक प्रसिद्ध है, क्योंकि **'स्वरसेन प्रवृत्तो रसिको रसज्ञः'** इत्यादि वाक्य देखे जाते हैं ।

वह रागात्मक सूक्ष्म आसक्ति भी इस यतिकी परमार्थतत्त्वरूप ब्रह्मका प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर निवृत्त हो जाती है, अर्थात् 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ' इस प्रकारका भाव दृढ़ हो जानेपर उसका विषय-विज्ञान निर्बीज हो जाता है ।

अभिप्राय यह कि यथार्थ ज्ञान हुए विना रागका मूलोच्छेद नहीं होता, अतः यथार्थ ज्ञानरूप बुद्धिकी स्थिरता कर लेनी चाहिये ॥ ५९ ॥

सम्यग्दर्शनलक्षणप्रज्ञास्थैर्यं चिकीर्षता आदौ इन्द्रियाणि स्ववशे स्थापयितव्यानि यस्मात् तदनवस्थापने दोषम् आह—

यथार्थ ज्ञानरूप बुद्धिकी स्थिरता चाहनेवाले पुरुषोंको पहले इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेना चाहिये । क्योंकि उनको वशमें न करनेसे दोष बतलाते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

यततः **प्रयत्नं कुर्वतः** अपि हि **यस्मात्** कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितो **मेधाविनः अपि इति व्यवहितेन सम्बन्धः** । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि **प्रमथनशीलानि विषयाभिमुखं हि पुरुषं विक्षोभयन्ति आकुलीकुर्वन्ति । आकुलीकृत्य च** हरन्ति प्रसभं **प्रसह्य प्रकाशम् एव पश्यतो विवेकविज्ञानयुक्तं** मनः ॥६०॥

हे कौन्तेय ! जिससे कि प्रयत्न करनेवाले विचारशील—बुद्धिमान् पुरुषकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ, उस विषयाभिमुख हुए पुरुषको क्षुब्ध कर देती हैं—व्याकुल कर देती है और व्याकुल करके, (उस) केवल प्रकाशको ही देखनेवाले विद्वान्के विवेक-विज्ञानयुक्त मनको (भी) बलात्कारसे विचलित कर देती है ॥ ६० ॥

यतः तस्मात्—

जब कि यह बात है, इसलिये—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

तानि सर्वाणि संयम्य **संयमनं वशीकरणं कृत्वा** युक्तः **समाहितः सन्** आसीत मत्परः **अहं वासुदेवः सर्वप्रत्यगात्मा परो यस्य स मत्परो न अन्यः अहं तस्माद् इति आसीत इत्यर्थः** ।

एवम् आसीनस्य यतेः वशे हि यस्य इन्द्रियाणि **वर्तन्ते अभ्यासबलात्** तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

उन सब इन्द्रियोंको रोककर यानी वशमें करके और युक्त—समाहितचित्त हो मेरे परायण होकर बैठना चाहिये । अर्थात् सबका अन्तरात्मारूप मैं वासुदेव ही जिसका सबसे पर हूँ, वह मत्पर है, इस प्रकार मुझसे अपनेको अभिन्न माननेवाला होकर बैठना चाहिये ।

क्योंकि इस प्रकार बैठनेवाले जिस यतिकी इन्द्रियाँ अभ्यास-बलसे (उसके) वशमें हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है ॥ ६१ ॥

अथ इदानीं पराभविष्यतः सर्वानर्थमूलम् इदम् उच्यते—

इतना कहनेके उपरान्त अब यह पतनाभिमुख पुरुषके समस्त अनर्थोंका कारण बतलाया जाता है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

ध्यायतः **चिन्तयतो** विषयान् **शब्दादिविषयविशेषान् आलोचयतः** पुंसः **पुरुषस्य** सङ्ग **आसक्तिः प्रीतिः** तेषु **विषयेषु** उपजायते । सङ्गात् **प्रीतेः** संजायते **समुत्पद्यते** कामः **तृष्णा** । कामात् **कुतश्चित् प्रतिहतात्** क्रोधः अभिजायते ॥ ६२ ॥

विषयोंका ध्यान—चिन्तन करनेवाले पुरुषकी अर्थात् शब्दादि विषयोंकी बारंबार आलोचना करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति—प्रीति उत्पन्न हो जाती है । आसक्तिसे कामना—तृष्णा उत्पन्न होती है । कामसे अर्थात् किसी भी कारणवश रोकी गयी हुई इच्छासे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधाद् भवति संमोहः **अविवेकः कार्याकार्यविषयः । क्रुद्धो हि संमूढः सन् गुरुम् अपि आक्रोशति ।**

संमोहात् स्मृतिविभ्रमः **शास्त्राचार्योपदेशाहितसंस्कारजनितायाः स्मृतेः स्याद् विभ्रमो भ्रंशः स्मृत्युत्पत्तिनिमित्तप्राप्तौ अनुत्पत्तिः ।**

ततः स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धेः नाशः । **कार्याकार्यविषयविवेकायोग्यता अन्तःकरणस्य बुद्धेः नाश उच्यते ।**

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति । **तावत् एव हि पुरुषो यावद् अन्तःकरणं तदीयं कार्याकार्यविषयविवेकयोग्यं तदयोग्यत्वे नष्ट एव पुरुषो भवति । अतः तस्य अन्तःकरणस्य बुद्धेः नाशात् प्रणश्यति पुरुषार्थायोग्यो भवति इत्यर्थः ॥ ६३ ॥**

क्रोधसे संमोह अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य-विषयक अविवेक उत्पन्न होता है, क्योंकि क्रोधी मनुष्य मोहित होकर गुरुको (बडेको) भी गाली दे दिया करता है।

मोहसे स्मृतिका विभ्रम होता है अर्थात् शास्त्र और आचार्यद्वारा सुने हुए उपदेशके संस्कारोंसे जो स्मृति उत्पन्न होती है उसके प्रकट होनेका निमित्त प्राप्त होनेपर वह प्रकट नहीं होती ।

इस प्रकार स्मृतिविभ्रम होनेसे बुद्धिका नाश हो जाता है। अन्तःकरणमे कार्य-अकार्य-विषयक विवेचनकी योग्यताका न रहना, बुद्धिका नाश कहा जाता है।

बुद्धिका नाश होनेसे (यह मनुष्य) नष्ट हो जाता है, क्योकि वह तबतक ही मनुष्य है जबतक उसका अन्तःकरण कार्य-अकार्यके विवेचनमे समर्थ है, ऐसी योग्यता न रहनेपर मनुष्य नष्टप्राय (मृतकके बराबर ही) हो जाता है ।

अतः उस अन्तःकरणकी (विवेक-शक्तिरूप) बुद्धिका नाश होनेसे पुरुषका नाश हो जाता है । इस कथनसे यह अभिप्राय है कि वह मनुष्य पुरुषार्थके अयोग्य हो जाता है ॥ ६३ ॥

सर्वानर्थस्य मूलम् उक्तं विषयाभिध्यानम् अथ इदानीं मोक्षकारणम् इदम् उच्यते—

विषयोंके चिन्तनको सब अनर्थोंका मूल बतलाया गया । अब यह मोक्षका साधन बतलाया जाता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

रागद्वेषवियुक्तैः **रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ । तत्पुरःसरा हि इन्द्रियाणां प्रवृत्तिः स्वाभाविकी । तत्र यो मुमुक्षुः भवति स ताभ्यां वियुक्तैः श्रोत्रादिभिः** इन्द्रियैः विषयान् **अवर्जनीयान्** चरन् **उपलभमान** आत्मवश्यैः **आत्मनो वश्यानि वशीभूतानि तैः आत्मवश्यैः** विधेयात्मा **इच्छातो विधेय आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः अयं** प्रसादम् अधिगच्छति । **प्रसादः प्रसन्नता स्वास्थ्यम् ॥ ६४ ॥**

आसक्ति और द्वेषको राग-द्वेष कहते हैं, इन दोनोको लेकर ही इन्द्रियोकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है । परन्तु जो मुमुक्षु होता है वह स्वाधीन अन्तःकरणवाला अर्थात् जिसका अन्तःकरण इच्छानुसार वशमें है, ऐसा पुरुष राग-द्वेषसे रहित और अपने वशमे की हुई श्रोत्रादि इन्द्रियोंद्वारा अनिवार्य विषयोको ग्रहण करता हुआ प्रसादको प्राप्त होता है। प्रसन्नता और स्वास्थ्यको प्रसाद कहते हैं ॥ ६४ ॥

प्रसादे सति किं स्यात्, इति उच्यते—

प्रसन्नता होनेसे क्या होता है ? सो कहते हैं—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानाम् **आध्यात्मिकादीनां** हानिः **विनाशः** अस्य **यतेः** उपजायते ।

किं च प्रसन्नचेतसः **स्वस्थान्तःकरणस्य** हि **यस्माद्** आशु **शीघ्रं** बुद्धिः पर्यवतिष्ठते **आकाशम् इव परि समन्ताद् अवतिष्ठते आत्मस्वरूपेण एव निश्चली भवति इत्यर्थः ।**

एवं प्रसन्नचेतसः अवस्थितबुद्धेः कृतकृत्यता यतः तस्माद् रागद्वेषवियुक्तैः इन्द्रियैः शास्त्राविरुद्धेषु अवर्जनीयेषु युक्तः समाचरेद् इति वाक्यार्थः ॥ ६५ ॥

प्रसन्नता प्राप्त होनेपर इस यतिके आध्यात्मिकादि तीनों प्रकारके समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है ।

क्योंकि (उस) प्रसन्नचित्तवालेकी अर्थात् स्वस्थ अन्तःकरणवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे आकाशकी भाँति स्थिर हो जाती है—केवल आत्मरूपसे निश्चल हो जाती है ।

इस वाक्यका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार प्रसन्नचित्त और स्थिरबुद्धिवाले पुरुषको कृतकृत्यता मिलती है, इसलिये साधक पुरुषको चाहिये कि राग-द्वेषसे रहित की हुई इन्द्रियोंद्वारा शास्त्रके अविरोधी अनिवार्य विषयोंका सेवन करे ॥ ६५ ॥

सा इयं प्रसन्नता स्तूयते—

उस प्रसन्नताकी स्तुति की जाती है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

न अस्ति **न विद्यते न भवति इत्यर्थः**, बुद्धिः **आत्मस्वरूपविषया** अयुक्तस्य **असमाहितान्तःकरणस्य** । न च **अस्ति** अयुक्तस्य भावना **आत्मज्ञानाभिनिवेशः** ।

तथा न च **अस्ति** अभावयत **आत्मज्ञानाभिनिवेशम् अकुर्वतः** शान्तिः **उपशमः** ।

अशान्तस्य कुतः सुखम्, **इन्द्रियाणां हि विषयसेवातृष्णातो निवृत्तिः या तत् सुखम्, न विषयविषया तृष्णा, दुःखम् एव हि सा ।**

न तृष्णायां सत्यां सुखस्य गन्धमात्रम् अपि उपपद्यते इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

अयुक्त पुरुषमें अर्थात् जिसका अन्तःकरण समाहित नहीं है, ऐसे पुरुषमें आत्मस्वरूप-विषयक बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त पुरुषमें भावना अर्थात् आत्मज्ञानके लिये साधनकी तत्परता भी नहीं होती ।

तथा भावना न करनेवालेको अर्थात् आत्मज्ञान-विषयक साधनमें संलग्न न होनेवालेको शान्ति अर्थात् उपशमता भी नहीं मिलती ।

शान्तिरहित पुरुषको भला सुख कहाँ ? क्योंकि विषय-सेवन-सम्बन्धी तृष्णासे जो इन्द्रियोंका निवृत्त होना है, वही सुख है, विषय-सम्बन्धी तृष्णा कदापि सुख नहीं है, वह तो दुःख ही है ।

अभिप्राय यह कि तृष्णाके रहते हुए तो सुखकी गन्धमात्र भी नहीं मिलती ॥ ६६ ॥

अयुक्तस्य कस्माद् बुद्धिः न अस्ति इति उच्यते—

अयुक्त पुरुषमे बुद्धि क्यों नहीं होती ? इस पर कहते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

इन्द्रियाणां हि **यस्मात्** चरतां **स्वस्वविषयेषु प्रवर्तमानानां** यद् मनः अनुविधीयते **अनुप्रवर्तते** तद् **इन्द्रियविषयविकल्पने प्रवृत्तं मनः** अस्य **यतेः** हरति प्रज्ञाम् **आत्मानात्मविवेकजां नाशयति** ।

कथम्, वायुः नावम् इव अम्भसि **उदके जिगमिषतां मार्गाद् उद्धृत्य उन्मार्गे यथा वायुः नावं प्रवर्तयति एवम् आत्मविषयां प्रज्ञां हृत्वा मनो विषयविषयां करोति** ॥ ६७ ॥

क्योंकि अपने-अपने विषयमे विचरनेवाली अर्थात् विषयोंमें प्रवृत्त हुई इन्द्रियोंमेंसे जिसके पीछे-पीछे यह मन जाता है—विषयोमे प्रवृत्त होता है वह उस इन्द्रियके विषयको विभागपूर्वक ग्रहण करनेमे लगा हुआ मन, इस साधककी आत्म-अनात्म-सम्बन्धी विवेक-ज्ञानसे उत्पन्न हुई बुद्धिको हर लेता है अर्थात् नष्ट कर देता है ।

कैसे ? जैसे जलमे नौकाको वायु हर लेता है वैसे ही, अर्थात् जैसे वायु जलमे चलनेकी इच्छा-वाले पुरुषोंकी नौकाको मार्गसे हटाकर उलटे मार्ग-पर ले जाता है वैसे ही यह मन आत्मविषयक बुद्धिको विचलित करके विषयविषयक बना देता है ॥ ६७ ॥

'यततो ह्यपि' इति **उपन्यस्तस्य अर्थस्य अनेकधा उपपत्तिम् उक्त्वा तं च अर्थम् उपपाद्य उपसंहरति**—

'यततो ह्यपि' इस श्लोकसे प्रतिपादित अर्थकी अनेक प्रकारसे उपपत्ति बतलाकर उस अभिप्रायको सिद्ध करके अब उसका उपसंहार करते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ दोष उपपादितो यस्मात्—तस्माद् यस्य **यतेः** हे महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः **सर्वप्रकारैः मानसादिभेदैः** इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः **शब्दादिभ्यः** तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

क्योंकि इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिमे दोष सिद्ध किया जा चुका है, इसलिये हे महाबाहो ! जिस यतिकी इन्द्रियाँ अपने-अपने शब्दादि विषयोंसे सब प्रकारसे अर्थात् मानसिक आदि भेदोसे निगृहीत की जा चुकी हैं—(वशमे की हुई हैं) उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ॥ ६८ ॥

यः अयं लौकिको वैदिकः च व्यवहारः स उत्पन्नविवेकज्ञानस्य स्थितप्रज्ञस्य अविद्याकार्यत्वाद् अविद्यानिवृत्तौ निवर्तते । अविद्यायाः च विद्याविरोधाद् निवृत्तिः इति एतम् अर्थं स्फुटीकुर्वन् आह—

यह जो लौकिक और वैदिक व्यवहार है वह सब-का-सब अविद्याका कार्य है अतः जिसको विवेक-ज्ञान प्राप्त हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञके लिये अविद्याकी निवृत्तिके साथ-ही-साथ (यह व्यवहार भी) निवृत्त हो जाता है । और अविद्याका विद्याके साथ विरोध होनेके कारण उसकी भी निवृत्ति हो जाती है । इस अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

या निशा रात्रिः सर्वपदार्थानाम् अविवेककरी तमःस्वभावत्वात् सर्वेषां भूतानां सर्वभूतानाम् । किं तत्, परमार्थतत्त्वं स्थितप्रज्ञस्य विषयः । यथा नक्तंचराणाम् अहः एव सद् अन्येषां निशा भवति तद्वद् नक्तंचरस्थानीयानाम् अज्ञानां सर्वभूतानां निशा इव निशा परमार्थतत्त्वम् अगोचरत्वाद् अतद्बुद्धीनाम् ।

तस्यां परमार्थतत्त्वलक्षणायाम् अज्ञाननिद्रायाः प्रबुद्धो जागर्ति संयमी संयमवान् जितेन्द्रियो योगी इत्यर्थः ।

यस्यां ग्राह्यग्राहकभेदलक्षणायाम् अविद्यानिशायां प्रसुप्तानि एव भूतानि जाग्रति इति उच्यते यस्यां निशायां प्रसुप्ता इव स्वप्नदृशः सा निशा अविद्यारूपत्वात् परमार्थतत्त्वं पश्यतो मुनेः ।

अतः कर्माणि अविद्यावस्थायाम् एव चोद्यन्ते न विद्यावस्थायाम् । विद्यायां हि सत्याम् उदिते सवितरि शार्वरम् इव तमः प्रणाशम् उपगच्छति अविद्या ।

प्राग् विद्योत्पत्तेः अविद्या प्रमाणबुद्ध्या गृह्यमाणा क्रियाकारकफलभेदरूपा सती सर्वकर्महेतुत्वं प्रतिपद्यते । न अप्रमाणबुद्ध्या गृह्यमाणायाः कर्महेतुत्वोपपत्तिः ।

तामस स्वभावके कारण सब पदार्थोंका अविवेक करानेवाली रात्रिका नाम निशा है । सब भूतोंकी जो निशा अर्थात् रात्रि है—

वह (निशा) क्या है? (उ०) परमार्थतत्त्व, जो कि स्थितप्रज्ञका विषय है (ज्ञेय है) । जैसे उल्लू आदि रजनीचरोंके लिये दूसरोंका दिन भी रात होती है वैसे ही निशाचरस्थानीय जो सम्पूर्ण अज्ञानी मनुष्य हैं, जिनमे परमार्थतत्त्व-विषयक बुद्धि नहीं है उन सब भूतोके लिये अज्ञात होनेके कारण यह परमार्थतत्त्व रात्रिकी भाँति रात्रि है ।

उस परमार्थतत्त्वरूप रात्रिमे अज्ञाननिद्रासे जगा हुआ संयमी अर्थात् जितेन्द्रिय—योगी जागता है ।

ग्राह्य-ग्राहकभेदरूप जिस अविद्यारात्रिमें सोते हुए भी सब प्राणी जागते कहे जाते है अर्थात् जिस रात्रिमे सब प्राणी सोते हुए स्वप्न देखनेवालोंके सदृश जागते हैं । वह (सारा दृश्य) अविद्यारूप होनेके कारण परमार्थतत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये रात्रि है ।

सुतरां (यह सिद्ध हुआ कि) अविद्या-अवस्थामे ही (मनुष्यके लिये) कर्मोंका विधान किया जाता है, विद्यावस्थामे नहीं । क्योकि जैसे सूर्यके उदय होनेपर रात्रिसम्बन्धी अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान उदय होनेपर अज्ञान नष्ट हो जाता है ।

ज्ञानोत्पत्तिसे पहले-पहले प्रमाणबुद्धिसे ग्रहण की हुई अविद्या ही क्रिया, कारक और फल आदिके भेदोमे परिणत होकर सब कर्म करवानेका हेतु बन सकती है, अप्रमाणबुद्धिसे ग्रहण की हुई (अविद्या) कर्म करवानेका कारण नहीं बन सकती ।

प्रमाणभूतेन वेदेन मम चोदितं कर्तव्यं कर्म इति हि कर्मणि कर्ता प्रवर्तते न अविद्यामात्रम् इदं सर्वं निशा इव इति ।

क्योंकि प्रमाणस्वरूप वेदने मेरे लिये अमुक कर्तव्य-कर्मोंका विधान किया है, ऐसा मानकर ही कर्ता कर्ममें प्रवृत्त होता है, यह सब रात्रिकी भाँति अविद्यामात्र है, इस तरह समझकर नहीं होता ।

यस्य पुनः निशा इव अविद्यामात्रम् इदं सर्वं भेदजातम् इति ज्ञानं तस्य आत्मज्ञस्य सर्वकर्मसंन्यासे एव अधिकारो न प्रवृत्तौ ।

जिसको ऐसा ज्ञान प्राप्त हो गया है कि यह सारा दृश्य रात्रिकी भाँति अविद्यामात्र ही है, उस आत्मज्ञानीका तो सर्व कर्मोंके संन्यासमें ही अधिकार है, प्रवृत्तिमें नहीं ।

तथा च दर्शयिष्यति—'*तद्बुद्धयस्तदात्मानः*' इत्यादिना ज्ञाननिष्ठायाम् एव तस्य अधिकारम् ।

इसी प्रकार 'तद्बुद्धयस्तदात्मानः' इत्यादि श्लोकोंसे उस ज्ञानीका अधिकार ज्ञाननिष्ठामें ही दिखलायेंगे ।

तत्र अपि प्रवर्तकप्रमाणाभावे प्रवृत्त्यनुपपत्तिः इति चेत् ।

पू०—उस ज्ञाननिष्ठामें भी (तत्त्ववेत्ताको) प्रवृत्त करनेवाले प्रमाणका (विधिवाक्यका) अभाव है इसलिये उसमें भी उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

न, स्वात्मविषयत्वाद् आत्मज्ञानस्य । न हि आत्मनः स्वात्मनि प्रवर्तकप्रमाणापेक्षता आत्मत्वाद् एव तदन्तत्वात् च सर्वप्रमाणानां प्रमाणत्वस्य । न हि आत्मस्वरूपाधिगमे सति पुनः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः सम्भवति ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मज्ञान अपने स्वरूपको विषय करनेवाला है, अतः अपने स्वरूपज्ञानके विषयमें प्रवृत्त करनेवाले प्रमाणकी अपेक्षा नहीं होती । वह आत्मज्ञान स्वयं आत्मा होनेके कारण स्वतःसिद्ध है और उसीमें सब प्रमाणोंके प्रमाणत्वका अन्त है अर्थात् आत्मज्ञान होनेतक ही प्रमाणोंका प्रमाणत्व है, अतः आत्मस्वरूपका साक्षात् होनेके बाद प्रमाण और प्रमेयका व्यवहार नहीं बन सकता ।

प्रमातृत्वं हि आत्मनो निवर्तयति अन्त्यं प्रमाणम् । निवर्तयद् एव च अप्रमाणीभवति स्वप्नकालप्रमाणम् इव प्रबोधे ।

(आत्मज्ञानरूप) अन्तिम प्रमाण, आत्माके प्रमातापनको भी निवृत्त कर देता है । उसको निवृत्त करता हुआ वह स्वयं भी जागनेके बाद स्वप्नकालके प्रमाणकी भाँति अप्रमाणी हो जाता है अर्थात् लुप्त हो जाता है ।

लोके च वस्त्वधिगमे प्रवृत्तिहेतुत्वादर्शनात् प्रमाणस्य ।

क्योंकि व्यवहारमें भी वस्तु प्राप्त होनेके बाद कोई प्रमाण (उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये) प्रवृत्तिका हेतु होता नहीं देखा जाता ।

तस्माद् न आत्मविदः कर्मणि अधिकार इति सिद्धम् ॥ ६९ ॥

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञानीका कर्मोंमें अधिकार नहीं है ॥ ६९ ॥

विदुषः त्यक्तैषणस्य स्थितप्रज्ञस्य यतेः एव मोक्षप्राप्तिः न तु असंन्यासिनः कामकामिन इति एतम् अर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयिष्यन् आह—

जिसने तीनो एषणाओंका त्याग कर दिया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ विद्वान् संन्यासीको ही मोक्ष मिलता है, भोगोंकी कामना करनेवाले असंन्यासीको नहीं। इस अभिप्रायको दृष्टान्तद्वारा प्रतिपादन करनेकी इच्छा करते हुए भगवान् कहते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

आपूर्यमाणम् अद्भिः अचलप्रतिष्ठम् अचलतया प्रतिष्ठा अवस्थितिः यस्य तम् अचलप्रतिष्ठं समुद्रम् आपः सर्वतोगताः प्रविशन्ति स्वात्मस्थम् अविक्रियम् एव सन्तं यद्वत्,

तद्वत् कामा विषयसंनिधौ अपि सर्वत इच्छाविशेषा यं पुरुषं समुद्रम् इव आपः अविकुर्वन्तः प्रविशन्ति सर्वे आत्मनि एव प्रलीयन्ते न स्वात्मवशं कुर्वन्ति ।

स शान्ति मोक्षम् आप्नोति न इतरः कामकामी काम्यन्ते इति कामा विषयाः तान् कामयितुं शीलं यस्य स कामकामी न एव प्राप्नोति इत्यर्थः ॥ ७० ॥

जिस प्रकार, जलसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमे अर्थात् अचल भावसे जिसकी प्रतिष्ठा—स्थिति है ऐसे अपनी मर्यादामे स्थित, समुद्रमे सब ओरसे गये हुए जल, उसमे किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते है।

उसी प्रकार विषयोंका सङ्ग होनेपर भी जिस पुरुषमे समस्त इच्छाएँ समुद्रमे जलकी भाँति कोई भी विकार उत्पन्न न करती हुई सब ओरसे प्रवेश कर जाती हैं अर्थात् जिसकी समस्त कामनाएँ आत्मामे लीन हो जाती है, उसको अपने वशमे नहीं कर सकतीं—

उस पुरुषको शान्ति अर्थात् मोक्ष मिलता है, दूसरेको अर्थात् भोगोंकी कामना करनेवालेको नहीं मिलता। अभिप्राय यह कि जिनको पानेके लिये इच्छा की जाती है उन भोगोंका नाम काम है, उनको पानेकी इच्छा करना जिसका स्वभाव है वह कामकामी है, वह उस शान्तिको कभी नहीं पाता ॥७०॥

यस्माद् एवं तस्मात्—

क्योंकि ऐसा है इसलिये—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

विहाय परित्यज्य कामान् यः संन्यासी पुमान् सर्वान् अशेषतः कार्त्स्न्येन चरति जीवनमात्रचेष्टाशेषः पर्यटति इत्यर्थः ।

निःस्पृहः शरीरजीवनमात्रे अपि निर्गता स्पृहा यस्य स निःस्पृहः सन् ।

जो संन्यासी पुरुष, सम्पूर्ण कामनाओंको और भोगोंको अशेषतः त्यागकर अर्थात् केवल जीवनमात्रके निमित्त ही चेष्टा करनेवाला होकर विचरता है।

तथा जो स्पृहासे रहित हुआ है, अर्थात् शरीरजीवनमात्रमे भी जिसकी लालसा नहीं है।

निर्ममः शरीरजीवनमात्राक्षिप्तपरिग्रहे अपि मम इदम् इति अभिनिवेशवर्जितः ।

निरहङ्कारो विद्यावत्त्वादिनिमित्तात्मसम्भावनारहित इत्यर्थः ।

स एवंभूतः स्थितप्रज्ञो ब्रह्मवित् शान्तिं सर्वसंसारदुःखोपरमलक्षणां निर्वाणाख्याम् अधिगच्छति प्राप्नोति ब्रह्मभूतो भवति इत्यर्थः ॥७१॥

ममतासे रहित है अर्थात् शरीर-जीवनमात्रके लिये आवश्यक पदार्थोंके संग्रहमें भी 'यह मेरा है' ऐसे भावसे रहित है।

तथा अहंकारसे रहित है अर्थात विद्वत्ता आदिके सम्बन्धसे होनेवाले आत्माभिमानसे भी रहित है।

वह ऐसा स्थितप्रज्ञ, ब्रह्मवेत्ता-ज्ञानी संसारके सर्वदु.खोंकी निवृत्तिरूप मोक्ष नामक परम शान्तिको पाता है अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ ७१ ॥

सा एषा ज्ञाननिष्ठा स्तूयते—

(अब) उस उपर्युक्त ज्ञाननिष्ठाकी स्तुति की जाती है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

एषा यथोक्ता ब्राह्मी ब्रह्मणि भवा इयं स्थितिः सर्वं कर्म संन्यस्य ब्रह्मरूपेण एव अवस्थानम् इति एतत् ।

हे पार्थ न एनां स्थितिं प्राप्य लब्ध्वा विमुह्यति न मोहं प्राप्नोति ।

स्थित्वा अस्यां स्थितौ ब्राह्म्यां यथोक्तायाम् अन्तकाले अपि अन्ते वयसि अपि ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मनिर्वृतिं मोक्षं ऋच्छति गच्छति, किमु वक्तव्यं ब्रह्मचर्याद् एव संन्यस्य यावज्जीवं यो ब्रह्मणि एव अवतिष्ठते स ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति इति ॥७२॥

यह उपर्युक्त अवस्था ब्राह्मी यानी ब्रह्ममे होनेवाली स्थिति है, अर्थात् सर्व कर्मोंका संन्यास करके केवल ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाना है।

हे पार्थ ! इस स्थितिको पाकर मनुष्य फिर मोहित नहीं होता अर्थात् मोहको प्राप्त नहीं होता ।

अन्तकालमे—अन्तके वयमे भी इस उपर्युक्त ब्राह्मी स्थितिमे स्थित होकर मनुष्य, ब्रह्मने लीनतारूप मोक्षको लाभ करता है। फिर जो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही सन्यास ग्रहण करके जीवनपर्यन्त ब्रह्ममे स्थित रहता है वह ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ॐ

तृतीयोऽध्यायः

शास्त्रस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयभूते द्वे बुद्धी भगवता निर्दिष्टे, सांख्ये बुद्धिः योगे बुद्धिः इति च।

तत्र *'प्रजहाति यदा कामान्'* इति आरभ्य आ-अध्यायपरिसमाप्तेः सांख्यबुद्ध्याश्रितानां संन्यासं कर्तव्यम् उक्त्वा तेषां तन्निष्ठतया एव च कृतार्थता उक्ता—*'एषा ब्राह्मी स्थितिः'* इति।

अर्जुनाय च *'कर्मण्येवाधिकारस्ते'* *'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'* इति कर्म एव कर्तव्यम् उक्तवान् योगबुद्धिम् आश्रित्य, न तत एव श्रेयःप्राप्तिम् उक्तवान्।

तद् एतद् आलक्ष्य पर्याकुलीभूतबुद्धिः

अर्जुन उवाच—

कथं भक्ताय श्रेयोऽर्थिने यत् साक्षात् श्रेयःसाधनं सांख्यबुद्धिनिष्ठां श्रावयित्वा मां कर्मणि दृष्टानेकानर्थयुक्ते पारम्पर्येण अपि अनैकान्तिकश्रेयःप्राप्तिफले नियुञ्ज्याद् इति युक्तः पर्याकुलीभावः अर्जुनस्य।

तदनुरूपः च प्रश्नः *'ज्यायसी चेत्'* इत्यादिः।

प्रश्नापाकरणवाक्यं च भगवता उक्तं यथोक्तविभागविषये शास्त्रे।

इस गीताशास्त्रके दूसरे अध्यायमे भगवान्‌ने प्रवृत्तिविषयक योगबुद्धि और निवृत्तिविषयक सांख्यबुद्धि—ऐसी दो बुद्धियाँ दिखलायी है।

वहाँ सांख्यबुद्धिका आश्रय लेनेवालोंके लिये **'प्रजहाति यदा कामान्'** इस श्लोकसे लेकर अध्याय-समाप्तितक, सर्व कर्मोंका त्याग करना कर्तव्य बतलाकर **'एषा ब्राह्मी स्थितिः'** इस श्लोकमें उसी ज्ञाननिष्ठासे उनका कृतार्थ होना बतलाया है।

परन्तु अर्जुनको **'तेरा कर्ममें ही अधिकार है'** **'कर्म न करनेमें तेरी प्रीति न होनी चाहिये'** इत्यादि वचनोंसे (ऐसा कहा कि) योगबुद्धिका आश्रय लेकर तुझे कर्म ही करना चाहिये, (पर) उसीसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं बतलायी।

इस बातको विचारकर अर्जुनकी बुद्धि व्याकुल हो गयी और वह बोला—(**'ज्यायसी चेत्'** इत्यादि)।

कल्याण चाहनेवाले भक्तके लिये मोक्षका साक्षात् साधन जो सांख्यबुद्धि-निष्ठा है उसे सुनाकर भी जो प्रत्यक्षीकृत अनेक अनर्थोंसे युक्त हैं और क्रमसे आगे बढ़नेपर भी (इसी जन्ममे) एकमात्र मोक्षकी प्राप्तिरूप फल जिनका निश्चित नहीं है ऐसे कर्मोंमे मुझे भगवान् क्यों लगाते हैं। इस प्रकार अर्जुनका व्याकुल होना उचित ही है।

और उस व्याकुलताके अनुकूल ही यह **'ज्यायसी चेत्'** इत्यादि प्रश्न हैं।

इस प्रश्नको निवृत्त करनेवाले वचन भी भगवान्‌ने पूर्वोक्त विभागविषयक शास्त्रमे (जहाँ ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठाका अलग-अलग वर्णन है) कहे हैं।

केचित् तु अर्जुनस्य प्रश्नार्थम् अन्यथा कल्पयित्वा तत्प्रतिकूलं भगवतः प्रतिवचनं वर्णयन्ति । यथा च आत्मना सम्बन्धग्रन्थे गीतार्थो निरूपितः तत्प्रतिकूलं च इह पुनः प्रश्नप्रतिवचनयोः अर्थं निरूपयन्ति ।

तो भी कितने ही टीकाकार अर्जुनके प्रश्नका प्रयोजन दूसरी तरह मानकर उससे विपरीत भगवान्‌का उत्तर बतलाते हैं तथा पहले भूमिकामें स्वयं जैसा गीताका तात्पर्य बतला आये हैं, उससे भी यहाँ प्रश्न और उत्तरका अर्थ विपरीत प्रतिपादन करते हैं ।

कथम्, तत्र सम्बन्धग्रन्थे तावत्—सर्वेषाम् आश्रमिणां ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो गीताशास्त्रे निरूपितः अर्थ इति उक्तम्, पुनः विशेषितं च यावज्जीवश्रुतिचोदितानि कर्माणि परित्यज्य केवलाद् एव ज्ञानाद् मोक्षः प्राप्यते इति एतद् एकान्तेन एव प्रतिषिद्धम् इति ।

कैसे ? (सो कहते हैं कि)—वहाँ भूमिकामें तो (उन टीकाकारोंने) ऐसे कहा है कि गीताशास्त्रमें सब आश्रमवालोंके लिये ज्ञान और कर्मका समुच्चय निरूपण किया है और विशेषरूपसे यह भी कहा है कि 'जबतक जीवे अग्निहोत्रादि कर्म करता रहे' इत्यादि श्रुतिविहित कर्मोंका त्याग करके केवल ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है, इस सिद्धान्तका गीताशास्त्रमें निश्चितरूपसे निषेध है ।

इह तु आश्रमविकल्पं दर्शयता यावज्जीवश्रुतिचोदितानाम् एव कर्मणां परित्याग उक्तः ।

परन्तु यहाँ (तीसरे अध्यायमें) उन्होंने आश्रमोंका विकल्प दिखलाते हुए 'जबतक जीवे' इत्यादि श्रुतिविहित कर्मोंका ही त्याग बतलाया है ।

तत् कथम् ईदृशं विरुद्धम् अर्थम् अर्जुनाय ब्रूयात् भगवान्, श्रोता वा कथं विरुद्धम् अर्थम् अवधारयेत् ।

इससे यह शंका होती है कि इस प्रकारके विरुद्ध अर्थवाले वचन भगवान् अर्जुनसे कैसे कहते और सुननेवाला (अर्जुन) भी ऐसे विरुद्ध अर्थको कैसे स्वीकार करता ?

तत्र एतत् स्याद् गृहस्थानाम् एव श्रौतकर्मपरित्यागेन केवलाद् एव ज्ञानाद् मोक्षः प्रतिषिध्यते न तु आश्रमान्तराणाम् इति ।

पू०—यदि वहाँ (भूमिकामें) ऐसा अभिप्राय हो कि गृहस्थके लिये ही श्रौत-कर्मके त्यागपूर्वक केवल ज्ञानसे मोक्षप्राप्तिका निषेध किया है, दूसरे आश्रमवालोंके लिये नहीं, तो ?

एतद् अपि पूर्वोत्तरविरुद्धम् एव । कथम्, सर्वाश्रमिणां ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो गीताशास्त्रे निश्चितः अर्थ इति प्रतिज्ञाय इह कथं तद्विरुद्धं केवलाद् एव ज्ञानाद् मोक्षं ब्रूयाद् आश्रमान्तराणाम् ।

उ०—यह भी पूर्वापरविरुद्ध ही है । क्योंकि 'सभी आश्रमवालोंके लिये ज्ञान और कर्मका समुच्चय गीताशास्त्रका निश्चित अभिप्राय है' ऐसी प्रतिज्ञा करके उसके विपरीत यहाँ दूसरे आश्रमवालोंके लिये वे केवल ज्ञानसे मोक्ष कैसे बतलाते ?

अथ मतं श्रौतकर्मापेक्षया एतद् वचनं केवलाद् एव ज्ञानात् श्रौतकर्मरहिताद् गृहस्थानां मोक्षः प्रतिषिध्यते इति । तत्र गृहस्थानां विद्यमानम् अपि स्मार्तं कर्म अविद्यमानवद् उपेक्ष्य ज्ञानाद् एव केवलाद् न मोक्ष इति उच्यते इति ।

पू०—कदाचित् ऐसा मान लें कि यह कहना श्रौतकर्मकी अपेक्षासे है अर्थात् श्रौत-कर्मसे रहित केवल ज्ञानसे गृहस्थोंके लिये मोक्षका निषेध किया गया है, उसमें जो, केवल ज्ञानसे गृहस्थोंका मोक्ष नहीं होता, ऐसा कहा है वह विद्यमान स्मार्त-कर्मको भी अविद्यमानके सदृश उपेक्षा करके कहा है ।

एतद् अपि विरुद्धम् । कथम्, गृहस्थस्य एव स्मार्तकर्मणा समुच्चिताद् ज्ञानाद् मोक्षः प्रतिषिध्यते न तु आश्रमान्तराणाम् इति कथं विवेकिभिः शक्यम् अवधारयितुम् ।

उ०—यह भी विरुद्ध है । क्योंकि 'गृहस्थके लिये ही केवल स्मार्तकर्मके साथ मिले हुए ज्ञानसे मोक्षका प्रतिषेध किया है, दूसरे आश्रमवालोंके लिये नहीं'—यह विचारवान् मनुष्य कैसे मान सकते हैं ?

किं च यदि मोक्षसाधनत्वेन स्मार्तानि कर्माणि ऊर्ध्वरेतसां समुच्चीयन्ते तथा गृहस्थस्य अपि इष्यतां स्मार्तैः एव समुच्चयो न श्रौतैः ।

दूसरी बात यह भी है कि यदि ऊर्ध्वरेताओंको मोक्षप्राप्तिके लिये ज्ञानके साथ केवल स्मार्त-कर्मके समुच्चयकी ही आवश्यकता है तो इस न्यायसे गृहस्थोंके लिये भी केवल स्मार्त-कर्मोंके साथ ही ज्ञानका समुच्चय आवश्यक समझा जाना चाहिये, श्रौतकर्मोंके साथ नहीं ।

अथ श्रौतैः स्मार्तैः च गृहस्थस्य एव समुच्चयो मोक्षाय ऊर्ध्वरेतसां तु स्मार्तकर्ममात्र-समुच्चिताद् ज्ञानाद् मोक्ष इति ।

पू०—यदि ऐसा मानें कि गृहस्थको ही मोक्षके लिये श्रौत और स्मार्त दोनों प्रकारके कर्मोंके साथ ज्ञानके समुच्चयकी आवश्यकता है, ऊर्ध्वरेताओंका तो केवल स्मार्त-कर्मयुक्त ज्ञानसे मोक्ष हो जाता है ?

तत्र एवं सति गृहस्थस्य आयासबाहुल्यं श्रौतं स्मार्तं च बहुदुःखरूपं कर्म शिरसि आरोपितं स्यात् ।

उ०—ऐसा मान लेनेसे तो गृहस्थके ही सिरपर विशेष परिश्रमयुक्त और अति दुःखरूप श्रौत-स्मार्त दोनों प्रकारके कर्मोंका बोझ लादना हुआ ।

अथ गृहस्थस्य एव आयासबाहुल्यकारणाद् मोक्षः स्याद् न आश्रमान्तराणां श्रौतनित्यकर्म-रहितत्वाद् इति ।

पू०—यदि कहा जाय कि बहुत परिश्रम होनेके कारण गृहस्थकी ही मुक्ति होती है, (अन्य आश्रमोंमें) श्रौत नित्यकर्मोंका अभाव होनेके कारण अन्य आश्रमवालोंका मोक्ष नहीं होता तो ?

तद् अपि असत् । सर्वोपनिषत्सु इतिहास-पुराणयोगशास्त्रेषु च ज्ञानाङ्गत्वेन मुमुक्षोः सर्व-कर्मसंन्यासविधानाद् आश्रमविकल्पसमुच्चय-विधानात् च श्रुतिस्मृत्योः ।

उ०—यह भी ठीक नहीं । क्योंकि सब उपनिषद्, इतिहास, पुराण और योगशास्त्रोंमें मुमुक्षुके लिये ज्ञानका अंग मानकर सब कर्मोंके संन्यासका विधान किया है तथा श्रुति स्मृतियोंमें आश्रमोंके विकल्प और समुच्चयका भी विधान है ।*

सिद्धः तर्हि सर्वाश्रमिणां ज्ञानकर्मणोः समुच्चयः ।

पू०—तब तो सभी आश्रमवालोंके लिये ज्ञान और कर्मका समुच्चय सिद्ध हो जाता है ।

न, मुमुक्षोः सर्वकर्मसंन्यासविधानात् ।

उ०—नहीं । क्योंकि मुमुक्षुके लिये सर्व कर्मोंके त्यागका विधान है ।

* ब्रह्मचर्यसे गृहस्थ, गृहस्थसे वानप्रस्थ और वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण करना चाहिये; यह समुच्चयका विधान है और ब्रह्मचर्यसे अथवा गृहस्थसे या वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण करे, यह आश्रमोंके विकल्पका विधान है ।

'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।' (बृह० उ० ३। ५। १) 'तस्मात्संन्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः।' (ना० उ० २। ७९) 'न्यास एवात्यरेचयत्' (ना० उ० २। ७८) इति 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' (ना० उ० २। १२) इति च। 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जाबा० उ० ४) इत्याद्याः श्रुतयः।

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥
संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः॥

इति बृहस्पतिः अपि कचं प्रति।

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥

(महा० शान्ति० २४१। ७) इति शुकानुशासनम्।

इह अपि 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य' इत्यादि।

मोक्षस्य च अकार्यत्वाद् मुमुक्षोः कर्मानर्थक्यम्।

नित्यानि प्रत्यवायपरिहारार्थम् अनुष्ठेयानि इति चेत्।

न, असंन्यासिविषयत्वात् प्रत्यवायप्राप्तेः, न हि अग्निकार्याद्यकरणात् संन्यासिनः प्रत्यवायः कल्पयितुं शक्यो यथा ब्रह्मचारिणाम् असंन्यासिनाम् अपि कर्मिणाम्।

'सब प्रकारके भोगोंसे विरक्त होकर भिक्षावृत्तिका अवलम्बन करते हैं।' 'इसलिये इन सब तपोंमें संन्यासको ही श्रेष्ठ कहते हैं।' 'संन्यास ही श्रेष्ठ बताया गया है' 'न कर्मसे, न प्रजासे, न धनसे, पर केवल त्यागसे ही कई एक महापुरुष अमृतत्वको प्राप्त हुए हैं।' 'ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ग्रहण करे।' इत्यादि श्रुतिवचन हैं।

बृहस्पतिने भी कचसे कहा है कि 'धर्म और अधर्मको छोड़, सत्य और झूठ दोनोंको छोड़, सत्य और झूठ दोनोको छोड़कर जिस (अहंकार) से इनको छोड़ता है उसको भी छोड़।' 'संसारको साररहित देखकर परवैराग्यके आश्रित हुए पुरुष, सार वस्तुके दर्शनकी इच्छासे विवाह किये विना (ब्रह्मचर्य-आश्रमसे) ही संन्यास ग्रहण करते है।

व्यासजीने भी शुकदेवजीको शिक्षा देते समय कहा है कि 'जीव कर्मोंसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त होता है, इसलिये आत्मतत्त्वके ज्ञाता यति कर्म नहीं करते।'

यहाँ (गीतामें) भी 'सब कर्मोंको मनसे छोड़कर' इत्यादि वचन कहे हैं।

मोक्ष अकार्य है अर्थात् किसी क्रियासे प्राप्त होनेवाला नहीं है, इससे भी मुमुक्षुके लिये कर्म व्यर्थ है।

पू०—यदि ऐसा कहे कि प्रत्यवाय* दूर करनेके लिये नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करना आवश्यक है, तो ?

उ०—यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यवायकी प्राप्ति संन्यासीके लिये नहीं, असंन्यासीके लिये है। जो सन्यासी नहीं है, ऐसे कर्म करनेवाले गृहस्थोंको और ब्रह्मचारियोंको भी जिस प्रकार विहित कर्म न करनेसे प्रत्यवाय होता है, वैसे अग्निहोत्रादि कर्म न करनेसे संन्यासीके लिये प्रत्यवाय-प्राप्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती।

* विहित कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे जो पाप लगता है, उसका नाम प्रत्यवाय है।

न तावद् नित्यानां कर्मणाम् अभावाद् एव भावरूपस्य प्रत्यवायस्य उत्पत्तिः कल्पयितुं शक्या *'कथमसतः सज्जायेत'* (छा० उ० ६ । २ । २) इति असतः सज्जन्मासंभवश्रुतेः ।

तथा नित्यकर्मोंके अभावसे ही भावरूप प्रत्यवायके उत्पन्न होनेकी भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि **'असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?'** इस प्रकार अभावसे भावकी उत्पत्तिको असम्भव बतलानेवाले श्रुतिके वचन हैं ।

यदि विहिताकरणाद् असम्भाव्यम् अपि प्रत्यवायं ब्रूयाद् वेदः तदा अनर्थकरो वेदः अप्रमाणम् इति उक्तं स्यात् ।

यदि कहो कि (कर्मोंके अभावसे भावरूप प्रत्यवाय) असम्भव होनेपर भी विहित कर्मोंके न करनेसे प्रत्यवायका होना वेद बतलाता है, तब तो यह कहना हुआ कि वेद अनर्थकारक और अप्रामाणिक है ।

विहितस्य करणाकरणयोः दुःखमात्रफलत्वात् ।

क्योंकि (ऐसा माननेसे) वेदविहित कर्मोंके करने और न करने दोनोंहीमें केवल दुःख ही फल हुआ ।

तथा च कारकं शास्त्रं न ज्ञापकम् इति अनुपपन्नार्थं कल्पितं स्यात् । न च एतद् इष्टम् ।

इसके सिवा शास्त्र ज्ञापक नहीं बल्कि कारक है अर्थात् अपूर्व शक्ति उत्पन्न करनेवाला है, ऐसा युक्तिशून्य अर्थ भी मानना हुआ * । यह किसीको इष्ट नहीं है ।

तस्माद् न संन्यासिनां कर्माणि अतो ज्ञानकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः ।

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि संन्यासियोंके लिये कर्म नहीं है, अतएव ज्ञान-कर्मका समुच्चय भी युक्तियुक्त नहीं है ।

'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः' इति । अर्जुनस्य प्रश्नानुपपत्तेः च ।

तथा **'ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिः'** इत्यादि अर्जुनके प्रश्नोंकी संगति नहीं बैठनेके कारण भी ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं बन सकता ।

यदि हि भगवता द्वितीये अध्याये ज्ञानं कर्म च समुच्चयेन त्वया अनुष्ठेयम् इति उक्तं स्यात् ततः अर्जुनस्य प्रश्नः अनुपपन्नो *'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः जनार्दन'* इति ।

क्योंकि यदि दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनसे यह कहा होता कि ज्ञान और कर्म दोनोंका तुझे एक साथ अनुष्ठान करना चाहिये तो फिर अर्जुनका यह पूछना नहीं बनता कि **'हे जनार्दन ! यदि कर्मोंकी अपेक्षा आप ज्ञानको श्रेष्ठ मानते हैं'** इत्यादि ।

अर्जुनाय चेद् बुद्धिकर्मणी त्वया अनुष्ठेये इति उक्ते या कर्मणो ज्यायसी बुद्धिः सा अपि उक्ता एव इति *'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव'* इति प्रश्नो न कथञ्चन उपपद्यते ।

यदि भगवान्‌ने अर्जुनसे यह कहा हो कि तुझे ज्ञान और कर्मका एक साथ अनुष्ठान करना चाहिये, तब जो कर्मोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, उस ज्ञानका (सम्पादन करनेके लिये) भी कह ही दिया गया, फिर यह पूछना किसी तरह भी नहीं बन सकता कि **'तो हे केशव ! मुझे घोर कर्मोंमें क्यों लगाते हैं ।'**

* वास्तवमें शास्त्र केवल पदार्थोंकी शक्तिको बतलानेवाला है, उसमें नवीन शक्ति उत्पन्न करनेवाला नहीं है ।

न च अर्जुनस्य एव ज्यायसी बुद्धिः न अनुष्ठेया इति भगवता उक्तं पूर्वम् इति कल्पयितुं युक्तम्, येन *'ज्यायसी चेत्'* इति प्रश्नः स्यात् ।

ऐसी तो कल्पना की ही नहीं जा सकती कि भगवान्‌ने पहले ऐसा कह दिया था कि उस श्रेष्ठ ज्ञानका अनुष्ठान अर्जुनको नहीं करना चाहिये, जिससे कि अर्जुनका 'ज्यायसी चेत्' इत्यादि प्रश्न बन सके ।

यदि पुनः एकस्य पुरुषस्य ज्ञानकर्मणोः विरोधाद् युगपद् अनुष्ठानं न सम्भवति इति भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वं भगवता पूर्वम् उक्तं स्यात् ततः अयं प्रश्न उपपन्नः *'ज्यायसी चेत्'* इत्यादिः ।

हाँ, यदि ऐसा हो कि ज्ञान और कर्मका परस्पर विरोध होनेके कारण एक पुरुषसे एक कालमे (दोनोका) अनुष्ठान सम्भव नहीं, इसलिये भगवान्‌ने दोनोको भिन्न-भिन्न पुरुषोंद्वारा अनुष्ठान करनेके योग्य पहले बतलाया है तो 'ज्यायसी चेत्' इत्यादि प्रश्न बन सकता है ।

अविवेकतः प्रश्नकल्पनायाम् अपि भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वेन भगवतः प्रतिवचनं न उपपद्यते ।

यदि ऐसी कल्पना करें कि 'अर्जुनने यह प्रश्न अविवेकसे किया है' तो भी भगवान्‌का यह उत्तर देना युक्तियुक्त नहीं ठहरता कि ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनो भिन्न-भिन्न पुरुषोंद्वारा अनुष्ठान की जानेयोग्य है ।

न च अज्ञाननिमित्तं भगवत्प्रतिवचनं कल्प्यम् ।

भगवान्‌के उत्तरको अज्ञानमूलक मानना तो (सर्वथा) अनुचित है ।

अस्मात् च भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वेन ज्ञानकर्मनिष्ठयोः भगवतः प्रतिवचनदर्शनात्, ज्ञानकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः ।

अतएव भगवान्‌के इस उत्तरको कि 'ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठाका अनुष्ठान करनेवाले अधिकारी भिन्न-भिन्न हैं,' देखनेसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान-कर्मका समुच्चय सम्भव नहीं ।

तस्मात् केवलाद् एव ज्ञानाद् मोक्ष इति एषः अर्थो निश्चितो गीतासु सर्वोपनिषत्सु च ।

इसलिये गीतामे और सब उपनिषदोमे यही निश्चित अभिप्राय है कि केवल ज्ञानसे ही मोक्ष होता है ।

ज्ञानकर्मणोः एकं वद निश्चित्य इति च एकविषया एव प्रार्थना अनुपपन्ना उभयोः समुच्चयसंभवे ।

यदि दोनोका समुच्चय सम्भव होता तो ज्ञान और कर्म इन दोनोमेसे एकको निश्चय करके कहो, इस प्रकार एक ही बात कहनेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना नहीं बन सकती ।

'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इति च ज्ञाननिष्ठासंभवम् अर्जुनस्य अवधारणेन दर्शयिष्यति ।

इसके सिवा 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इस निश्चित कथनसे भगवान् भी अर्जुनके लिये (आगे) ज्ञाननिष्ठा असम्भव दिखलायेंगे ।

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

ज्यायसी श्रेयसी चेद् यदि कर्मण. सकाशात् ते तव मता अभिप्रेता बुद्धिः ज्ञानं हे जनार्दन ।

यदि बुद्धिकर्मणी समुच्चिते इष्टे तदा एकं श्रेयःसाधनम् इति कर्मणो ज्यायसी बुद्धिः इति कर्मणः अतिरिक्तकरणं बुद्धेः अनुपपन्नम् अर्जुनेन कृतं स्यात् ।

न हि तद् एव तस्मात् फलतः अतिरिक्तं स्यात् ।

तथा कर्मणः श्रेयस्करी भगवता उक्ता बुद्धिः अश्रेयस्करं च कर्म कुरु इति मां प्रतिपादयति तत् किं नु कारणम् इति भगवत उपालम्भम् इव कुर्वन् तत् किं कस्मात् कर्मणि घोरे क्रूरे हिंसालक्षणे मा नियोजयसि केशव इति च यद् आह तत् च न उपपद्यते ।

अथ स्मार्तेन एव कर्मणा समुच्चयः सर्वेषां भगवता उक्तः अर्जुनेन च अवधारितः चेत् तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि इत्यादि कथं युक्तं वचनम् ॥ १ ॥

हे जनार्दन ! यदि कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको आप श्रेष्ठ मानते है (तो हे केशव ! मुझे इस हिंसारूप क्रूर कर्ममे क्यों लगाते है ?)

यदि ज्ञान और कर्म दोनोंका समुच्चय भगवान्‌को सम्मत होता तो फिर 'कल्याणका वह एक साधन कहिये' कर्मोंसे ज्ञान श्रेष्ठ है, इत्यादि वाक्योद्वारा अर्जुनका ज्ञानसे कर्मोंको पृथक् करना अनुचित होता ।

क्योकि (समुच्चय-पक्षमे) कर्मकी अपेक्षा उस (ज्ञान) का फलके नाते श्रेष्ठ होना सम्भव नहीं ।

तथा भगवान्‌ने कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको कल्याणकारक बतलाया और मुझसे ऐसा कहते है कि 'तू अकल्याणकारक कर्म ही कर' इसमे क्या कारण है—यह सोचकर अर्जुनने भगवान्‌को उलहना-सा देते हुए जो ऐसा कहा कि 'तो फिर हे केशव ! मुझे इस हिंसारूप घोर क्रूर कर्ममे क्यो लगाते है ?' वह भी उचित नहीं होता ।

यदि भगवान्‌ने स्मार्त कर्मके साथ ही ज्ञानका समुच्चय सबके लिये कहा होता एवं अर्जुनने भी ऐसा ही समझा होता, तो उसका यह कहना कि 'फिर हे केशव ! मुझे घोर कर्ममे क्यो लगाते है ?' कैसे युक्तियुक्त हो सकता ? ॥ १ ॥

किं च—

तथा—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

व्यामिश्रेण इव यद्यपि विविक्ताभिधायी भगवान् तथापि मम मन्दबुद्धेः व्यामिश्रम् इव भगवद्वाक्यं प्रतिभाति । तेन मम बुद्धिं मोहयसि इव ।

यद्यपि भगवान् स्पष्ट कहनेवाले हैं तो भी मुझ मन्दबुद्धिको भगवान्‌के वाक्य मिले हुए-से प्रतीत होते है, उन मिले हुए-से वचनोसे आप मानो मेरी बुद्धिको मोहित कर रहे हैं ।

मम बुद्धिव्यामोहापनयाय हि प्रवृत्तः त्वं तु कथं मोहयसि अतो ब्रवीमि बुद्धिं मोहयसि इव मे मम इति।

वास्तवमे आप तो मेरी बुद्धिका मोह दूर करनेके लिये प्रवृत्त हुए है, फिर मुझे मोहित कैसे करते! इसीलिये कहता हूँ कि आप मेरी बुद्धिको मोहित-सी करते है।

त्वं तु भिन्नकर्तृकयोः ज्ञानकर्मणोः एकपुरुषानुष्ठानासम्भवं यदि मन्यसे तत्र एवं सति तत् तयोः एकं बुद्धिं कर्म वा इदम् एव अर्जुनस्य योग्यं बुद्धिशक्त्यवस्थानुरूपम् इति निश्चित्य वद ब्रूहि। येन ज्ञानेन कर्मणा वा अन्यतरेण श्रेयः अहम् आप्नुयां प्राप्नुयाम्।

आप यदि अलग-अलग अधिकारियोंद्वारा किये जाने योग्य ज्ञान और कर्मका अनुष्ठान एक पुरुषद्वारा किया जाना असम्भव मानते है, तो उन दोनोंमेसे 'ज्ञान या कर्म यही एक बुद्धि, शक्ति और अवस्थाके अनुसार अर्जुनके लिये योग्य है'—ऐसा निश्चय करके मुझसे कहिये, जिस ज्ञान या कर्म किसी एकसे मै कल्याणको प्राप्त कर सकूँ।

यदि हि कर्मनिष्ठायां गुणभूतम् अपि ज्ञानं भगवता उक्तं स्यात् तत् कथं तयोः एकं वद इति एकविषया एव अर्जुनस्य शुश्रूषा स्यात्।

यदि कर्मनिष्ठामे गौणरूपसे भी ज्ञानको भगवान्ने कहा होता तो 'दोनोमेसे एक कहिये' इस प्रकार एकहीको सुननेकी अर्जुनकी इच्छा कैसे होती?

न हि भगवता उक्तम् अन्यतरद् एव ज्ञानकर्मणोः वक्ष्यामि न एव द्वयम् इति। येन उभयप्राप्त्यसम्भवम् आत्मनो मन्यमान एकम् एव प्रार्थयेत् ॥ २ ॥

क्योकि 'ज्ञान और कर्म इन दोनोमेसे मैं तुझसे एक ही कहूँगा, दोनो नहीं'—ऐसा भगवान्ने कहीं नहीं कहा, कि जिससे अर्जुन अपने लिये दोनोकी प्राप्ति असम्भव मानकर एकके लिये ही प्रार्थना करता ॥ २ ॥

प्रश्नानुरूपम् एव प्रतिवचनम्—

श्रीभगवानुवाच—

प्रश्नके अनुसार ही उत्तर देते हुए—

श्रीभगवान् बोले—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

लोके अस्मिन् शास्त्रानुष्ठानाधिकृतानां त्रैवर्णिकानां द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा स्थितिः अनुष्ठेयतात्पर्यं पुरा पूर्वं सर्गादौ प्रजाः सृष्ट्वा तासाम् अभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिसाधनं वेदार्थसम्प्रदायम् आविष्कुर्वता प्रोक्ता मया सर्वज्ञेन ईश्वरेण हे अनघ अपाप।

हे निष्पाप अर्जुन! इस मनुष्यलोकमे शास्त्रोक्त कर्म और ज्ञानके जो अधिकारी है, ऐसे तीनो वर्णवालोंके लिये (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके लिये) दो प्रकारकी निष्ठा—स्थिति अर्थात् कर्तव्य-तत्परता, पहले—सृष्टिके आदिकालमे प्रजाको रचकर उनकी लौकिक उन्नति और मोक्षकी प्राप्तिके साधनरूप वैदिक सम्प्रदायको आविष्कार करनेवाले मुझ सर्वज्ञ ईश्वरद्वारा कही गयी हैं।

तत्र का सा द्विविधा निष्ठा इति आह—

ज्ञानयोगेन ज्ञानम् एव योगः तेन सांख्यानाम् आत्मानात्मविषयविवेकज्ञानवतां ब्रह्मचर्याश्रमाद् एव कृतसंन्यासानां वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां परमहंसपरिव्राजकानां ब्रह्मणि एव अवस्थितानां निष्ठा प्रोक्ता।

कर्मयोगेन कर्म एव योगः कर्मयोगः तेन कर्मयोगेन योगिना कर्मिणां निष्ठा प्रोक्ता इत्यर्थः।

यदि च एकेन पुरुषेण एकस्मै पुरुषार्थाय ज्ञानं कर्म च समुच्चित्य अनुष्ठेयं भगवता इष्टम् उक्तं वक्ष्यमाणं वा गीतासु वेदेषु च उक्तम्। कथम् इह अर्जुनाय उपसन्नाय प्रियाय विशिष्टभिन्नपुरुषकर्तृके एव ज्ञानकर्मनिष्ठे ब्रूयात्।

यदि पुनः अर्जुनो ज्ञानं कर्म च द्वयं श्रुत्वा स्वयम् एव अनुष्ठास्यति अन्येषां तु भिन्नपुरुषानुष्ठेयतां वक्ष्यामि इति मतं भगवतः कल्प्येत। तदा रागद्वेषवान् अप्रमाणभूतो भगवान् कल्पितः स्यात्। तत् च अयुक्तम्।

तस्मात् कया अपि युक्त्या न समुच्चयो ज्ञानकर्मणोः।

यद् अर्जुनेन उक्तं कर्मणो ज्यायस्त्वं बुद्धेः तत् च स्थितम् अनिराकरणात्।

तस्याः च ज्ञाननिष्ठायाः संन्यासिनाम् एव अनुष्ठेयत्वं भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्ववचनात् च भगवत एवम् एव अनुमतम् इति गम्यते ॥ ३ ॥

वह दो प्रकारकी निष्ठा कौन-सी हैं? सो कहते हैं—

जो आत्म-अनात्मके विषयमे विवेकजन्य ज्ञानसे सम्पन्न हैं, जिन्होने ब्रह्मचर्य-आश्रमसे ही संन्यास ग्रहण कर लिया है, जिन्होंने वेदान्तके विज्ञानद्वारा आत्मतत्त्वका भलीभाँति निश्चय कर लिया है, जो परमहंस संन्यासी हैं, जो निरन्तर ब्रह्ममे स्थित है ऐसे सांख्ययोगियोकी निष्ठा ज्ञानरूप योगसे कही है।

तथा कर्मयोगसे कर्मयोगियोकी अर्थात् कर्म करनेवालोकी निष्ठा कही है।

यदि एक पुरुषद्वारा एक ही प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ज्ञान और कर्म दोनों एक साथ अनुष्ठान करनेयोग्य हैं, ऐसा अपना अभिप्राय भगवान्‌द्वारा गीतामें पहले कहीं कहा गया होता, या आगे कहा जानेवाला होता, अथवा वेदमे कहा गया होता तो शरणमे आये हुए प्रिय अर्जुनको यहाँ भगवान् यह कैसे कहते कि ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा अलग-अलग भिन्न-भिन्न अधिकारियोद्वारा ही अनुष्ठान की जानेयोग्य हैं।

यदि भगवान्‌का यह अभिप्राय मान लिया जाय कि ज्ञान और कर्म दोनोको सुनकर अर्जुन स्वयं ही दोनोका अनुष्ठान कर लेगा, दोनोको भिन्न-भिन्न पुरुषोद्वारा अनुष्ठान करनेयोग्य तो दूसरोके लिये कहूँगा। तब तो भगवान्‌को रागद्वेषयुक्त और अप्रामाणिक मानना हुआ। ऐसा मानना सर्वथा अनुचित है।

इसलिये किसी भी युक्तिसे ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं माना जा सकता।

कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानकी श्रेष्ठता जो अर्जुनने कही थी वह तो सिद्ध है ही, क्योकि भगवान्‌ने उसका निराकरण नहीं किया।

उस ज्ञाननिष्ठाके अनुष्ठानका अधिकार संन्यासियोंका ही है। क्योंकि दोनों निष्ठा भिन्न-भिन्न पुरुषोंद्वारा अनुष्ठान करनेयोग्य बतलायी गयी है, इस कारण भगवान्‌की यही सम्मति है, यह प्रतीत होता है॥ ३॥

मां च बन्धकारणे कर्मणि एव नियोजयसि इति विषण्णमनसम् अर्जुनं कर्म न आरभे इति एवं मन्वानम् आलक्ष्य आह भगवान्— 'न कर्मणामनारम्भात्'—इति ।

बन्धनके हेतुरूप कर्मोंमें ही भगवान् मुझे लगाते हैं—ऐसा समझकर व्यथित-चित्त हुए और मैं कर्म नहीं करूँगा, ऐसा माननेवाले अर्जुनको देखकर भगवान् बोले—'न कर्मणामनारम्भात्' इति ।

अथ वा ज्ञानकर्मनिष्ठयोः परस्परविरोधाद् एकेन पुरुषेण युगपद् अनुष्ठातुम् अशक्यत्वे सति इतरेतरानपेक्षयोः एव पुरुषार्थहेतुत्वे प्राप्ते—

अथवा ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठाका परस्पर विरोध होनेके कारण एक पुरुषद्वारा एक कालमें दोनोंका अनुष्ठान नहीं किया जा सकता । इससे एक दूसरेकी अपेक्षा न रखकर दोनो अलग-अलग मोक्षमें हेतु हैं, ऐसी शंका होनेपर—

कर्मनिष्ठाया ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिहेतुत्वेन पुरुषार्थहेतुत्वं न स्वातन्त्र्येण, ज्ञाननिष्ठा तु कर्मनिष्ठोपायलब्धात्मिका सती स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुः अन्यानपेक्षा इति एतम् अर्थं प्रदर्शयिष्यन् आह भगवान्—

यह बात स्पष्ट प्रकट करनेकी इच्छासे कि ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्तिमें साधन होनेके कारण कर्मनिष्ठा मोक्षरूप पुरुषार्थमें हेतु है, स्वतन्त्र नहीं है; और कर्मनिष्ठारूप उपायसे सिद्ध होनेवाली ज्ञाननिष्ठा अन्यकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र ही मुक्तिमें हेतु है । भगवान् बोले—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

न कर्मणाम् अनारम्भाद् अप्रारम्भात् कर्मणां क्रियाणां यज्ञादीनाम् इह जन्मनि जन्मान्तरे वा अनुष्ठितानाम् उपात्तदुरितक्षयहेतुत्वेन सत्त्वशुद्धिकारणानां तत्कारणत्वेन च ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण ज्ञाननिष्ठाहेतूनाम्—'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' (महा० शान्ति० २०४ । ८) इत्यादिस्मरणाद् अनारम्भाद् अनुष्ठानात्—

कर्मोंका आरम्भ किये बिना अर्थात् यज्ञादि कर्म जो कि इस जन्म या जन्मान्तरमें किये जाते हैं और सञ्चित पापोंका नाश करनेके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिमें कारण हैं एवं 'पाप-कर्मोंका नाश होनेपर मनुष्योंके (अन्तःकरणमें) ज्ञान प्रकट होता है' इस स्मृतिके अनुसार जो अन्तःकरणकी शुद्धिमें कारण होनेसे ज्ञाननिष्ठाके भी हेतु हैं, उन यज्ञादि कर्मोंका आरम्भ किये बिना—

नैष्कर्म्यं निष्कर्मभावं कर्मशून्यतां ज्ञानयोगेन निष्ठां निष्क्रियात्मस्वरूपेण एव अवस्थानम् इति यावत्, पुरुषो न अश्नुते न प्राप्नोति इत्यर्थः ।

मनुष्य निष्कर्मभावको—कर्मशून्य स्थितिको, अर्थात् जो निष्क्रिय आत्मस्वरूपमें स्थित होनारूप ज्ञानयोगसे प्राप्त होनेवाली निष्ठा है, उसको नहीं पाता ।

कर्मणाम् अनारम्भाद् नैष्कर्म्यं न अश्नुते इति वचनात् तद्विपर्ययात् तेषाम् आरम्भाद् नैष्कर्म्यम् अश्नुते इति गम्यते। कस्मात् पुनः कारणात् कर्मणाम् अनारम्भाद् नैष्कर्म्यं न अश्नुते इति।

प्र०—कर्मोंका आरम्भ नहीं करनेसे निष्कर्मभावको प्राप्त नहीं होता—इस कथनसे यह पाया जाता है कि इसके विपरीत करनेसे अर्थात् कर्मोंका आरम्भ करनेसे मनुष्य निष्कर्मभावको पाता है, सो (इसमें) क्या कारण है कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य निष्कर्मताको प्राप्त नहीं होता ?

उच्यते, कर्मारम्भस्य एव नैष्कर्म्योपायत्वात्। न हि उपायम् अन्तरेण उपेयप्राप्तिः अस्ति।

उ०—क्योंकि कर्मोंका आरम्भ ही निष्कर्मताकी प्राप्तिका उपाय है और उपायके बिना उपेयकी प्राप्ति हो नहीं सकती, यह प्रसिद्ध ही है।

कर्मयोगोपायत्वं च नैष्कर्म्यलक्षणस्य ज्ञानयोगस्य श्रुतौ इह च प्रतिपादनात्।

निष्कर्मतारूप ज्ञानयोगका उपाय कर्मयोग है, यह बात श्रुतिमें और यहाँ गीतामें भी प्रतिपादित है।

श्रुतौ तावत् प्रकृतस्य आत्मलोकस्य वेद्यस्य वेदनोपायत्वेन *'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'* (बृह० उ० ४।४।२२) इत्यादिना कर्मयोगस्य ज्ञानयोगोपायत्वं प्रतिपादितम्।

श्रुतिमें प्रस्तुत ज्ञेयरूप आत्मलोकके जाननेका उपाय बतलाते हुए **'उस आत्माको ब्राह्मण वेदाध्ययन और यज्ञसे जाननेकी इच्छा करते हैं'** इत्यादि वचनोंसे कर्मयोगको ज्ञानयोगका उपाय बतलाया है।

इह अपि च—

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः'

'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'

इत्यादि प्रतिपादयिष्यति।

तथा यहाँ (गीताशास्त्रमें) भी—**'हे महाबाहो! बिना कर्मयोगके संन्यास प्राप्त करना कठिन है' 'योगी लोग आसक्ति छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं' 'यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानोंको पवित्र करनेवाले हैं'** इत्यादि वचनोंसे आगे प्रतिपादित करेंगे।

ननु च—*'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्'* इत्यादौ कर्तव्यकर्मसंन्यासाद् अपि नैष्कर्म्यप्राप्तिं दर्शयति लोके च कर्मणाम् अनारम्भाद् नैष्कर्म्यम् इति प्रसिद्धतरम् अतः च नैष्कर्म्यार्थिनः किं कर्मारम्भेण इति प्राप्तम् अत आह—

यहाँ यह शंका होती है कि **'सब भूतोंको अभयदान देकर संन्यास ग्रहण करे'** इत्यादि वचनोंमें कर्तव्यकर्मोंके त्यागद्वारा भी निष्कर्मताकी प्राप्ति दिखलायी है और लोकमें भी कर्मोंका आरम्भ न करनेसे निष्कर्मताका प्राप्त होना अत्यन्त प्रसिद्ध है। फिर निष्कर्मता चाहनेवालेको कर्मोंके आरम्भसे क्या प्रयोजन ? इसपर कहते हैं—

न च संन्यसनाद् एव इति। **न अपि संन्यसनाद् एव केवलात् कर्मपरित्यागमात्राद् एव ज्ञानरहितात्** सिद्धिं नैष्कर्म्यलक्षणां ज्ञानयोगेन निष्ठां समधिगच्छति **न प्राप्नोति** ॥ ४ ॥

केवल संन्याससे अर्थात् बिना ज्ञानके केवल कर्मपरित्यागमात्रसे मनुष्य निष्कर्मतारूप सिद्धिको अर्थात् ज्ञानयोगसे होनेवाली स्थितिको नहीं पाता ॥ ४ ॥

कस्मात् पुनः कारणात् कर्मसंन्यासमात्राद् एव ज्ञानरहितात् सिद्धिं नैष्कर्म्यलक्षणां पुरुषो न अधिगच्छति इति हेत्वाकाङ्क्षायाम् आह—

बिना ज्ञानके केवल कर्मसंन्यासमात्रसे मनुष्य निष्कर्मतारूप सिद्धिको क्यों नहीं पाता ? इसका कारण जाननेकी इच्छा होनेपर कहते हैं—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

न हि **यस्मात्** क्षणम् अपि **कालं** जातु **कदाचित्** कश्चित् तिष्ठति अकर्मकृत् **सन्** । **कस्मात्** कार्यते हि **यस्माद्** अवश एव कर्म सर्वः **प्राणी** प्रकृतिजैः **प्रकृतितो जातैः सत्त्वरजस्तमोभिः** गुणैः ।

कोई भी मनुष्य कभी क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता । क्योंकि 'सभी प्राणी' प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंद्वारा परवश हुए अवश्य ही कर्मोंमें प्रवृत्त कर दिये जाते हैं ।

अज्ञ इति वाक्यशेषो यतो वक्ष्यति—'*गुणैर्यो न विचाल्यते*' **इति सांख्यानां पृथक्करणाद् अज्ञानाम् एव हि कर्मयोगो न ज्ञानिनाम् ।**

यहाँ सभी प्राणीके साथ अज्ञानी (शब्द) और जोडना चाहिये (अर्थात् 'सभी अज्ञानी प्राणी' ऐसे पढना चाहिये) । क्योंकि आगे **'जो गुणोंसे विचलित नहीं किया जा सकता'** इस कथनसे ज्ञानियोंको अलग किया है, अत. अज्ञानियोंके लिये ही कर्मयोग है, ज्ञानियोंके लिये नहीं ।

ज्ञानिनां तु गुणैः अचाल्यमानानां स्वतः चलनाभावात् कर्मयोगो न उपपद्यते ।

क्योंकि जो गुणोंद्वारा विचलित नहीं किये जा सकते, उन ज्ञानियोंमें स्वत. क्रियाका अभाव होनेसे उनके लिये कर्मयोग सम्भव नहीं है ।

तथा च व्याख्यातं वेदाविनाशिनम् इति अत्र ॥ ५ ॥

ऐसे ही 'वेदाविनाशिनम्' इस श्लोककी व्याख्यामें विस्तारपूर्वक कहा गया है ॥ ५ ॥

यः तु अनात्मज्ञः चोदितं कर्म न आरभते इति तद् असद् एव इति आह—

जो आत्मज्ञानी न होनेपर भी शास्त्रविहित कर्म नहीं करता, उसका वह कर्म न करना बुरा है, यह कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

कर्मेन्द्रियाणि **हस्तादीनि** संयम्य **संहृत्य** य आस्ते **तिष्ठति** मनसा स्मरन् **चिन्तयन्** इन्द्रियार्थान् **विषयान्** विमूढात्मा **विमूढान्तःकरणो** मिथ्याचारो **मृषाचारः पापाचारः** स उच्यते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियोंको रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है, वह विमूढात्मा अर्थात् मोहित अन्त करणवाला मिथ्याचारी, ढोंगी, पापाचारी कहा जाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

यः तु **पुनः कर्मणि अधिकृतः अज्ञो बुद्धीन्द्रियाणि** मनसा नियम्य आरभते अर्जुन कर्मेन्द्रियैः **वाक्पाण्यादिभिः ।**

किम् आरभते इति आह—

कर्मयोगम् असक्तः **सन्** स विशिष्यते **इतरस्माद् मिथ्याचारात् ॥ ७ ॥**

परन्तु हे अर्जुन ! जो कर्मोंका अधिकारी अज्ञानी, ज्ञानेन्द्रियोको मनसे रोककर वाणी, हाथ इत्यादि कर्मेन्द्रियोसे आचरण करता है ।

किसका आचरण करता है ? सो कहते हैं—

आसक्तिरहित होकर कर्मयोगका आचरण करता है, वह (कर्मयोगी) दूसरेकी अपेक्षा अर्थात् मिथ्याचारियोकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

यत एवम् अतः—

ऐसा होनेके कारण—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

नियतं **नित्यं यो यस्मिन् कर्मणि अधिकृतः फलाय च अश्रुतं तद् नियतं** कर्म **तत्** कुरु त्वं **हे अर्जुन । यतः** कर्म ज्यायः **अधिकतरं फलतो** हि **यस्माद्** अकर्मणः **अकरणाद् अनारम्भात् ।**

कथं शरीरयात्रा **शरीरस्थितिः** अपि च ते **तव** न प्रसिद्ध्येत् **प्रसिद्धिं न गच्छेद्** अकर्मणः **अकरणात् । अतो दृष्टः कर्माकर्मणोः विशेषो लोके ॥ ८ ॥**

हे अर्जुन ! जो कर्म श्रुतिमे किसी फलके लिये नहीं बताया गया है, ऐसे जिस कर्मका जो अधिकारी है उसके लिये वह नियत कर्म है, उस नियत अर्थात् नित्य कर्मका तू आचरण कर । क्योकि कर्मोंके न करनेकी अपेक्षा कर्म करना परिणाममे बहुत श्रेष्ठ है ।

क्योकि कुछ भी न करनेसे तो तेरी शरीरयात्रा भी नहीं चलेगी अर्थात् तेरे शरीरका निर्वाह भी नहीं होगा । इसलिये कर्म करने और न करनेमे जो अन्तर है वह संसारमे प्रत्यक्ष है ॥ ८ ॥

यत् च मन्यसे बन्धार्थत्वात् कर्म न कर्तव्यम् इति तद् अपि असत्, कथम्—

जो तू ऐसा समझता है कि बन्धनकारक होनेसे कर्म नहीं करना चाहिये तो यह समझना भी भूल है । कैसे ?

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

'यज्ञो वै विष्णुः' (तै० सं० १ । ७ । ४) इति श्रुतेर्यज्ञ ईश्वरः तदर्थं यत् क्रियते तद् यज्ञार्थं कर्म, तस्मात् कर्मणः अन्यत्र अन्येन कर्मणा लोकः अयम् अधिकृतः कर्मकृत् कर्मबन्धनः कर्म बन्धनं यस्य सः अयं कर्मबन्धनो लोको न तु यज्ञार्थाद् अतः तदर्थं यज्ञार्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः कर्मफलसङ्गवर्जितः सन् समाचर निर्वर्तय ॥९॥

'यज्ञ ही विष्णु है' इस श्रुतिप्रमाणसे यज्ञ ईश्वर है और उसके लिये जो कर्म किया जाय वह 'यज्ञार्थ कर्म है' उस (ईश्वरार्थ) कर्मको छोड़कर दूसरे कर्मोंसे, कर्म करनेवाला अधिकारी मनुष्य-समुदाय, कर्मबन्धनयुक्त हो जाता है, पर ईश्वरार्थ किये जानेवाले कर्मसे नहीं । इसलिये हे कौन्तेय ! तू कर्मफल और आसक्तिसे रहित होकर ईश्वरार्थ कर्मोंका भली प्रकार आचरण कर ॥ ९ ॥

इतः च अधिकृतेन कर्म कर्तव्यम्—

इस आगे बतलाये जानेवाले कारणसे भी अधिकारीको कर्म करना चाहिये—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

सहयज्ञा यज्ञसहिताः प्रजाः त्रयो वर्णाः ताः सृष्ट्वा उत्पाद्य, पुरा सर्गादौ उवाच उक्तवान् प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा, अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वं प्रसवो वृद्धिः उत्पत्तिः तां कुरुध्वम् । एष यज्ञो वो युष्माकम् अस्तु भवतु इष्टकामधुक् इष्टान् अभिप्रेतान् कामान् फलविशेषान् दोग्धि इति इष्टकामधुक् ॥ १० ॥

सृष्टिके आदिकालमे यज्ञसहित प्रजाको अर्थात् (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन) तीनों वर्णोंको रचकर जगत्के रचयिता प्रजापतिने कहा कि इस यज्ञसे तुमलोग प्रसव—उत्पत्ति, यानी वृद्धिलाभ करो । यह यज्ञ तुमलोगोंको इष्ट कामनाओंका देनेवाला अर्थात् इच्छित फलरूप नाना भोगोंको देनेवाला हो ॥ १० ॥

कथम्—

कैसे—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

देवान् इन्द्रादीन् भावयत वर्धयत अनेन यज्ञेन ते देवा भावयन्तु आप्याययन्तु वृष्ट्यादिना वो युष्मान् एवं परस्परम् अन्योन्यं भावयन्तः श्रेयः परं मोक्षलक्षणं ज्ञानप्राप्तिक्रमेण अवाप्स्यथ स्वर्गं वा परं श्रेयः अवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

तुमलोग इस यज्ञद्वारा इन्द्रादि देवोंको बढ़ाओ अर्थात् उनकी उन्नति करो । वे देव वृष्टि आदिद्वारा तुमलोगोंको बढ़ावें अर्थात् उन्नत करें । इस प्रकार एक दूसरेको उन्नत करते हुए (तुमलोग) ज्ञान-प्राप्तिद्वारा मोक्षरूप परमश्रेयको प्राप्त करोगे । अथवा स्वर्गरूप परमश्रेयको ही प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

किं च—

दूसरी बात यह भी है कि—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

इष्टान् **अभिप्रेतान्** भोगान् हि वो **युष्मभ्यं** देवा दास्यन्ते **वितरिष्यन्ति स्त्रीपशुपुत्रादीन्** यज्ञभाविता **यज्ञैः वर्धिताः तोषिता इत्यर्थः ।**

तैः **देवैः** दत्तान् **भोगान्** अप्रदाय **अदत्त्वा आनृण्यम् अकृत्वा इत्यर्थः** एभ्यो **देवेभ्यः,** यो भुङ्क्ते **स्वदेहेन्द्रियाणि एव तर्पयति,** स्तेन एव **तस्कर एव** स **देवादिस्वापहारी** ॥ १२ ॥

यज्ञद्वारा बढ़ाये हुए—संतुष्ट किये हुए देवता लोग तुमलोगोंको स्त्री, पशु, पुत्र आदि इच्छित भोग देंगे ।

उन देवोंद्वारा दिये हुए भोगोंको उन्हें न देकर अर्थात् उनका ऋण न चुकाकर, जो खाता है—केवल अपने शरीर और इन्द्रियोंको ही तृप्त करता है, वह देवताओंके स्वत्वको हरण करनेवाला चोर ही है ॥ १२ ॥

ये पुनः—

परन्तु जो—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

देवयज्ञादीन् निर्वर्त्य तच्छिष्टम् अशनम् अमृताख्यम् अशितुं शीलं येषां ते यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः, मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः **सर्वपापैः चुल्यादिपञ्चसूनाकृतैः प्रमादकृतहिंसादिजनितैः च अन्यैः ।**

ये तु आत्मंभरयो भुञ्जते ते तु अघं **पापं स्वयम् अपि** पापा ये पचन्ति **पाकं निर्वर्तयन्ति** आत्मकारणाद् **आत्महेतोः** ॥ १३ ॥

यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष हैं अर्थात् देवयज्ञादि करके उससे बचे हुए अमृत नामक अन्नको भक्षण करना जिनका स्वभाव है वे सब पापोंसे अर्थात् गृहस्थमें होनेवाले चक्की, चूल्हे आदिके पाँच पापोंसे* और प्रमादसे होनेवाले हिंसादिजनित अन्य पापोंसे भी छूट जाते हैं ।

तथा जो उदरपरायण लोग केवल अपने लिये ही अन्न पकाते हैं वे स्वयं पापी हैं और पाप ही खाते हैं ॥ १३ ॥

इतः च अधिकृतेन कर्म कर्तव्यम् । जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुः हि कर्म । कथम् इति उच्यते—

इसलिये भी अधिकारीको कर्म करना चाहिये, क्योंकि कर्म जगत्-चक्रकी प्रवृत्तिका कारण है । कैसे ? सो कहते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

* कण्डनं पेषणं चुल्ली उदकुम्भश्च मार्जनी । पञ्चसूना गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात् प्रणश्यति ॥

अन्नाद् **भुक्ताद् लोहितरेतःपरिणतात् प्रत्यक्षं** भवन्ति **जायन्ते** भूतानि । पर्जन्याद् **वृष्टेः अन्नस्य सम्भवः** अन्नसंभवः, यज्ञाद् भवति पर्जन्यः—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥'

(मनु० ३ । ७६) **इति स्मृतेः ।**

यज्ञः **अपूर्वं स च यज्ञः** कर्मसमुद्भव **ऋत्विग्यजमानयोः च व्यापारः कर्म ततः समुद्भवो यस्य यज्ञस्य अपूर्वस्य स यज्ञः कर्मसमुद्भवः** ॥ १४ ॥

भक्षण किया हुआ अन्न रक्त और वीर्यके रूपमें परिणत होनेपर उससे प्रत्यक्ष ही प्राणी उत्पन्न होते हैं । पर्जन्यसे अर्थात् वृष्टिसे अन्नकी उत्पत्ति होती है और यज्ञसे वृष्टि होती है ।

'अग्निमें विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यमें स्थित होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है' इस स्मृतिवाक्यसे भी यही बात पायी जाती है ।

ऋत्विक् और यजमानके व्यापारका नाम कर्म है और उस कर्मसे जिसकी उत्पत्ति होती है वह अपूर्वरूप यज्ञ कर्मसमुद्भव है अर्थात् वह अपूर्वरूप यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

तत् च—

और उस—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं **ब्रह्म वेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत् कर्म ब्रह्मोद्भवं** विद्धि **जानीहि ।** ब्रह्म **पुनः वेदाख्यम्** अक्षरसमुद्भवम् **अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तद् अक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः ।**

यस्मात् साक्षात् परमात्माख्याद् अक्षरात् पुरुषनिःश्वासवत् समुद्भूतं ब्रह्म, तस्मात् **सर्वार्थप्रकाशकत्वात्** सर्वगतम् ।

सर्वगतम् अपि सद् नित्यं **सदा यज्ञविधिप्रधानत्वाद्** यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

क्रियारूप कर्मको तू वेदरूप ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ जान, अर्थात् कर्मकी उत्पत्तिका कारण वेद है ऐसे जान और वेदरूप ब्रह्म अक्षरसे उत्पन्न हुआ है अर्थात् अविनाशी परब्रह्म परमात्मा वेदकी उत्पत्तिका कारण है ।

वेदरूप ब्रह्म साक्षात् परमात्मा नामक अक्षरसे पुरुषके निःश्वासकी भाँति उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह सब अर्थोंको प्रकाशित करनेवाला होनेके कारण सर्वगत है ।

तथा यज्ञ-विधिमें वेदकी प्रधानता होनेके कारण वह सर्वगत होता हुआ ही सदा यज्ञमें प्रतिष्ठित है ।१५।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

एवम् ईश्वरेण वेदयज्ञपूर्वकं जगत् चक्रं प्रवर्तितं न अनुवर्तयति इह लोके यः कर्मणि अधिकृतः सन् अघायुः अघं पापम् आयुः जीवनं यस्य सः अघायुः पापजीवन इति यावत्, इन्द्रियाराम इन्द्रियैः आराम आरमणम् आक्रीडा विषयेषु यस्य स इन्द्रियारामः, मोघं वृथा हे पार्थ स जीवति।

इस लोकमे जो मनुष्य कर्माधिकारी होकर इस प्रकार ईश्वरद्वारा वेद और यज्ञपूर्वक चलाये हुए इस जगत्-चक्रके अनुसार (वेदाध्ययन-यज्ञादि) कर्म नहीं करता, हे पार्थ ! वह पापायु अर्थात् पापमय जीवनवाला और इन्द्रियारामी अर्थात् इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमे रमण करनेवाला व्यर्थ ही जीता है—उस पापीका जीना व्यर्थ ही है ।

तस्माद् अज्ञेन अधिकृतेन कर्तव्यम् एव कर्म इति प्रकरणार्थः।

इसलिये इस प्रकरणका अर्थ यह हुआ कि अज्ञानी अधिकारीको कर्म अवश्य करना चाहिये ।

प्राग् आत्मज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तेः तादर्थ्येन कर्मयोगानुष्ठानम् अधिकृतेन अनात्मज्ञेन कर्तव्यम् एव इति एतत् *'न कर्मणामनारम्भात्'* इत्यत आरभ्य *'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः'* इति एवम् अन्तेन प्रतिपाद्य—

अनात्मज्ञ अधिकारी पुरुषको आत्मज्ञानकी योग्यता प्राप्त होनेके पहले ज्ञाननिष्ठा-प्राप्तिके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये, यह **'न कर्मणामनारम्भात्'** यहाँसे लेकर **'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः'** इस श्लोकतकके वर्णनसे प्रतिपादन करके—

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र' इत्यादिना *'मोघं पार्थ स जीवति'* इति एवम् अन्तेन अपि ग्रन्थेन प्रासङ्गिकम् अधिकृतस्य अनात्मविदः कर्मानुष्ठाने बहुकारणम् उक्तं तदकरणे च दोषसंकीर्तनं कृतम् ॥ १६ ॥

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र' से लेकर **'मोघं पार्थ स जीवति'** तकके ग्रन्थसे भी आत्मज्ञानसे रहित कर्माधिकारीके लिये कर्मोंके अनुष्ठान करनेमे बहुत-से प्रसङ्गानुकूल कारण कहे गये तथा उन कर्मोंके न करनेमे बहुत-से दोष भी बतलाये गये ॥ १६ ॥

एवं स्थिते किम् एवं प्रवर्तितं चक्रं सर्वेण अनुवर्तनीयम् आहोस्वित् पूर्वोक्तकर्मयोगानुष्ठानोपायप्राप्याम् अनात्मविदा ज्ञानयोगेन एव निष्ठाम् आत्मविद्भिः सांख्यैः अनुष्ठेयाम् अप्राप्तेन एव इति एवम् अर्थम् अर्जुनस्य प्रश्नम् आशङ्क्य,

यदि ऐसा है तो क्या इस प्रकार चलाये हुए इस सृष्टि-चक्रके अनुसार सभीको चलना चाहिये ? अथवा पूर्वोक्त कर्मयोगानुष्ठानरूप उपायसे प्राप्त होनेवाली और आत्मज्ञानी सांख्ययोगियोंद्वारा सेवन किये जाने योग्य ज्ञानयोगसे ही सिद्ध होनेवाली निष्ठाको न प्राप्त हुए अनात्मज्ञको ही इसके अनुसार वर्तना चाहिये ? (या तो) इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नकी आशङ्का करके (भगवान् बोले—)

स्वयम् एव वा शास्त्रार्थस्य विवेकप्रतिपत्त्यर्थम् *'एतं वै तमात्मानं विदित्वा निवृत्तमिथ्याज्ञानाः सन्तो ब्राह्मणा मिथ्याज्ञानवद्भिरवश्यं कर्तव्येभ्यः पुत्रैषणादिभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं शरीरस्थितिमात्रप्रयुक्तं चरन्ति, न तेषामात्मज्ञाननिष्ठाव्यतिरेकेणान्यत् कार्यमस्ति'* (बृह० उ० ३ । ५ । १) **इति एवं श्रुत्यर्थम् इह गीताशास्त्रे प्रतिपिपादयिषितम् आविष्कुर्वन् आह भगवान्**—

अथवा स्वयं ही भगवान् शास्त्रके अर्थको भलीभाँति समझानेके लिये 'यह जो प्रसिद्ध आत्मा है उसको जानकर जिनका मिथ्या ज्ञान निवृत्त हो चुका है, ऐसे जो महात्मा ब्राह्मणगण अज्ञानियोंद्वारा अवश्य की जानेवाली पुत्रादिकी इच्छाओंसे रहित होकर केवल शरीर-निर्वाहके लिये भिक्षाका आचरण करते हैं, उनका आत्मज्ञाननिष्ठासे अतिरिक्त अन्य कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता' ऐसा श्रुतिका तात्पर्य जो कि इस गीताशास्त्रमें प्रतिपादन करना उनको इष्ट है, उस (श्रुति-अर्थ) को प्रकट करते हुए बोले—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

यः तु **सांख्य आत्मज्ञाननिष्ठ** आत्मरतिः **आत्मनि एव रतिः न विषयेषु यस्य स आत्मरतिः** एव स्याद् **भवेद्** आत्मतृप्तः च **आत्मना एव तृप्तो न अन्नरसादिना** मानवो **मनुष्यः संन्यासी** आत्मनि एव च संतुष्टः । **संतोषो हि बाह्यार्थलाभे सर्वस्य भवति तम् अनपेक्ष्य आत्मनि एव च संतुष्टः सर्वतो वीततृष्ण इति एतत्** । **य ईदृश आत्मवित्** तस्य कार्यं **करणीयं** न विद्यते **न अस्ति इत्यर्थः** ॥ १७ ॥

परन्तु जो आत्मज्ञाननिष्ठ सांख्ययोगी, केवल आत्मामे ही रतिवाला है अर्थात् जिसका आत्मामे ही प्रेम है, विषयोमे नहीं और जो मनुष्य अर्थात् संन्यासी आत्मासे ही तृप्त है—जिसकी तृप्ति अन्नरसादिके अधीन नहीं रह गयी है तथा जो आत्मामे ही सन्तुष्ट है, बाह्य विषयोंके लाभसे तो सबको सन्तोष होता ही है पर उनकी अपेक्षा न करके जो आत्मामे ही सन्तुष्ट है अर्थात् सब ओरसे तृष्णारहित है ! जो कोई ऐसा आत्मज्ञानी है उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

किं च—

क्योंकि—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

न एव तस्य **परमात्मरतेः** कृतेन **कर्मणा** अर्थः **प्रयोजनम् अस्ति** ।

अस्तु तर्हि अकृतेन अकरणेन प्रत्यवायाख्यः अनर्थः ।

न अकृतेन इह **लोके** कश्चन **कश्चिद् अपि प्रत्यवायप्राप्तिरूप आत्महानिलक्षणो वा न एव अस्ति** । न च अस्य सर्वभूतेषु **ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु भूतेषु** कश्चिद् अर्थव्यपाश्रयः ।

उस परमात्मामें प्रीतिवाले पुरुषका इस लोकमें कर्म करनेसे कोई प्रयोजन ही नहीं रहता है ।

तो फिर कर्म न करनेसे उसको प्रत्यवायरूप अनर्थकी प्राप्ति होती होगी ? (इसपर कहते हैं—)

उसके न करनेसे भी उसे इस लोकमें कोई प्रत्यवाय-प्राप्तिरूप या आत्महानिरूप अनर्थकी प्राप्ति नहीं होती तथा ब्रह्मासे लेकर स्थावरतक सब प्राणियोंमें उसका कुछ भी अर्थ-व्यपाश्रय नहीं होता ।

प्रयोजननिमित्तक्रियासाध्यो व्यपाश्रयो व्यपाश्रयणम् । कश्चिद् भूतविशेषम् आश्रित्य न साध्यः कश्चिद् अर्थः अस्ति । येन तदर्था क्रिया अनुष्ठेया स्यात् ।

न त्वम् एतस्मिन् सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीये सम्यग्दर्शने वर्तसे ॥ १८ ॥

किसी फलके लिये (किसी प्राणिविशेषका) जो क्रियासाध्य आश्रय है उसका नाम अर्थ-व्यपाश्रय है सो इस आत्मज्ञानीको, किसी प्राणिविशेषका सहारा लेकर कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करना है जिससे कि उसे तदर्थक किसी क्रियाका आरम्भ करना पडे ।

परन्तु तू इस सब ओरसे परिपूर्ण जलाशय-स्थानीय यथार्थ ज्ञानमें स्थित नहीं है ॥ १८ ॥

यत एवम्—

जब कि ऐसी बात है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

तस्माद् असक्तः सङ्गवर्जितः सततं सर्वदा कार्यं कर्तव्यं नित्यं कर्म समाचर निर्वर्तय । असक्तो हि यस्मात् समाचरन् ईश्वरार्थं कर्म कुर्वन् परं मोक्षम् आप्नोति पूरुषः सत्त्वशुद्धिद्वारेण इत्यर्थः ॥ १९ ॥

इसलिये तू आसक्तिरहित होकर कर्तव्य—नित्य-कर्मोंका सदा भलीभाँति आचरण किया कर । क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेवाला अर्थात् ईश्वरार्थ कर्म करता हुआ पुरुष, अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा मोक्षरूप परमपद पा लेता है ॥ १९ ॥

यस्मात् च—

एक और भी कारण है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

कर्मणा एव हि यस्मात् पूर्वे क्षत्रिया विद्वांसः संसिद्धिं मोक्षं गन्तुम् आस्थिताः प्रवृत्ता जनकादयो जनकाश्वपतिप्रभृतयः ।

यदि ते प्राप्तसम्यग्दर्शनाः ततो लोकसंग्रहार्थं प्रारब्धकर्मत्वात् कर्मणा सह एव असंन्यस्य एव कर्म संसिद्धिम् आस्थिता इत्यर्थः । अथ अप्राप्तसम्यग्दर्शना जनकादयः तदा कर्मणा सत्त्वशुद्धिसाधनभूतेन क्रमेण संसिद्धिम् आस्थिता इति व्याख्येयः श्लोकः ।

क्योंकि—पहले जनक-अश्वपति प्रभृति विद्वान् क्षत्रिय लोग कर्मोंद्वारा ही मोक्ष-प्राप्तिके लिये प्रवृत्त हुए थे ।

यहाँ इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि यदि वे जनकादि, यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो चुके थे तब तो वे प्रारब्धकर्मा होनेके कारण लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हुए ही अर्थात् संन्यास ग्रहण किये बिना ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए, और यदि वे जनकादि यथार्थ ज्ञानको प्राप्त नहीं थे, तो वे अन्तःकरणकी शुद्धिके साधनरूप कर्मोंसे क्रमशः परम सिद्धिको प्राप्त हुए ।

अथ मन्यसे पूर्वैः अपि जनकादिभिः अपि अजानद्भिः एव कर्तव्यं कर्म कृतं तावता न अवश्यम् अन्येन कर्तव्यं सम्यग्दर्शनवता कृतार्थेन इति ।

यदि तू यह मानता हो कि आत्मतत्त्वको न जाननेवाले जनकादि पूर्वजोंद्वारा कर्तव्य-कर्म किये गये हैं, इससे यह नहीं हो सकता कि दूसरे आत्मज्ञानी कृतार्थ पुरुषोंको भी कर्म अवश्य करने चाहिये।

तथापि प्रारब्धकर्मायत्तः त्वं लोकसंग्रहम् एव अपि **लोकस्य उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं लोकसंग्रहः तम् एव अपि प्रयोजनं** संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि ॥ २० ॥

तो भी तू प्रारब्ध-कर्मके अधीन है, इसलिये तुझे लोकसंग्रहकी तरफ देखकर भी अर्थात् लोगोंकी उलटे मार्गमें जानेवाली प्रवृत्तिको निवारण करनारूप जो लोकसंग्रह है, उस लोकसंग्रहरूप प्रयोजनको देखते हुए भी, कर्म करना चाहिये ॥ २० ॥

लोकसंग्रहं कः कर्तुम् अर्हति कथं च इति उच्यते—

लोकसंग्रह किसको करना चाहिये और किसलिये करना चाहिये ? सो कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

यद् यत् **कर्म** आचरति **येषु येषु** श्रेष्ठः **प्रधानः** तत् तद् एव **कर्म आचरति** इतरः **अन्यो** जनः **तदनुगतः ।**

किं च स **श्रेष्ठो** यत् प्रमाणं कुरुते **लौकिकं वैदिकं वा** लोकः तद् अनुवर्तते **तद् एव प्रमाणीकरोति इत्यर्थः** ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो कर्म करता है अर्थात् प्रधान मनुष्य जिस-जिस कर्ममें बर्तता है, दूसरे लोग उसके अनुयायी होकर उस-उस कर्मका ही आचरण किया करते हैं ।

तथा वह श्रेष्ठ पुरुष जिस-जिस लौकिक या वैदिक प्रथाको प्रामाणिक मानता है, लोग उसीके अनुसार चलते हैं अर्थात् उसीको प्रमाण मानते हैं ॥ २१ ॥

यदि अत्र ते लोकसंग्रहकर्तव्यतायां विप्रतिपत्तिः तर्हि मां किं न पश्यसि—

यदि इस लोकसंग्रहकी कर्तव्यतामें तुझे कुछ शंका हो तो तू मुझे क्यों नहीं देखता—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

न मे **मम** पार्थ **न** अस्ति **न विद्यते** कर्तव्यं त्रिषु **अपि** लोकेषु किंचन **किंचिद् अपि । कस्माद्** न अनवाप्तम् **अप्राप्तम्** अवाप्तव्यं **प्रापणीयं तथापि** वर्ते एव च कर्मणि **अहम्** ॥ २२

हे पार्थ ! तीनों लोकोंमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है अर्थात् मुझे कुछ भी करना नहीं है, क्योंकि मुझे कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी है तो भी मैं कर्मोंमें बर्तता ही हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

यदि **पुनः** अहं न वर्तेयं जातु **कदाचित्** कर्मणि अतन्द्रितः **अनलसः सन्** मम **श्रेष्ठस्य सतो** वर्त्म **मार्गम्** अनुवर्तन्ते मनुष्या हे पार्थ सर्वशः **सर्वप्रकारैः** ॥ २३ ॥

यदि मैं कदाचित् आलस्यरहित–सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ, तो हे पार्थ ! ये मनुष्य सब प्रकारसे मुझ श्रेष्ठके मार्गका अनुकरण कर रहे हैं ॥ २३ ॥

तथा च को दोष इति आह—

ऐसा होनेसे क्या दोष हो जायगा ? सो कहते हैं—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

उत्सीदेयुः **विनश्येयुः** इमे **सर्वे** लोका **लोकस्थितिनिमित्तस्य कर्मणः अभावात्,** न कुर्यां कर्म चेद् अहम्, **किं च** संकरस्य च कर्ता स्याम् । **तेन कारणेन** उपहन्याम् इमाः प्रजाः **प्रजानाम् अनुग्रहाय प्रवृत्तः तद् उपहतिम् उपहननं कुर्याम् इत्यर्थः मम ईश्वरस्य अननुरूपम् आपद्येत** ॥ २४ ॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो लोकस्थितिके लिये किये जानेवाले कर्मोंका अभाव हो जानेसे यह सब लोक नष्ट हो जायँगे और मैं वर्णसंकरका कर्ता होऊँगा, इसलिये इस प्रजाका नाश भी करूँगा, अर्थात् प्रजापर अनुग्रह करनेमें लगा हुआ मैं इनका हनन करनेवाला बनूँगा । यह सब मुझ ईश्वरके अनुरूप नहीं होगा ॥ २४ ॥

यदि पुनः अहम् इव त्वं कृतार्थबुद्धिः आत्मविद् अन्यो वा तस्य अपि आत्मनः कर्तव्याभावे अपि परानुग्रह एव कर्तव्य इति—

यदि मेरी तरह तू या दूसरा कोई कृतार्थबुद्धि आत्मवेत्ता हो, तो उसको भी अपने लिये कर्तव्यका अभाव होनेपर भी केवल दूसरोंपर अनुग्रह (करनेके लिये कर्म) करना चाहिये—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

सक्ताः कर्मणि **अस्य कर्मणः फलं मम भविष्यति इति केचिद्** अविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत, कुर्याद् विद्वान् **आत्मवित्** तथा असक्तः **सन्** ।

तद्वत् **किमर्थं करोति तत् शृणु,** चिकीर्षुः **कर्तुम् इच्छुः** लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

हे भारत ! 'इस कर्मका फल मुझे मिलेगा' इस प्रकार कर्मोंमें आसक्त हुए कई अज्ञानी मनुष्य जैसे कर्म करते हैं आत्मवेत्ता विद्वान्‌को भी आसक्तिरहित होकर उसी तरह कर्म करना चाहिये ।

आत्मज्ञानी उसकी तरह कर्म क्यों करता है ? सो सुन—वह लोकसंग्रह करनेकी इच्छावाला है (इसलिये करता है) ॥ २५ ॥

एवं लोकसंग्रहं चिकीर्षोः न मम आत्मविदः कर्तव्यम् अस्ति अन्यस्य वा लोकसंग्रहं मुक्त्वा ततः तस्य आत्मविद इदम् उपदिश्यते—

इस प्रकार लोकसंग्रह करनेकी इच्छावाले मुझ परमात्माका या दूसरे आत्मज्ञानीका, लोकसंग्रहको छोडकर दूसरा कोई कर्तव्य नहीं रह गया है । अतः उस आत्मवेत्ताके लिये यह उपदेश किया जाता है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

बुद्धेः भेदो बुद्धिभेदो मया इदं कर्तव्यं भोक्तव्यं च अस्य कर्मणः फलम् इति निश्चितरूपाया बुद्धेः भेदनं चालनं बुद्धिभेदः तं न जनयेद् न उत्पादयेद् अज्ञानाम् अविवेकिनां कर्मसंगिनां कर्मणि आसक्तानाम् आसंगवताम् ।

किं तु कुर्यात्, जोषयेत् कारयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् स्वयं तद् एव अविदुषां कर्म युक्तः अभियुक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

बुद्धिको विचलित करनेका नाम बुद्धिभेद है, (ज्ञानीको चाहिये कि) कर्मोंमे आसक्तिवाले—विवेकरहित अज्ञानियोंकी बुद्धिमे भेद उत्पन्न न करे अर्थात् 'मेरा यह कर्तव्य है, इस कर्मका फल मुझे भोगना है' इस प्रकार जो उनकी निश्चितरूपा बुद्धि बनी हुई है, उसको विचलित करना बुद्धिभेद करना है सो न करे ।

तो फिर क्या करे ? समाहितचित्त विद्वान् स्वयं अज्ञानियोके ही (सदृश) उन कर्मोंका (शास्त्रानुकूल) आचरण करता हुआ उनसे सब कर्म करावे ॥२६॥

अविद्वान् अज्ञः कथं कर्मसु सज्जते इति आह—

मूर्ख अज्ञानी मनुष्य कर्मोंमे किस प्रकार आसक्त होता है ? सो कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

प्रकृतेः प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां गुणानां साम्यावस्था तस्याः प्रकृतेः गुणैः विकारैः कार्यकरणरूपैः क्रियमाणानि कर्माणि लौकिकानि शास्त्रीयाणि च सर्वशः सर्वप्रकारैः । अहंकारविमूढात्मा कार्यकरणसंघातात्मप्रत्ययः अहंकारः तेन विविधं नानाविधं मूढ आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः अयम् । कार्यकरणधर्मा कार्यकरणाभिमानी अविद्यया कर्माणि आत्मनि मन्यमानः तत्तत्कर्मणाम् अहं कर्ता इति मन्यते ॥ २७ ॥

सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनों गुणोकी जो साम्यावस्था है उसका नाम प्रधान या प्रकृति है, उस प्रकृतिके गुणोंसे अर्थात् कार्य और करणरूप* समस्त विकारोंसे लौकिक और शास्त्रीय सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे किये जाते हैं । परन्तु अहंकारविमूढात्मा—कार्य और करणके संघातरूप शरीरमें आत्मभावकी प्रतीतिका नाम अहंकार है, उस अहंकारसे जिसका अन्तःकरण अनेक प्रकारसे मोहित हो चुका है ऐसा—देहेन्द्रियके धर्मको अपना धर्म माननेवाला, देहाभिमानी पुरुष अविद्यावश प्रकृतिके कर्मोंको अपनेमें मानता हुआ उन-उन कर्मोंका 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान बैठना है ॥ २७ ॥

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इनका नाम कार्य है। बुद्धि, अहंकार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—इनका नाम करण है।

यः पुनः विद्वान्—

परन्तु जो ज्ञानी है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो **कस्य तत्त्वविद्** गुणकर्मविभागयोः **गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्वविद् इत्यर्थः** । गुणाः **करणात्मका** गुणेषु **विषयात्मकेषु** वर्तन्ते **न आत्मा** इति मत्वा न सज्जते । **सक्तिं न करोति** ॥ २८ ॥

हे महाबाहो ! वह तत्त्ववेत्ता, किसका तत्त्ववेत्ता ? गुण-कर्म-विभागका, अर्थात् गुणविभाग और कर्मविभागके* तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी, 'इन्द्रियादिरूप गुण ही विषयरूप गुणोंमें बर्त रहे हैं, आत्मा नहीं बर्तता' ऐसे मानकर आसक्त नहीं होता। उन कर्मोंमें प्रीति नहीं करता ॥ २८ ॥

ये पुनः—

परन्तु जो—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

प्रकृतेः **गुणैः सम्यङ्मूढाः सम्मोहिताः सन्तः** सज्जन्ते **गुणानां कर्मसु** गुणकर्मसु **वयं कर्म कुर्मः फलाय इति** । तान् **कर्मसङ्गिनः** अकृत्स्नविदः, **कर्मफलमात्रदर्शिनो** मन्दान् **मन्दप्रज्ञान्** कृत्स्नविद् **आत्मविद् तु स्वयं** न विचालयेत् । **बुद्धिभेदकरणम् एव चालनं तद् न कुर्याद् इत्यर्थः** ॥ २९ ॥

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए पुरुष 'हम अमुक फलके लिये यह कर्म करते हैं' इस प्रकार गुणोंके कर्मोंमें आसक्त होते हैं । उन पूर्णरूपसे न समझनेवाले, कर्मफलमात्रको ही देखनेवाले और कर्मोंमें आसक्त मन्दबुद्धि पुरुषोंको अच्छी प्रकार समस्त तत्त्वको समझनेवाला आत्मज्ञानी पुरुष स्वयं चलायमान न करे ।

अभिप्राय यह कि बुद्धिभेद करना ही उनको चलायमान करना है, सो न करे ॥ २९ ॥

कथं पुनः कर्मणि अधिकृतेन अज्ञेन मुमुक्षुणा कर्म कर्तव्यम् इति उच्यते—

तो फिर कर्माधिकारी अज्ञानी मुमुक्षुको किस प्रकार कर्म करना चाहिये ? सो कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

---

* त्रिगुणात्मिका मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय—इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है ।

मयि **वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वात्मनि** सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य **निक्षिप्य** अध्यात्मचेतसा **विवेकबुद्ध्या अहं कर्ता ईश्वराय भृत्यवत् करोमि इति अनया बुद्ध्या,**

किं च निराशीः **त्यक्ताशीः** निर्ममो **ममभावः च निर्गतो यस्य तव स त्वं निर्ममो** भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरो **विगतसंतापो विगतशोकः सन् इत्यर्थः** ॥ ३० ॥

मुझ सर्वात्मरूप सर्वज्ञ परमेश्वर वासुदेवमें विवेकबुद्धिसे सब कर्म छोड़कर अर्थात् 'मैं सब कर्म ईश्वरके लिये सेवककी तरह कर रहा हूँ' इस बुद्धिसे सब कर्म मुझमें अर्पण करके,

तथा निराशी—आशारहित और निर्मम यानी जिसका मेरापन सर्वथा नष्ट हो चुका हो उसे निर्मम कहते हैं ऐसा होकर तू शोकरहित हुआ युद्ध कर अर्थात् चिन्ता-संतापसे रहित हुआ युद्ध कर ॥ ३० ॥

यद् एतद् मतं कर्म कर्तव्यम् इति सप्रमाणम् उक्तं तत् तथा—

'कर्म करने चाहिये' ऐसा जो यह मत प्रमाण-सहित कहा गया वह यथार्थ है (ऐसा मानकर)—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

ये मे **मदीयम्** इदं मतम् अनुतिष्ठन्ति **अनुवर्तन्ते** मानवा **मनुष्याः** श्रद्धावन्तः **श्रद्दधाना** अनसूयन्तः **असूया च मयि गुरौ वासुदेवे अकुर्वन्तः,** मुच्यन्ते ते अपि **एवंभूताः** कर्मभिः **धर्माधर्माख्यैः** ॥ ३१ ॥

जो श्रद्धायुक्त मनुष्य गुरुस्वरूप मुझ वासुदेवमें असूया न करते हुए (मेरे गुणोंमें दोष न देखते हुए) मेरे इस मतके अनुसार चलते हैं, वे ऐसे मनुष्य भी पुण्य-पापरूप कर्मोंसे मुक्त हो जाते है ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

ये तु **तद्विपरीता** एतद् **मम मतम्** अभ्यसूयन्तो न अनुतिष्ठन्ति **न अनुवर्तन्ते** मे मतं **सर्वेषु ज्ञानेषु विविधं मूढाः ते** । सर्वज्ञानविमूढान् तान् विद्धि नष्टान् **नाशं गतान्** अचेतस**: अविवेकिनः** ॥ ३२ ॥

परन्तु जो उनसे विपरीत हैं, मेरे इस मतकी निन्दा करते हुए इस मेरे मतके अनुसार आचरण नहीं करते, वे समस्त ज्ञानोंमें अनेक प्रकारसे मूढ हैं । सब ज्ञानोंमें मोहित हुए उन अविवेकियोंको तो तू नाशको प्राप्त हुए ही जान ॥ ३२ ॥

कस्मात् पुनः कारणात् त्वदीयं मतं न अनुतिष्ठन्ति परधर्मम् अनुतिष्ठन्ति स्वधर्मं च न अनुवर्तन्ते, त्वत्प्रतिकूलाः कथं न बिभ्यति त्वच्छासनातिक्रमदोषात् तत्र आह—

तो फिर वे (लोग) किस कारणसे आपके मतके अनुसार नहीं चलते ? दूसरेके धर्मका अनुष्ठान करते हैं और स्वधर्माचरण नहीं करते ? आपके प्रतिकूल होकर आपके शासनको उल्लङ्घन करनेके दोषसे क्यों नहीं डरते, इसमें क्या कारण है ? इसपर कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

सदृशम् **अनुरूपं** चेष्टते **कस्याः** स्वस्याः **स्वकीयायाः** प्रकृतेः, **प्रकृतिः नाम पूर्वकृत-धर्माधर्मादिसंस्कारो वर्तमानजन्मादौ अभिव्यक्तः सा प्रकृतिः तस्याः सदृशम् एव सर्वो जन्तुः** ज्ञानवान् अपि **किं पुनः मूर्खः** ।

तस्मात् प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति **मम वा अन्यस्य वा** ॥ ३३ ॥

सभी प्राणी एवं ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करते है अर्थात् जो पूर्वकृत पुण्य-पाप आदिका संस्कार वर्तमान जन्मादिमे प्रकट होता है, उसका नाम प्रकृति है उसके अनुसार ज्ञानवान् भी चेष्टा किया करता है । फिर मूर्खकी तो बात ही क्या है ?

इसलिये सभी प्राणी (अपनी) प्रकृति अर्थात् स्वभावकी ओर जा रहे हैं, इसमे मेरा या दूसरेका शासन क्या कर सकता है ? ॥ ३३ ॥

यदि सर्वो जन्तुः आत्मनः प्रकृतिसदृशम् एव चेष्टते न च प्रकृतिशून्यः कश्चिद् अस्ति, ततः पुरुषकारस्य विषयानुपपत्तेः, शास्त्रानर्थक्यप्राप्तौ इदम् उच्यते—

यदि सभी जीव अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुरूप ही चेष्टा करते है, प्रकृतिसे रहित कोई है ही नहीं, तब तो पुरुषके प्रयत्नकी आवश्यकता न रहनेसे विधि-निषेध बतलानेवाला शास्त्र निरर्थक होगा ? इसपर यह कहते है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे **सर्वेन्द्रियाणाम् अर्थे शब्दादिविषये इष्टे रागः अनिष्टे द्वेष इति एवं प्रतीन्द्रियार्थे** रागद्वेषौ **अवश्यम्भाविनौ** ।

तत्र अयं पुरुषकारस्य शास्त्रार्थस्य च विषय उच्यते—

शास्त्रार्थे प्रवृत्तः पूर्वम् एव रागद्वेषयोः वशं न आगच्छेत् ।

या हि पुरुषस्य प्रकृतिः सा रागद्वेषपुरःसरा एव स्वकार्ये पुरुषं प्रवर्तयति तदा स्वधर्मपरित्यागः परधर्मानुष्ठानं च भवति ।

इन्द्रिय, इन्द्रियके अर्थमे अर्थात् सभी इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोमे राग और द्वेष स्थित है, अर्थात् इष्टमे राग और अनिष्टमे द्वेष ऐसे प्रत्येक इन्द्रियके विषयमे राग और द्वेष दोनो अवश्य रहते हैं।

वहाँ पुरुष-प्रयत्नकी और शास्त्रकी आवश्यकताका विषय इस प्रकार बतलाते है—

शास्त्रानुसार बर्तनेमे लगे हुए मनुष्यको चाहिये कि वह पहलेसे ही राग-द्वेषके वशमे न हो ।

अभिप्राय यह कि मनुष्यकी जो प्रकृति है वह राग-द्वेषपूर्वक ही अपने कार्यमे मनुष्यको नियुक्त करती है । तब स्वाभाविक ही स्वधर्मका त्याग और परधर्मका अनुष्ठान होता है ।

यदा पुनः रागद्वेषौ तत्प्रतिपक्षेण नियमयति, तदा शास्त्रदृष्टिः एव पुरुषो भवति, न प्रकृतिवशः ।

तस्मात् तयो रागद्वेषयोः वशं न आगच्छेत् । यतः तौ हि अस्य पुरुषस्य परिपन्थिनौ श्रेयोमार्गस्य विघ्नकर्तारौ तस्करौ इव इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

परन्तु जब यह जीव प्रतिपक्ष-भावनासे राग-द्वेषका संयम कर लेता है, तब केवल शास्त्रदृष्टि-वाला हो जाता है, फिर यह प्रकृतिके वशमें नहीं रहता ।

इसलिये (कहते हैं कि) मनुष्यको राग-द्वेषके वशमे नहीं होना चाहिये । क्योंकि वे (राग-द्वेष) ही इस जीवके परिपन्थी हैं अर्थात् चोरकी भाँति कल्याणमार्गमे विघ्न करनेवाले हैं ॥ ३४ ॥

तत्र रागद्वेषप्रयुक्तो मन्यते शास्त्रार्थम् अपि अन्यथा परधर्मः अपि धर्मत्वात् अनुष्ठेय एव इति तद् असत्—

राग-द्वेष-युक्त मनुष्य तो शास्त्रके अर्थको भी उलटा मान लेता है और परधर्मको भी धर्म होनेके नाते अनुष्ठान करनेयोग्य मान बैठता है । परन्तु उसका ऐसा मानना भूल है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

श्रेयान् प्रशस्यतरः स्वो धर्मः स्वधर्मो विगुणः अपि विगतगुणः अपि अनुष्ठीयमानः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् साद्गुण्येन सम्पादिताद् अपि ।

स्वधर्मे स्थितस्य निधनं मरणम् अपि श्रेयः परधर्मे स्थितस्य जीवितात्, कस्मात्, परधर्मो भयावहो नरकादिलक्षणं भयम् आवहति यतः ॥ ३५ ॥

अच्छी प्रकार अनुष्ठान किये गये अर्थात् अंग-प्रत्यंगोंसहित सम्पादन किये गये भी पर-धर्मकी अपेक्षा गुणरहित भी अनुष्ठान किया हुआ अपना धर्म कल्याणकर है अर्थात् अधिक प्रशंसनीय है ।

पर-धर्ममे स्थित पुरुषके जीवनकी अपेक्षा स्वधर्ममे स्थित पुरुषका मरण भी श्रेष्ठ है, क्योंकि दूसरेका धर्म भयदायक है—नरक आदि रूप भयका देनेवाला है ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच—

यद्यपि अनर्थमूलं *'ध्यायतो विषयान् पुंसः'* *'रागद्वेषौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'* इति च उक्तं विक्षिप्तम् अनवधारितं च तद् उक्तम्, तत् संक्षिप्तं निश्चितं च इदम् एव इति ज्ञातुम् इच्छन् अर्जुन उवाच ज्ञाते हि तस्मिन् तदुच्छेदाय यत्नं कुर्याम् इति—

अर्जुन बोला—

यद्यपि 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' 'रागद्वेषौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' इत्यादि प्रकरणोंमे अनर्थका मूल कारण बतलाया गया, पर वह भिन्न-भिन्न प्रकरणोंमे और अनिश्चितरूपसे कहा गया है । इसलिये वह 'अनर्थोंका कारण ठीक यही है ।' इस प्रकार निश्चय-पूर्वक और संक्षेपसे जाननेमें आ जाय तो मैं उनके उच्छेदके लिये प्रयत्न करूँ इस विचारसे उसके जाननेकी इच्छा करता हुआ अर्जुन बोला—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अथ केन **हेतुभूतेन** प्रयुक्तः **सन् राज्ञा इव भृत्यः** अयं पापं **कर्म** चरति **आचरति** पूरुषः **स्वयम्** अनिच्छन् अपि **हे** वार्ष्णेय **वृष्णिकुलप्रसूत** बलाद् इव नियोजितो **राज्ञा इव इति उक्तो दृष्टान्तः** ॥ ३६ ॥

हे वृष्णिकुलमें उत्पन्न हुए कृष्ण ! किस प्रधान कारणसे प्रयुक्त किया हुआ यह पुरुष स्वयं न चाहता हुआ भी राजासे प्रयुक्त किये हुए सेवककी तरह बलपूर्वक लगाया हुआ-सा पाप-कर्मका आचरण किया करता है ? ॥ ३६ ॥

शृणु त्वं तं वैरिणं सर्वानर्थकरं यं त्वं पृच्छसि—श्रीभगवानुवाच—

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा ॥'
(विष्णुपु० ६ । ५ । ७४)

ऐश्वर्यादिषट्कं यस्मिन् वासुदेवे नित्यम् अप्रतिबद्धत्वेन सामस्त्येन च वर्तते ।

'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥'
(विष्णुपु० ६ । ५ । ७८)

उत्पत्त्यादिविषयं च विज्ञानं यस्य स वासुदेवो वाच्यो भगवान् इति ।

जिसको तू पूछता है, सर्व अनर्थोंके कारणरूप उस वैरीके विषयमें सुन (इस उद्देश्यसे) भगवान् बोले— [आचार्य पहले भगवान् शब्दका अर्थ करते हैं ।]

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, वैराग्य और मोक्ष—इन छःका नाम भग है' यह ऐश्वर्य आदि छओ गुण बिना प्रतिबन्धके, सम्पूर्णतासे जिस वासुदेवमें सदा रहते हैं ।

तथा **'उत्पत्ति और प्रलयको, भूतोंके आने और जानेको एवं विद्या और अविद्याको जो जानता है उसका नाम भगवान् है'** अतः उत्पत्ति आदि सब विषयोंको जो भलीभाँति जानते हैं वे वासुदेव 'भगवान्' नामसे वाच्य हैं ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

काम एष **सर्वलोकशत्रुः यन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनाम्, स एष कामः प्रतिहतः केनचित् क्रोधत्वेन परिणमते । अतः** क्रोधः **अपि** एष **एव** ।

रजोगुणसमुद्भवो **रजोगुणात् समुद्भवो यस्य स कामो रजोगुणसमुद्भवो रजोगुणस्य वा समुद्भवः । कामो हि उद्भूतो रजः प्रवर्तयन्** पुरुषं प्रवर्तयति ।

यह काम जो सब लोगोंका शत्रु है, जिसके निमित्तसे जीवोंको सब अनर्थोंकी प्राप्ति होती है, वही यह काम किसी कारणसे बाधित होनेपर क्रोधके रूपमें बदल जाता है, इसलिये क्रोध भी यही है ।

यह काम रजोगुणसे उत्पन्न हुआ है अथवा यों समझो कि रजोगुणका उत्पादक है । क्योंकि उत्पन्न हुआ काम ही रजोगुणको प्रकट करके पुरुषको कर्ममें लगाया करता है ।

तृष्णया हि अहं कारित इति दुःखितानां रजःकार्ये सेवादौ प्रवृत्तानां प्रलापः श्रूयते ।

तथा रजोगुणके कार्य—सेवा आदिमें लगे हुए दुःखित मनुष्योंका ही यह प्रलाप सुना जाता है कि 'तृष्णा ही हमसे अमुक काम करवाती है' इत्यादि ।

महाशनो महद् अशनम् अस्य इति महाशनः अत एव महापाप्मा । कामेन हि प्रेरितो जन्तुः पापं करोति । अतो विद्धि एनं कामम् इह संसारे वैरिणम् ॥ ३७ ॥

तथा यह काम बहुत खानेवाला है । इसीलिये महापापी भी है, क्योंकि कामसे ही प्रेरित हुआ जीव पाप किया करता है । इसलिये इस कामको ही तू इस संसारमे वैरी जान ॥ ३७ ॥

कथं वैरी इति दृष्टान्तैः प्रत्याययति—

यह काम किस प्रकार वैरी है, सो दृष्टान्तोंसे समझाते है—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

धूमेन सहजेन आव्रियते वह्निः प्रकाशात्मकः अप्रकाशात्मकेन यथा वा आदर्शो मलेन च, यथा उल्वेन गर्भवेष्टनेन जरायुणा आवृत आच्छादितो गर्भः तथा तेन इदम् आवृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे प्रकाशस्वरूप अग्नि अपने साथ उत्पन्न हुए अन्धकाररूप धूएँसे और दर्पण जैसे मलसे आच्छादित हो जाता है तथा जैसे गर्भ अपने आवरणरूप जेरसे आच्छादित होता है वैसे ही उस कामसे यह (ज्ञान) ढका हुआ है ॥ ३८ ॥

किं पुनः तद् इदंशब्दवाच्यं यत् कामेन आवृतम् इति उच्यते—

जिसका (उपर्युक्त श्लोकमे) 'इदम्' शब्दसे सकेत किया गया है—जो कामसे आच्छादित है, वह कौन है ? सो कहा जाता है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

आवृतम् एतेन ज्ञानं ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । ज्ञानी हि जानाति अनेन अहम् अनर्थे प्रयुक्तः पूर्वम् एव इति । दुःखी च भवति नित्यम् एव । अतः असौ ज्ञानिनो नित्यवैरी न तु मूर्खस्य स हि कामं तृष्णाकाले मित्रम् इव पश्यन् तत्कार्ये दुःखे प्राप्ते जानाति, तृष्णया अहं दुःखित्वम् आपादित इति, न पूर्वम् एव अतो ज्ञानिन एव नित्यवैरी ।

ज्ञानीके (विवेकीके) इस कामरूप नित्य वैरीसे ज्ञान ढका हुआ है । ज्ञानी ही पहलेसे जानता है कि इसके द्वारा मैं अनर्थोंमे नियुक्त किया गया हूँ । इसमे वह सदा दुखी भी होता है । इसलिये यह ज्ञानीका ही नित्य वैरी है मूर्खका नहीं । क्योंकि वह मूर्ख तो तृष्णा-के समय उसको मित्रके समान समझता है फिर जब उसका परिणामरूप दु.ख प्राप्त होता है तब समझता है कि 'तृष्णाके द्वारा मै दुखी किया गया हूँ' पहले नहीं जानता, इसलिये यह 'काम' ज्ञानीका ही नित्य वैरी है ।

किंरूपेण, कामरूपेण **काम इच्छा एव रूपम् अस्य इति कामरूपः तेन** दुष्पूरेण **दुःखेन पूरणम् अस्य इति दुष्पूरः तेन** अनलेन **न अस्य अलं पर्याप्तिः विद्यते इति अनलः तेन ॥ ३९ ॥**

कैसे कामके द्वारा (ज्ञान आच्छादित है ? इसपर कहते हैं—) कामना—इच्छा ही जिसका स्वरूप है, जो अति कष्टसे पूर्ण होता है तथा जो अनल है, भोगोंसे कभी भी तृप्त नहीं होता, ऐसे कामनारूप वैरीद्वारा (ज्ञान आच्छादित है) ॥ ३९ ॥

किमधिष्ठानः पुनः कामो ज्ञानस्य आवरणत्वेन वैरी सर्वस्य इति अपेक्षायाम् आह ज्ञाते हि शत्रोः अधिष्ठाने सुखेन शत्रुनिबर्हणं कर्तुं शक्यते इति—

ज्ञानको आच्छादित करनेवाला होनेके कारण जो सबका वैरी है वह काम कहाँ रहनेवाला है ? अर्थात् उसका आश्रय क्या है ? क्योंकि शत्रुके रहनेका स्थान जान लेनेपर सहजमें ही उसका नाश किया जा सकता है । इसपर कहते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः **च** अस्य **कामस्य** अधिष्ठानम् **आश्रय** उच्यते । एतैः **इन्द्रियादिभिः आश्रयैः** विमोहयति **विविधं मोहयति** एष **कामो** ज्ञानम् आवृत्य **आच्छाद्य** देहिनं **शरीरिणम् ॥४०॥**

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि यह सब इस कामके अधिष्ठान अर्थात् रहनेके स्थान बतलाये जाते हैं । यह काम इन आश्रयभूत इन्द्रियादिके द्वारा ज्ञानको आच्छादित करके इस जीवात्माको नाना प्रकारसे मोहित किया करता है ॥ ४० ॥

यत एवम्—

जब कि ऐसा है—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

तस्मात् त्वम् इन्द्रियाणि आदौ **पूर्वं** नियम्य **वशीकृत्य** भरतर्षभ पाप्मानं **पापाचारं कामं** प्रजहिहि **परित्यज,** एनं **प्रकृतं वैरिणं** ज्ञानविज्ञान-नाशनम् ।

ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतः च आत्मादीनाम् अवबोधः, विज्ञानं विशेषतः तदनुभवः तयोः ज्ञानविज्ञानयोः श्रेयःप्राप्तिहेत्वोः नाशनं प्रजहिहि आत्मनः परित्यज इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

इसलिये हे भरतर्षभ ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान और विज्ञानके नाशक इस ऊपर बतलाये हुए वैरी पापाचारी कामका परित्याग कर ।

अभिप्राय यह कि शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे जो आत्मा-अनात्मा और विद्या-अविद्या आदि पदार्थोंका बोध होता है उसका नाम 'ज्ञान' है, एवं उसका जो विशेषरूपसे अनुभव है उसका नाम विज्ञान है, अपने कल्याणकी प्राप्तिके कारणरूप उन ज्ञान और विज्ञानको यह काम नष्ट करनेवाला है, इसलिये इसका परित्याग कर ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि आदौ नियम्य कामं शत्रुं जहिहि इति उक्तं तत्र किमाश्रयः कामं जह्याद् इति उच्यते—

पहले इन्द्रियोंको वशमें करके कामरूप शत्रुका त्याग कर—ऐसा कहा, सो किसका आश्रय लेकर इसका त्याग करना चाहिये, यह बतलाते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥

इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्च देहं स्थूलं बाह्यं परिच्छिन्नं च अपेक्ष्य सौक्ष्म्यान्तरस्थत्वव्यापित्वादि अपेक्ष्य पराणि प्रकृष्टानि आहुः पण्डिताः।

तथा इन्द्रियेभ्यः परं मनः संकल्पविकल्पात्मकम्। तथा मनसः तु परा बुद्धिः निश्चयात्मिका।

तथा यः सर्वदृश्येभ्यो बुद्ध्यन्तेभ्यः अभ्यन्तरः, यं देहिनम् इन्द्रियादिभिः आश्रयैः युक्तः कामो ज्ञानावरणद्वारेण मोहयति इति उक्तम्, स बुद्धेः द्रष्टा परमात्मा॥ ४२॥

पण्डितजन बाह्य, परिच्छिन्न और स्थूल देहकी अपेक्षा सूक्ष्म अन्तरस्थ और व्यापक आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण श्रोत्रादि पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंको पर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं।

तथा इन्द्रियोंकी अपेक्षा संकल्प-विकल्पात्मक मनको श्रेष्ठ कहते हैं और मनकी अपेक्षा निश्चयात्मिका बुद्धिको श्रेष्ठ बताते हैं।

एवं जो बुद्धिपर्यन्त समस्त दृश्य पदार्थोंके अन्तरतमव्यापी है, जिसके विषयमें कहा है कि उस आत्माको इन्द्रियादि आश्रयोंसे युक्त काम, ज्ञानावरणद्वारा मोहित किया करता है, वह बुद्धिका (भी) द्रष्टा परमात्मा (सबसे श्रेष्ठ) है॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

एवं बुद्धेः परम् आत्मानं बुद्ध्वा ज्ञात्वा संस्तभ्य सम्यक् स्तम्भनं कृत्वा स्वेन एव आत्मना संस्कृतेन मनसा सम्यक् समाधाय इत्यर्थः।

जहि एनं शत्रुं हे महाबाहो कामरूपं दुरासदम्, दुःखेन आसद आसादनं प्राप्तिः यस्य तं दुरासदं दुर्विज्ञेयानेकविशेषम् इति॥ ४३॥

इस प्रकार बुद्धिसे अति श्रेष्ठ आत्माको जानकर और आत्मासे ही आत्माको स्तम्भन करके अर्थात् शुद्ध मनसे अच्छी प्रकार आत्माको समाधिस्थ करके,

हे महाबाहो! इस कामरूप दुर्जय शत्रुका त्याग कर अर्थात् जो दुःखसे वशमें किया जाता है उस अनेक दुर्विज्ञेय विशेषणोंसे युक्त कामका त्याग कर दे॥ ४३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

ॐ

चतुर्थोऽध्यायः

यः अयं योगः अध्यायद्वयेन उक्तो ज्ञाननिष्ठालक्षणः ससंन्यासः कर्मयोगोपायः, यस्मिन् वेदार्थः परिसमाप्तः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणः च, गीतासु च सर्वासु अयम् एव योगो विवक्षितो भगवता अतः परिसमाप्तं वेदार्थं मन्वानः तं वंशकथनेन स्तौति श्रीभगवान्—

कर्मयोग जिसका उपाय है ऐसा जो यह संन्याससहित ज्ञाननिष्ठारूप योग पूर्वके दो अध्यायोमे (दूसरे और तीसरेमे) कहा गया है, जिसमे कि वेदका प्रवृत्तिधर्मरूप और निवृत्तिधर्मरूप दोनो प्रकारका सम्पूर्ण तात्पर्य आ जाता है, आगे सारी गीतामे भी भगवान्को 'योग' शब्दसे यही (ज्ञानयोग) विवक्षित है इसलिये वेदके अर्थको (ज्ञानयोगमे) परिसमाप्त यानी पूर्णरूपसे आ गया समझकर भगवान् वंशपरम्पराकथनसे उस (ज्ञाननिष्ठारूप योग) की स्तुति करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

इमम् अध्यायद्वयेन उक्तं योगं विवस्वते आदित्याय सर्गादौ प्रोक्तवान् अहं जगत्परिपालयितॄणां क्षत्रियाणां बलाधानाय । तेन योगबलेन युक्ताः समर्था भवन्ति ब्रह्म परिरक्षितुम् । ब्रह्मक्षत्रे परिपालिते जगत्परिपालयितुम् अलम् ।

जगत्-प्रतिपालक क्षत्रियोंमें बल स्थापन करनेके लिये मैंने उक्त दो अध्यायोंमे कहे हुए इस योगको पहले सृष्टिके आदिकालमे सूर्यसे कहा था । (क्योकि) उस योगबलसे युक्त हुए क्षत्रिय, ब्रह्मत्वकी रक्षा करनेमे समर्थ होते हैं तथा ब्राह्मण और क्षत्रियोका पालन ठीक तरह हो जानेपर ये दोनो सब जगत्का पालन अनायास कर सकते हैं ।

अव्ययम् अव्ययफलत्वात् । न हि अस्य सम्यग्दर्शननिष्ठालक्षणस्य मोक्षाख्यं फलं व्येति ।

इस योगका फल अविनाशी है इसलिये यह अव्यय है; क्योकि इस सम्यक् ज्ञाननिष्ठारूप योगका मोक्षरूप फल कभी नष्ट नहीं होता ।

स च विवस्वान् मनवे प्राह मनुः इक्ष्वाकवे स्वपुत्राय आदिराजाय अब्रवीत् ॥ १ ॥

उस सूर्यने यह योग अपने पुत्र मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र सबसे पहले राजा बननेवाले इक्ष्वाकुसे कहा ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

एवं क्षत्रियपरम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो **राजानः च ते ऋषयः च राजर्षयो** विदुः **इमं योगम्** ।

स योगः कालेन इह महता **दीर्घेण** नष्टो **विच्छिन्नसम्प्रदायः संवृत्तो** हे परंतप, **आत्मनो विपक्षभूताः पर उच्यन्ते तान् शौर्यतेजोगभस्तिभिः भानुः इव तापयति इति परंतपः शत्रुतापन इत्यर्थः** ॥ २ ॥

इस प्रकार क्षत्रियोंकी परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षियोंने—जो कि राजा और ऋषि दोनों थे—जाना ।

हे परंतप ! (अब) वह योग इस मनुष्यलोकमे बहुत कालसे नष्ट हो गया है । अर्थात् उसकी सम्प्रदाय-परम्परा टूट गयी है । अपने विपक्षियोंको पर कहते हैं, उन्हे जो शौर्यरूप तेजकी किरणोंके द्वारा सूर्यके समान तपाता है वह परन्तप यानी शत्रुओंको तपानेवाला कहा जाता है ॥ २ ॥

दुर्बलान् अजितेन्द्रियान् प्राप्य नष्टं योगम् इमम् उपलभ्य लोकं च अपुरुषार्थसंबन्धिनम्—

अजितेन्द्रिय और दुर्बल मनुष्योंके हाथमें पड़कर यह योग नष्ट हो गया है, यह देखकर और साथ ही लोगोंको पुरुषार्थरहित हुए देखकर—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

स एव अयं मया ते **तुभ्यम्** अद्य **इदानीं** योगः प्रोक्तः पुरातनः । भक्तः असि मे सखा च **असि इति** । रहस्यं हि **यस्माद्** एतद् उत्तमं **योगो ज्ञानम् इत्यर्थः** ॥ ३ ॥

वही यह पुराना योग, यह सोचकर कि तू मेरा भक्त और मित्र है, अब मैंने तुझसे कहा है; क्योंकि यह ज्ञानरूप योग बडा ही उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

भगवता विप्रतिषिद्धम् उक्तम् इति मा भूत् कस्यचिद् बुद्धिः इति परिहारार्थं चोद्यम् इव कुर्वन्—

अर्जुन उवाच—

भगवान्ने असङ्गत कहा, ऐसी धारणा किसीकी न हो जाय, अत. उसको दूर करनेके लिये शङ्का करता हुआ-सा—

अर्जुन बोला—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अपरम् **अर्वाग् वसुदेवगृहे** भवतो जन्म, परं **पूर्वं सर्गादौ** जन्म **उत्पत्तिः** विवस्वत **आदित्यस्य** ।

तत् कथम् एतद् विजानीयाम् **अविरुद्धार्थतया यः त्वम् एव आदौ प्रोक्तवान् इमं योगम्, स एव त्वम् इदानीं मह्यं प्रोक्तवान् असि इति** ॥ ४ ॥

आपका जन्म तो अर्वाचीन है अर्थात् अभी वसुदेवके घरमें हुआ है और सूर्यकी उत्पत्ति पहले सृष्टिके आदिमें हुई थी ।

तब मैं इस बातको अविरुद्धार्थयुक्त (सुसङ्गत) कैसे समझूँ कि जिन आपने इस योगको आदिकालमें कहा था, वही आप अब मुझसे कह रहे हैं ॥ ४ ॥

या वासुदेवे अनीश्वरासर्वज्ञाशङ्का मूर्खाणां तां परिहरन् श्रीभगवानुवाच यदर्थो हि अर्जुनस्य प्रश्नः—

भगवान् श्रीवासुदेवके विषयमे मूर्खोंकी जो ऐसी शङ्का है कि ये ईश्वर नहीं हैं, सर्वज्ञ नहीं हैं तथा जिस शङ्काको दूर करनेके लिये ही अर्जुनका यह प्रश्न है, उसका निवारण करते हुए श्रीभगवान् बोले—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ ५॥

बहूनि मे मम व्यतीतानि अतिक्रान्तानि जन्मानि तव च हे अर्जुन तानि अहं वेद जाने सर्वाणि न त्वं वेत्थ जानीषे, धर्माधर्मादिप्रतिबद्धज्ञानशक्तित्वात्।

अहं पुनः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद् अनावरणज्ञानशक्तिः इति वेद अहं हे परंतप॥ ५॥

हे अर्जुन! मेरे और तेरे पहले बहुत जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता; क्योंकि पुण्य-पाप आदिके संस्कारोंसे तेरी ज्ञानशक्ति आच्छादित हो रही है।

परन्तु मैं तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाववाला हूँ, इस कारण मेरी ज्ञानशक्ति आवरणरहित है, इसलिये हे परन्तप! मैं (सब कुछ) जानता हूँ॥५॥

कथं तर्हि तव नित्येश्वरस्य धर्माधर्माभावे अपि जन्म इति उच्यते—

तो फिर आप नित्य ईश्वरका पुण्य-पापसे सम्बन्ध न होनेपर भी जन्म कैसे होता है? इसपर कहा जाता है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ ६॥

अजः अपि जन्मरहितः अपि सन् तथा अव्ययात्मा अक्षीणज्ञानशक्तिस्वभावः अपि सन् तथा भूताना ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानाम् ईश्वर ईशनशीलः अपि सन्, प्रकृतिं स्वां मम वैष्णवीं मायां त्रिगुणात्मिकां यस्या वशे सर्वं जगद् वर्तते यया मोहितं सत् स्वम् आत्मानं वासुदेवं न जानाति, तां प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय वशीकृत्य संभवामि देहवान् इव भवामि जात इव आत्ममायया आत्मनो मायया न परमार्थतो लोकवत्॥ ६॥

यद्यपि मैं अजन्मा—जन्मरहित, अव्ययात्मा—अक्षीण ज्ञानशक्ति-स्वभाववाला और ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंका नियमन करनेवाला ईश्वर भी हूँ, तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मायाको, जिसके वशमे सब जगत् वर्तता है और जिससे मोहित हुआ मनुष्य वासुदेवरूप अपने आपको नहीं जानता, उस अपनी प्रकृतिको अपने वशमे रखकर केवल अपनी लीलासे ही शरीरवाला-सा जन्म लिया हुआ-सा हो जाता हूँ; अन्य लोगोकी भाँति वास्तवमे जन्म नहीं लेता॥ ६॥

तत् च जन्म कदा किमर्थं च इति उच्यते—

वह जन्म कब और किसलिये होता है? सो कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः **हानिः वर्णाश्रमादिलक्षणस्य प्राणिनाम् अभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य** भवति भारत, अभ्युत्थानम् **उद्भवः** अधर्मस्य तदा आत्मानं सृजामि अहं **मायया** ॥ ७ ॥

हे भारत ! वर्णाश्रम आदि जिसके लक्षण हैं एवं प्राणियोंकी उन्नति और परम कल्याणका जो साधन है उस धर्मकी जब-जब हानि होती है, और अधर्मका अभ्युत्थान अर्थात् उन्नति होती है, तब-तब ही मैं मायासे अपने स्वरूपको रचता हूँ ॥७॥

किमर्थम्—

किसलिये ?—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

परित्राणाय **परिरक्षणाय** साधूनां **सन्मार्गस्थानां** विनाशाय च दुष्कृतां **पापकारिणाम्** । **किं च** धर्मसंस्थापनार्थाय **धर्मस्य सम्यक् स्थापनं तदर्थं** संभवामि युगे युगे **प्रतियुगम्** ॥ ८ ॥

सत्-मार्गमें स्थित साधुओंका परित्राण अर्थात् (उनकी) रक्षा करनेके लिये, पापकर्म करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी प्रकार स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें अर्थात् प्रत्येक युगमें प्रकट हुआ करता हूँ ॥ ८ ॥

तत्—

वह—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

जन्म **मायारूपम्**, कर्म च **साधुपरित्राणादि**, मे **मम** दिव्यम् **अप्राकृतम् ऐश्वरम्** एवं **यथोक्तं** यो वेत्ति तत्त्वतः **तत्त्वेन यथावत्** ।

त्यक्त्वा देहम् **इमं** पुनर्जन्म **पुनरुत्पत्तिं** न एति **न प्राप्नोति** माम् एति **आगच्छति स मुच्यते** हे अर्जुन ॥ ९ ॥

मेरा मायामय जन्म और साधुरक्षण आदि कर्म दिव्य हैं, अर्थात् अलौकिक हैं—यानी केवल ईश्वर-शक्तिसे ही होनेवाले हैं । इस प्रकार जो तत्त्वसे यथार्थ जानता है ।

हे अर्जुन ! वह इस शरीरको छोड़कर पुनर्जन्म अर्थात् पुनः उत्पत्तिको प्राप्त नहीं होता, (बल्कि) मेरे पास आ जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

न एष मोक्षमार्ग इदानीं प्रवृत्तः किं तर्हि पूर्वम् अपि—

यह मोक्ष-मार्ग अभी आरम्भ हुआ है, ऐसी बात नहीं, किन्तु पहले भी—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

वीतरागभयक्रोधा रागः च भयं च क्रोधः च वीता विगता येभ्यः ते वीतरागभयक्रोधाः, मन्मया ब्रह्मविद ईश्वराभेददर्शिनः, माम् एव परमेश्वरम् उपाश्रिताः केवलज्ञाननिष्ठा इत्यर्थः। बहवः अनेके ज्ञानतपसा ज्ञानम् एव च परमात्मविषयं तपः तेन ज्ञानतपसा पूताः परां शुद्धिं गताः सन्तो मद्भावम् ईश्वरभावं मोक्षम् आगताः समनुप्राप्ताः।

इतरतपोनिरपेक्षज्ञाननिष्ठा इति अस्य लिङ्गं ज्ञानतपसा इति विशेषणम् ॥ १० ॥

जिनके राग, भय और क्रोध चले गये है ऐसे रागादि दोषोसे रहित, ईश्वरमे तन्मय हुए—ईश्वरसे अपना अभेद समझनेवाले—ब्रह्मवेत्ता और मुझ परमेश्वरके ही आश्रित—केवल ज्ञाननिष्ठामे स्थित ऐसे बहुत-से महापुरुष परमात्मविषयक ज्ञानरूप तपसे परमशुद्धिको प्राप्त होकर मुझ ईश्वरके भावको—मोक्षको प्राप्त हो गये है।

'ज्ञानतपसा' यह विशेषण इस बातका द्योतक है कि ज्ञाननिष्ठा अन्य तपोकी अपेक्षा नहीं रखती॥१०॥

तव तर्हि रागद्वेषौ स्तः येन केभ्यश्चिद् एव आत्मभावं प्रयच्छसि न सर्वेभ्य इति उच्यते—

तब क्या आपमे रागद्वेष है, जिससे कि आप किसी-किसीको ही आत्मभाव प्रदान करते है, सबको नहीं करते? इसपर कहते है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११ ॥

ये यथा येन प्रकारेण येन प्रयोजनेन यत्फलार्थितया मां प्रपद्यन्ते, तान् तथा एव तत्फलदानेन भजामि अनुगृह्णामि अहम् इति एतत्। तेषां मोक्षं प्रति अनर्थित्वात्।

न हि एकस्य मुमुक्षुत्वं फलार्थित्वं च युगपत् संभवति।

अतो ये फलार्थिनः तान् फलप्रदानेन ये यथोक्तकारिणः तु अफलार्थिनो मुमुक्षवः च तान् ज्ञानप्रदानेन, ये ज्ञानिनः संन्यासिनो मुमुक्षवः च तान् मोक्षप्रदानेन; तथा आर्तान् आर्तिहरणेन इति एवं यथा प्रपद्यन्ते ये तान् तथा एव भजामि इत्यर्थः।

न पुनः रागद्वेषनिमित्तं मोहनिमित्तं वा कंचिद् भजामि।

जो भक्त जिस प्रकारसे—जिस प्रयोजनसे—जिस फलप्राप्तिकी इच्छासे मुझे भजते हैं, उनको मैं उसी प्रकार भजता हूँ अर्थात् उनकी कामनाके अनुसार ही फल देकर मै उनपर अनुग्रह करता हूँ क्योंकि उन्हे मोक्षकी इच्छा नहीं होती।

एक ही पुरुषमे मुमुक्षुत्व और फलार्थित्व (फलकी इच्छा करना) यह दोनो एक साथ नहीं हो सकते।

इसलिये जो फलकी इच्छावाले है उन्हे फल देकर, जो फलको न चाहते हुए शास्त्रोक्त प्रकारसे कर्म करनेवाले और मुमुक्षु है उनको ज्ञान देकर, जो ज्ञानी, सन्यासी और मुमुक्षु है उन्हे मोक्ष देकर तथा आर्तोंका दुःख दूर करके, इस प्रकार जो जिस तरहसे मुझे भजते हैं उनको मैं भी वैसे ही भजता हूँ।

रागद्वेषके कारण या मोहके कारण तो मै किसीको भी नहीं भजता।

सर्वथा अपि*सर्वावस्थस्य मम ईश्वरस्य वर्त्म मार्गम् अनुवर्तन्ते मनुष्याः। यत्फलार्थितया यस्मिन् कर्मणि अधिकृता ये प्रयतन्ते ते मनुष्या उच्यन्ते हे पार्थ सर्वशः सर्वप्रकारैः ॥११॥

हे पार्थ ! मनुष्य सब तरहसे बर्तते हुए भी सर्वत्र स्थित मुझ ईश्वरके ही मार्गका सब प्रकारसे अनुसरण करते है, जो जिस फलकी इच्छासे जिस कर्मके अधिकारी बने हुए (उस कर्मके अनुरूप) प्रयत्न करते है वे ही मनुष्य कहे जाते हैं ॥ ११ ॥

यदि तव ईश्वरस्य रागादिदोषाभावात् सर्वप्राणिषु अनुजिघृक्षायां तुल्यायां सर्वफलप्रदानसमर्थे च त्वयि सति, वासुदेवः सर्वम् इति ज्ञानेन एव मुमुक्षवः सन्तः कस्मात् त्वाम् एव सर्वे न प्रतिपद्यन्ते इति शृणु तत्र कारणम्—

यदि रागादि दोषोंका अभाव होनेके कारण सभी प्राणियोपर आप ईश्वरकी दया समान है एवं आप सब फल देनेमे समर्थ भी हैं, तो फिर सभी मनुष्य मुमुक्षु होकर—यह सारा विश्व वासुदेवस्वरूप है—इस प्रकारके ज्ञानसे केवल आपको ही क्यो नहीं भजते ? इसका कारण सुन—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

काङ्क्षन्तः अभीप्सन्तः कर्मणां सिद्धिं फलनिष्पत्तिं प्रार्थयन्तः, यजन्त इह अस्मिन् लोके देवता इन्द्राग्न्याद्याः—

'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' (बृ० उ० १ । ४ । १०) इति श्रुतेः ।

तेषां हि भिन्नदेवतायाजिनां फलाकाङ्क्षिणां क्षिप्रं शीघ्रं हि यस्मात् मानुषे लोके, मनुष्यलोके हि शास्त्राधिकारः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके इति विशेषणाद् अन्येषु अपि कर्मफलसिद्धिं दर्शयति भगवान् ।

मानुषे लोके वर्णाश्रमादिकर्माधिकार इति विशेषः, तेषां वर्णाश्रमाद्यधिकारिकर्मणां फलसिद्धिः क्षिप्रं भवति कर्मजा कर्मणो जाता ॥१२॥

कर्मोंकी सिद्धि चाहनेवाले अर्थात् फल-प्राप्तिकी कामना करनेवाले मनुष्य इस लोकमे इन्द्र, अग्नि आदि देवोकी पूजा किया करते हैं ।

श्रुतिमे कहा है कि 'जो अन्य देवताकी इस भावसे उपासना करता है कि वह (देवता) दूसरा है और मैं (उपासक) दूसरा हूँ वह कुछ नहीं जानता, जैसे पशु होता है वैसे ही वह देवताओंका पशु है ।'

ऐसे उन भिन्नरूपसे देवताओका पूजन करनेवाले फलेच्छुक मनुष्योकी इस मनुष्यलोकमें (कर्मसे उत्पन्न हुई) सिद्धि शीघ्र ही हो जाती है । क्योकि मनुष्यलोकमे शास्त्रका अधिकार है (यह विशेषता है) ।

'क्षिप्रं हि मानुषे लोके' इस वाक्यमे क्षिप्र विशेषणसे भगवान् अन्य लोकोंमे भी कर्मफलकी सिद्धि दिखलाते हैं ।

पर मनुष्य-लोकमें वर्ण-आश्रम आदिके कर्मोका अधिकार है, यह विशेषता है । उन वर्णाश्रम आदिमें अधिकार रखनेवालोंके कर्मोंकी कर्मजनित फल-सिद्धि शीघ्र होती है ॥ १२ ॥

* यहाँ 'सर्वथापि' इस कथनसे भाष्यकारका यह अभिप्राय समझमें आता है कि कर्म मार्ग, भक्ति-मार्ग आदि किसी भी मार्गमेंसे किसी भी देवताविशेषके आश्रित होकर बर्तनेवाले भी भगवान्‌के मार्गके अनुसार बर्तते हैं (देखिये, गीता ९ । २३-२४) ।

मानुषे एव लोके वर्णाश्रमादिकर्माधिकारो न अन्येषु लोकेषु इति नियमः किंनिमित्त इति ।

मनुष्यलोकमे ही वर्णाश्रम आदिके कर्मोंका अधिकार है, अन्य लोकोमें नहीं, यह नियम किस कारणसे है ? यह बतानेके लिये (अगला श्लोक कहते है)—

अथवा वर्णाश्रमादिप्रविभागोपेता मनुष्या मम वर्त्म अनुवर्तन्ते सर्वश इति उक्तं कस्मात् पुनः कारणाद् नियमेन तव एव वर्त्म अनुवर्तन्ते न अन्यस्य इति उच्यते—

अथवा वर्णाश्रम आदि विभागसे युक्त हुए मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार बर्तते है ऐसा आपने कहा, सो नियमपूर्वक वे आपके ही मार्गका अनुसरण क्यो करते हैं, दूसरेके मार्गका क्यों नहीं करते ? इसपर कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

चातुर्वर्ण्यं चत्वार एव वर्णाः चातुर्वर्ण्यं मया ईश्वरेण सृष्टम् उत्पादितम्, *'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'* इत्यादिश्रुतेः, गुणकर्मविभागशो गुणविभागशः कर्मविभागशः च गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि ।

(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन) चारों वर्णोंका नाम चातुर्वर्ण्य है । सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंके विभागसे तथा कर्मोंके विभागसे यह चारों वर्ण मुझ ईश्वरद्वारा रचे हुए—उत्पन्न किये हुए हैं । **'ब्राह्मण इस पुरुषका मुख हुआ'** इत्यादि श्रुतियोंसे यह प्रमाणित है ।

तत्र सात्त्विकस्य सत्त्वप्रधानस्य ब्राह्मणस्य शमो दमः तप इत्यादीनि कर्माणि ।

उनमेसे सात्त्विक—सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मणके शम, दम, तप इत्यादि कर्म हैं ।

सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानस्य क्षत्रियस्य शौर्यतेजःप्रभृतीनि कर्माणि ।

जिसमे सत्त्वगुण गौण है और रजोगुण प्रधान है उस क्षत्रियके शूरवीरता, तेज प्रभृति कर्म हैं ।

तमउपसर्जनरजःप्रधानस्य वैश्यस्य कृष्यादीनि कर्माणि ।

जिसमे तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान है, ऐसे वैश्यके कृषि आदि कर्म हैं ।

रजउपसर्जनतमःप्रधानस्य शूद्रस्य शुश्रूषा एव कर्म ।

तथा जिसमे रजोगुण गौण और तमोगुण प्रधान है उस शूद्रका केवल सेवा ही कर्म है ।

इति एवं गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम् इत्यर्थः ।

इस प्रकार गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण मेरेद्वारा उत्पन्न किये गये है, यह अभिप्राय है ।

तत् च इदं चातुर्वर्ण्यं न अन्येषु लोकेषु अतो मानुषे लोके इति विशेषणम् ।

ऐसी यह चार वर्णोंकी अलग-अलग व्यवस्था दूसरे लोकोंमें नहीं है इसलिये (पूर्वश्लोकमें) 'मानुषे लोके' यह विशेषण लगाया गया है ।

हन्त तर्हि चातुर्वर्ण्यसर्गादेः कर्मणः कर्तृत्वात् तत्फलेन युज्यसे अतो न त्वं नित्यमुक्तो नित्येश्वर इति उच्यते—

यदि चातुर्वर्ण्यकी रचना आदि कर्मके आप कर्ता है, तब तो उसके फलसे भी आपका सम्बन्ध होता ही होगा, इसलिये आप नित्यमुक्त और नित्य-ईश्वर भी नहीं हो सकते ? इसपर कहा जाता है—

यद्यपि मायासंव्यवहारेण तस्य कर्मणः कर्तारम् अपि सन्तं मां परमार्थतो विद्धि अकर्तारम् अत एव अव्ययम् असंसारिणं च मां विद्धि ॥ १३ ॥

यद्यपि मायिक व्यवहारसे मैं उस कर्मका कर्ता हूँ, तो भी वास्तवमें मुझे तू अकर्ता ही जान; तथा इसीलिये मुझे अव्यय और असंसारी ही समझ ॥ १३ ॥

येषां तु कर्मणां कर्तारं मां मन्यसे, परमार्थतः तेषाम् अकर्ता एव अहं यतः—

जिन कर्मोंका तू मुझे कर्ता मानता है, वास्तवमें मैं उनका अकर्ता ही हूँ, क्योंकि—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

न मां तानि कर्माणि लिम्पन्ति देहाद्यारम्भकत्वेन अहङ्काराभावात् । न च तेषां कर्मणां फलेषु मे स्पृहा तृष्णा ।

येषां तु संसारिणाम् अहं कर्ता इति अभिमानः, कर्मसु स्पृहा तत्फलेषु च, तान् कर्माणि लिम्पन्ति इति युक्तम्, तदभावाद् न मां कर्माणि लिम्पन्ति ।

इति एवं यः अन्यः अपि माम् आत्मत्वेन अभिजानाति न अहं कर्ता न मे कर्मफले स्पृहा इति, स कर्मभिः न बध्यते । तस्य अपि न देहाद्यारम्भकाणि कर्माणि भवन्ति इत्यर्थः ॥ १४ ॥

मुझमें अहंकारका अभाव है इसलिये वे कर्म देहादिकी उत्पत्तिके कारण बनकर मुझे लिप्त नहीं करते, और उन कर्मोंके फलमें मेरी लालसा अर्थात् तृष्णा भी नहीं है ।

जिन संसारी मनुष्योंका कर्मोंमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा अभिमान रहता है, एवं जिनकी उन कर्मोंमें और उनके फलोंमें लालसा रहती है, उनको कर्म लिप्त करते हैं यह ठीक है, परन्तु उन दोनोंका अभाव होनेके कारण वे (कर्म) मुझे लिप्त नहीं कर सकते ।

इस प्रकार जो कोई दूसरा भी मुझे आत्मरूपसे जान लेता है कि 'मैं कर्मोंका कर्ता नहीं हूँ' 'मेरी कर्मफलमें स्पृहा भी नहीं है' वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता अर्थात् उसके भी कर्म देहादिके उत्पादक नहीं होते ॥ १४ ॥

न अहं कर्ता न मे कर्मफले स्पृहा—

मैं न तो कर्मोंका कर्ता ही हूँ और न मुझे कर्मफलकी चाहना ही है—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैः अपि **अतिक्रान्तैः** मुमुक्षुभिः, कुरु **तेन** कर्म एव **त्वं न तूष्णीम् आसनं न अपि संन्यासः कर्तव्यः ।**

तस्मात् त्वं **पूर्वैः अपि अनुष्ठितत्वाद् यदि अनात्मज्ञः त्वं तदा आत्मशुद्ध्यर्थं तत्त्ववित् चेद् लोकसंग्रहार्थं** पूर्वैः **जनकादिभिः पूर्वतरं** कृतं **न अधुनातनं कृतं निर्वर्तितम् ॥ १५ ॥**

ऐसा समझकर ही पूर्वकालके मुमुक्षु पुरुषोंने भी कर्म किये थे । इसलिये तू भी कर्म ही कर । तेरे लिये चुपचाप बैठ रहना या संन्यास लेना यह दोनो ही कर्तव्य नहीं है ।

क्योकि पूर्वजोंने भी कर्मका आचरण किया है इसलिये यदि तू आत्मज्ञानी नहीं है तब तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये और यदि तत्त्वज्ञानी है तो लोकसंग्रहके लिये जनकादि पूर्वजोद्वारा सदासे किये हुए (प्रकारसे ही) कर्म कर, नये ढंगसे किये जानेवाले कर्म मत कर * ॥ १५ ॥

तत्र कर्म चेत् कर्तव्यं त्वद्वचनाद् एव करोमि अहं किं विशेषितेन पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् इति, उच्यते यस्माद् महद् वैषम्यं कर्मणि, कथम्—

यदि कर्म ही कर्तव्य है तो मै आपकी आज्ञासे ही करनेको तैयार हूँ फिर 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' विशेषण देनेकी क्या आवश्यकता है ? इसपर कहते हैं कि कर्मके विषयमें बड़ी भारी विषमता है अर्थात् कर्मका विषय बड़ा गहन है । सो किस प्रकार—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

किं कर्म किं **च** अकर्म इति कवयो **मेधाविनः** अपि अत्र **अस्मिन् कर्मादिविषये** मोहिता **मोहं गताः । अतः** ते **तुभ्यम् अहं** कर्म **अकर्म च** प्रवक्ष्यामि यद् ज्ञात्वा **विदित्वा कर्मादि** मोक्ष्यसे अशुभात् **संसारात् ॥ १६ ॥**

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस कर्मादिके विषयमे बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी मोहित हो चुके हैं इसलिये मै तुझे वह कर्म और अकर्म बतलाऊँगा जिस कर्मादिको जानकर तू अशुभसे यानी संसारसे मुक्त हो जायगा ॥ १६ ॥

न च एतत् त्वया मन्तव्यम्, कर्म नाम देहादिचेष्टा लोकप्रसिद्धम् अकर्म तदक्रिया तूष्णीम् आसनं किं तत्र बोद्धव्यम् इति । कस्मात्, उच्यते—

तुझे यह नहीं समझना चाहिये कि केवल देहादिकी चेष्टाका नाम कर्म है और उसे न करके चुपचाप बैठ रहनेका नाम अकर्म है, उसमे जाननेकी बात ही क्या है ? यह तो लोकमें प्रसिद्ध ही है । क्यों (ऐसा नहीं समझना चाहिये ?) इसपर कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

* अर्थात् जिन कर्मोंसे न तो अन्तःकरण ही शुद्ध होता है और न लोक-संग्रह ही होता है, ऐसे आधुनिक (लौकिक) मनुष्योंद्वारा किये जानेवाले कर्म मत कर ।

कर्मणः **शास्त्रविहितस्य** हि **यस्माद्** अपि **अस्ति बोद्धव्यं** बोद्धव्यं च **अस्ति एव** विकर्मणः **प्रतिषिद्धस्य, तथा** अकर्मणः च **तूष्णींभावस्य** बोद्धव्यम् **अस्ति इति त्रिषु अपि अध्याहारः कर्तव्यः ।**

यस्माद् गहना **विषमा दुर्ज्ञाना,** कर्मण **इति उपलक्षणार्थं कर्मादीनां कर्माकर्मविकर्मणां** गतिः **याथात्म्यं तत्त्वम् इत्यर्थः ॥ १७ ॥**

कर्मका—शास्त्रविहित क्रियाका भी (रहस्य) जानना चाहिये, विकर्मका—शास्त्रवर्जित कर्मका भी (रहस्य) जानना चाहिये और अकर्मका अर्थात् चुपचाप बैठ रहनेका भी (रहस्य) समझना चाहिये ।

क्योंकि कर्मोंकी अर्थात् कर्म, अकर्म और विकर्मकी गति—उनका यथार्थ स्वरूप—तत्त्व बड़ा गहन है, समझनेमें बडा ही कठिन है ॥ १७ ॥

किं पुनः तत्त्वं कर्मादेः यद् बोद्धव्यं वक्ष्यामि इति प्रतिज्ञातम् उच्यते—

कर्मादिका वह तत्त्व क्या है जो कि जाननेयोग्य है, जिसके लिये आपने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'कहूँगा' । इसपर कहते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

कर्मणि **कर्म क्रियते इति व्यापारमात्रं तस्मिन् कर्मणि** अकर्म **कर्माभावं** यः पश्येद् अकर्मणि च **कर्माभावे कर्तृतन्त्रत्वात् प्रवृत्तिनिवृत्त्योः वस्तु अप्राप्य एव हि सर्व एव क्रियाकारकादिव्यवहारः अविद्याभूमौ एव** कर्म यः **पश्येत् पश्यति ।**

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तो **योगी** कृत्स्नकर्मकृत् **समस्तकर्मकृत् च स इति स्तूयते कर्माकर्मणोः इतरेतरदर्शी ।**

ननु किम् इदं विरुद्धम् उच्यते 'कर्मणि अकर्म यः पश्येद् इति अकर्मणि च कर्म इति ।' न हि कर्म अकर्म स्याद् अकर्म वा कर्म तत्र विरुद्धं कथं पश्येद् द्रष्टा ।

जो कुछ किया जाय उस चेष्टामात्रका नाम कर्म है । उस कर्ममे जो अकर्म देखता है, अर्थात् कर्मका अभाव देखता है तथा अकर्ममे—शरीरादिकी चेष्टाके अभावमे जो कर्म देखता है । अर्थात् कर्मका करना और न करना दोनो ही कर्ताके अधीन हैं । तथा आत्मतत्त्वकी प्राप्तिसे पूर्व अज्ञानावस्थामे ही सब क्रिया-कारक आदि व्यवहार है, (इसीलिये कर्मका त्याग भी कर्म ही है*) इस प्रकार जो अकर्ममें कर्म देखता है ।

वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वह योगी है और वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है, इस प्रकार कर्ममे अकर्म और अकर्ममे कर्म देखनेवालेकी स्तुति की जाती है ।

पू०—'जो कर्ममें अकर्म देखता है और अकर्ममें कर्म देखता है' यह विरुद्ध बात किस भावसे कही जा रही है ? क्योंकि कर्म तो अकर्म नहीं हो सकता और अकर्म कर्म नहीं हो सकता, तब देखनेवाला विरुद्ध कैसे देखे ?

* कर्मोंका करना और उनका त्याग करना दोनों ही कर्ताके व्यापाराधीन हैं, जिसमें कर्ताका व्यापार है, वह प्रवृत्ति हो चाहे निवृत्ति, वास्तवमे कर्म ही है, इसलिये अहंकारपूर्वक किया हुआ कर्मत्याग भी वास्तवमें कर्म ही है ।

ननु अकर्म एव परमार्थतः सत् कर्मवद् अवभासते मूढदृष्टेः लोकस्य तथा कर्म एव अकर्मवत् तत्र यथाभूतदर्शनार्थम् आह भगवान् 'कर्मणि अकर्म यः पश्येत्' इत्यादि । अतो न विरुद्धम् । बुद्धिमत्त्वाद्युपपत्तेः च । बोद्धव्यम् इति च यथा भूतदर्शनम् उच्यते ।

न च विपरीतज्ञानाद् अशुभाद् मोक्षणं स्यात् '*यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्*' इति च उक्तम् ।

तस्मात् कर्माकर्मणी विपर्ययेण गृहीते प्राणिभिः तद्विपर्ययग्रहणनिवृत्त्यर्थं भगवतो वचनम् 'कर्मणि अकर्म यः' इत्यादि ।

न च अत्र कर्माधिकरणम् अकर्म अस्ति कुण्डे बदराणि इव न अपि अकर्माधिकरणं कर्म अस्ति कर्माभावत्वाद् अकर्मणः ।

अतो विपरीतगृहीते एव कर्माकर्मणी लौकिकैः यथा मृगतृष्णिकायाम् उदकं शुक्तिकायां वा रजतम् ।

ननु कर्म कर्म एव सर्वेषां न क्वचिद् व्यभिचरति ।

तद् न, नौस्थस्य नावि गच्छन्त्यां तटस्थेषु अगतिषु नगेषु प्रतिकूलगतिदर्शनाद् दूरेषु चक्षुषा असंनिकृष्टेषु गच्छत्सु गत्यभावदर्शनात् ।

एवम् इह अपि अकर्मणि अहं करोमि इति कर्मदर्शनं कर्मणि च अकर्मदर्शनं विपरीतदर्शनं येन तन्निराकरणार्थम् उच्यते 'कर्मणि अकर्म यः पश्येत्' इत्यादि ।

उ०—वास्तवमें जो अकर्म है वही मूढ़-मति लोगोको कर्मके सदृश भास रहा है और उसी तरह कर्म अकर्मके सदृश भास रहा है, उसमें यथार्थ तत्त्व देखनेके लिये भगवान्‌ने 'कर्मणि अकर्म यः पश्येत्' इत्यादि वाक्य कहे हैं, इसलिये (उनका कहना) विरुद्ध नहीं है । क्योंकि बुद्धिमान् आदि विशेषण भी तभी सम्भव हो सकते हैं । इसके सिवा यथार्थ ज्ञानको ही जाननेयोग्य कहा जा सकता है (मिथ्या ज्ञानको नहीं) ।

तथा 'जिसको जानकर अशुभसे मुक्त हो जायगा ।' यह भी कहा है सो विपरीत ज्ञानद्वारा (जन्म-मरणरूप) अशुभसे मुक्ति नहीं हो सकती ।

सुतरा प्राणियोने जो कर्म और अकर्मको विपरीत-रूपसे समझ रक्खा है उस विपरीत ज्ञानको हटानेके लिये ही भगवान्‌के 'कर्मण्यकर्म य.' इत्यादि वचन है ।

यहाँ 'कुण्डेमे बेरोकी तरह' कर्मका आधार अकर्म नहीं है और उसी तरह अकर्मका आधार कर्म भी नहीं है क्योंकि कर्मके अभावका नाम अकर्म है ।

इसलिये (यही सिद्ध हुआ कि) मृगतृष्णामे जलकी भाँति एवं सीपमे चाँदीकी तरह लोगोने कर्म और अकर्मको विपरीत मान रक्खा है ।

पू०—कर्मको सब कर्म ही मानते है, इसमे कभी फेरफार नहीं होता ।

उ०—यह बात नहीं, क्योंकि नाव चलते समय नौकामे बैठे हुए पुरुषको तटके अचल वृक्षोमे प्रतिकूल गति दीखती है अर्थात् वे वृक्ष उलटे चलते हुए दीखते है और जो (नक्षत्रादि) पदार्थ नेत्रोके पास नहीं होते, बहुत दूर होते है, उन चलते हुए पदार्थोंमे भी गतिका अभाव दीख पड़ता है अर्थात् वे अचल दीखते है ।

इसी तरह यहाँ भी अकर्ममें (क्रियारहित आत्मामें) 'मै करता हूँ' यह कर्मका देखना और (त्यागरूप) कर्ममे (मै कुछ नहीं करता इस) अकर्मका देखना ऐसे विपरीत देखना होता है, अतः उसका निराकरण करनेके लिये 'कर्मणि अकर्म यः पश्येत्' इत्यादि वचन भगवान् कहते हैं ।

तद् एतद् उक्तप्रतिवचनम् अपि असकृद् अत्यन्तविपरीतदर्शनभावितया मोमुह्यमानो लोकः श्रुतम् अपि असकृत् तत्त्वं विस्मृत्य मिथ्याप्रसङ्गम् अवतार्य अवतार्य चोदयति इति पुनः पुनः उत्तरम् आह भगवान् दुर्विज्ञेयत्वं च आलक्ष्य वस्तुनः ।

यद्यपि यह विषय अनेक बार शंका-समाधानोंद्वारा सिद्ध किया जा चुका है तो भी अत्यन्त विपरीत ज्ञानकी भावनासे अत्यन्त मोहित हुए लोग अनेक बार सुने हुए तत्त्वको भी भूलकर मिथ्या प्रसंग ला-लाकर शंका करने लग जाते हैं, इसलिये तथा आत्मतत्त्वको दुर्विज्ञेय समझकर भगवान् पुनः-पुनः उत्तर देते हैं।

'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्' 'न जायते म्रियते' इत्यादिना आत्मनि कर्माभावः श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्ध उक्तो वक्ष्यमाणः च ।

श्रुति, स्मृति और न्यायसिद्ध जो आत्मामें कर्मोंका अभाव है वह **'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्' 'न जायते म्रियते'** इत्यादि श्लोकोंसे कहा जा चुका और आगे भी कहा जायगा ।

तस्मिन् आत्मनि कर्माभावे अकर्मणि कर्मविपरीतदर्शनम् अत्यन्तनिरूढम् ।

उस क्रियारहित आत्मामें अर्थात् अकर्ममें कर्मका देखनारूप जो विपरीत दर्शन है, यह लोगोंमें अत्यन्त स्वाभाविक-सा हो गया है ।

यतः *'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।'*

क्योंकि **'कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषयमें बुद्धिमान् भी मोहित हैं ।'**

देहाद्याश्रयं कर्म आत्मनि अध्यारोप्य अहं कर्ता मम एतत् कर्म मया अस्य फलं भोक्तव्यम् इति च ।

अर्थात् देह-इन्द्रियादिसे होनेवाले कर्मोंका आत्मामें अध्यारोप करके 'मैं कर्ता हूँ' 'मेरा यह कर्म है' 'मुझे इसका फल भोगना है' इस प्रकार (लोग मानते हैं ।)

तथा अहं तूष्णीं भवामि येन अहं निरायासः अकर्मा सुखी स्याम् इति कार्यकरणाश्रयव्यापारोपरमं तत्कृतं च सुखित्वम् आत्मनि अध्यारोप्य न करोमि किंचित् तूष्णीं सुखम् आसम् इति अभिमन्यते लोकः ।

तथा 'मैं चुप होकर बैठता हूँ जिससे कि परिश्रमरहित और कर्मरहित होकर सुखी हो जाऊँ' इस प्रकार देह-इन्द्रियोंके व्यापारकी उपरामताका और उससे होनेवाले सुखीपनका आत्मामें अध्यारोप करके 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' 'चुपचाप सुखसे बैठा हूँ' इस प्रकार लोग मानते हैं ।

तत्र इदं लोकस्य विपरीतदर्शनापनयनाय आह भगवान् 'कर्मणि अकर्म यः पश्येत्' इत्यादि ।

लोगोंके इस विपरीत ज्ञानको हटानेके लिये 'कर्मणि अकर्म यः पश्येत्' इत्यादि वचन भगवान्ने कहे हैं ।

अत्र च कर्म कर्म एव सत् कार्यकरणाश्रयं कर्मरहिते अविक्रिये आत्मनि सर्वैः अध्यस्तं यतः पण्डितः अपि अहं करोमि इति मन्यते ।

यहाँ देहेन्द्रियादिके आश्रयसे होनेवाला कर्म यद्यपि क्रियारूप है तो भी उसका लोगोंने कर्मरहित अविक्रिय आत्मामें अध्यारोप कर रक्खा है क्योंकि शास्त्रज्ञ विद्वान् भी 'मैं करता हूँ' ऐसा मान बैठता है ।

अत आत्मसमवेततया सर्वलोकप्रसिद्धे कर्मणि नदीकूलस्थेषु इव वृक्षेषु गतिः प्रातिलोम्येन अकर्म कर्माभावं यथाभूतं गत्यभावम् इव वृक्षेषु यः पश्येत्,

अकर्मणि च कार्यकरणव्यापारोपरमे कर्मवद् आत्मनि अध्यारोपिते तूष्णीम् अकुर्वन् सुखम् आस इति अहंकाराभिसंधिहेतुत्वात् तस्मिन् अकर्मणि च कर्म यः पश्येत् ।

य एवं कर्माकर्मविभागज्ञः स बुद्धिमान् पण्डितो मनुष्येषु स युक्तो योगी कृत्स्नकर्मकृत् च सः अशुभाद् मोक्षितः कृतकृत्यो भवति इत्यर्थः ।

अयं श्लोकः अन्यथा व्याख्यातः कैश्चित्, कथम्, नित्यानां किल कर्मणाम् ईश्वरार्थे अनुष्ठीयमानानां तत्फलाभावाद् अकर्माणि तानि उच्यन्ते गौण्या वृत्त्या । तेषां च अकरणम् अकर्म तत् च प्रत्यवायफलत्वात् कर्म उच्यते गौण्या एव वृत्त्या ।

तत्र नित्ये कर्मणि अकर्म यः पश्येत् फलाभावात्, यथा धेनुः अपि गौः अगौः उच्यते क्षीराख्यं फलं न प्रयच्छति इति तद्वत् । तथा नित्याकरणे तु अकर्मणि च कर्म यः पश्येद् नरकादिप्रत्यवायफलं प्रयच्छति इति ।

न एतद् युक्तं व्याख्यानम् एवं ज्ञानाद् अशुभाद् मोक्षानुपपत्तेः 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।' इति भगवता उक्तं वचनं बाध्येत ।

अतः नदी-तीरस्थ वृक्षोंमें भ्रमसे प्रतिकूल गति प्रतीत होनेकी भाँति अज्ञानसे आत्माके नित्य सम्बन्धी माने जाकर जो लोकमें कर्म नामसे प्रसिद्ध हो रहे हैं, उन कर्मोंमें वस्तुतः नदी-तीरस्थ वृक्षोंमें गतिका अभाव देखनेकी भाँति जो अकर्म देखता है अर्थात् कर्माभाव देखता है,

तथा कर्मकी भाँति आत्मामें अज्ञानसे आरोपित किये हुए शरीर, इन्द्रिय आदिकी उपरामतारूप अकर्ममें, अर्थात् क्रियाके त्यागमें भी 'मैं कुछ न करता हुआ चुपचाप सुखपूर्वक बैठा हूँ' इस अहंकारका सम्बन्ध होनेके कारण जो कर्म देखता है यानी उस त्यागको भी जो कर्म समझता है ।

इस प्रकार जो कर्म और अकर्मके विभागको (तत्त्वसे) जाननेवाला है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान्—पण्डित है, वह युक्त योगी है और सम्पूर्ण कर्म करनेवाला भी वही है अर्थात् वह पुण्य-पापरूप अशुभसे मुक्त हुआ कृतकृत्य है ।

कई टीकाकार इस श्लोकको दूसरी तरहसे ही व्याख्या करते हैं । कैसे ? ईश्वरके लिये किये जानेवाले जो (पञ्च महायज्ञादि) नित्यकर्म हैं, उनका फल नहीं मिलता इस कारण वे गौणी वृत्तिसे अकर्म कहे जाते हैं ? (इसी प्रकार) उन नित्यकर्मोंके न करनेका नाम अकर्म है, वह भी पापरूप फलके देनेवाला होनेके कारण गौणरूपसे ही कर्म कहा जाता है ।

जैसे कोई गौ ब्यायी हुई होनेपर भी यदि दूधरूप फल नहीं देती तो वह अगौ कह दी जाती है, वैसे ही नित्यकर्ममें, उसके फलका अभाव होनेके कारण जो अकर्म देखता है और नित्यकर्मका न करनारूप जो अकर्म है उसमें कर्म देखता है क्योंकि वह नरकादि विपरीत फल देनेवाला है ।

यह व्याख्या ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार जाननेसे अशुभसे मुक्ति नहीं हो सकती अर्थात् जन्म-मरणका बन्धन नहीं टूट सकता । अतः यह अर्थ मान लेनेसे भगवान्के कहे हुए ये वचन कि **'जिसको जानकर तू अशुभसे मुक्त हो जायगा ।'** कट जायँगे ।

कथम्, नित्यानाम् अनुष्ठानाद् अशुभात् स्याद् नाम मोक्षणं न तु तेषां फलाभावज्ञानात्। न हि नित्यानां फलाभावज्ञानम् अशुभमुक्तिफलत्वेन चोदितं नित्यकर्मज्ञानं वा। न च भगवता एव इह उक्तम्।

क्योंकि नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे तो शायद अशुभसे छुटकारा हो भी जाय, परन्तु उन नित्यकर्मोंका फल नहीं होता, इस ज्ञानसे तो मोक्ष हो ही नहीं सकता। क्योंकि नित्यकर्मोंका फल नहीं होता, यह ज्ञान या नित्यकर्मोंका ज्ञान अशुभसे मुक्त कर देनेवाला है ऐसा शास्त्रोंमें कहीं नहीं कहा और न भगवान्‌ने ही गीताशास्त्रमें कहीं ऐसा कहा है।

एतेन अकर्मणि कर्मदर्शनं प्रत्युक्तम्। न हि अकर्मणि कर्म इति दर्शनं कर्तव्यतया इह चोद्यते, नित्यस्य तु कर्तव्यतामात्रम्।

इसी युक्तिसे (उनके बतलाये हुए) अकर्ममें कर्मदर्शनका भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि यहाँ (गीतामें) नित्यकर्मोंके अभावरूप अकर्ममें कर्म देखनेको कहीं कर्तव्यरूपसे विधान नहीं किया, केवल नित्यकर्मकी कर्तव्यताका विधान है।

न च अकरणाद् नित्यस्य प्रत्यवायो भवति इति विज्ञानात् किंचित् फलं स्यात्। न अपि नित्याकरणं ज्ञेयत्वेन चोदितम्।

इसके सिवा 'नित्यकर्म न करनेसे पाप होता है' ऐसा जान लेनेसे ही कोई फल नहीं हो सकता। और यह नित्यकर्मका न करनारूप अकर्म शास्त्रोंमें कोई जाननेयोग्य विषय भी नहीं बताया गया है।

न अपि कर्म अकर्म इति मिथ्यादर्शनाद् अशुभाद् मोक्षणं बुद्धिमत्त्वं युक्तता कृत्स्नकर्मकृत्वादि च फलम् उपपद्यते स्तुतिः वा।

तथा इस प्रकार दूसरे टीकाकारोंके माने हुए 'कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शन' रूप इस मिथ्यादर्शनसे 'अशुभसे मुक्ति' 'बुद्धिमत्ता' 'युक्तता' 'सर्व-कर्म-कर्तृत्व' इत्यादि फल भी सम्भव नहीं और ऐसे मिथ्याज्ञानकी स्तुति भी नहीं बन सकती।

मिथ्याज्ञानम् एव हि साक्षाद् अशुभरूपं कुतः अन्यस्माद् अशुभाद् मोक्षणम्, न हि तमः तमसो निवर्तकं भवति।

जब कि मिथ्याज्ञान स्वयं ही अशुभरूप है तब वह दूसरे अशुभसे किसीको कैसे मुक्त कर सकेगा? क्योंकि अन्धकार (कभी) अन्धकारका नाशक नहीं हो सकता।

ननु कर्मणि यद् अकर्मदर्शनम् अकर्मणि वा कर्मदर्शनं न तद् मिथ्याज्ञानं किं तर्हि गौणं फलभावाभावनिमित्तम्।

पू०—यहाँ जो कर्ममें अकर्म देखना और अकर्ममें कर्म देखना (उन टीकाकारोंने) बतलाया है, वह मिथ्याज्ञान नहीं है किन्तु फलके होने और न होनेके निमित्तसे गौणरूपसे देखना है।

न, कर्माकर्मविज्ञानाद् अपि गौणात् फलस्य अश्रवणात्। न अपि श्रुतहान्यश्रुतपरिकल्पनया कश्चिद् विशेषो लभ्यते।

उ०—यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि गौणरूपसे कर्मको अकर्म और अकर्मको कर्म जान लेनेसे भी कोई लाभ नहीं सुना गया। इसके सिवा श्रुतिसिद्ध बातको छोड़कर श्रुतिविरुद्ध बातकी कल्पना करनेमें कोई विशेषता भी नहीं दिखलायी देती।

स्वशब्देन अपि शक्यं वक्तुं नित्यकर्मणां फलं न अस्ति अकरणात् च तेषां नरकपातः स्याद् इति तत्र व्याजेन परव्यामोहरूपेण कर्मणि अकर्म यः पश्येद् इत्यादिना किम् ।

(भगवान्‌को यदि यही अभीष्ट होता तो वे) उसी प्रकारके शब्दोंसे भी स्पष्ट कह सकते थे कि 'नित्य-कर्मोंका कोई फल नहीं है और उनके न करनेसे नरक-प्राप्ति होती है ।' फिर इस प्रकार 'कर्ममें जो अकर्म देखता है' इत्यादि दूसरोंको मोहित करनेवाले मायायुक्त वचन कहनेसे क्या प्रयोजन था ।

तत्र एवं व्याचक्षाणेन भगवता उक्तं वाक्यं लोकव्यामोहार्थम् इति व्यक्तं कल्पितं स्यात् ।

इस प्रकार उपर्युक्त अर्थ करनेवालोंका तो स्पष्ट ही यह मानना हुआ कि 'भगवान्‌द्वारा कहे हुए वचन संसारको मोहित करनेके लिये है ।'

न च एतत् छद्मरूपेण वाक्येन रक्षणीयं वस्तु, न अपि शब्दान्तरेण पुनः पुनः उच्यमानं सुबोधं स्याद् इत्येवं वक्तुं युक्तम् ।

इसके सिवा न तो यह कहना ही उचित है कि यह नित्यकर्म-अनुष्ठानरूप विषय मायायुक्त वचनोंसे गुप्त रखनेयोग्य है और न यही कहना ठीक है कि (यह विषय बड़ा गहन है इसलिये) बारंबार दूसरे-दूसरे शब्दोंद्वारा कहनेसे सुबोध होगा ।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इति अत्र हि स्फुटतर उक्तः अर्थो न पुनः वक्तव्यो भवति ।

क्योंकि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इस श्लोकमें स्पष्ट कहे हुए अर्थको फिर कहनेकी आवश्यकता नहीं होती ।

सर्वत्र च प्रशस्तं बोद्धव्यं च कर्तव्यम् एव न निष्प्रयोजनं बोद्धव्यम् इति उच्यते ।

तथा सभी जगह जो बात करनेयोग्य होती है, वही प्रशंसनीय और जाननेयोग्य बतलायी जाती है । निरर्थक बातको 'जाननेयोग्य है' ऐसा नहीं कहा जाता ।

न च मिथ्याज्ञानं बोद्धव्यं भवति तत्प्रत्युपस्थापितं वा वस्त्वाभासम् ।

मिथ्याज्ञान या उसके द्वारा स्थापित की हुई आभासमात्र वस्तु जाननेयोग्य नहीं हो सकती ।

न अपि नित्यानाम् अकरणाद् अभावात् प्रत्यवायभावोत्पत्तिः *'नासतो विद्यते भावः'* इति वचनात् । *'कथमसतः सज्जायेत'* (छा० उ० ६ । २ । २) इति च दर्शितम् ।

इसके सिवा नित्यकर्मोंके न करनेरूप अभावसे प्रत्यवायरूप भावकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती । क्योंकि 'नासतो विद्यते भावः' इत्यादि भगवान्‌के वाक्य है तथा 'असत्‌से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है ?' इत्यादि श्रुतिवाक्य भी पहले दिखलाये जा चुके हैं ।

असतः सज्जन्मप्रतिषेधाद् असतः सदुत्पत्तिं ब्रुवता असद् एव सद् भवेत् सत् च असद् भवेद् इति उक्तं स्यात् । तत् च अयुक्तं सर्वप्रमाणविरोधात् ।

इस प्रकार असत्‌से सत्‌की उत्पत्तिका निषेध कर दिया जानेपर भी जो असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति बतलाते हैं, उनका तो यह कहना हुआ कि असत् तो सत् होता है और सत् असत् होता है, परन्तु यह सब प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेके कारण अयुक्त है ।

न च निष्फलं विदध्यात् कर्म शास्त्रं दुःखस्वरूपत्वाद् दुःखस्य च बुद्धिपूर्वकतया कार्यत्वानुपपत्तेः ।

तदकरणे च नरकपाताभ्युपगमे अनर्थाय एव उभयथा अपि करणे अकरणे च शास्त्रं निष्फलं कल्पितं स्यात् ।

स्वाभ्युपगमविरोधः च नित्यं निष्फलं कर्म इति अभ्युपगम्य मोक्षफलाय इति ब्रुवतः ।

तस्माद् यथाश्रुत एव अर्थः 'कर्मणि अकर्म यः' इत्यादेः, तथा च व्याख्यातः अस्माभिः श्लोकः ॥ १८ ॥

तथा शास्त्र भी निरर्थक कर्मोंका विधान नहीं कर सकता, क्योंकि सभी कर्म (परिश्रमकी दृष्टिसे) दुःखरूप है और जान-बूझकर (बिना प्रयोजन) किसीका भी दुःखमें प्रवृत्त होना सम्भव नहीं ।

तथा उन नित्यकर्मोंको न करनेसे नरकप्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रका आशय मान लेनेपर तो यह मानना हुआ कि कर्म करने और न करनेमें दोनो प्रकारसे शास्त्र अनर्थका ही कारण है, अतः व्यर्थ है ।

इसके सिवा, 'नित्यकर्मोंका फल नहीं है,' ऐसा मानकर फिर उनको मोक्षरूप फलके देनेवाला कहनेसे उन व्याख्याकारोंके मतमें स्ववचोविरोध भी होता है ।

सुतरां 'कर्मणि अकर्म यः पश्येत्' इत्यादि श्लोकका अर्थ जैसा (गुरुपरम्परासे) सुना गया है, वही ठीक है और हमने भी उसीके अनुसार इस श्लोककी व्याख्या की है ॥ १८ ॥

तद् एतत् कर्मणि अकर्मादिदर्शनं स्तूयते—

उपर्युक्त कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म-दर्शनकी स्तुति करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

यस्य यथोक्तदर्शिनः सर्वे यावन्तः समारम्भाः कर्माणि समारभ्यन्ते इति समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः कामैः तत्कारणैः च संकल्पैः वर्जिता मुधा एव चेष्टामात्रा अनुष्ठीयन्ते, प्रवृत्तेन चेत् लोकसंग्रहार्थं निवृत्तेन चेत् जीवनमात्रार्थम्,

तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं कर्मादौ अकर्मादिदर्शनं ज्ञानं तद् एव अग्निः तेन ज्ञानाग्निना दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि कर्माणि यस्य तम् आहुः परमार्थतः पण्डितं बुधा ब्रह्मविदः ॥ १९ ॥

जिनका प्रारम्भ किया जाता है उनका नाम समारम्भ है, इस व्युत्पत्तिसे सम्पूर्ण कर्मोंका नाम समारम्भ है । उपर्युक्त प्रकारसे 'कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म' देखनेवाले जिस पुरुषके समस्त समारम्भ (कर्म) कामनासे और कामनाके कारणरूप संकल्पोंसे भी रहित हो जाते हैं अर्थात् जिसके द्वारा बिना ही किसी अपने प्रयोजनके—यदि वह प्रवृत्तिमार्गवाला है तो लोकसंग्रहके लिये और निवृत्तिमार्गवाला है तो जीवन-यात्रा-निर्वाहके लिये—केवल चेष्टामात्र ही क्रिया होती है,

तथा कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शनरूप ज्ञानाग्निसे जिसके पुण्य-पापरूप सम्पूर्ण कर्म दग्ध हो गये हैं, ऐसे ज्ञानाग्नि-दग्ध-कर्मा पुरुषको ब्रह्मवेत्ताजन वास्तवमें पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

यः तु अकर्मादिदर्शी सः अकर्मादिदर्शनाद् एव निष्कर्मा संन्यासी जीवनमात्रार्थचेष्टः सन् कर्मणि न प्रवर्तते यद्यपि प्राग् विवेकतः प्रवृत्तः।

जो कर्ममे अकर्म और अकर्ममे कर्म देखनेवाला है, वह यदि विवेक होनेसे पूर्व कर्मोंमे लगा हो तो भी कर्ममे अकर्म और अकर्ममे कर्मका ज्ञान हो जानेसे केवल जीवन-निर्वाहमात्रके लिये चेष्टा करता हुआ कर्मरहित संन्यासी ही हो जाता है, फिर उसकी कर्मोंमे प्रवृत्ति नहीं होती।

यः तु प्रारब्धकर्मा सन् उत्तरकालम् उत्पन्नात्मसम्यग्दर्शनः स्यात् स कर्मणि प्रयोजनम् अपश्यन् ससाधनं कर्म परित्यजति एव।

अर्थात् जो पहले कर्म करनेवाला हो और पीछे जिसको आत्माका सम्यक् ज्ञान हुआ हो, ऐसा पुरुष कर्मोंमे कोई प्रयोजन न देखकर साधनोसहित कर्मोंका त्याग कर ही देता है।

स कुतश्चित् निमित्तात् कर्मपरित्यागासम्भवे सति कर्मणि तत्फले च सङ्गरहिततया स्वप्रयोजनाभावात् लोकसंग्रहार्थं पूर्ववत् कर्मणि प्रवृत्तः अपि न एव किंचित् करोति।

परन्तु किसी कारणसे कर्मोंका त्याग करना असम्भव होनेपर कोई ऐसा पुरुष यदि कर्मोंमे और उनके फलमे आसक्तिरहित होकर केवल लोकसंग्रहके लिये पहलेके सदृश कर्म करता रहता है तो भी निजका प्रयोजन न रहनेके कारण (वास्तवमे) वह कुछ भी नहीं करता।

ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वात् तदीयं कर्म अकर्म एव सम्पद्यते इति एतम् अर्थं दर्शयिष्यन् आह—

क्योंकि ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्मीभूत हो जानेके कारण उसके कर्म अकर्म ही हो जाते है। इसी आशयको दिखानेकी इच्छासे भगवान् कहते है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥ २०॥

त्यक्त्वा कर्मसु अभिमानं फलासङ्गं च यथोक्तेन ज्ञानेन नित्यतृप्तो निराकाङ्क्षो विषयेषु इत्यर्थः।

उपर्युक्त ज्ञानके प्रभावसे कर्मोंमे अभिमान और फलासक्तिका त्याग करके जो नित्यतृप्त है अर्थात् विषय-कामनासे रहित हो गया है,

निराश्रय आश्रयरहितः। आश्रयो नाम यदाश्रित्य पुरुषार्थं सिसाधयिषति, दृष्टादृष्टेष्टफलसाधनाश्रयरहित इत्यर्थः।

तथा आश्रयसे रहित है। जिस फलका आश्रय लेकर मनुष्य पुरुषार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा किया करता है उसका नाम आश्रय है, ऐसे इस लोक और परलोकके इष्टफल-साधनरूप आश्रयसे जो रहित है,

विदुषा क्रियमाणं कर्म परमार्थतः अकर्म एव तस्य निष्क्रियात्मदर्शनसम्पन्नत्वात्।

उस ज्ञानीद्वारा किये हुए कर्म वास्तवमे अकर्म ही हैं क्योंकि वह निष्क्रिय आत्माके ज्ञानसे सम्पन्न है।

तेन एवं भूतेन प्रयोजनाभावात् ससाधनं कर्म परित्यक्तव्यम् एव इति प्राप्ते,

अपना कोई प्रयोजन न रहनेके कारण ऐसे पुरुषको साधनोंसहित कर्मोंका परित्याग कर ही देना चाहिये, ऐसी कर्तव्यता प्राप्त होनेपर भी,

ततो निर्गमासम्भवात् लोकसंग्रहचिकीर्षया शिष्टविगर्हणापरिजिहीर्षया वा पूर्ववत् कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि निष्क्रियात्मदर्शनसंपन्नत्वाद् न एव किंचित् करोति सः ॥ २० ॥

उन कर्मोंसे निवृत्त होना असम्भव होनेके कारण लोकसंग्रहकी इच्छासे या श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा की जानेवाली निन्दाको दूर करनेकी इच्छासे यदि (कोई ज्ञानी) पहलेकी तरह कर्मोंमें प्रवृत्त है तो भी वह निष्क्रिय आत्माके ज्ञानसे सम्पन्न होनेके कारण वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥

यः पुनः पूर्वोक्तविपरीतः प्राग् एव कर्मारम्भाद् ब्रह्मणि सर्वान्तरे प्रत्यगात्मनि निष्क्रिये संजातात्मदर्शनः,

परन्तु जो उससे विपरीत है अर्थात् उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाला नहीं है, कर्मोंका आरम्भ करनेसे पहले (गृहस्थी न बनकर ब्रह्मचर्य आश्रममें) ही जिसका सबके अंदर व्यापक अन्तरात्मारूप निष्क्रिय ब्रह्ममें आत्मभाव प्रत्यक्ष हो गया है,

स दृष्टादृष्टेष्टविषयाशीर्विवर्जिततया दृष्टादृष्टार्थे कर्मणि प्रयोजनम् अपश्यन् ससाधनं कर्म संन्यस्य शरीरयात्रामात्रचेष्टो यतिः ज्ञाननिष्ठो मुच्यते इति एतम् अर्थं दर्शयितुम् आह—

वह केवल शरीरयात्राके लिये चेष्टा करनेवाला ज्ञाननिष्ठ यति, इस लोक और परलोकके समस्त इच्छित भोगोंकी आशासे रहित होनेके कारण, इस लोक और परलोकके भोगरूप फल देनेवाले कर्मोंमें अपना कोई भी प्रयोजन न देखकर कर्मोंको और कर्मोंके साधनोंको त्यागकर मुक्त हो जाता है । इसी भावको दिखलानेके लिये (अगला श्लोक) कहते हैं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

निराशीः निर्गता आशिषो यस्मात् स निराशीः यतचित्तात्मा चित्तम् अन्तःकरणम् आत्मा बाह्यः कार्यकरणसंघातः तौ उभौ अपि यतौ संयतौ येन स यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः त्यक्तः सर्वः परिग्रहो येन स त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

जिसकी सम्पूर्ण आशाएँ दूर हो गयी हैं, वह 'निराशीः' है, जिसने चित्त यानी अन्तःकरणको और आत्मा यानी बाह्य कार्य-करणके संघातरूप शरीरको— इन दोनोंको भलीप्रकार अपने वशमें कर लिया है वह 'यतचित्तात्मा' कहलाता है, जिसने समस्त परिग्रहका अर्थात् भोगोंकी सामग्रीका सर्वथा त्याग कर दिया है, वह 'त्यक्तसर्वपरिग्रह' है ।

शारीरं शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं केवलं तत्र अपि अभिमानवर्जितं कर्म कुर्वन् न आप्नोति न प्राप्नोति किल्बिषम् अनिष्टरूपं पापं धर्मं च । धर्मः अपि मुमुक्षोः किल्बिषम् एव बन्धापादकत्वात् ।

ऐसा पुरुष केवल शरीरस्थितिमात्रके लिये किये जानेवाले और अभिमानरहित कर्मोंको करता हुआ पापको अर्थात् अनिष्टरूप पुण्य-पाप दोनोंको नहीं प्राप्त होता । बन्धनकारक होनेसे धर्म भी मुमुक्षुके लिये तो पाप ही है ।

किं च शारीरं केवलं कर्म इत्यत्र किं शरीरनिर्वर्त्यं शारीरं कर्म अभिप्रेतम् आहोस्वित् शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं शारीरं कर्म इति ।

यहाँ 'शारीरं केवलं कर्म' इस पदमें शरीरद्वारा होनेवाले कर्म शारीरिक कर्म माने गये हैं, या शरीरनिर्वाहमात्रके लिये किये जानेवाले कर्म शारीरिक कर्म माने गये हैं ?

किं च अतो यदि शरीरनिर्वर्त्यं शारीरं कर्म यदि वा शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं शारीरम् इति, उच्यते—

चाहे शरीरद्वारा होनेवाले कर्म शारीरिक कर्म माने जायँ या शरीरनिर्वाहमात्रके लिये किये जानेवाले कर्म 'शारीरिक कर्म' माने जायँ, इस विवेचनसे क्या प्रयोजन है ! इसपर कहते हैं—

यदा शरीरनिर्वर्त्यं कर्म शारीरम् अभिप्रेतं स्यात् तदा दृष्टादृष्टप्रयोजनं कर्म प्रतिषिद्धम् अपि शरीरेण कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम् इति ब्रुवतो विरुद्धाभिधानं प्रसज्येत । शास्त्रीयं च कर्म दृष्टादृष्टप्रयोजनं शरीरेण कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम् इति अपि ब्रुवतः अप्राप्तप्रतिषेधप्रसङ्गः ।

जो शरीरद्वारा होनेवाले कर्मोंका नाम शारीरिक कर्म मान लिया जाय तो इस लोकमे या परलोकमे फल देनेवाले निषिद्ध कर्मोंको भी शरीरद्वारा करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहनेसे भगवान्के कथनमे विरुद्ध विधानका दोष आता है । और इस लोक या परलोकमे फल देनेवाले, शास्त्रविहित कर्मोंको शरीरद्वारा करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहनेसे भी विना प्राप्त हुए दोषके प्रतिषेध करनेका प्रसङ्ग आ जाता है ।

शारीरं कर्म कुर्वन् इति विशेषणात् केवलशब्दप्रयोगात् च वाङ्मनसनिर्वर्त्यं कर्म विधिप्रतिषेधविषयं धर्माधर्मशब्दवाच्यं कुर्वन् प्राप्नोति किल्बिषम् इति उक्तं स्यात् ।

तथा 'शारीरिक कर्म करता हुआ' इस विशेषणसे और 'केवल' शब्दके प्रयोगसे (उपर्युक्त मान्यताके अनुसार) भगवान्का यह कहना हो जाता है कि (शरीरके सिवा) मन-वाणीद्वारा किये जानेवाले विहित और प्रतिषिद्ध कर्मोंको, जो कि धर्म और अधर्म नामसे कहे जाते है, करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त होता है ।

तत्र अपि वाङ्मनसाभ्यां विहितानुष्ठानपक्षे किल्बिषप्राप्तिवचनं विरुद्धम् आपद्येत । प्रतिषिद्धसेवापक्षे अपि भूतार्थानुवादमात्रम् अनर्थकं स्यात् ।

उसमें भी 'मन-वाणीद्वारा विहित कर्मोंको करता हुआ पापको प्राप्त होता है,' यह कहना तो विरुद्ध विधान होगा, और 'निषिद्ध कर्मोंको करता हुआ पापको प्राप्त होता है,' यह कहना अनुवादमात्र होनेसे व्यर्थ होगा ।

यदा तु शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं शारीरं कर्म अभिप्रेतं भवेत् तदा दृष्टादृष्टप्रयोजनं कर्म विधिप्रतिषेधगम्यं शरीरवाङ्मनसनिर्वर्त्यम् अन्यद् अकुर्वन् तैः एव शरीरादिभिः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं केवलशब्दप्रयोगाद् अहं करोमि इति अभिमानवर्जितः शरीरादिचेष्टामात्रं लोकदृष्ट्या कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम् ।

परन्तु जब शरीरनिर्वाहमात्रके लिये किये जानेवाले कर्म शारीरिक कर्म मान लिये जायँगे, तब इसका यह अर्थ हो जायगा कि इस लोक या परलोकके भोग ही जिनका प्रयोजन है, जो विधि-निषेधात्मक शास्त्रोंद्वारा जाने जाते हैं, जो शरीर, मन या वाणीद्वारा किये जाते हैं, ऐसे अन्य कर्मोंको न करता हुआ उन शरीर, मन या वाणीसे, केवल शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक कर्म लोकदृष्टिसे करता हुआ पुरुष किल्बिषको प्राप्त नहीं होता । यहाँ 'केवल' शब्दके प्रयोगसे यह अभिप्राय है कि वह 'मैं करता हूँ' इस अभिमानसे रहित होकर केवल लोकदृष्टिसे ही शरीर, वाणी आदिकी चेष्टामात्र करता है ।

एवंभूतस्य पापशब्दवाच्यकिल्बिषप्राप्त्यसम्भवात् किल्बिषं संसारं न आप्नोति ।

ऐसे पुरुषको पापरूप किल्बिष प्राप्त होना तो असम्भव है, इसलिये यहाँ यह समझना चाहिये कि वह किल्बिषको यानी संसारको प्राप्त नहीं होता ।

ज्ञानाग्निदग्धसर्वकर्मत्वाद् अप्रतिबन्धेन मुच्यते एव इति ।

ज्ञानरूप अग्निद्वारा उसके समस्त कर्मोंका नाश हो जानेके कारण वह बिना किसी प्रतिबन्धके मुक्त ही हो जाता है ।

पूर्वोक्तसम्यग्दर्शनफलानुवाद एव एषः । एवम् 'शारीरं केवलं कर्म' इति अस्य अर्थपरिग्रहे निरवद्यं भवति ॥ २१ ॥

यह पहले कहे हुए यथार्थ आत्मज्ञानके फलका अनुवादमात्र है । 'शारीर केवलं कर्म' इस वाक्यका इस प्रकार अर्थ मान लेनेसे वह अर्थ निर्दोष सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यतेः अन्नादेः शरीरस्थितिहेतोः परिग्रहस्य अभावाद् याचनादिना शरीरस्थितौ कर्तव्यतायां प्राप्तायाम् '*अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया*' (बोधा० सू० २१।८।१२) इत्यादिना वचनेन अनुज्ञातं यतेः शरीरस्थितिहेतोः अन्नादेः प्राप्तिद्वारम् आविष्कुर्वन् आह—

जिसने समस्त संग्रहका त्याग कर दिया है ऐसे संन्यासीके पास शरीरनिर्वाहके कारणरूप अन्नादिका संग्रह नहीं होता, इसलिये उसको याचनादिद्वारा शरीरनिर्वाह करनेकी योग्यता प्राप्त हुई । इसपर **'बिना याचना किये, 'बिना संकल्पके अथवा बिना इच्छा किये प्राप्त हुए'** इत्यादि वचनोंसे जो शास्त्रमें संन्यासीके शरीरनिर्वाहके लिये अन्नादिकी प्राप्तिके द्वार बतलाये गये है, उनको प्रकट करते हुए कहते है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टः अप्रार्थितोपनतो लाभो यदृच्छालाभः तेन संतुष्टः संजातालंप्रत्ययः ।

जो बिना माँगे अपने-आप मिले हुए पदार्थसे संतुष्ट है अर्थात् उसीमे जिसके मनका यह भाव हो जाता है कि यही पर्याप्त है,

द्वन्द्वातीतो द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिः हन्यमानः अपि अविषण्णचित्तो द्वन्द्वातीत उच्यते ।

जो द्वन्द्वोंसे अतीत है अर्थात् शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे सताये जानेपर भी जिसके चित्तमे विषाद नहीं होता,

विमत्सरो विगतमत्सरो निर्वैरबुद्धिः समः तुल्यो यदृच्छालाभस्य सिद्धौ असिद्धौ च ।

जो ईर्ष्यासे रहित अर्थात् निर्वैर-बुद्धिवाला है और जो अपने-आप प्राप्त हुए लाभकी सिद्धि-असिद्धिमें भी सम रहता है ।

य एवंभूतो यतिः अन्नादेः शरीरस्थितिहेतोः लाभालाभयोः समो हर्षविषादवर्जितः कर्मादौ अकर्मादिदर्शी यथाभूतात्मदर्शननिष्ठः शरीर-

जो ऐसा शरीरस्थितिके हेतुरूप अन्नादिके प्राप्त होने या न होनेमें भी हर्ष-शोकसे रहित, समदर्शी है और कर्मादिमें अकर्मादि देखनेवाला, यथार्थ आत्म-दर्शननिष्ठ, एवं शरीरस्थितिमात्रके लिये किये जानेवाले

स्थितिमात्रप्रयोजने भिक्षाटनादिकर्मणि शरीरादिनिर्वर्त्ये न एव किंचित् करोमि अहम् *'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'* इति एवं सदा संपरिचक्षाण आत्मनः कर्तृत्वाभावं पश्यन् न एव किंचिद् भिक्षाटनादिकं कर्म करोति ।

लोकव्यवहारसामान्यदर्शनेन तु लौकिकैः आरोपितकर्तृत्वे भिक्षाटनादौ कर्मणि कर्ता भवति स्वानुभवेन तु शास्त्रप्रमाणादिजनितेन अकर्ता एव ।

स एवं पराध्यारोपितकर्तृत्वः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिकं कर्म कृत्वा अपि न निबध्यते, बन्धहेतोः कर्मणः सहेतुकस्य ज्ञानाग्निना दग्धत्वाद् इति उक्तानुवाद एव एषः ॥ २२ ॥

और शरीरादिद्वारा होनेवाले भिक्षाटनादि कर्मोंमे भी मै कुछ नहीं करता **'गुण ही गुणोंमें बर्त रहे है'** इस प्रकार सदा देखनेवाला है वह यति अपनेमे कर्तापनका अभाव देखनेसे अर्थात् आत्माको अकर्ता समझ लेनेसे वास्तवमे भिक्षाटनादि कुछ भी कर्म नहीं करता है ।

ऐसा पुरुष लोकव्यवहारकी साधारण दृष्टिसे तो सांसारिक पुरुषोद्वारा आरोपित किये हुए कर्तापनके कारण भिक्षाटनादि कर्मोंका कर्ता होता है । परन्तु शास्त्रप्रमाण आदिसे उत्पन्न अपने अनुभवसे (वस्तुतः) वह अकर्ता ही रहता है ।

इस प्रकार दूसरोंद्वारा जिसपर कर्तापनका अध्यारोप किया गया है, ऐसा वह पुरुष शरीरनिर्वाहमात्रके लिये किये जानेवाले भिक्षाटनादि कर्मोंको करता हुआ भी नहीं बँधता । क्योंकि ज्ञानरूप अग्निद्वारा उसके (समस्त) बन्धनकारक कर्म हेतुसहित भस्म हो चुके है । यह पहले कहे हुएका ही अनुवादमात्र है ॥ २२ ॥

'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' इति अनेन श्लोकेन यः प्रारब्धकर्मा सन् यदा निष्क्रियब्रह्मात्मदर्शनसंपन्नः स्यात् तदा तस्य आत्मनः कर्तृकर्मप्रयोजनाभावदर्शिनः कर्मपरित्यागे प्राप्ते कुतश्चिद् निमित्तात् तदसम्भवे सति पूर्ववत् तस्मिन् कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि न एव किंचित् करोति स इति कर्माभावः प्रदर्शितः । यस्य एवं कर्माभावो दर्शितः तस्य एव—

जो कर्म करना प्रारम्भ कर चुका है, ऐसा पुरुष जब कर्म करते-करते इस ज्ञानसे सम्पन्न हो जाता है कि 'निष्क्रिय ब्रह्म ही आत्मा है' तब अपने कर्ता, कर्म और प्रयोजनादिका अभाव देखनेवाले उस पुरुषके लिये कर्मोंका त्याग कर देना ही उचित होता है । किन्तु किसी कारणवश कर्मोंका त्याग करना असम्भव होनेपर यदि वह पहलेकी तरह उन कर्मोंमे लगा रहे तो भी, वास्तवमे कुछ भी नहीं करता । इस प्रकार **'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्'** इस श्लोकसे (ज्ञानीके) कर्मोंका अभाव (अकर्मत्व) दिखलाया जा चुका है । जिस पुरुषके कर्मोंका इस प्रकार अभाव दिखाया गया है, उसीके (विषयमे अगला श्लोक कहते हैं)—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

गतसङ्गस्य सर्वतो निवृत्तासक्तेः मुक्तस्य निवृत्तधर्माधर्मादिबन्धनस्य ज्ञानावस्थितचेतसो ज्ञाने एव अवस्थितं चेतो यस्य सः अयं

जिस पुरुषकी सब ओरसे आसक्ति निवृत्त हो चुकी है, जिसके पुण्य-पापरूप बन्धन छूट गये हैं, जिसका चित्त निरन्तर ज्ञानमे ही स्थित है, ऐसे केवल यज्ञसम्पादनके लिये ही कर्मोंका आचरण

ज्ञानावस्थितचेताः तस्य यज्ञाय यज्ञनिर्वृत्त्यर्थम् आचरतो निर्वर्तयतः कर्म समग्रं सहाग्रेण फलेन वर्तते इति समग्रं कर्म तत् समग्रं प्रविलीयते विनश्यति इत्यर्थः ॥ २३ ॥

करनेवाले उस सङ्गहीन मुक्त और ज्ञानावस्थित-चित्त पुरुषके समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं। 'अग्र' शब्द फलका वाचक है। उसके सहित कर्मोंको समग्र कर्म कहते है, अत. यह अभिप्राय हुआ कि उसके फलसहित समस्त कर्म नष्ट हो जाते है ॥ २३ ॥

कस्मात् पुनः कारणात् क्रियमाणं कर्म स्वकार्यारम्भम् अकुर्वत् समग्रं प्रविलीयते इति उच्यते यतः—

किये जानेवाले कर्म अपना कार्य आरम्भ किये विना ही (कुछ फल दिये विना ही) किस कारणसे फलसहित विलीन हो जाते है? इसपर कहते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

ब्रह्म अर्पणं येन करणेन ब्रह्मविद् हविः अग्नौ अर्पयति तद् ब्रह्म एव इति पश्यति तस्य आत्मव्यतिरेकेण अभावं पश्यति।

ब्रह्मवेत्ता पुरुष जिस साधनद्वारा अग्निमे हवि अर्पण करता है, उस साधनको ब्रह्मरूप ही देखा करता है, अर्थात आत्माके सिवा उसका अभाव देखता है।

यथा शुक्तिकायां रजताभावं पश्यति तद् उच्यते ब्रह्म एव अर्पणम् इति, यथा यद् रजतं तत् शुक्तिका एव इति। ब्रह्म, अर्पणम् इति असमस्ते पदे।

जैसे (सीपको जाननेवाला) सीपमे चाँदीका अभाव देखता है 'ब्रह्म ही अर्पण है' इस पदसे भी वही बात कही जाती है। अर्थात् जैसे यह समझता है कि जो चाँदीके रूपमे दीख रही है वह सीप ही है। (वैसे ही ब्रह्मवेत्ता भी समझता है कि जो अर्पण दीखता है वह ब्रह्म ही है) ब्रह्म और अर्पण—यह दोनो पद अलग-अलग है।

यद् अर्पणबुद्ध्या गृह्यते लोके तद् अस्य ब्रह्मविदो ब्रह्म एव इत्यर्थः।

अभिप्राय यह कि संसारमे जो अर्पण माने जाते हैं वे स्रुक्, स्रुव आदि सब पदार्थ उस ब्रह्मवेत्ताकी दृष्टिमे ब्रह्म ही है।

ब्रह्म हविः तथा यद् हविर्बुद्ध्या गृह्यमाणं तद् ब्रह्म एव अस्य।

वैसे ही जो वस्तु हविरूपसे मानी जाती है वह भी उसकी दृष्टिमें ब्रह्म ही होता है।

तथा ब्रह्माग्नौ इति समस्तं पदम्।

'ब्रह्माग्नौ' यह पद समासयुक्त है।

अग्निः अपि ब्रह्म एव यत्र हूयते ब्रह्मणा कर्त्रा ब्रह्म एव कर्ता इत्यर्थः। यत् तेन हुतं हवनक्रिया तद् ब्रह्म एव।

इसलिये यह अर्थ हुआ कि ब्रह्मरूप कर्ताद्वारा जिसमे हवन किया जाता है वह अग्नि भी ब्रह्म ही है और वह कर्ता भी ब्रह्म ही है और जो उसके द्वारा हवनरूप क्रिया की जाती है वह भी ब्रह्म ही है।

यत् तेन गन्तव्यं फलं तद् अपि ब्रह्म एव। ब्रह्मकर्मसमाधिना, ब्रह्म एव कर्म ब्रह्मकर्म तस्मिन्

उस ब्रह्मकर्ममे स्थित हुए पुरुषद्वारा प्राप्त करनेयोग्य जो फल है वह भी ब्रह्म ही है। अर्थात् ब्रह्मरूप कर्ममें

समाधिः यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिः तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना ब्रह्म एव गन्तव्यम् ।

एवं लोकसंग्रहं चिकीर्षुणा अपि क्रियमाणं कर्म परमार्थतः अकर्म ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितत्वात् ।

एवं सति निवृत्तकर्मणः अपि सर्वकर्मसंन्यासिनः सम्यग्दर्शनस्तुत्यर्थं यज्ञत्वसंपादनं ज्ञानस्य सुतराम् उपपद्यते, यद् अर्पणादि अधियज्ञे प्रसिद्धं तद् अस्य अध्यात्मं ब्रह्म एव परमार्थदर्शिन इति ।

अन्यथा सर्वस्य ब्रह्मत्वे अर्पणादीनाम् एव विशेषतो ब्रह्मत्वाभिधानम् अनर्थकं स्यात् ।

तस्माद् ब्रह्म एव इदं सर्वम् इति अभिजानतो विदुषः सर्वकर्माभावः ।

कारकबुद्ध्यभावात् च । न हि कारकबुद्धिरहितं यज्ञाख्यं कर्म दृष्टम् ।

सर्वम् एव अग्निहोत्रादिकं कर्म शब्दसमर्पितदेवताविशेषसंप्रदानादिकारकबुद्धिमत् कर्त्रभिमानफलाभिसंधिमत् च दृष्टम् ।

न उपमृदितक्रियाकारकफलभेदबुद्धिमत् कर्तृत्वाभिमानफलाभिसंधिरहितं वा ।

इदं तु ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितार्पणादिकारकक्रियाफलभेदबुद्धि कर्म अतः अकर्म एव तत् ।

जिसके चित्तका समाधान हो चुका है उस पुरुषद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य जो फल है वह भी ब्रह्म ही है।

इस प्रकार लोकसंग्रह करना चाहनेवाले पुरुषद्वारा किये हुए कर्म भी ब्रह्मबुद्धिसे बाधित होनेके कारण अर्थात् फल उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित कर दिये जानेके कारण वास्तवमे अकर्म ही हैं।

ऐसा अर्थ मान लेनेपर कर्मोंको छोड़ देनेवाले कर्म-सन्यासीके ज्ञानको भी यथार्थ ज्ञानकी स्तुतिके लिये यज्ञरूप समझना भली प्रकार बन सकता है, अधियज्ञमे जो स्रुवादि वस्तुएँ प्रसिद्ध है वे सब इस यथार्थ ज्ञानी संन्यासीके (सम्यक्-ज्ञानरूप) अध्यात्मयज्ञमे ब्रह्म ही हैं।

उपर्युक्त अर्थ नहीं माननेसे 'वास्तवमे सब ही ब्रह्मरूप होनेके कारण केवल स्रुव आदिको ही विशेषतासे ब्रह्मरूप बतलाना व्यर्थ होगा।

सुतरां 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है' इस प्रकार समझनेवाले ज्ञानीके लिये वास्तवमे सब कर्मोंका अभाव ही हो जाता है।

तथा उसके अन्तःकरणमे (क्रिया, फल आदि) कारकसम्बन्धी भेदबुद्धिका अभाव होनेके कारण भी यही सिद्ध होता है। क्योंकि कोई भी यज्ञ नामक कर्म कारकसम्बन्धी भेदबुद्धिसे रहित नहीं देखा गया।

अभिप्राय यह है कि अग्निहोत्रादि सभी कर्म, (इन्द्राय, वरुणाय आदि) शब्दोंद्वारा हवि आदि द्रव्य जिनके अर्पण किये जाते है, उन देवताविशेषरूप सम्प्रदान आदि कारकबुद्धिवाले तथा कर्तापनके अभिमानसे और फलकी इच्छासे युक्त देखे गये हैं।

जिसमेसे क्रिया, कारक और फलसम्बन्धी भेदबुद्धि नष्ट हो गयी हो तथा जो कर्तापनके अभिमानसे और फलकी इच्छासे रहित हो ऐसा यज्ञ नहीं देखा गया।

परन्तु यह उपर्युक्त कर्म तो ऐसा है कि जिसमें सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेके कारण, अर्पणादि कारक, क्रिया और फलसम्बन्धी भेदबुद्धि नष्ट हो गयी है। इसलिये यह अकर्म ही है।

तथा च दर्शितम् *'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः' 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'* इत्यादिभिः ।

यही बात, 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः' 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इत्यादि श्लोकोंद्वारा भी दिखलायी गयी है ।

तथा च दर्शयन् तत्र तत्र क्रियाकारकफल-भेदबुद्ध्युपमर्दं करोति ।

और इसी प्रकार दिखलाते हुए भगवान् जगह-जगह क्रिया, कारक और फलसम्बन्धी भेदबुद्धिका निषेध कर रहे हैं ।

दृष्टा च काम्याग्निहोत्रादौ कामोपमर्देन काम्याग्निहोत्रादिहानिः ।

देखा भी गया है कि सकाम अग्निहोत्रादिमें कामना न रहनेपर वे सकाम अग्निहोत्रादि नहीं रहते । (उनकी सकामता नष्ट हो जाती है ।)

तथा मतिपूर्वकामतिपूर्वकादीनां कर्मणां कार्यविशेषस्य आरम्भकत्वं दृष्टम् ।

तथा यह भी देखा गया है कि जान-बूझकर किये हुए और अनजानमे किये हुए कर्म भिन्न-भिन्न कार्योंके आरम्भक होते है अर्थात् उनका फल अलग-अलग होता है ।

तथा इह अपि ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितार्पणादि-कारकक्रियाफलभेदबुद्धेः बाह्यचेष्टामात्रेण कर्म अपि विदुषः अकर्म संपद्यते । अत उक्तं समग्रं प्रविलीयते इति ।

वैसे ही यहाँ भी जिस पुरुषकी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेसे (स्रुव, हवि आदिमें) क्रिया, कारक और फलसम्बन्धी भेदबुद्धि नष्ट हो गयी है, उस ज्ञानी पुरुषके बाह्य चेष्टामात्रसे होनेवाले कर्म भी अकर्म हो जाते हैं । इसीलिये कहा है कि 'उसके फलसहित कर्म विलीन हो जाते हैं ।'

अत्र केचिद् आहुः यद् ब्रह्म तदर्पणादीनि । ब्रह्म एव किल अर्पणादिना पञ्चविधेन कारकात्मना व्यवस्थितं सत् तद् एव कर्म करोति । तत्र न अर्पणादिबुद्धिः निवर्त्यते किं तु अर्पणादिषु ब्रह्मबुद्धिः आधीयते । यथा प्रतिमादौ विष्ण्वादिबुद्धिः यथा वा नामादौ ब्रह्मबुद्धिः इति ।

इस विषयमे कोई-कोई टीकाकार कहते हैं कि जो ब्रह्म है वही स्रुव आदि है अर्थात् ब्रह्म ही स्रुव आदि पाँच प्रकारके कारकोंके रूपमें स्थित है और वही कर्म किया करता है, (उसके सिद्धान्तानुसार) उपर्युक्त यज्ञमे स्रुव आदि बुद्धि निवृत्त नहीं की जाती किन्तु स्रुव आदिमें ब्रह्मबुद्धि स्थापित की जाती है, जैसे कि मूर्ति आदिमें विष्णु आदि देव-बुद्धि या नाम आदिमें ब्रह्मबुद्धि की जाती है ।

सत्यम् एवम् अपि स्याद् यदि ज्ञानयज्ञ-स्तुत्यर्थं प्रकरणं न स्यात् ।

ठीक है, यदि यह प्रकरण ज्ञानयज्ञकी स्तुतिके लिये न होता तो यह अर्थ भी हो सकता था ।

अत्र तु सम्यग्दर्शनं ज्ञानयज्ञशब्दितम् अनेकान् यज्ञशब्दितान् क्रियाविशेषान् उपन्यस्य *'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः'* इति ज्ञानं स्तौति ।

परन्तु इस प्रकरणमें तो यज्ञ नामसे कहे जानेवाले अलग-अलग बहुत-से क्रिया-भेदोंको कहकर फिर 'द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ कल्याणकर है' इस कथनद्वारा ज्ञानयज्ञ शब्दसे कथित सम्यक् दर्शनकी स्तुति करते हैं ।

समाधिः यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिः तेन ब्रह्म-कर्मसमाधिना ब्रह्म एव गन्तव्यम् ।

एवं लोकसंग्रहं चिकीर्षुणा अपि क्रियमाणं कर्म परमार्थतः अकर्म ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितत्वात् ।

एवं सति निवृत्तकर्मणः अपि सर्वकर्म-संन्यासिनः सम्यग्दर्शनस्तुत्यर्थं यज्ञत्वसंपादनं ज्ञानस्य सुतराम् उपपद्यते, यद् अर्पणादि अधियज्ञे प्रसिद्धं तद् अस्य अध्यात्मं ब्रह्म एव परमार्थदर्शिन इति ।

अन्यथा सर्वस्य ब्रह्मत्वे अर्पणादीनाम् एव विशेषतो ब्रह्मत्वाभिधानम् अनर्थकं स्यात् ।

तस्माद् ब्रह्म एव इदं सर्वम् इति अभिजानतो विदुषः सर्वकर्माभावः ।

कारकबुद्ध्यभावाद् च । न हि कारकबुद्धि-रहितं यज्ञाख्यं कर्म दृष्टम् ।

सर्वम् एव अग्निहोत्रादिकं कर्म शब्दसमर्पित-देवताविशेषसंप्रदानादिकारकबुद्धिमत् कर्त्र-भिमानफलाभिसंधिमत् च दृष्टम् ।

न उपमृदितक्रियाकारकफलभेदबुद्धिमत् कर्तृत्वाभिमानफलाभिसंधिरहितं वा ।

इदं तु ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितार्पणादिकारक-क्रियाफलभेदबुद्धि कर्म अतः अकर्म एव तत् ।

जिसके चित्तका समाधान हो चुका है उस पुरुषद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य जो फल है वह भी ब्रह्म ही है।

इस प्रकार लोकसंग्रह करना चाहनेवाले पुरुषद्वारा किये हुए कर्म भी ब्रह्मबुद्धिसे बाधित होनेके कारण अर्थात् फल उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित कर दिये जानेके कारण वास्तवमे अकर्म ही है ।

ऐसा अर्थ मान लेनेपर कर्मोंको छोड़ देनेवाले कर्म-सन्यासीके ज्ञानको भी यथार्थ ज्ञानकी स्तुतिके लिये यज्ञरूप समझना भली प्रकार बन सकता है, अधियज्ञमे जो स्रुवादि वस्तुएँ प्रसिद्ध है वे सब इस यथार्थ ज्ञानी संन्यासीके (सम्यक्-ज्ञानरूप) अध्यात्मयज्ञमे ब्रह्म ही हैं ।

उपर्युक्त अर्थ नहीं माननेसे 'वास्तवमे सब ही ब्रह्मरूप होनेके कारण केवल स्रुव आदिको ही विशेषतासे ब्रह्मरूप बतलाना व्यर्थ होगा ।

सुतरां 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है' इस प्रकार समझनेवाले ज्ञानीके लिये वास्तवमे सब कर्मोंका अभाव ही हो जाता है ।

तथा उसके अन्तःकरणमे (क्रिया, फल आदि) कारकसम्बन्धी भेदबुद्धिका अभाव होनेके कारण भी यही सिद्ध होता है । क्योकि कोई भी यज्ञ नामक कर्म कारकसम्बन्धी भेदबुद्धिसे रहित नहीं देखा गया ।

अभिप्राय यह है कि अग्निहोत्रादि सभी कर्म, (इन्द्राय, वरुणाय आदि) शब्दोंद्वारा हवि आदि द्रव्य जिनके अर्पण किये जाते है, उन देवताविशेषरूप सम्प्रदान आदि कारकबुद्धिवाले तथा कर्तापनके अभिमानसे और फलकी इच्छासे युक्त देखे गये हैं।

जिसमेसे क्रिया, कारक और फलसम्बन्धी भेदबुद्धि नष्ट हो गयी हो तथा जो कर्तापनके अभिमानसे और फलकी इच्छासे रहित हो ऐसा यज्ञ नहीं देखा गया।

परन्तु यह उपर्युक्त कर्म तो ऐसा है कि जिसमे सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेके कारण, अर्पणादि कारक, क्रिया और फलसम्बन्धी भेदबुद्धि नष्ट हो गयी है । इसलिये यह अकर्म ही है ।

तथा च दर्शितम् *'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः' 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'* इत्यादिभिः ।

तथा च दर्शयन् तत्र तत्र क्रियाकारकफल-भेदबुद्ध्युपमर्दं करोति ।

दृष्टा च काम्याग्निहोत्रादौ कामोपमर्देन काम्याग्निहोत्रादिहानिः ।

तथा मतिपूर्वकामतिपूर्वकादीनां कर्मणां कार्यविशेषस्य आरम्भकत्वं दृष्टम् ।

तथा इह अपि ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितार्पणादि-कारकक्रियाफलभेदबुद्धेः बाह्यचेष्टामात्रेण कर्म अपि विदुषः अकर्म संपद्यते । अत उक्तं समग्रं प्रविलीयते इति ।

अत्र केचिद् आहुः यद् ब्रह्म तदर्पणादीनि । ब्रह्म एव किल अर्पणादिना पञ्चविधेन कारकात्मना व्यवस्थितं सत् तद् एव कर्म करोति । तत्र न अर्पणादिबुद्धिः निवर्त्यते किं तु अर्पणादिषु ब्रह्मबुद्धिः आधीयते । यथा प्रतिमादौ विष्ण्वादिबुद्धिः यथा वा नामादौ ब्रह्मबुद्धिः इति ।

सत्यम् एवम् अपि स्याद् यदि ज्ञानयज्ञ-स्तुत्यर्थं प्रकरणं न स्यात् ।

अत्र तु सम्यग्दर्शनं ज्ञानयज्ञशब्दितम् अनेकान् यज्ञशब्दितान् क्रियाविशेषान् उपन्यस्य *'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः'* इति ज्ञानं स्तौति ।

यही बात, **'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः' 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** इत्यादि श्लोकोंद्वारा भी दिखलायी गयी है ।

और इसी प्रकार दिखलाते हुए भगवान् जगह-जगह क्रिया, कारक और फलसम्बन्धी भेदबुद्धिका निषेध कर रहे हैं ।

देखा भी गया है कि सकाम अग्निहोत्रादिमें कामना न रहनेपर वे सकाम अग्निहोत्रादि नहीं रहते । (उनकी सकामता नष्ट हो जाती है ।)

तथा यह भी देखा गया है कि जान-बूझकर किये हुए और अनजानमें किये हुए कर्म भिन्न-भिन्न कार्योंके आरम्भक होते हैं अर्थात् उनका फल अलग-अलग होता है ।

वैसे ही यहाँ भी जिस पुरुषकी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेसे (स्रुव, हवि आदिमें) क्रिया, कारक और फलसम्बन्धी भेदबुद्धि नष्ट हो गयी है, उस ज्ञानी पुरुषके बाह्य चेष्टामात्रसे होनेवाले कर्म भी अकर्म हो जाते हैं । इसीलिये कहा है कि 'उसके फलसहित कर्म विलीन हो जाते हैं ।'

इस विषयमें कोई-कोई टीकाकार कहते हैं कि जो ब्रह्म है वही स्रुव आदि है अर्थात् ब्रह्म ही स्रुव आदि पाँच प्रकारके कारकोंके रूपमें स्थित है और वही कर्म किया करता है, (उसके सिद्धान्तानुसार) उपर्युक्त यज्ञमें स्रुव आदि बुद्धि निवृत्त नहीं की जाती किन्तु स्रुव आदिमें ब्रह्मबुद्धि स्थापित की जाती है, जैसे कि मूर्ति आदिमें विष्णु आदि देव-बुद्धि या नाम आदिमें ब्रह्मबुद्धि की जाती है ।

ठीक है, यदि यह प्रकरण ज्ञानयज्ञकी स्तुतिके लिये न होता तो यह अर्थ भी हो सकता था ।

परन्तु इस प्रकरणमें तो यज्ञ नामसे कहे जानेवाले अलग-अलग बहुत-से क्रिया-भेदोंको कहकर फिर **'द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ कल्याणकर है'** इस कथनद्वारा ज्ञानयज्ञ शब्दसे कथित सम्यक् दर्शनकी स्तुति करते हैं ।

अत्र च समर्थम् इदं वचनं ब्रह्मार्पणम् इत्यादि ज्ञानस्य यज्ञत्वसंपादने अन्यथा सर्वस्य ब्रह्मत्वे अर्पणादीनाम् एव विशेषतो ब्रह्मत्वाभिधानम् अनर्थकं स्यात् ।

तथा इस प्रकरणमे जो 'ब्रह्मार्पणम्' इत्यादि वचन है, यह ज्ञानको यज्ञरूपसे सम्पादन करनेमे समर्थ भी है, नहीं तो वास्तवमे सब कुछ ब्रह्मरूप होनेके कारण केवल अर्पण (स्रुव) आदिको ही अलग करके ब्रह्मरूपसे विधान-करना व्यर्थ होगा ।

ये तु अर्पणादिषु प्रतिमायां विष्णुदृष्टिवद् ब्रह्मदृष्टिः क्षिप्यते नामादिषु इव च इति ब्रुवते न तेषां ब्रह्मविद्या उक्ता इह विवक्षिता स्याद् अर्पणादिविषयत्वाद् ज्ञानस्य ।

जो ऐसा कहते है कि यहाँ मूर्तिमे विष्णु आदि-की दृष्टिके सदृश या नामादिमे ब्रह्मबुद्धिकी भाँति अर्पण (स्रुव) आदि यज्ञकी सामग्रीमे ब्रह्मबुद्धि स्थापन करायी गयी है, उनकी दृष्टिसे सम्भवतः इस प्रकरणमे ब्रह्मविद्या नहीं कही गयी है । क्योंकि (उनके मतानुसार) ज्ञानका विषय स्रुव आदि यज्ञकी सामग्री ही है, ब्रह्म नहीं ।

न च दृष्टिसंपादनज्ञानेन मोक्षफलं प्राप्यते 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्' इति च उच्यते । विरुद्धं च सम्यग्दर्शनम् अन्तरेण मोक्षफलं प्राप्यते इति ।

इस प्रकार केवल ब्रह्मदृष्टि सम्पादनरूप ज्ञानसे मोक्षरूप फल नहीं मिल सकता और यहाँ (स्पष्ट ही) यह कहा है कि उसके द्वारा प्राप्त किया जानेवाला फल ब्रह्म ही है फिर विना यथार्थ ज्ञानके मोक्षरूप फल मिलता है—यह कहना सर्वथा विपरीत है ।

प्रकृतविरोधः च । सम्यग्दर्शनं च प्रकृतम् । *'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'* इत्यत्र अन्ते च सम्यग्दर्शनं तस्य एव उपसंहारात् ।

इसके सिवा (ऐसा मान लेनेसे) प्रकरणमे भी विरोध आता है । अभिप्राय यह है कि **'जो कर्ममें अकर्म देखता है'** इस प्रकार यहाँ आरम्भमे सम्यक् ज्ञानका ही प्रकरण है तथा उसीमे उपसंहार होनेके कारण अन्तमे भी यथार्थ ज्ञानका ही प्रकरण है ।

'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्' इत्यादिना सम्यग्दर्शनस्तुतिम् एव कुर्वन् उपक्षीणः अध्यायः ।

क्योंकि **'द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठतर है' 'ज्ञानको पाकर परम शान्तिको तुरंत ही प्राप्त हो जाता है'** इत्यादि वचनोसे यथार्थ ज्ञानकी स्तुति करते हुए ही यह अध्याय समाप्त हुआ है ।

तत्र अकस्माद् अर्पणादौ ब्रह्मदृष्टिः अप्रकरणे प्रतिमायाम् इव विष्णुदृष्टिः उच्यते इति अनुपपन्नम् ।

फिर विना प्रकरण अकस्मात् मूर्तिमे विष्णु-दृष्टिकी भाँति स्रुव आदिमे ब्रह्मदृष्टिका विधान बतलाना उपयुक्त नहीं ।

तस्माद् यथाव्याख्यातार्थ एव अयं श्लोकः ॥ २४ ॥

सुतरां जिस प्रकार इसकी व्याख्या की गयी है इस श्लोकका अर्थ वैसा ही है ॥ २४ ॥

तत्र अधुना सम्यग्दर्शनस्य यज्ञत्वं संपाद्य तत्स्तुत्यर्थम् अन्ये अपि यज्ञा उपक्षिप्यन्ते दैवम् एव इत्यादिना—

उपर्युक्त श्लोकमें यथार्थ ज्ञानको यज्ञरूपसे सम्पादन करके अब उसकी स्तुति करनेके लिये 'दैवम् एव' इत्यादि श्लोकोंसे दूसरे-दूसरे यज्ञोंका भी उल्लेख किया जाता है—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दैवम् एव देवा इज्यन्ते येन यज्ञेन असौ दैवो यज्ञः तम् एव अपरे यज्ञं योगिनः कर्मिणः पर्युपासते कुर्वन्ति इत्यर्थः ।

जिस यज्ञके द्वारा देवोंका पूजन किया जाता है वह देवसम्बन्धी यज्ञ है, अन्य (कितने ही) योगी अर्थात् कर्म करनेवाले लोग उस दैव-यज्ञका ही अनुष्ठान किया करते हैं ।

ब्रह्माग्नौ *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (तैत्ति० उ० २ । १) *'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'* (बृह० उ० ३ । ९ । २८) *'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः'* (बृह० उ० ३ । ४ । १) इत्यादिवचनोक्तम् अशनायादि सर्वसंसारधर्मवर्जितम्, नेति नेति इति निरस्ताशेषविशेषं ब्रह्मशब्देन उच्यते ।

अन्य (ब्रह्मवेत्ता पुरुष) ब्रह्माग्निमें (हवन करते हैं) अर्थात् 'ब्रह्म सत्य-ज्ञान-अनन्तस्वरूप है' 'विज्ञान और आनन्द ही ब्रह्म है' 'जो साक्षात् अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है वह ब्रह्म है' 'जो सर्वान्तर आत्मा है वह ब्रह्म है' इत्यादि वचनोंसे जिसका वर्णन किया गया है, जो भूख-प्यास आदि समस्त सांसारिक धर्मोंसे रहित है, जो 'ऐसा नहीं' 'ऐसा नहीं' इस प्रकार वेदवाक्योंद्वारा सब विशेषणोंसे परे बतलाया गया है, वह ब्रह्म शब्दसे कहा जाता है ।

ब्रह्म च तद् अग्निः च स होमाधिकरणत्वविवक्षया ब्रह्माग्निः तस्मिन् ब्रह्माग्नौ अपरे अन्ये ब्रह्मविदः, यज्ञं यज्ञशब्दवाच्य आत्मा आत्मनामसु यज्ञशब्दस्य पाठात् तम् आत्मानं यज्ञं परमार्थतः परम् एव ब्रह्म सन्तं बुद्ध्याद्युपाधिसंयुक्तम् अध्यस्तसर्वोपाधिधर्मकम् आहुतिरूपं यज्ञेन एव आत्मना एव उक्तलक्षणेन उपजुह्वति प्रक्षिपन्ति ।

हवनका अधिकरण बतलानेके लिये उस ब्रह्मको ही यहाँ अग्नि कह दिया है । उस ब्रह्मरूप अग्निमें कितने ही ब्रह्मवेत्ता—ज्ञानी यज्ञद्वारा यज्ञको हवन करते हैं । आत्माके नामोंमें यज्ञ शब्दका पाठ होनेसे आत्माका नाम यज्ञ है जो कि वास्तवमें परब्रह्म ही है, परन्तु बुद्धि आदि उपाधियोंसे युक्त हुआ उपाधियोंके धर्मोंको अपनेमें मान रहा है । उस आहुतिरूप आत्माको उपर्युक्त आत्माद्वारा ही हवन करते हैं ।

सोपाधिकस्य आत्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्मस्वरूपेण एव यद् दर्शनं स तस्मिन् होमः तं कुर्वन्ति ब्रह्मात्मैकत्वदर्शननिष्ठाः संन्यासिन इत्यर्थः ।

साराश यह कि उपाधियुक्त आत्माको जो उपाधिरहित परब्रह्मरूपसे साक्षात् करना है, वही उसका उसमें हवन करना है; ब्रह्म और आत्माके एकत्वज्ञानमें स्थित हुए वे संन्यासी लोग ऐसा हवन किया करते हैं ।

सः अयं सम्यग्दर्शनलक्षणो यज्ञो दैवयज्ञादिषु यज्ञेषु उपक्षिप्यते 'ब्रह्मार्पणम्' इत्यादिश्लोकैः 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप' इत्यादिना स्तुत्यर्थम् ॥२५॥

'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप' इत्यादि श्लोकोंसे स्तुति करनेके लिये यह सम्यग्दर्शनरूप यज्ञ 'ब्रह्मार्पणम्' इत्यादि श्लोकोंद्वारा दैवयज्ञ आदि यज्ञोंमें सम्मिलित किया जाता है ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि अन्ये **योगिनः** संयमाग्निषु **प्रतीन्द्रियं संयमो भिद्यते इति बहुवचनम् । संयमा एव अग्नयः तेषु** जुह्वति **इन्द्रियसंयमम् एव कुर्वन्ति इत्यर्थः ।**

शब्दादीन् विषयान् अन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति **इन्द्रियाणि एव अग्नयः तेषु इन्द्रियाग्निषु जुह्वति श्रोत्रादिभिः अविरुद्धविषयग्रहणं होमं मन्यन्ते** ॥ २६ ॥

अन्य योगीजन संयमरूप अग्नियोंमें श्रोत्रादि इन्द्रियोंका हवन करते हैं । संयम ही अग्नियाँ हैं, उन्हींमें हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियोंका संयम करते हैं । प्रत्येक इन्द्रियका संयम भिन्न-भिन्न है, इसलिये यहाँ बहुवचनका प्रयोग किया गया है ।

अन्य (साधकलोग) इन्द्रियरूप अग्नियोंमें शब्दादि विषयोंका हवन करते है । इन्द्रियाँ ही अग्नियाँ हैं, उन इन्द्रियाग्नियोंमें हवन करते है अर्थात् उन श्रोत्रादि इन्द्रियोंद्वारा शास्त्रसम्मत विषयोंके ग्रहण करनेको ही होम मानते हैं ॥२६॥

किं च—

तथा—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि **इन्द्रियाणां कर्माणि इन्द्रियकर्माणि तथा** प्राणकर्माणि **प्राणो वायुः आध्यात्मिकः तत् कर्माणि आकुञ्चनप्रसारणादीनि तानि** च अपरे आत्मसंयमयोगाग्नौ **आत्मनि संयम आत्मसंयमः स एव योगाग्निः तस्मिन् आत्मसंयमयोगाग्नौ** जुह्वति **प्रक्षिपन्ति** ज्ञानदीपिते **स्नेहेन इव प्रदीपिते विवेकविज्ञानेन उज्ज्वलभावम् आपादिते प्रविलापयन्ति इत्यर्थः** ॥२७॥

दूसरे साधक इन्द्रियोंके सम्पूर्ण कर्मोंको और शरीरके भीतर रहनेवाला वायु जो प्राण कहलाता है उसके 'संकुचित होने' 'फैलने' आदि कर्मोंको, ज्ञानसे प्रकाशित हुई आत्मसंयमरूप योगाग्निमें हवन करते हैं । आत्मविषयक संयमका नाम आत्मसंयम है, वही यहाँ योगाग्नि है । घृतादि चिकनी वस्तुसे प्रज्वलित हुई अग्निकी भाँति विवेकविज्ञानसे उज्ज्वलताको प्राप्त हुई (धारणा-ध्यान समाधिरूप) उस आत्म-संयम-योगाग्निमें (वे प्राण और इन्द्रियोंके कर्मोंको) विलीन कर देते हैं ॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

द्रव्ययज्ञाः तीर्थेषु द्रव्यविनियोगं यज्ञबुद्ध्या कुर्वन्ति ये ते द्रव्ययज्ञाः ।

तपोयज्ञा ये तपस्विनः ते तपोयज्ञाः, योगयज्ञाः प्राणायामप्रत्याहारादिलक्षणो योगो यज्ञो येषां ते योगयज्ञाः ।

तथा अपरे स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः च स्वाध्यायो यथाविधि ऋगाद्यभ्यासो यज्ञो येषां ते स्वाध्याययज्ञा ज्ञानयज्ञा ज्ञानं शास्त्रार्थपरिज्ञानं यज्ञो येषां ते ज्ञानयज्ञाः च ।

यतयो यतनशीलाः संशितव्रताः सम्यक्शितानि तनूकृतानि तीक्ष्णीकृतानि व्रतानि येषां ते संशितव्रताः ॥ २८ ॥

जो यज्ञबुद्धिसे तीर्थादिमे द्रव्य लगाते है वे द्रव्ययज्ञा यानी द्रव्य-सम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं ।

जो तपस्वी हैं वे तपोयज्ञा यानी तपरूप यज्ञ करनेवाले हैं । प्राणायाम-प्रत्याहाररूप योग ही जिनका यज्ञ है वे योगयज्ञा यानी योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं ।

वैसे ही अन्य कई स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ करनेवाले भी हैं । जिनका यथाविधि ऋग्वेद आदिका अभ्यासरूप स्वाध्याय ही यज्ञ है, वे स्वाध्याययज्ञ करनेवाले हैं और शास्त्रोंका अर्थ जाननारूप ज्ञान जिनका यज्ञ है वे ज्ञानयज्ञ करनेवाले है ।

इसी तरह कई यत्नशील संशित व्रतवाले है । जिनके व्रत-नियम अच्छी प्रकार तीक्ष्ण किये हुए यानी सूक्ष्म-शुद्ध किये हुए होते हैं वे पुरुष संशितव्रत कहलाते हैं ॥ २८ ॥

किं च—

तथा—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अपाने अपानवृत्तौ जुह्वति प्रक्षिपन्ति प्राणं प्राणवृत्तिं पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्ति इत्यर्थः ।

प्राणे अपान तथा अपरे जुह्वति रेचकाख्यं च प्राणायामं कुर्वन्ति इति एतत् ।

प्राणापानगती मुखनासिकाभ्यां वायोः निर्गमनं प्राणस्य गतिः तद्विपर्ययेण अधोगमनम् अपानस्य ते प्राणापानगती एते रुद्ध्वा निरुध्य प्राणायामपरायणा प्राणायामतत्पराः कुम्भकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्ति इत्यर्थः ॥ २९ ॥

(कोई) अपानवायुमे प्राणवायुका हवन करते है अर्थात् पूरक नामक प्राणायाम किया करते है ।

वैसे ही अन्य कोई प्राणमे अपानका हवन करते हैं अर्थात् रेचक नामक प्राणायाम किया करते हैं ।

मुख और नासिकाके द्वारा वायुका बाहर निकलना प्राणकी गति है और उसके विपरीत (पेटमे) नीचेकी ओर जाना अपानकी गति है । उन प्राण और अपान दोनोंकी गतियोंको रोककर कोई अन्य लोग प्राणायाम-परायण होते हैं अर्थात् प्राणायाममे तत्पर हुए वे केवल कुम्भक नामक प्राणायाम किया करते है ॥ २९ ॥

किं च—

तथा—

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

अपरे नियताहारा नियतः परिमित आहारो येषां ते नियताहाराः सन्तः, प्राणान् वायुभेदान् प्राणेषु एव जुह्वति ।

यस्य यस्य वायोः जयः क्रियते इतरान् वायुभेदान् तस्मिन् तस्मिन् जुह्वति ते तत्र प्रविष्टा इव भवन्ति ।

सर्वे अपि एते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा यज्ञैः यथोक्तैः क्षपितो नाशितः कल्मषो येषां ते यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

अन्य कितने ही नियताहारी अर्थात् जिनका आहार नियमित किया हुआ है ऐसे परिमित भोजन करनेवाले प्राणोको यानी वायुके भिन्न-भिन्न भेदोंको प्राणोमे ही हवन किया करते है ।

भाव यह है कि वे जिस-जिस वायुको जीत लेते है उसीमे वायुके दूसरे भेदोको हवन कर देते है यानी वे सब वायु-भेद उसमे विलीन-से हो जाते हैं ।

ये सभी पुरुष यज्ञोंको जाननेवाले और यज्ञोद्वारा निष्पाप हो गये होते है अर्थात् उपर्युक्त यज्ञोद्वारा जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, वे 'यज्ञक्षपितकल्मष' कहलाते है ॥ ३० ॥

एवं यथोक्तान् यज्ञान् निर्वर्त्य—

इस प्रकार उपर्युक्त यज्ञोका सम्पादन करके—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यज्ञानां शिष्टं यज्ञशिष्टं यज्ञशिष्टं च तद् अमृतं च यज्ञशिष्टामृतं तद् भुञ्जते इति यज्ञशिष्टामृतभुजो यथोक्तान् यज्ञान् कृत्वा तच्छिष्टेन कालेन यथाविधि चोदितम् अन्नम् अमृताख्यं भुञ्जते इति यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति गच्छन्ति ब्रह्म सनातनं चिरंतनम् ।

मुमुक्षवः चेत् कालातिक्रमापेक्षया इति सामर्थ्याद् गम्यते ।

यज्ञोके शेषका नाम यज्ञशिष्ट है, वही अमृत है, उसको जो भोगते है, वे यज्ञशिष्ट अमृतभोजी हैं । उपर्युक्त यज्ञोको करके उससे बचे हुए समयद्वारा यथाविधि प्राप्त अमृतरूप विहित अन्नको भक्षण करनेवाले यज्ञशिष्ट अमृतभोजी पुरुष, सनातन यानी चिरन्तन ब्रह्मको प्राप्त होते है ।

यहाँ 'यान्ति' इस गतिविषयक शब्दकी शक्तिसे यह पाया जाता है कि यदि यज्ञ करनेवाले मुमुक्षु होते है तो कालातिक्रमकी अपेक्षासे (मरनेके बाद कितने ही कालतक ब्रह्मलोकमे रहकर फिर प्रलयके समय) ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ।

न अयं लोकः सर्वप्राणिसाधारणः अपि अस्ति यथोक्तानां यज्ञानाम् एकः अपि यज्ञो यस्य न अस्ति स अयज्ञः तस्य कुतः अन्यो विशिष्टसाधनसाध्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! जो मनुष्य उपर्युक्त यज्ञोंमेसे एक भी यज्ञ नहीं करता, उस यज्ञरहित पुरुषको, सब प्राणियोके लिये जो साधारण है, ऐसा यह लोक भी नहीं मिलता, फिर विशेष साधनोद्वारा प्राप्त होनेवाला अन्य लोक तो मिल ही कैसे सकता है ? ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

एवं यथोक्ता बहुविधा बहुप्रकारा यज्ञा वितता विस्तीर्णा ब्रह्मणो वेदस्य मुखे द्वारे।

वेदद्वारेण अवगम्यमाना ब्रह्मणो मुखे वितता उच्यन्ते, तद् यथा 'वाचि हि प्राणं जुहुम' इत्यादयः ।

कर्मजान् कायिकवाचिकमानसकर्मोद्भवान् विद्धि तान् सर्वान् अनात्मजान् । निर्व्यापारो हि आत्मा ।

अत एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे अशुभात् । न मद्व्यापारा इमे निर्व्यापारः अहम् उदासीन इति एवं ज्ञात्वा अस्मात् सम्यग्दर्शनाद् मोक्ष्यसे संसारबन्धनाद् इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार उपर्युक्त बहुत प्रकारके यज्ञ ब्रह्मके यानी वेदके मुखमे विस्तृत हैं ।

वेदद्वारा ही सब यज्ञ जाननेमे आते हैं इसी अभिप्रायसे 'ब्रह्मके मुखमे विस्तारित है' ऐसा कहा है। जैसे 'हम वाणीमे ही प्राणोको हवन करते है' इत्यादि (इसी तरह अन्य सब यज्ञोका भी वेदमे विधान है) ।

उन सब यज्ञोको तू कर्मज—कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाद्वारा ही होनेवाले जान, वे यज्ञ आत्मासे होनेवाले नहीं हैं, क्योकि आत्मा हलन-चलन आदि क्रियाओसे रहित है ।

सुतरां इस प्रकार जानकर तू अशुभसे मुक्त हो जायगा अर्थात् यह सब कर्म मेरेद्वारा सम्पादित नहीं है, मै तो निष्क्रिय और उदासीन हूँ, इस प्रकार जानकर इस सम्यक् ज्ञानके प्रभावसे तू ससार-बन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

'ब्रह्मार्पणम्' इत्यादिश्लोकेन सम्यग्दर्शनस्य यज्ञत्वं संपादितं यज्ञाः च अनेके उपदिष्टाः तैः सिद्धपुरुषार्थप्रयोजनैः ज्ञानं स्तूयते । कथम्—

'ब्रह्मार्पणम्' इत्यादि श्लोकद्वारा यथार्थ ज्ञानको यज्ञरूपसे सम्पादन किया, फिर बहुत-से यज्ञोका वर्णन किया । अब पुरुषका इच्छित प्रयोजन जिन यज्ञोसे सिद्ध होता है, उन उपर्युक्त अन्य यज्ञोकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञकी स्तुति करते है । कैसे ? सो कहते है—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद् द्रव्यसाधनसाध्याद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञो हे परंतप ।

द्रव्यमयो हि यज्ञः फलस्य आरम्भको ज्ञानयज्ञो न फलारम्भकः अतः श्रेयान् प्रशस्यतरः ।

कथम्, यतः सर्वं कर्म समस्तम् अखिलम् अप्रतिबद्धं पार्थ ज्ञाने मोक्षसाधने सर्वतःसंप्लुतोदकस्थानीये परिसमाप्यते अन्तर्भवति इत्यर्थः ।

हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा अर्थात् द्रव्यरूप साधनद्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठतर है ।

क्योकि द्रव्यमय यज्ञ फलका आरम्भ करनेवाला है और ज्ञानयज्ञ (जन्मादि) फल देनेवाला नहीं है । इसलिये वह श्रेष्ठतर अर्थात् अधिक प्रशंसनीय है ।

क्योकि हे पार्थ ! सब-के-सब कर्म मोक्षसाधन-रूप ज्ञानमे, जो कि सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके समान है, समाप्त हो जाते हैं अर्थात् उन सबका ज्ञानमे अन्तर्भाव हो जाता है ।

'यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किं च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद' (छा० उ० ४ । १ । ४) इति श्रुतेः ॥ ३३ ॥

'जैसे (चौपड़के खेलमें कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ऐसे नामवाले जो चार पासे होते हैं उनमेंसे) कृतयुग नामक पासेको जीत लेनेपर नीचेवाले सब पासे अपने-आप ही जीत लिये जाते हैं, ऐसे ही जिसको वह रैक्क जानता है उस ब्रह्मको जो कोई भी जान लेता है, प्रजा जो कुछ भी अच्छे कर्म करती है उन सबका फल उसे अपने-आप ही मिल जाता है।' इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है ॥ ३३ ॥

तद् एतद् विशिष्टं ज्ञानं तर्हि केन प्राप्यते इति उच्यते—

इस प्रकारसे श्रेष्ठ बतलाया हुआ वह ज्ञान किस उपायसे मिलता है ? सो कहते है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

तद् विद्धि विजानीहि येन विधिना प्राप्यते इति आचार्यान् अभिगम्य प्रणिपातेन प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातो दीर्घनमस्कारः तेन कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या का च अविद्या इति परिप्रश्नेन सेवया गुरुशुश्रूषया ।

वह ज्ञान जिस विधिसे प्राप्त होता है वह तू जान यानी सुन ! आचार्यके समीप जाकर भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे एवं 'किस तरह बन्धन हुआ ?' 'कैसे मुक्ति होगी ?' 'विद्या क्या है ?' 'अविद्या क्या है ?' इस प्रकार (निष्कपट भावसे) प्रश्न करनेसे और गुरुकी यथायोग्य सेवा करनेसे (वह ज्ञान प्राप्त होता है) ।

एवम् आदिना प्रश्रयेण आवर्जिता आचार्या उपदेक्ष्यन्ति कथयिष्यन्ति ते ज्ञानं यथोक्तविशेषणम्, ज्ञानिनः ।

अभिप्राय यह कि इस प्रकार सेवा और विनय आदिसे प्रसन्न हुए तत्त्वदर्शी ज्ञानी आचार्य तुझे उपर्युक्त विशेषणोंवाले ज्ञानका उपदेश करेंगे ।

ज्ञानवन्तः अपि केचिद् यथावत् तत्त्वदर्शनशीला अपरे न अतो विशिनष्टि तत्त्वदर्शिन इति ।

ज्ञानवान् भी कोई-कोई ही यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले होते है, सब नहीं होते । इसलिये ज्ञानीके साथ 'तत्त्वदर्शी' यह विशेषण लगाया है ।

ये सम्यग्दर्शिनः तैः उपदिष्टं ज्ञानं कार्यक्षमं भवति न इतरद् इति भगवतो मतम् ॥ ३४ ॥

इससे भगवान्का यह अभिप्राय है कि जो यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले होते है, उनके द्वारा उपदेश किया हुआ ही ज्ञान अपने कार्यको सिद्ध करनेमे समर्थ होता है दूसरा नहीं ॥ ३४ ॥

तथा च सति इदम् अपि समर्थं वचनम्—

ऐसा होनेपर यह कहना भी ठीक है—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

यद् ज्ञात्वा यद् ज्ञानं तैः उपदिष्टम् अधिगम्य प्राप्य पुनः भूयो मोहम् एवं यथा इदानीं मोहं गतः असि पुनः एवं न यास्यसि हे पाण्डव ।

किं च येन ज्ञानेन भूतानि अशेषेण ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि द्रक्ष्यसि साक्षाद् आत्मनि प्रत्यगात्मनि मत्संस्थानि इमानि भूतानि इति, अथो अपि मयि वासुदेवे परमेश्वरे च इमानि इति, क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्वं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धं द्रक्ष्यसि इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

हे पाण्डव ! उनके द्वारा बतलाये हुए जिस ज्ञानको पाकर फिर तू इस प्रकार मोहको प्राप्त नहीं होगा, जैसे कि अब हो रहा है ।

तथा जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्णतासे सब भूतोंको अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंको 'यह सब भूत मुझमें स्थित है' इस प्रकार साक्षात् अपने अन्तरात्मामें ही देखेगा और मुझ वासुदेव परमेश्वरमें भी इन सब भूतोंको देखेगा । अर्थात् सभी उपनिषदोंमें जो जीवात्मा और ईश्वरकी एकता प्रसिद्ध है उसको प्रत्यक्ष अनुभव करेगा ॥ ३५ ॥

किं च एतस्य ज्ञानस्य माहात्म्यम्—

इस ज्ञानका माहात्म्य क्या है (सो सुन)—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अपि चेद् असि पापेभ्यः पापकृद्भ्यः सर्वेभ्य अतिशयेन पापकृत् पापकृत्तमः, सर्वं ज्ञानप्लवेन एव ज्ञानम् एव प्लवं कृत्वा वृजिन वृजिनार्णवं पापं संतरिष्यसि, धर्मः अपि इह मुमुक्षोः पापम् उच्यते ॥ ३६ ॥

यदि तू पाप करनेवाले सब पापियोंसे अधिक पाप करनेवाला—अति पापी भी है तो भी ज्ञानरूप नौकाद्वारा अर्थात् ज्ञानको ही नौका बनाकर समस्त पापरूप समुद्रसे अच्छी तरह पार उतर जायगा । यहाँ मुमुक्षुके लिये धर्म भी पाप ही कहा जाता है ॥ ३६ ॥

ज्ञानं कथं नाशयति पापम् इति सदृष्टान्तम् उच्यते—

ज्ञान पापको किस प्रकार नष्ट कर देता है सो दृष्टान्तसहित कहते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

यथा एधांसि काष्ठानि समिद्धः सम्यग् इद्धो दीप्तः अग्निः भस्मसाद् भस्मीभावं कुरुते अर्जुन, ज्ञानम् एव अग्निः ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा निर्बीजीकरोति इत्यर्थः ।

न हि साक्षाद् एव ज्ञानाग्निः कर्माणि इन्धनवद् भस्मीकर्तुं शक्नोति, तस्मात् सम्यग्दर्शनं सर्वकर्मणां निर्बीजत्वे कारणम् इति अभिप्रायः ।

हे अर्जुन ! जैसे अच्छी प्रकारसे प्रदीप्त यानी प्रज्वलित हुआ अग्नि ईंधनको अर्थात् काष्ठके समूहको भस्मरूप कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोंको भस्मरूप कर देता है, अर्थात् निर्बीज कर देता है ।

क्योंकि ईंधनकी भाँति ज्ञानरूप अग्नि कर्मोंको साक्षात् भस्मरूप नहीं कर सकता, इसलिये इसका यही अभिप्राय है कि यथार्थ ज्ञान सब कर्मोंको निर्बीज करनेका हेतु है ।

सामर्थ्याद् येन कर्मणा शरीरम् आरब्धं तत् प्रवृत्तफलत्वाद् उपभोगेन एव क्षीयते ।

अतो यानि अप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् कृतानि ज्ञानसहभावीनि च अतीतानेकजन्मकृतानि च तानि एव सर्वाणि भस्मसात् कुरुते ॥ ३७ ॥

जिस कर्मसे शरीर उत्पन्न हुआ है, वह फल देनेके लिये प्रवृत्त हो चुका इसलिये उसका नाश तो उपभोगद्वारा ही होगा। यह युक्तिसिद्ध बात है।

अतः इस जन्ममे ज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले और ज्ञानके साथ-साथ किये हुए एवं पुराने अनेक जन्मोमे किये हुए, जो कर्म अभीतक फल देनेके लिये प्रवृत्त नहीं हुए है, उन सब कर्मोंको ही ज्ञानाग्नि भस्म करता है (प्रारब्ध-कर्मोंको नहीं) ॥ ३७ ॥

यत एवम् अतः—

क्योंकि ज्ञानका इतना प्रभाव है इसलिये—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं तुल्यं पवित्रं पावनं शुद्धिकरम् इह विद्यते ।

तद् ज्ञानं स्वयम् एव योगसंसिद्धो योगेन कर्मयोगेन समाधियोगेन च संसिद्धः संस्कृतो योग्यताम् आपन्नो मुमुक्षुः कालेन महता आत्मनि विन्दति लभते इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला—शुद्ध करनेवाला इस लोकमे (दूसरा कोई) नहीं है ।

कर्मयोग या समाधियोगद्वारा बहुत कालमे भली प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ अर्थात् वैसी योग्यताको प्राप्त हुआ मुमुक्षु स्वयं अपने आत्मामे ही उस ज्ञानको पाता है यानी साक्षात् किया करता है ।३८।

येन एकान्तेन ज्ञानप्राप्तिः भवति स उपाय उपदिश्यते—

जिसके द्वारा निश्चय ही ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है वह उपाय बतलाया जाता है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

श्रद्धावान् श्रद्धालुः लभते ज्ञानम् ।

श्रद्धालुत्वे अपि भवति कश्चिद् मन्दप्रस्थानः अत आह तत्परो गुरूपासनादौ अभियुक्तः, ज्ञानलब्ध्युपाये ।

श्रद्धावान् तत्परः अपि अजितेन्द्रियः स्याद् इति अत आह संयतेन्द्रियः संयतानि विषयेभ्यो निवर्तितानि यस्य इन्द्रियाणि स संयतेन्द्रियः ।

श्रद्धावान्—श्रद्धालु मनुष्य ज्ञान प्राप्त किया करता है।

श्रद्धालु होकर भी तो कोई मन्द प्रयत्नवाला हो सकता है, इसलिये कहते है कि तत्पर अर्थात् ज्ञानप्राप्तिके गुरुशुश्रूषादि उपायोंमे जो अच्छी प्रकार लगा हुआ हो ।

श्रद्धावान् और तत्पर होकर भी कोई अजितेन्द्रिय हो सकता है, इसलिये कहते है कि संयतेन्द्रिय भी होना चाहिये। जिसकी इन्द्रियाँ वशमे की हुई हों यानी विषयोंसे निवृत्त कर ली गयी हों, वह संयतेन्द्रिय कहलाता है ।

य एवंभूतः श्रद्धावान् तत्परः संयतेन्द्रियः च सः अवश्यं ज्ञानं लभते ।

जो इस प्रकार श्रद्धावान्, तत्पर और संयतेन्द्रिय भी होता है वह अवश्य ही ज्ञानको प्राप्त कर लेता है ।

प्रणिपातादिः तु बाह्यः अनैकान्तिकः अपि भवति मायावित्वादिसंभवाद् न तु तत् श्रद्धावत्त्वादौ इति एकान्ततो ज्ञानलब्ध्युपायः ।

जो दण्डवत्-प्रणामादि उपाय है वे तो बाह्य है और कपटी मनुष्यद्वारा भी किये जा सकते हैं इसलिये वे (ज्ञानरूप फल उत्पन्न करनेमे) अनिश्चित भी हो सकते हैं । परन्तु श्रद्धालुता आदि उपायोंमे कपट नहीं चल सकता, इसलिये ये निश्चयरूपसे ज्ञानप्राप्तिके उपाय हैं ।

किं पुनः ज्ञानलाभात् स्याद् इति उच्यते—

ज्ञानप्राप्तिसे क्या होगा ? सो (उत्तरार्धमे) कहते है—

ज्ञान लब्ध्वा परा **मोक्षाख्यां** शान्तिम् **उपरतिम्** अचिरेण **क्षिप्रम् एव** अधिगच्छति ।

ज्ञानको प्राप्त होकर मनुष्य मोक्षरूप परम शान्तिको यानी उपरामताको बहुत शीघ्र तत्काल ही प्राप्त हो जाता है ।

सम्यग्दर्शनात् क्षिप्रं मोक्षो भवति इति सर्वशास्त्रन्यायप्रसिद्धः सुनिश्चितः अर्थः ॥३९॥

यथार्थ ज्ञानसे तुरंत ही मोक्ष हो जाता है, यह सब शास्त्रों और युक्तियोसे सिद्ध सुनिश्चित बात है ॥३९॥

अत्र संशयो न कर्तव्यः पापिष्ठो हि संशयः, कथम् उच्यते—

इस विषयमे सशय नहीं करना चाहिये, क्योकि संशय बडा पापी है । कैसे ? सो कहते है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अज्ञः च **अनात्मज्ञः** अश्रद्दधानः च संशयात्मा च विनश्यति ।

जो अज्ञ यानी आत्मज्ञानसे रहित है, जो अश्रद्धालु है और जो संशयात्मा है—ये तीनों नष्ट हो जाते हैं ।

अज्ञाश्रद्दधानौ यद्यपि विनश्यतः तथापि न तथा यथा संशयात्मा, संशयात्मा तु पापिष्ठः सर्वेषाम् ।

यद्यपि अज्ञानी और अश्रद्धालु भी नष्ट होते हैं परन्तु जैसा संशयात्मा नष्ट होता है, वैसे नहीं, क्योकि इन सबमे संशयात्मा अधिक पापी है ।

कथम्, न अयं **साधारणः** अपि लोकः अस्ति तथा न परो लोको न सुखम्, तत्र अपि संशयोपपत्तेः संशयात्मनः **संशयचित्तस्य** । तस्मात् संशयो न कर्तव्यः ॥ ४० ॥

अधिक पापी कैसे है ? (सो कहते हैं) सशयात्माको अर्थात् जिसके चित्तमें संशय है उस पुरुषको न तो यह साधारण मनुष्यलोक मिलता है, न परलोक मिलता है और न सुख ही मिलता है, क्योकि वहाँ भी संशय होना सम्भव है, इसलिये संशय नहीं करना चाहिये ॥४०॥

कस्मात्—

कैसे ?

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं परमार्थदर्शनलक्षणेन योगेन संन्यस्तानि कर्माणि येन परमार्थदर्शिना धर्माधर्माख्यानि तं योगसंन्यस्तकर्माणम् ।

कथं योगसंन्यस्तकर्मा इति आह—

ज्ञानेन आत्मेश्वरैकत्वदर्शनलक्षणेन संछिन्नः संशयो यस्य स ज्ञानसंछिन्नसंशयः ।

य एवं योगसंन्यस्तकर्मा तम् आत्मवन्तम् अप्रमत्तं गुणचेष्टारूपेण दृष्टानि कर्माणि न निबध्नन्ति अनिष्टादिरूपं फलं न आरभन्ते हे धनंजय ॥ ४१ ॥

जिस परमार्थदर्शी पुरुषने परमार्थज्ञानरूप योगके द्वारा पुण्य-पापरूप सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कर दिया हो, वह योगसंन्यस्तकर्मा है । (उसको कर्म नहीं बाँधते ।)

वह योगसन्यस्तकर्मा कैसे है ? सो कहते हैं—

आत्मा और ईश्वरकी एकता-दर्शनरूप ज्ञानद्वारा जिसका संशय अच्छी प्रकार नष्ट हो चुका है, वह 'ज्ञानसंछिन्नसंशय' कहलाता है । (इसीलिये वह योगसंन्यस्तकर्मा है ।)

जो इस प्रकार योगसंन्यस्तकर्मा है, उस आत्मवान् यानी आत्मबलसे युक्त प्रमादरहित पुरुषको हे धनजय ! (गुण ही गुणोंमे बर्तते हैं इस प्रकार) गुणोकी चेष्टामात्रके रूपमे समझे हुए कर्म नहीं बाँधते, अर्थात् इष्ट, अनिष्ट और मिश्र—इन तीन प्रकारके फलोंका भोग नहीं करा सकते ॥४१॥

यस्मात् कर्मयोगानुष्ठानाद् अशुद्धिक्षयहेतुकज्ञानसंछिन्नसंशयो न निबध्यते, कर्मभिः ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वाद् एव । यस्मात् च ज्ञानकर्मानुष्ठानविषये संशयवान् विनश्यति—

क्योंकि कर्मयोगका अनुष्ठान करनेसे अन्त.करणकी अशुद्धिका क्षय हो जानेपर उत्पन्न होनेवाले आत्मज्ञानसे जिसका संशय नष्ट हो गया है ऐसा पुरुष तो ज्ञानाग्निद्वारा उसके कर्म दग्ध हो जानेके कारण कर्मोंसे नहीं बँधता; तथा ज्ञानयोग और कर्मयोगके अनुष्ठानमे संशय रखनेवाला नष्ट हो जाता है—

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

तस्मात् पापिष्ठम् अज्ञानसंभूतम् अज्ञानाद् अविवेकाद् जातं हृत्स्थं हृदि बुद्धौ स्थितं ज्ञानासिना शोकमोहादिदोषहरं सम्यग्दर्शनं ज्ञानं तद् एव असिः खड्गः तेन ज्ञानासिना आत्मनः स्वस्य ।

आत्मविषयत्वात् संशयस्य ।

इसलिये अज्ञान यानी अविवेकसे उत्पन्न और अन्तःकरणमे रहनेवाले (अपने नाशके हेतुभूत) इस अत्यन्त पापी अपने संशयको ज्ञानखड्गद्वारा अर्थात् शोक-मोह आदि दोषोंका नाश करनेवाला यथार्थ दर्शनरूप जो ज्ञान है वही खड्ग है उस स्वरूपज्ञानरूप खड्गद्वारा (छेदन करके कर्मयोगमे स्थित हो) ।

यहाँ संशय आत्मविषयक है इसलिये (उसके साथ 'आत्मनः' विशेषण दिया गया है) ।

न हि परस्य संशयः परेण छेत्तव्यतां प्राप्तो येन स्वस्य इति विशिष्यते अत आत्मविषयः अपि स्वस्य एव भवति ।

क्योकि एकका संशय दूसरेके द्वारा छेदन करनेकी शङ्का यहाँ प्राप्त नहीं होती जिससे कि (ऐसी शङ्काको दूर करनेके उद्देश्यसे) 'आत्मन' विशेषण दिया जावे अतः (यही समझना चाहिये कि) आत्मविषयक होनेसे भी अपना कहा जा सकता है । (सुतरां संशयको 'अपना' बतलाना असंगत नहीं है ।)

छित्त्वा एनं संशयं **स्वविनाशहेतुभूतं** योगं **सम्यग्दर्शनोपायकर्मानुष्ठानम्** आतिष्ठ **कुरु इत्यर्थः** । उत्तिष्ठ **इदानीं युद्धाय** भारत **इति** ॥४२॥

अतः अपने नाशके कारणरूप इस संशयको (उपर्युक्त प्रकारसे) काटकर पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके उपायरूप कर्मयोगमे स्थित हो और हे भारत ! अत्र युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये ब्रह्मयज्ञप्रशंसा नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ॐ

पञ्चमोऽध्यायः

'*कर्मण्यकर्म यः पश्येत्*' इत्यारभ्य '*स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्*' '*ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्*' '*शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्*' '*यदृच्छालाभसंतुष्टः*' '*ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः*' '*कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्*' '*सर्वं कर्माखिलं पार्थ*' '*ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि*' '*योगसंन्यस्तकर्माणम्*' इत्यन्तैः वचनैः सर्वकर्मसंन्यासम् अवोचद् भगवान् ।

'*छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठ*' इति अनेन वचनेन योगं च कर्मानुष्ठानलक्षणम् अनुतिष्ठ इति उक्तवान् ।

तयोः उभयोः च कर्मानुष्ठानकर्मसंन्यासयोः स्थितिगतिवत् परस्परविरोधाद् एकेन सह कर्तुम् अशक्यत्वात् कालभेदेन च अनुष्ठानविधानाभावाद् अर्थाद् एतयोः अन्यतरकर्तव्यताप्राप्तौ सत्याम्, यत् प्रशस्यतरम् एतयोः कर्मानुष्ठानकर्मसंन्यासयोः तत् कर्तव्यं न इतरद् इति एवं मन्यमानः प्रशस्यतरबुभुत्सया अर्जुन उवाच 'संन्यासं कर्मणां कृष्ण' इत्यादिना ।

ननु च आत्मविदो ज्ञानयोगेन निष्ठां प्रतिपिपादयिषन् पूर्वोदाहृतैः वचनैः भगवान् सर्वकर्मसंन्यासम् अवोचद् न तु अनात्मज्ञस्य अतः च कर्मानुष्ठानकर्मसंन्यासयोः भिन्नपुरुषविषयत्वाद् अन्यतरस्य प्रशस्यतरत्वबुभुत्सया प्रश्नः अनुपपन्नः ।

'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इस पदसे लेकर '**स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्**' '**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**' '**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्**' '**यदृच्छालाभसंतुष्टः**' '**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः**' '**कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्**' '**सर्वं कर्माखिलं पार्थ**' '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि**' '**योगसंन्यस्तकर्माणम्**' यहाँतकके वचनोंसे भगवान्‌ने सब कर्मोंके संन्यासका वर्णन किया ।

तथा '**छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठ**' इस वचनसे यह भी कहा कि कर्मानुष्ठानरूप योगमें स्थित हो अर्थात् कर्म कर ।

उन दोनोंका, अर्थात् कर्मयोग और कर्मसंन्यासका, स्थिति और गतिकी भाँति परस्पर विरोध होनेके कारण, एक पुरुषद्वारा एक साथ (उनका) अनुष्ठान किया जाना असम्भव है और कालके भेदसे अनुष्ठान करनेका विधान नहीं है, इसलिये स्वभावसे ही इन दोनोंमेंसे किसी एककी ही कर्तव्यता प्राप्त होती है, अतएव कर्मयोग और कर्मसंन्यास—इन दोनोंमें जो श्रेष्ठतर हो, वही करना चाहिये दूसरा नहीं, ऐसा मानता हुआ अर्जुन, दोनोंमेंसे श्रेष्ठतर साधन पूछनेकी इच्छासे 'संन्यासं कर्मणां कृष्ण' इत्यादि वचन बोला—

पू०—पूर्वोक्त वचनोंसे तो भगवान्‌ने ज्ञानयोगद्वारा आत्मज्ञानीकी निष्ठाका प्रतिपादन करनेकी इच्छासे केवल आत्मज्ञानीके लिये ही सब कर्मोंका संन्यास कहा है, आत्मतत्त्वको न जाननेवालेके लिये नहीं । अतः कर्मानुष्ठान और कर्मसंन्यास—यह दोनों भिन्न-भिन्न पुरुषोंद्वारा अनुष्ठान किये जानेयोग्य होनेके कारण दोनोंमेंसे किसी एककी श्रेष्ठतरता जाननेकी इच्छासे प्रश्न करना नहीं बन सकता ।

सत्यम् एव त्वदभिप्रायेण प्रश्नो न उपपद्यते प्रष्टुः स्वाभिप्रायेण पुनः प्रश्नो युज्यते एव इति वदामः ।

उ०—ठीक है, तुम्हारे अभिप्रायसे तो प्रश्न नहीं बन सकता; परन्तु इसमे हमारा कहना यह है कि प्रश्नकर्ताके अपने अभिप्रायसे तो प्रश्न बन ही सकता है ।

कथम्—

पू०—सो कैसे ?

पूर्वोदाहृतैः वचनैः भगवता कर्मसंन्यासस्य कर्तव्यतया विवक्षितत्वात् प्राधान्यम्, अन्तरेण च कर्तारं तस्य कर्तव्यत्वासंभवात्, अनात्मविद् अपि कर्ता पक्षे प्राप्तः अनूद्यते एव न पुनः आत्मवित्कर्तृकत्वम् एव संन्यासस्य विवक्षितम् इति ।

उ०—पूर्वोक्त वचनोसे भगवान्‌ने कर्मसंन्यासको कर्तव्यरूपसे वर्णन किया है । इससे उसकी प्रधानता सिद्ध होती है । किन्तु बिना कर्ताके उसकी कर्तव्यता असम्भव है [इसलिये एक पक्षमे अज्ञानी भी सन्यासका कर्ता हो जाता है (सुतरा) उसीका अनुमोदन किया जाता है,] केवल आत्मज्ञानी-कर्तृक ही संन्यास होता है, यह कहना अभीष्ट नहीं है ।

एवं मन्वानस्य अर्जुनस्य कर्मानुष्ठानकर्मसंन्यासयोः अविद्वत्पुरुषकर्तृकत्वम् अपि अस्ति इति पूर्वोक्तेन प्रकारेण तयोः परस्परविरोधाद् अन्यतरस्य कर्तव्यत्वे प्राप्ते प्रशस्यतरं च कर्तव्यं न इतरद् इति प्रशस्यतरविविदिषया प्रश्नो न अनुपपन्नः ।

इस प्रकार कर्मानुष्ठान और कर्मसंन्यास—यह दोनो अज्ञानीद्वारा भी किये जा सकते हैं, ऐसा माननेवाले अर्जुनका, दोनोंमेसे एक श्रेष्ठतर साधन जाननेकी इच्छासे प्रश्न करना, अयुक्त नहीं है । क्योकि पूर्वोक्त प्रकारसे उन दोनोंका परस्पर विरोध होनेके कारण दोनोमेसे किसी एककी ही कर्तव्यता प्राप्त होती है । ऐसा होनेसे जो श्रेष्ठतर हो उसे ही करना चाहिये, दूसरेको नहीं ।

प्रतिवचनवाक्यार्थनिरूपणेन अपि प्रष्टुः अभिप्राय एवम् एव इति गम्यते ।

उत्तरमे कहे हुए भगवान्‌के वचनोका अर्थ निरूपण करनेसे भी, प्रश्नकर्त्ताका यही अभिप्राय प्रतीत होता है ।

कथम्—

पू०—कैसे ?

संन्यासकर्मयोगौ निःश्रेयसकरौ तयोः तु कर्मयोगो विशिष्यते इति प्रतिवचनम् ।

उ०—संन्यास और कर्मयोग यह दोनों ही कल्याणकारक हैं और उन दोनोंमेसे कर्मयोग श्रेष्ठ है—यह भगवान्‌का उत्तर है ।

एतत् निरूप्यं किम् अनेन आत्मवित्कर्तृकयोः संन्यासकर्मयोगयोः निःश्रेयसकरत्वं प्रयोजनम् उक्त्वा तयोः एव कुतश्चिद् विशेषात् कर्मसंन्यासात् कर्मयोगस्य विशिष्टत्वम् उच्यते आहोस्विद् अनात्मवित्कर्तृकयोः संन्यासकर्मयोगयोः तद् उभयम् उच्यते इति ।

इसमे विचारनेकी बात यह है कि इस प्रतिवचनसे आत्मज्ञानीद्वारा किये हुए संन्यास और कर्मयोगका कल्याणकारकतारूप प्रयोजन बतलाकर उन दोनोमेसे ही किसी विशेषताके कारण, कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी श्रेष्ठता कही गयी है ? अथवा अज्ञानीद्वारा किये हुए संन्यास और कर्मयोगके विषयमे यह दोनों बातें कही गयी हैं ?

किं च अतो यदि आत्मवित्कर्तृकयोः संन्यासकर्मयोगयोः निःश्रेयसकरत्वं तयोः तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगस्य विशिष्टत्वम् उच्यते यदि वा अनात्मवित्कर्तृकयोः संन्यासकर्मयोगयोः तद् उभयम् उच्यते इति ।

पू०—इससे क्या मतलब ? चाहे आत्मवेत्ताद्वारा किये हुए संन्यास और कर्मयोगकी कल्याणकारकता और उन दोनोमे संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी श्रेष्ठता कही गयी हो अथवा चाहे अज्ञानीद्वारा किये हुए संन्यास और कर्मयोगके विषयमे ही वे दोनो बाते कही गयी हों ।

अत्र उच्यते, आत्मवित्कर्तृकयोः संन्यासकर्मयोगयोः असंभवात् तयोः निःश्रेयसकरत्ववचनं तदीयात् च कर्मसंन्यासात् कर्मयोगस्य विशिष्टत्वाभिधानम् इति एतद् उभयम् अनुपपन्नम् ।

उ०—आत्मज्ञानीकर्तृक कर्मसंन्यास और कर्मयोगका होना असम्भव है, इस कारण उन दोनोको कल्याणकारक कहना और उसके किये हुए कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाना, ये दोनो बातें ही नहीं बन सकतीं ।

यदि अनात्मविदः कर्मसंन्यासः तत्प्रतिकूलः च कर्मानुष्ठानलक्षणः कर्मयोगः संभवेतां तदा तयोः निःश्रेयसकरत्वोक्तिः कर्मयोगस्य च कर्मसंन्यासाद् विशिष्टत्वाभिधानम् इति एतद् उभयम् उपपद्यते ।

यदि कर्मसंन्यास और उसके विरुद्ध कर्मानुष्ठानरूप कर्मयोग इन दोनोको अज्ञानीकर्तृक मान लिया जाय तो फिर इन दोनो साधनोको कल्याणकारक बताना और कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाना—ये दोनों बातें ही बन सकती है ।

आत्मविदः तु संन्यासकर्मयोगयोः असंभवात् तयोः निःश्रेयसकरत्वाभिधानं कर्मसंन्यासात् च कर्मयोगो विशिष्यते इति च अनुपपन्नम् ।

परन्तु आत्मज्ञानीके द्वारा कर्मसंन्यास और कर्मयोगका होना असम्भव है, इस कारण उन्हे कल्याणकारक कहना एवं कर्मसन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाना—ये दोनो बाते नहीं बन सकतीं ।

अत्र आह, किम् आत्मविदः संन्यासकर्मयोगयोः अपि असंभव आहोस्विद् अन्यतरस्य असंभवो यदा च अन्यतरस्य असंभवः तदा किं कर्मसंन्यासस्य उत कर्मयोगस्य इति असंभवे कारणं च वक्तव्यम् इति ।

पू०—आत्मज्ञानीके द्वारा कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनोका ही होना असम्भव है अथवा दोनोमेसे किसी एकका ही होना असम्भव है ? यदि किसी एकका होना ही असम्भव है तो कर्मसंन्यासका होना असम्भव है या कर्मयोगका ? साथ ही उसके असम्भव होनेका कारण भी बतलाना चाहिये ।

अत्र उच्यते, आत्मविदो निवृत्तमिथ्याज्ञानत्वात् विपर्ययज्ञानमूलस्य कर्मयोगस्य असंभवः स्यात् ।

उ०—आत्मज्ञानीका मिथ्या ज्ञान निवृत्त हो जाता है, अतः उसके द्वारा विपर्यय-ज्ञानमूलक कर्मयोगका होना ही असम्भव है ।

जन्मादिसर्वविक्रियारहितत्वेन निष्क्रियम् आत्मानम् आत्मत्वेन यो वेत्ति तस्य आत्मविदः सम्यग्दर्शनेन अपास्तमिथ्याज्ञानस्य निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं सर्वकर्मसंन्यासम् उक्त्वा, तद्विपरीतस्य मिथ्याज्ञानमूलकर्तृत्वाभिमानपुरःसरस्य सक्रियात्मस्वरूपावस्थानरूपस्य कर्मयोगस्य इह शास्त्रे तत्र तत्र आत्मस्वरूपनिरूपणप्रदेशेषु सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानतत्कार्यविरोधाद् अभावः प्रतिपाद्यते, यस्मात्, तस्माद् आत्मविदो निवृत्तमिथ्याज्ञानस्य विपर्ययज्ञानमूलः कर्मयोगो न संभवति इति युक्तम् उक्तं स्यात् ।

क्योंकि, जो जन्म आदि समस्त विकारोंसे रहित निष्क्रिय आत्माको अपना स्वरूप समझ लेता है, जिसने यथार्थ ज्ञानद्वारा मिथ्याज्ञानको हटा दिया है, उस आत्मज्ञानी पुरुषके लिये निष्क्रिय आत्मस्वरूपसे स्थित हो जानारूप सर्व कर्मोंका संन्यास बतलाकर, इस गीताशास्त्रमें जहाँ-तहाँ आत्मस्वरूप-सम्बन्धी निरूपणके प्रकरणोंमें, यथार्थज्ञान, मिथ्याज्ञान और उनके कार्यका परस्पर विरोध होनेके कारण, उपर्युक्त संन्याससे विपरीत मिथ्याज्ञानमूलक कर्तृत्व-अभिमानपूर्वक सक्रिय आत्मस्वरूपमें स्थित होनारूप कर्मयोगके अभावका ही प्रतिपादन किया गया है । इसलिये जिसका मिथ्याज्ञान निवृत्त हो गया है, ऐसे आत्मज्ञानीके लिये मिथ्याज्ञानमूलक कर्मयोग सम्भव नहीं, यह कहना ठीक ही है ।

केषु केषु पुनः आत्मस्वरूपनिरूपणप्रदेशेषु आत्मविदः कर्माभावः प्रतिपाद्यते इति ।

पू०—आत्मस्वरूपका निरूपण करनेवाले किन-किन प्रकरणोंमें ज्ञानीके लिये कर्मोंका अभाव बताते हैं ?

अत्र उच्यते *'अविनाशि तु तद्विद्धि'* इति प्रकृत्य *'य एनं वेत्ति हन्तारम्'* *'वेदाविनाशिनं नित्यम्'* इत्यादौ तत्र तत्र आत्मविदः कर्माभाव उच्यते ।

उ०—**'उस आत्माको तू अविनाशी समझ'** यहाँसे प्रकरण आरम्भ करके **'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है'** **'जो इस अविनाशी नित्य आत्माको जानता है'** इत्यादि वाक्योंमें जगह-जगह ज्ञानीके लिये कर्मोंका अभाव कहा है ।

ननु च कर्मयोगः अपि आत्मस्वरूपनिरूपणप्रदेशेषु तत्र तत्र प्रतिपाद्यते एव तद् यथा *'तस्माद्युध्यस्व भारत'* *'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य'* *'कर्मण्येवाधिकारस्ते'* इत्यादौ । अतः च कथम् आत्मविदः कर्मयोगस्य असंभवः स्याद् इति ।

पू०—इस प्रकार तो आत्मस्वरूपका निरूपण करनेवाले स्थानोंमें जगह-जगह कर्मयोगका भी प्रतिपादन किया ही है जैसे **'इसलिये हे भारत ! तू युद्ध कर'** **'स्वधर्मकी ओर देखकर भी तुझे युद्धसे डरना उचित नहीं है'** **'तेरा कर्ममें ही अधिकार है'** इत्यादि । अत. आत्मज्ञानीके लिये कर्मयोगका होना असम्भव कैसे होगा ?

अत्र उच्यते सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानतत्कार्यविरोधात् ।

उ०—क्योंकि सम्यक् ज्ञान, मिथ्याज्ञान और उनके कार्यका परस्पर विरोध है ।

'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्' इति अनेन सांख्यानाम् आत्मतत्त्वविदाम् अनात्मवित्कर्तृककर्मयोगनिष्ठातो निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणाया ज्ञानयोगनिष्ठायाः पृथक्करणात् ।

कृतकृत्यत्वेन आत्मविदः प्रयोजनान्तराभावात् ।

'तस्य कार्यं न विद्यते' इति कर्तव्यान्तराभाववचनात् च ।

'न कर्मणामनारम्भात्' 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः' इत्यादिना च आत्मज्ञानाङ्गत्वेन कर्मयोगस्य विधानात् ।

'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' इति अनेन च उत्पन्नसम्यग्दर्शनस्य कर्मयोगाभाववचनात् ।

'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' इति च शरीरस्थितिकारणातिरिक्तस्य कर्मणो निवारणात् ।

'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इति अनेन च शरीरस्थितिमात्रप्रयुक्तेषु अपि दर्शनश्रवणादिकर्मसु आत्मयाथात्म्यविदः करोमि इति प्रत्ययस्य समाहितचेतस्तया सदा अकर्तव्यत्वोपदेशात् ।

आत्मतत्त्वविदः सम्यग्दर्शनविरुद्धो मिथ्याज्ञानहेतुकः कर्मयोगः स्वप्ने अपि न संभावयितुं शक्यते यस्मात् ।

तस्माद् अनात्मवित्कर्तृकयोः एव संन्यासकर्मयोगयोः निःश्रेयसकरत्ववचनं तदीयात् च कर्मसंन्यासात् पूर्वोक्तात्मवित्कर्तृक-

आत्मतत्त्वको जाननेवाले सांख्ययोगियोंकी निष्क्रिय आत्मस्वरूपसे स्थितिरूप ज्ञानयोगनिष्ठाको **'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्'** इस वचनद्वारा अज्ञानियोंद्वारा की जानेवाली कर्मयोगनिष्ठासे पृथक् कर दिया है ।

कृतकृत्य हो जानेके कारण आत्मज्ञानीके अन्य सब प्रयोजनोंका अभाव हो जाता है ।

'उसका कोई कर्तव्य नहीं रहता' इस कथनसे ज्ञानीके अन्य कर्तव्योंका अभाव बताया गया है ।

'कर्मोंका आरम्भ बिना किये ज्ञाननिष्ठा नहीं मिलती' 'हे महाबाहो ! बिना कर्मयोगके संन्यास प्राप्त करना कठिन है' इत्यादि वचनोंसे कर्मयोगको आत्मज्ञानका अङ्ग बताया गया है ।

'उसी योगारूढको उपशम कर्तव्य है' इस वचनसे यथार्थ ज्ञानीके लिये कर्मयोगके अभावका वर्णन है ।

'केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता' यहाँ भी ज्ञानीके लिये शरीर-स्थितिके कारणरूप कर्मोंसे अतिरिक्त कर्मोंका निवारण किया गया है ।

तथा **'तत्त्ववेत्ता योगी ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता'** इस कथनसे केवल शरीर-यात्राके लिये किये जानेवाले दर्शन, श्रवण आदि कर्मोंमें भी यथार्थदर्शीके लिये 'मैं करता हूँ' इस प्रत्ययको समाहितचित्तद्वारा हटानेका उपदेश है ।

इन सब कारणोंसे आत्मवेत्ता पुरुषके लिये यथार्थदर्शनसे विरुद्ध तथा मिथ्याज्ञानसे होनेवाला कर्मयोग स्वप्नमें भी सम्भव नहीं माना जा सकता ।

इसलिये यहाँ अज्ञानीके संन्यास और कर्मयोगको ही कल्याणकारक बताया है और उस अज्ञानीके संन्यासकी अपेक्षा ही (कर्मयोगकी श्रेष्ठताका विधान है) । अर्थात् जो पहले कहे हुए आत्मज्ञानीके संन्याससे विलक्षण है तथा

विज्ञाने कर्मैकदेशविषयाद् यमनियमादि-सहितत्वेन च दुरनुष्ठेयत्वात् सुकरत्वेन च कर्मयोगस्य विशिष्टत्वाभिधानम् इति ।

एवं प्रतिवचनवाक्यार्थनिरूपणेन अपि पूर्वोक्तः प्रष्टुः अभिप्रायो निश्चीयते इति स्थितम् ।

'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इति अत्र ज्ञानकर्मणोः सहासंभवे यत् श्रेय एतयो' तत् मे ब्रूहि इति एवं पृष्टः अर्जुनेन भगवान् सांख्यानां संन्यासिनां ज्ञानयोगेन निष्ठा पुनः कर्मयोगेन योगिनां निष्ठा प्रोक्ता इति निर्णयं चकार ।

न च संन्यसनाद् एव केवलात् सिद्धिं समधिगच्छति इति वचनाद् ज्ञानसहितस्य सिद्धिसाधनत्वम् इष्टं कर्मयोगस्य च विधानात् । ज्ञानरहितः संन्यासः श्रेयान् किंवा कर्मयोगः श्रेयान् इति एतयोः विशेषबुभुत्सया—

जो कर्तापनके ज्ञानसे युक्त होनेके कारण एकदेशीय* कर्मसंन्यास है और यम-नियमादि साधनोसे युक्त होनेके कारण अनुष्ठान करनेमे कठिन है, ऐसे संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग सुकर है, अतः उसकी श्रेष्ठताका विधान है ।

इस प्रकार भगवान्‌द्वारा दिये हुए उत्तरके अर्थ-का निरूपण करनेसे भी प्रश्नकर्ताका अभिप्राय पहले बतलाया हुआ ही निश्चित होता है, यह सिद्ध हुआ ।

'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इस श्लोकसे ज्ञान और कर्मका एक साथ साधन होना असम्भव समझकर इन दोनोमे जो कल्याणकर है, वह मुझसे कहिये, इस प्रकार अर्जुनद्वारा पूछे जानेपर भगवान्‌ने यह निर्णय किया कि सांख्ययोगियोकी अर्थात् संन्यासियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे और योगियोकी निष्ठा कर्मयोगसे कही गयी है ।

केवल संन्यास करने मात्रसे ही सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है, इस वचनसे ज्ञानसहित संन्यासको ही सिद्धिका साधन माना है, साथ ही कर्मयोगका भी विधान किया है, इसलिये ज्ञानरहित संन्यास कल्याणकर है अथवा कर्मयोग, इन दोनोंकी विशेषता जाननेकी इच्छासे अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

संन्यासं परित्यागं कर्मणां शास्त्रीयाणाम् । अनुष्ठानविशेषाणां शंससि कथयसि इति एतत् । पुनः योगं च तेषाम् एव अनुष्ठानम् अवश्य-कर्तव्यत्वं शंससि ।

अतो मे कतरत् श्रेय इति संशयः किं कर्मानुष्ठानं श्रेयः किंवा तद्धानम् इति ।

आप पहले तो शास्त्रोक्त बहुत प्रकारके अनुष्ठानरूप कर्मोंका त्याग करनेके लिये कहते हैं अर्थात् उपदेश करते हैं और फिर उनके अनुष्ठान-की अवश्य-कर्तव्यतारूप योगको भी बतलाते है ।

इसलिये मुझे यह शङ्का होती है कि इनमेसे कौन-सा श्रेयस्कर है । कर्मोंका अनुष्ठान करना कल्याणकर है अथवा उनका त्याग करना ?

* ऐसे संन्यासमे गृहस्थाश्रमके कर्मोका तो त्याग है पर साथ ही सन्यास-आश्रमके कर्मोमे अभिमान रहता है इसलिये यह एकदेशीय सन्यास है ।

प्रशस्यतरं च अनुष्ठेयम् अतः च यत् श्रेयः प्रशस्यतरम् एतयोः कर्मसंन्यासकर्मानुष्ठानयोः यदनुष्ठानात् श्रेयोऽवाप्तिः मम स्याद् इति मन्यसे तद् एकम् अन्यतरत् सहैकपुरुषानुष्ठेयत्वासंभवात् मे ब्रूहि सुनिश्चितम् अभिप्रेतं तव इति ॥ १ ॥

जो श्रेष्ठतर हो उसीका अनुष्ठान करना चाहिये, इसलिये इन कर्मसंन्यास और कर्मयोगमे जो श्रेष्ठ हो अर्थात् जिसका अनुष्ठान करनेसे आप यह मानते है कि मुझे कल्याणकी प्राप्ति होगी, उस भलीभाँति निश्चय किये हुए एक ही अभिप्रायको अलग करके कहिये, क्योंकि एक पुरुषद्वारा एक साथ दोनोंका अनुष्ठान होना असम्भव है ॥ १ ॥

स्वाभिप्रायम् आचक्षाणो निर्णयाय—
श्रीभगवान् उवाच—

अर्जुनके प्रश्नका निर्णय करनेके लिये भगवान् अपना अभिप्राय बतलाते हुए बोले—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

संन्यासः कर्मणां परित्यागः कर्मयोगः च तेषाम् अनुष्ठानं तौ उभौ अपि निःश्रेयसकरौ निःश्रेयसं मोक्षं कुर्वाते ।

ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन उभौ यद्यपि निःश्रेयसकरौ तथापि तयोः तु निःश्रेयसहेत्वोः कर्मसंन्यासात् केवलात् कर्मयोगो विशिष्यते इति कर्मयोगं स्तौति ॥ २ ॥

संन्यास—कर्मोंका परित्याग और कर्मयोग उनका अनुष्ठान करना, ये दोनों ही कल्याणकारक अर्थात् मुक्तिके देनेवाले है ।

यद्यपि ज्ञानकी उत्पत्तिमे हेतु होनेसे ये दोनो ही कल्याणकारक हैं तथापि कल्याणके उन दोनों कारणोमे ज्ञानरहित केवल संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है । इस प्रकार भगवान् कर्मयोगकी स्तुति करते हैं ॥२॥

कस्मात्, इति आह—

(कर्मयोग श्रेष्ठ) कैसे है ? इसपर कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

ज्ञेयो ज्ञातव्यः स कर्मयोगी नित्यसंन्यासी इति, यो न द्वेष्टि किंचिद् न काङ्क्षति, दुःखसुखे तत्साधने च एवंविधो यः कर्मणि वर्तमानः अपि स नित्यसंन्यासी इति ज्ञातव्य इत्यर्थः ।

निर्द्वन्द्वो द्वन्द्ववर्जितो हि यस्माद् महाबाहो सुखं बन्धाद् अनायासेन प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

उस कर्मयोगीको सदा सन्यासी ही समझना चाहिये, कि जो न तो द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा ही करता है । अर्थात् जो सुख, दुःख और उनके साधनोमे उक्त प्रकारसे राग-द्वेपरहित हो गया है, वह कर्ममे वर्तता हुआ भी सदा संन्यासी ही है ऐसे समझना चाहिये ।

क्योकि हे महाबाहो ! राग-द्वेषादि द्वन्द्वोसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक—अनायास ही बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

संन्यासकर्मयोगयोः भिन्नपुरुषानुष्ठेययोः विरुद्धयोः फले अपि विरोधो युक्तो न तु उभयोः निःश्रेयसकरत्वम् एव इति प्राप्ते इदम् उच्यते—

भिन्न पुरुषोंद्वारा अनुष्ठान करनेयोग्य परस्पर-विरुद्ध कर्मसंन्यास और कर्मयोगके फलमें भी विरोध होना चाहिये, दोनोंका कल्याणरूप एक ही फल कहना ठीक नहीं, इस शङ्काके प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

सांख्ययोगौ पृथग् **विरुद्धभिन्नफलौ** बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

बालबुद्धिवाले ही सांख्य और योग—इन दोनोंको अलग-अलग विरुद्ध फलदायक बतलाते हैं, पण्डित नहीं ।

पण्डिताः तु ज्ञानिन एकं फलम् अविरुद्धम् इच्छन्ति ।

ज्ञानी—पण्डितजन् तो दोनोंका अविरुद्ध और एक ही फल मानते हैं ।

कथम् एकम् अपि **सांख्ययोगयोः** सम्यग् आस्थितः **सम्यग् अनुष्ठितवान् इत्यर्थः ।** उभयोः विन्दते फलम् ।

क्योंकि सांख्य और योग—इन दोनोंमेंसे एकका भी भली-भाँति अनुष्ठान कर लेनेवाला पुरुष दोनोंका फल पा लेता है ।

उभयोः तद् एव हि निःश्रेयसं फलम् अतो न फले विरोधः अस्ति ।

कारण दोनोंका वही (एक) कल्याणरूप (परमपद) फल है, इसलिये फलमें विरोध नहीं है ।

ननु संन्यासकर्मयोगशब्देन प्रस्तुत्य सांख्ययोगयोः फलैकत्वं कथम् इह अप्रकृतं ब्रवीति ।

पू०—'संन्यास' और 'कर्मयोग' इन शब्दोंसे प्रकरण उठाकर फिर यहाँ प्रकरणविरुद्ध सांख्य और योगके फलकी एकता कैसे कहते हैं ?

न एष दोषः, यद्यपि अर्जुनेन संन्यासं कर्मयोगं च केवलम् अभिप्रेत्य प्रश्नः कृतः, भगवान् तु तदपरित्यागेन एव स्वाभिप्रेतं च विशेषं संयोज्य शब्दान्तरवाच्यतया प्रतिवचनं ददौ, सांख्ययोगौ इति ।

उ०—यह दोष नहीं है । यद्यपि अर्जुनने केवल संन्यास और कर्मयोगको पूछनेके अभिप्रायसे ही प्रश्न किया था, परन्तु भगवान्‌ने उसके अभिप्रायको न छोड़कर ही अपना विशेष अभिप्राय जोड़ते हुए 'सांख्य' और 'योग' ऐसे इन दूसरे शब्दोंसे उनका वर्णन करके उत्तर दिया है ।

तौ एव संन्यासकर्मयोगौ ज्ञानतदुपायसमबुद्धित्वादिसंयुक्तौ सांख्ययोगशब्दवाच्यौ इति भगवतो मतम् अतो न अप्रकृतप्रक्रिया इति ॥ ४ ॥

क्योंकि वे संन्यास और कर्मयोग ही (क्रमानुसार) ज्ञानसे और उसके उपायरूप समबुद्धि आदि भावोंसे युक्त हो जानेपर सांख्य और योगके नामसे कहे जाते हैं, यह भगवान्‌का मत है, अतः यह वर्णन प्रकरणविरुद्ध नहीं है ॥ ४ ॥

एकस्य अपि सम्यग् अनुष्ठानात् कथम् । उभयोः फलं विन्दते, इति उच्यते—

एकका भी भली प्रकार अनुष्ठान कर लेनेसे दोनों-का फल कैसे पा लेता है ? इसपर कहा जाता है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

यत् सांख्यैः ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिः प्राप्यते स्थानं मोक्षाख्यं तद् योगैः अपि ।

सांख्ययोगियोंद्वारा अर्थात् ज्ञाननिष्ठायुक्त संन्यासियोंद्वारा जो मोक्ष नामक स्थान प्राप्त किया जाता है वही कर्मयोगियोंद्वारा भी (प्राप्त किया जाता है)।

ज्ञानप्राप्त्युपायत्वेन ईश्वरे समर्प्य कर्माणि आत्मनः फलम् अनभिसंधाय अनुतिष्ठन्ति ये ते योगिनः तैः अपि परमार्थज्ञानसंन्यासप्राप्ति-द्वारेण गम्यते इति अभिप्रायः ।

जो पुरुष अपने लिये (कर्मोंका) फल न चाहकर सब कर्म ईश्वरमे अर्पण करके और उसे ज्ञानप्राप्तिका उपाय मानकर उनका अनुष्ठान करते हैं वे योगी हैं, उनको भी परमार्थ-ज्ञानरूप संन्यासप्राप्तिके द्वारा (वही मोक्षरूप फल) मिलता है । यह अभिप्राय है।

अत एकं सांख्यं योगं च यः पश्यति फलै-कत्वात् स सम्यक् पश्यति इत्यर्थः ॥ ५ ॥

इसलिये फलमे एकता होनेके कारण जो सांख्य और योगको एक देखता है वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

एवं तर्हि योगात् संन्यास एव विशिष्यते, कथं तर्हि इदम् उक्तम् *'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'* इति ।

पू०—यदि ऐसा है तब तो कर्मयोगसे कर्मसंन्यास ही श्रेष्ठ है, फिर यह कैसे कहा कि **'उन दोनोंमें कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ?'**

शृणु तत्र कारणम् । त्वया पृष्टं केवलं कर्मसंन्यासं कर्मयोगं च अभिप्रेत्य तयोः अन्यतरः कः श्रेयान् । तदनुरूपं प्रतिवचनं मया उक्तं कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते इति ज्ञानम् अनपेक्ष्य ।

उ०—उसमे जो कारण है सो सुनो, तुमने केवल कर्मसंन्यास और केवल कर्मयोगके अभिप्रायसे पूछा था कि उन दोनोमे कौन-सा एक कल्याण-कारक है ? उसीके अनुरूप मैंने यह उत्तर दिया कि ज्ञानरहित कर्मसंन्यासकी अपेक्षा तो कर्मयोग ही श्रेष्ठ है ।

ज्ञानापेक्षः तु संन्यासः सांख्यम् इति मया अभिप्रेतः । परमार्थयोगः च स एव ।

क्योंकि ज्ञानसहित संन्यासको तो मै सांख्य मानता हूँ और वही परमार्थयोग भी है ।

यः तु कर्मयोगो वैदिकः स तादर्थ्याद् योगः संन्यास इति च उपचर्यते । कथं तादर्थ्यम्, इति उच्यते—

जो वैदिक (निष्काम) कर्मयोग है वह तो उसी ज्ञानयोगका साधन होनेके कारण गौणरूपसे योग और संन्यास कहा जाने लगा है । वह उसीका साधन कैसे है ? सो कहते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

संन्यासः तु **पारमार्थिको** दुःखम् आप्तुं **प्राप्तुम्** अयोगतो **योगेन विना** ।

योगयुक्तो **वैदिकेन कर्मयोगेन ईश्वरसमर्पितरूपेण फलनिरपेक्षेण युक्तो** मुनिः **मननाद् ईश्वरस्वरूपस्य मुनिः** ब्रह्म **परमात्मज्ञानलक्षणत्वात् प्रकृतः संन्यासो ब्रह्म उच्यते** *'न्यास इति ब्रह्म ब्रह्म हि परः'* (ना० उ० २ । ७८) **इति श्रुतेः** । **ब्रह्म परमार्थसंन्यासं परमात्मज्ञाननिष्ठालक्षणं** न चिरेण **क्षिप्रम् एव** अधिगच्छति **प्राप्नोति अतो मया उक्तम्** *'कर्मयोगो विशिष्यते'* **इति** ॥६॥

बिना कर्मयोगके पारमार्थिक संन्यास प्राप्त होना कठिन है—दुष्कर है ।

तथा फल न चाहकर ईश्वर-समर्पणके भावसे किये हुए वैदिक कर्मयोगसे युक्त हुआ, ईश्वरके स्वरूपका मनन करनेवाला मुनि, ब्रह्मको अर्थात् परमात्मज्ञाननिष्ठारूप पारमार्थिक संन्यासको, शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है इसलिये मैने कहा कि **'कर्मयोग श्रेष्ठ है'** । परमात्मज्ञानका सूचक होनेसे प्रकरणमे वर्णित सन्यास ही ब्रह्म नामसे कहा गया है, तथा **'संन्यास ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही पर है'** इस श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है ॥ ६ ॥

यदा पुनः अयं सम्यग्दर्शनप्राप्त्युपायत्वेन—

जब यह पुरुष सम्यक् ज्ञानप्राप्तिके उपायरूप—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

योगेन युक्तो योगयुक्तो विशुद्धात्मा **विशुद्धसत्त्वो** विजितात्मा **विजितदेहो** जितेन्द्रियः **च,** सर्वभूतात्मभूतात्मा **सर्वेषां ब्रह्मादीनां स्तम्बपर्यन्तानां भूतानाम् आत्मभूत आत्मा प्रत्यक्चेतनो यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा सम्यग्दर्शी इत्यर्थः** ।

स तत्र एवं वर्तमानो लोकसंग्रहाय कर्म कुर्वन् अपि न लिप्यते **न कर्मभिः बध्यते इत्यर्थः** ॥ ७ ॥

योगसे युक्त, विशुद्ध अन्तःकरणवाला, विजितात्मा—शरीरविजयी, जितेन्द्रिय और सब भूतोमे अपने आत्माको देखनेवाला अर्थात् जिसका अन्तरात्मा ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंका आत्मरूप हो गया हो, ऐसा, यथार्थ ज्ञानी हो जाता है ।

तब इस प्रकार स्थित हुआ वह पुरुष लोकसंग्रहके लिये कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्मोंसे नहीं बँधता ॥ ७ ॥

न च असौ परमार्थतः करोति अतः—

वास्तवमे वह कुछ करता भी नहीं है, इसलिये—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

न एव किंचित् करोमि इति युक्तः **समाहितः सन्** मन्येत **चिन्तयेत्** तत्त्ववित् **आत्मनो याथात्म्यं तत्त्वं वेत्ति इति तत्त्ववित् परमार्थदर्शी इत्यर्थः ।**

आत्माके यथार्थ स्वरूपका नाम तत्त्व है उसको जाननेवाला तत्त्वज्ञानी—परमार्थदर्शी, समाहित होकर ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता ।

कदा कथं वा तत्त्वम् अवधारयन् मन्येत इति उच्यते—

तत्त्वको समझकर कब और किस प्रकार ऐसे माने ? सो कहते हैं—

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

मन्येत इति पूर्वेण संबन्धः ।

(देखता, सुनता, छूता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्याग करता, ग्रहण करता तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयमें बर्त रही हैं ऐसे समझकर) ऐसे माने कि 'मैं कुछ भी नहीं करता ।' इस प्रकार इसका पहलेके आधे श्लोकसे सम्बन्ध है ।

यस्य एवं तत्त्वविदः सर्वकार्यकरणचेष्टासु कर्मसु अकर्म एव पश्यतः सम्यग्दर्शिनः तस्य सर्वकर्मसंन्यासे एव अधिकारः कर्मणः अभावदर्शनात् ।

न हि मृगतृष्णिकायाम् उदकबुद्ध्या पानाय प्रवृत्त उदकाभावज्ञाने अपि तत्र एव पानप्रयोजनाय प्रवर्तते ॥ ८-९ ॥

जो इस प्रकार तत्त्वज्ञानी है अर्थात् सब इन्द्रियाँ और अन्तःकरणोंकी चेष्टारूप कर्मोंमें अकर्म देखनेवाला है, वह अपनेमें कर्मोंका अभाव देखता है, इसलिये उस यथार्थ ज्ञानीका सर्वकर्मसंन्यासमें ही अधिकार है ।

क्योंकि मृगतृष्णिकामें जल समझकर उसको पीनेके लिये प्रवृत्त हुआ मनुष्य उसमें जलके अभावका ज्ञान हो जानेपर फिर भी वहीं जल पीनेके लिये प्रवृत्त नहीं होता ॥ ८-९ ॥

यः तु पुनः अतत्त्ववित् प्रवृत्तः च कर्मयोगे—

परन्तु जो तत्त्वज्ञानी नहीं है और कर्मयोगमें लगा हुआ है (यानी)

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

ब्रह्मणि **ईश्वरे** आधाय **निक्षिप्य तदर्थं करोमि** इति भृत्य इव स्वाम्यर्थं **सर्वाणि** कर्माणि मोक्षे

जो 'स्वामीके लिये कर्म करनेवाले नौकरकी भाँति मैं ईश्वरके लिये करता हूँ' इस भावसे सब कर्मोंको ईश्वरमें अर्पण करके यहाँतक कि मोक्षरूप

लिप्यते न स पापेन **संबध्यते** पद्मपत्रम् इव अम्भसा **उदकेन** ॥ १० ॥

वह, जैसे कमलका पत्ता जलमे रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता, वैसे ही पापोसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

केवलं सत्त्वशुद्धिमात्रफलम् एव तस्य कर्मणः स्यात्, यस्मात्—

उसके कर्मोंका फल तो केवल अन्तःकरणकी शुद्धिमात्र ही होता है, क्योंकि—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

कायेन **देहेन** मनसा बुद्ध्या **च** केवलैः **ममत्ववर्जितैः ईश्वराय एव कर्म करोमि न मम फलाय इति ममत्वबुद्धिशून्यैः** इन्द्रियैः अपि, **केवलशब्दः कायादिभिः अपि प्रत्येकं संबध्यते सर्वव्यापारेषु ममतावर्जनाय,** योगिनः **कर्मिणः** कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वा **फलविषयम्** आत्मशुद्धये **सत्त्वशुद्धये इत्यर्थः ।**

तस्मात् तत्र एव तव अधिकार इति कुरु कर्म एव ॥ ११ ॥

योगी लोग केवल यानी 'मैं सब कर्म ईश्वरके लिये ही करता हूँ, अपने फलके लिये नहीं।' इस भावसे जिनमे ममत्वबुद्धि नहीं रही है ऐसे शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोसे फलविषयक आसक्तिको छोड़कर आत्मशुद्धिके लिये अर्थात् अन्त.करणकी शुद्धिके लिये कर्म करते है। सभी क्रियाओमे ममताका निषेध करनेके लिये 'केवल' शब्दका काया आदि सभी शब्दोके साथ सम्बन्ध है।

तेरा भी उसीमे अधिकार है, इसलिये तू भी कर्म ही कर ॥ ११ ॥

यस्मात् च—

क्योंकि—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

युक्त **ईश्वराय कर्माणि न मम फलाय इति एवं समाहितः सन्** कर्मफलं त्यक्त्वा **परित्यज्य** शान्तिं **मोक्षाख्याम्** आप्नोति नैष्ठिकीं **निष्ठायां भवाम् ।**

सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिसर्वकर्मसंन्यासज्ञाननिष्ठाक्रमेण इति वाक्यशेषः ।

'सब कर्म ईश्वरके लिये ही है, मेरे फलके लिये नहीं' इस प्रकार निश्चयवाला योगी, कर्मफलका त्याग करके ज्ञाननिष्ठामे होनेवाली मोक्षरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ पहले अन्तःकरणकी शुद्धि, फिर ज्ञानप्राप्ति, फिर सर्व-कर्म-संन्यासरूप ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्ति—इस प्रकार क्रमसे परम शान्तिको प्राप्त होता है, इतना वाक्य अधिक समझ लेना चाहिये।

यः तु पुनः अयुक्तः असमाहितः कामकारेण करणं कारः कामस्य कारः कामकारः तेन कामकारेण कामप्रेरिततया इत्यर्थः । मम फलाय इदं करोमि कर्म इति एवं फले सक्तो निबध्यते । अतः त्वं युक्तो भव इत्यर्थः ॥ १२ ॥

परन्तु जो अयुक्त है अर्थात् उपर्युक्त निश्चयवाला नहीं है वह कामकी प्रेरणासे 'अपने फलके लिये यह कर्म मै करता हूँ' इस प्रकार फलमे आसक्त होकर बँधता है । इसलिये तू युक्त हो अर्थात् उपर्युक्त निश्चयवाला हो, यह अभिप्राय है । करणका नाम कार है, कामके करणका नाम कामकार है, उसमे तृतीया विभक्ति जोड़नेसे कामके कारणसे अर्थात् 'कामकी प्रेरणासे' यह अर्थ हुआ ॥ १२ ॥

यः तु परमार्थदर्शी सः—

परन्तु जो यथार्थ ज्ञानी है वह—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

सर्वाणि कर्माणि सर्वकर्माणि संन्यस्य परित्यज्य नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रतिषिद्धं च सर्वकर्माणि तानि मनसा विवेकबुद्ध्या कर्मादौ अकर्मसंदर्शनेन संत्यज्य इत्यर्थः, आस्ते तिष्ठति सुखम् ।

त्यक्तवाङ्मनःकायचेष्टो निरायासः प्रसन्नचित्त आत्मनः अन्यत्र निवृत्तबाह्यसर्वप्रयोजन इति सुखम् आस्ते इति उच्यते ।

वशी जितेन्द्रिय इत्यर्थः, क्व कथम् आस्ते इति आह—

नवद्वारे पुरे सप्त शीर्षण्यानि आत्मन उपलब्धिद्वाराणि अर्वाग् द्वे मूत्रपुरीषविसर्गार्थे तैः द्वारैः नवद्वारं पुरम् उच्यते । शरीरं पुरम् इव पुरम् आत्मैकस्वामिकम्, तदर्थप्रयोजनैः च इन्द्रियमनोबुद्धिविषयैः अनेकफलविज्ञानस्य उत्पादकैः पौरैः इव अधिष्ठितम्, तस्मिन् नवद्वारे पुरे देही सर्वं कर्म संन्यस्य आस्ते ।

(वशी—जितेन्द्रिय पुरुष) समस्त कर्मोंको मनसे छोड़कर अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध—इन सब कर्मोंको कर्मादिमे अकर्म-दर्शनरूप विवेक-बुद्धिके द्वारा त्यागकर सुखपूर्वक स्थित हो जाता है ।

मन, वाणी और शरीरकी चेष्टाको छोड़कर, परिश्रमरहित, प्रसन्नचित्त और आत्मासे अतिरिक्त अन्य सब बाह्य प्रयोजनोसे निवृत्त हुआ (वह) सुखपूर्वक स्थित होता है, ऐसे कहा जाता है ।

वशी—जितेन्द्रिय पुरुष कहाँ और कैसे रहता है ? सो कहते हैं—

नौ द्वारवाले पुरमे रहता है । अभिप्राय यह कि दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक मुख—शब्दादि विषयोको उपलब्ध करनेके ये सात द्वार शरीरके ऊपरी भागमे हैं और मल-मूत्रका त्याग करनेके लिये दो नीचेके अङ्गमे हैं, इन नौ द्वारोवाला शरीर पुर कहलाता है । शरीर भी एक पुरकी भाँति पुर है, जिसका स्वामी आत्मा है, उस आत्माके लिये ही जिनके सब प्रयोजन हैं, एवं जो अनेक फल और विज्ञानके उत्पादक हैं, उन इन्द्रिय, मन, बुद्धि और विषयरूप पुरवासियोसे जो युक्त है, उस नौ द्वारवाले पुरमे देही सब कर्मोंको छोड़कर रहता है ।

किं विशेषणेन, सर्वो हि देही संन्यासी असंन्यासी वा देहे एव आस्ते, तत्र अनर्थकं विशेषणम् इति ।

पू०—इस विशेषणसे क्या सिद्ध हुआ ? संन्यासी हो चाहे असंन्यासी, सभी जीव शरीरमें ही रहते है । इस स्थलमे विशेषण देना व्यर्थ है ।

उच्यते यः तु अज्ञो देही देहेन्द्रियसंघातमात्रात्मदर्शी स सर्वो गेहे भूमौ आसने वा आसे इति मन्यते । न हि देहमात्रात्मदर्शिनो गेहे इव देहे आसे इति प्रत्ययः संभवति ।

उ०—जो अज्ञानी जीव शरीर और इन्द्रियोंके संघातमात्रको आत्मा माननेवाले हैं वे सब 'घरमे भूमिपर या आसनपर बैठता हूँ' ऐसे ही माना करते हैं; क्योकि देहमात्रमे आत्मबुद्धियुक्त अज्ञानियों-को 'घरकी भॉति शरीरमे रहता हूँ' यह ज्ञान होना सम्भव नहीं ।

देहादिसंघातव्यतिरिक्तात्मदर्शिनः तु देहे आसे इति प्रत्यय उपपद्यते ।

परन्तु 'देहादि संघातसे आत्मा भिन्न है' ऐसा जाननेवाले विवेकीको 'मै शरीरमे रहता हूँ' यह प्रतीति हो सकती है ।

परकर्मणां च परस्मिन् आत्मनि अविद्यया अध्यारोपितानां विद्यया विवेकज्ञानेन मनसा संन्यास उपपद्यते ।

तथा निर्लेप आत्मामें अविद्यासे आरोपित जो परकीय (देह-इन्द्रियादिके) कर्म हैं, उनका विवेक-विज्ञानरूप विद्याद्वारा मनसे संन्यास होना भी सम्भव है ।

उत्पन्नविवेकज्ञानस्य सर्वकर्मसंन्यासिनः अपि गेहे इव देहे एव नवद्वारे पुरे आसनम् प्रारब्धफलकर्मसंस्कारशेषानुवृत्त्या देहे एव विशेषविज्ञानोत्पत्तेः ।

जिसमे विवेक-विज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे सर्वकर्मसंन्यासीका भी घरमे रहनेकी भॉति नौ द्वार-वाले शरीररूप पुरमे रहना प्रारब्ध-कर्मोंके अवशिष्ट संस्कारोकी अनुवृत्तिसे बन सकता है, क्योकि शरीरमे ही प्रारब्धफलभोगका विशेष ज्ञान होना सम्भव है ।

देहे एव आस्ते इति अस्ति एव विशेषणफलं विद्वदविद्वत्प्रत्ययभेदापेक्षत्वात् ।

अतः ज्ञानी और अज्ञानीकी प्रतीतिके भेदकी अपेक्षासे 'देहे एव आस्ते' इस विशेषणका फल अवश्य ही है ।

यद्यपि कार्यकरणकर्माणि अविद्यया आत्मनि अध्यारोपितानि संन्यस्य आस्ते इति उक्तं तथापि आत्मसमवायि तु कर्तृत्वं कारयितृत्वं च स्याद् इति आशङ्क्य आह—

यद्यपि 'कार्य, करण और कर्म जो अविद्यासे आत्मामे आरोपित है उन्हे छोड़कर रहता है' ऐसा कहा है तथापि आत्मासे नित्य सम्बन्ध रखनेवाले कर्तापन और करानेकी प्रेरकता ये दोनों भाव तो उस (आत्मा) मे रहेगे ही ? इस शङ्कापर कहते हैं—

न एव कुर्वन् स्वयं न कार्यकरणानि कारयन् क्रियासु प्रवर्तयन् ।

स्वयं न करता हुआ और शरीर-इन्द्रियादिसे न करवाता हुआ अर्थात् उनको कर्मोंमे प्रवृत्त न करता हुआ (रहता है) ।

किं यत् तत् कर्तृत्वं कारयितृत्वं च देहिनः स्वात्मसमवायि सत् संन्यासाद् न भवति यथा गच्छतो गतिः गमनव्यापारपरित्यागे न स्यात् तद्वत्, किं वा स्वत एव आत्मनो नास्ति इति ।

अत्र उच्यते न अस्ति आत्मनः स्वतः कर्तृत्वं कारयितृत्वं च । उक्तं हि—*'अविकार्योऽयमुच्यते'* *'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'* इति । *'ध्यायतीव लेलायतीव'* (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इति च श्रुतेः ॥ १३ ॥

पू०—जैसे गमन करनेवालेकी गति गमनरूप व्यापारका त्याग करनेसे नहीं रहती, वैसे ही आत्मामें जो कर्तृत्व और कारयितृत्व है वह क्या आत्माके नित्य सम्बन्धी होते हुए ही संन्याससे नहीं रहते ? अथवा स्वभावसे ही आत्मामें नहीं हैं ?

उ०—आत्मामें कर्तृत्व और कारयितृत्व स्वभावसे ही नहीं हैं । क्योंकि 'यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है ।' 'हे कौन्तेय ! यह आत्मा शरीरमें स्थित हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है ।' ऐसा कह चुके हैं एवं 'ध्यान करता हुआ-सा, क्रिया करता हुआ-सा ।' इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

न कर्तृत्वं कुरु इति न अपि कर्माणि रथघटप्रासादादीनि ईप्सिततमानि लोकस्य सृजति उत्पादयति प्रभुः आत्मा, न अपि रथादिकृतवतः तत्फलेन संयोगं न कर्मफलसंयोगम् ।

यदि किंचिद् अपि स्वतो न करोति न कारयति च देही कः तर्हि कुर्वन् कारयन् च प्रवर्तते इति उच्यते ।

स्वभावः तु स्वो भावः स्वभावः अविद्यालक्षणा प्रकृतिः माया प्रवर्तते *'दैवी हि'* इत्यादिना वक्ष्यमाणा ॥ १४ ॥

देहादिका स्वामी आत्मा न तो 'तू असुक कर्म कर' इस प्रकार लोगोंके कर्तापनको उत्पन्न करता है, और न रथ, घट, महल आदि कर्म जो अत्यन्त इष्ट हैं उनको रचता है तथा न रथादि बनानेवालेका उसके कर्म-फलके साथ संयोग ही रचता है—

यदि यह देहादिका स्वामी आत्मा स्वयं कुछ भी नहीं करता-कराता, तो फिर यह सब कौन कर रहा और करा रहा है ? इसपर कहते हैं—

स्वभाव ही वर्तता है अर्थात् जो अपना भाव है, अविद्या जिसका स्वरूप है, जो 'दैवी हि' इत्यादि श्लोकोंसे आगे कही जानेवाली है, वह प्रकृति यानी माया ही सब कुछ कर रही है ॥ १४ ॥

परमार्थतः तु—

वास्तवमें तो—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

न आदत्ते **न च गृह्णाति भक्तस्य अपि** कस्यचित् पापं न च एव **आदत्ते** सुकृतं **भक्तैः प्रयुक्तं** विभुः ।

विभु (सर्वव्यापी परमात्मा) किसी भक्तके पापको भी ग्रहण नहीं करता और भक्तोंद्वारा अर्पण किये हुए सुकृतको भी वह नहीं लेता ।

किमर्थं तर्हि भक्तैः पूजादिलक्षणं यागदानहोमादिकं च सुकृतं प्रयुज्यते, इति आह—

तो फिर भक्तोंद्वारा पूजा आदि अच्छे कर्म एवं यज्ञ, दान, होम आदि सुकृत कर्म किसलिये अर्पण किये जाते हैं ? इसपर कहते हैं—

अज्ञानेन आवृतं ज्ञानं **विवेकविज्ञानं** तेन मुह्यन्ति **करोमि कारयामि भोक्ष्ये भोजयामि इति एवं मोहं गच्छन्ति अविवेकिनः संसारिणो** जन्तवः ॥ १५ ॥

जीवोंका विवेक-विज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है इस कारण अविवेकी—संसारी जीव ही 'करता हूँ', 'कराता हूँ', 'खाता हूँ', 'खिलाता हूँ', इस प्रकार मोहको प्राप्त हो रहे हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

ज्ञानेन तु **येन अज्ञानेन आवृता मुह्यन्ति जन्तवः** तद् अज्ञानं येषां **जन्तूनां विवेकज्ञानेन आत्मविषयेण** नाशितम् आत्मनो **भवति,** तेषाम् आदित्यवद् **यथा आदित्यः समस्तं रूपजातम् अवभासयति तद्वद्** ज्ञानं **ज्ञेयं वस्तु सर्वं** प्रकाशयति तत्परं **परमार्थतत्त्वम्** ॥ १६ ॥

जिन जीवोंके अन्तःकरणका वह अज्ञान, जिस अज्ञानसे आच्छादित हुए जीव मोहित होते हैं, आत्म-विषयक विवेक-ज्ञानद्वारा नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान, सूर्यकी भाँति उस परम परमार्थतत्त्वको प्रकाशित कर देता है। अर्थात् जैसे सूर्य समस्त रूप-मात्रको प्रकाशित कर देता है वैसे ही उनका ज्ञान समस्त ज्ञेय वस्तुको प्रकाशित कर देता है ॥ १६ ॥

यत् परं ज्ञानं प्रकाशितम्—

जो प्रकाशित हुआ परमज्ञान है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

तस्मिन् गता बुद्धिः येषां ते तद्बुद्धयः तदात्मानः**तद् एव परं ब्रह्म आत्मा येषां ते तदात्मानः** तन्निष्ठा **निष्ठा अभिनिवेशः तात्पर्यं सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य ब्रह्मणि एव अवस्थानं येषां ते तन्निष्ठाः ।**

उस परमार्थतत्त्वमे जिनकी बुद्धि जा पहुँची है वे 'तद्बुद्धि' हैं वह परब्रह्म ही जिनका आत्मा है वे 'तदात्मा' हैं, उस ब्रह्ममे ही जिनकी निष्ठा—दृढ आत्म-भावना—तत्परता है अर्थात् जो सब कर्मोंका संन्यास करके ब्रह्ममे ही स्थित हो गये हैं वे 'तन्निष्ठ' हैं ।

तत्परायणाः च तद् एव परम् अयनं परा गतिः येषां भवति ते तत्परायणाः केवलात्मरतय इत्यर्थः । येषां ज्ञानेन नाशितम् आत्मनः अज्ञानं ते गच्छन्ति एवंविधा अपुनरावृत्तिम् अपुनर्देहसंबन्धं ज्ञाननिर्धूतकल्मषा यथोक्तेन ज्ञानेन निर्धूतो नाशितः कल्मषः पापादिसंसारकारणदोषो येषां ते ज्ञाननिर्धूतकल्मषा यतय इत्यर्थः ॥ १७ ॥

वह परब्रह्म ही जिनका परम अयन—आश्रय—परमगति है अर्थात् जो केवल आत्मामे ही रत हैं वे 'तत्परायण' हैं, (इस प्रकार) जिनके अन्तःकरणका अज्ञान, ज्ञानद्वारा नष्ट हो गया है एवं उपर्युक्त ज्ञानद्वारा संसारके कारणरूप पापादि दोष जिनके नष्ट हो चुके हैं, ऐसे ज्ञाननिर्धूतकल्मष संन्यासी अपुनरावृत्तिको अर्थात्, जिस अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर फिर देहसे सम्बन्ध होना छूट जाता है, ऐसी अवस्थाको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

येषां ज्ञानेन नाशितम् आत्मनः अज्ञानं ते पण्डिताः कथं तत्त्वं पश्यन्ति, इति उच्यते—

जिनके आत्माका अज्ञान ज्ञानद्वारा नष्ट हो चुका है वे पण्डितजन परमार्थतत्त्वको कैसे देखते हैं ? सो कहते है—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

विद्याविनयसम्पन्ने विद्या च विनयः च विद्याविनयौ विद्या आत्मनो बोधो विनय उपशमः ताभ्यां विद्याविनयाभ्यां संपन्नो विद्याविनयसंपन्नो विद्वान् विनीतः च यो ब्राह्मणः तस्मिन् ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि च एव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।

विद्याविनयसंपन्ने उत्तमसंस्कारवति ब्राह्मणे सात्त्विके मध्यमायां च राजस्यां गवि संस्कारहीनायाम् अत्यन्तम् एव केवलतामसे हस्त्यादौ च सत्त्वादिगुणैः तज्जैः च संस्कारैः तथा राजसैः तथा तामसैः च संस्कारैः अत्यन्तम् एव अस्पृष्टं समम् एकम् अविक्रियं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमे अर्थात् विद्या—आत्मबोध और विनय—उपरामता—इन दोनो गुणोंसे सम्पन्न जो विद्वान् और विनीत ब्राह्मण है, उस ब्राह्मणमे, गौमे, हाथीमे, कुत्तेमे और चाण्डालमे भी पण्डितजन समभावसे देखनेवाले (होते हैं) ।

अभिप्राय यह कि, उत्तम—संस्कारयुक्त विद्याविनयसम्पन्न सात्त्विक ब्राह्मणमे, मध्यम प्राणी संस्काररहित रजोगुणयुक्त गौमे और (कनिष्ठ प्राणी)—अतिशय मूढ केवल तमोगुणयुक्त हाथी आदिमें सत्त्वादि गुणोसे और उनके संस्कारोसे तथा राजस और तामस संस्कारोंसे सर्वथा ही निर्लेप रहनेवाले, सम, एक निर्विकार ब्रह्मको देखना ही जिनका स्वभाव है वे पण्डित समदर्शी है ॥ १८ ॥

ननु अभोज्यान्नाः ते दोषवन्तः *'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः'* (गौ० स्मृ० १७ । २०) इति स्मृतेः ।

पू०—वे (इस प्रकार देखनेवाले) दोषयुक्त हैं, उनका अन्न भोजन करने योग्य नहीं । क्योंकि यह स्मृतिका प्रमाण है कि '**समान गुण-शीलवालोंकी विषम पूजा करनेसे और विषम गुणशीलवालोंकी सम पूजा करनेसे (यजमान दोषी होता है)।'**

न ते दोषवन्तः। कथम्—

उ०—वे दोषी नहीं हैं। क्योंकि—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

इह एव **जीवद्भिः एव** तैः **समदर्शिभिः पण्डितैः** जितो **वशीकृतः** सर्गो जन्म येषां साम्ये **सर्वभूतेषु ब्रह्मणि समभावे** स्थितं **निश्चलीभूतं** मनः **अन्तःकरणम्**।

जिनका अन्तःकरण समतामे अर्थात् सब भूतोंके अन्तर्गत ब्रह्मरूप समभावमे स्थित यानी निश्चल हो गया है, उन समदर्शी पण्डितोने यहाँ जीवितावस्थामे ही सर्गको यानी जन्मको जीत लिया है अर्थात् उसे अपने अधीन कर लिया है।

निर्दोषं **यद्यपि दोषवत्सु श्वपाकादिषु मूढैः तद्दोषैः दोषवद् इव विभाव्यते तथापि तद्दोषैः अस्पृष्टम् इति। निर्दोषं दोषवर्जितं** हि **यस्मात्।**

क्योंकि ब्रह्म निर्दोष (और सम) है। यद्यपि मूर्ख लोगोको दोषयुक्त चाण्डालादिमे उनके दोषोके कारण आत्मा दोपयुक्त-सा प्रतीत होता है, तो भी वास्तवमे वह (आत्मा) उनके दोषोंसे निर्लिप्त ही है।

न अपि स्वगुणभेदभिन्नं निर्गुणत्वात् चैतन्यस्य, वक्ष्यति च भगवान् इच्छादीनां क्षेत्रधर्मत्वम् *'अनादित्वाद् निर्गुणत्वात्'* **इति च। न अपि अन्त्या विशेषा आत्मनो भेदकाः सन्ति प्रतिशरीरं तेषां सत्त्वे प्रमाणानुपपत्तेः।**

चेतन आत्मा निर्गुण होनेके कारण अपने गुणके भेदसे भी भिन्न नहीं है। भगवान् भी इच्छादिको क्षेत्रके ही धर्म बतलावेंगे तथा **'अनादि और निर्गुण होनेके कारण'** (आत्मा लिप्त नहीं होता) यह भी कहेंगे। (वैशेषिक शास्त्रमें बतलाये हुए नित्य द्रव्यगत) 'अन्त्य विशेष' भी आत्मामे भेद उत्पन्न करनेवाले नहीं है, क्योंकि प्रत्येक शरीरमे उन अन्त्य विशेषोके होनेका कोई प्रमाण सम्भव नहीं है।

अतः समं ब्रह्म **एकं च** तस्माद् ब्रह्मणि **एव** ते स्थिताः **तस्माद् न दोषगन्धमात्रम् अपि तान् स्पृशति, देहादिसंघातात्मदर्शनाभिमानाभावात्।**

अतः (यह सिद्ध हुआ कि) ब्रह्म सम है और एक ही है। इसलिये वे समदर्शी पुरुष ब्रह्ममे ही स्थित हैं, इसी कारण उनको दोषकी गन्ध भी स्पर्श नहीं कर पाती। क्योंकि उनमेसे देहादि संघातको आत्मारूपसे देखनेका अभिमान जाता रहा है।

देहादिसंघातात्मदर्शनाभिमानवद्विषयं तु तत् सूत्रम् *'समासमाभ्या विषमसमे पूजातः'* **इति पूजाविषयत्वविशेषणात्।**

'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' यह सूत्र पूजाविषयक विशेषणसे युक्त होनेके कारण देहादि संघातमे आत्मदृष्टिके अभिमानवाले पुरुषोके विषयमे है।

दृश्यते हि ब्रह्मवित् षडङ्गवित् चतुर्वेदविद् इति पूजादानादौ गुणविशेषसंबन्धः कारणम् ।

क्योंकि पूजा, दान आदि कर्मोंमें (भेदबुद्धिका) कारण 'ब्रह्मवेत्ता' 'छओं अङ्गोंको जाननेवाला' 'चारों वेदोंको जाननेवाला' इत्यादि विशेष गुणोंका सम्बन्ध देखा जाता है ।

ब्रह्म तु सर्वगुणदोषसंबन्धवर्जितम् इति अतो ब्रह्मणि ते स्थिता इति युक्तम् ।

परन्तु ब्रह्म सम्पूर्ण गुण-दोषोंके सम्बन्धसे रहित है इसलिये यह (कहना) ठीक है कि वे ब्रह्ममें स्थित हैं ।

कर्मिविषयं च *'समासमाभ्याम्'* इत्यादि, इदं तु सर्वकर्मसंन्यासिविषयं प्रस्तुतम् *'सर्वकर्माणि मनसा'* इति आरभ्य आ-अध्यायपरिसमाप्तेः १९

इसके अतिरिक्त **'समासमाभ्याम्'** इत्यादि कथन तो कर्मियोंके विषयमें है और यह **'सर्वकर्माणि मनसा'** इस श्लोकसे लेकर अध्यायसमाप्तितक सारा प्रकरण सर्व-कर्म-संन्यासीके विषयमें है ॥१९॥

यस्माद् निर्दोषं समं ब्रह्म आत्मा तस्मात्—

क्योंकि निर्दोष और सम ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिये—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

न प्रहृष्येद् **न प्रहर्षं कुर्यात्** प्रियम् **इष्टं** प्राप्य **लब्ध्वा,** न उद्विजेत् प्राप्य **एव च** अप्रियम् **अनिष्टं लब्ध्वा,**

प्रिय वस्तुको प्राप्त करके तो हर्षित न हो अर्थात् इष्टवस्तु पाकर तो हर्ष न माने और अप्रिय–अनिष्ट पदार्थके मिलनेपर उद्वेग न करे ।

देहमात्रात्मदर्शिनां हि प्रियाप्रियप्राप्ती हर्षविषादस्थाने न केवलात्मदर्शिनः तस्य प्रियाप्रियप्राप्त्यसंभवात् ।

क्योंकि देहमात्रमें आत्मबुद्धिवाले पुरुषको ही प्रियकी प्राप्ति हर्ष देनेवाली और अप्रियकी प्राप्ति शोक उत्पन्न करनेवाली हुआ करती है, केवल उपाधिरहित आत्माका साक्षात् करनेवाले पुरुषको नहीं । कारण, उसके लिये (वास्तवमें) प्रिय और अप्रियकी प्राप्ति असम्भव है ।

किं च सर्वभूतेषु एकः समो निर्दोष आत्मा इति स्थिरा निर्विचिकित्सा बुद्धिः यस्य स **स्थिरबुद्धिः असंमूढः** संमोहवर्जितः च स्याद् यथोक्तो **ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः** अकर्मकृत् सर्वकर्मसंन्यासी इत्यर्थः ॥ २० ॥

सब भूतोंमें आत्मा एक है, सम है और निर्दोष है, ऐसी संशय-रहित बुद्धि जिसकी स्थिर हो चुकी है और जो मोह—अज्ञानसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्ममें ही स्थित है । अर्थात् वह कर्म न करनेवाला—सर्व कर्मोंका त्यागी ही है ॥२०॥

किं च ब्रह्मणि स्थितः—

और भी वह ब्रह्ममें स्थित हुआ पुरुष (कैसा होता है सो बताते हैं)—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

बाह्यस्पर्शेषु बाह्याः च स्पर्शाः च ते बाह्यस्पर्शाः स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः शब्दादयो विषयाः तेषु बाह्यस्पर्शेषु असक्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः अयम् असक्तात्मा विषयेषु प्रीतिवर्जितः सन् विन्दति लभते आत्मनि यत् सुखं तद् विन्दति इति एतत् ।

'जिनका इन्द्रियोंद्वारा स्पर्श (ज्ञान) किया जा सके वे स्पर्श हैं'—इस व्युत्पत्तिसे शब्दादि विषयोंका नाम स्पर्श है, (वे सब अपने भीतर नहीं है इसलिये बाह्य है) उन बाह्य स्पर्शोंमें जिसका अन्तःकरण आसक्त नहीं है, ऐसा विषयप्रीतिसे रहित पुरुष उस सुखको प्राप्त होता है जो अपने भीतर है ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ब्रह्मणि योगः समाधिः ब्रह्मयोगः तेन ब्रह्मयोगेन युक्तः समाहितः तस्मिन् व्यापृत आत्मा अन्तःकरणं यस्य स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखम् अक्षयम् अश्नुते प्राप्नोति ।

तथा वह ब्रह्मयोग-युक्तात्मा—ब्रह्ममें जो समाधि है उसका नाम ब्रह्मयोग है, उस ब्रह्मयोगसे जिसका अन्तःकरण युक्त है—अच्छी प्रकार उसमे समाहित है—लगा हुआ है, ऐसा पुरुष अक्षय सुखको–अनुभव करता है—प्राप्त होता है ।

तस्माद् बाह्यविषयप्रीतेः क्षणिकाया इन्द्रियाणि निवर्तयेद् आत्मनि अक्षयसुखार्थी इत्यर्थः ॥ २१ ॥

इसलिये अपने-आप अक्षय सुख चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह क्षणिक बाह्य विषयोंकी प्रीतिसे इन्द्रियोंको हटा ले ।-यह अभिप्राय है ॥ २१ ॥

इतः च निवर्तयेत्—

इसलिये भी (इन्द्रियोंको विषयोंसे) हटा लेना चाहिये—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

ये हि यस्मात् संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसंस्पर्शेभ्यो जाता भोगा भुक्तयो दुःखयोनय एव ते अविद्याकृतत्वात् । दृश्यन्ते हि आध्यात्मिकादीनि दुःखानि तन्निमित्तानि एव ।

क्योंकि विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न जो भोग है वे सब अविद्याजन्य होनेसे केवल दुःखके ही कारण हैं; क्योंकि आध्यात्मिक आदि (तीनों प्रकारके) दुःख उनके ही निमित्तसे होते हुए देखे जाते हैं ।

यथा इह लोके तथा परलोके अपि इति गम्यते एवशब्दात् ।

'एव' शब्दसे यह भी प्रकट होता है कि ये जैसे इस लोकमे दुःखप्रद हैं, वैसे ही परलोकमे भी दुःखद हैं।

न संसारे सुखस्य गन्धमात्रम् अपि अस्ति, इति बुद्ध्वा विषयमृगतृष्णिकाया इन्द्रियाणि निवर्तयेत् ।

संसारमें सुखकी गन्धमात्र भी नहीं है, यह समझकर विषयरूप मृगतृष्णिकासे इन्द्रियोंको हटा लेना चाहिये ।

न केवलं दुःखयोनयः आद्यन्तवन्तः च आदिः विषयेन्द्रियसंयोगो भोगानाम् अन्तः च तद्वियोग एव ।

ये विषय-भोग केवल दुःखके कारण हैं, इतना ही नहीं, किन्तु ये आदि-अन्तवाले भी हैं, विषय और इन्द्रियोंका संयोग होना भोगोंका आदि है और वियोग होना ही अन्त है ।

अत आद्यन्तवन्तः अनित्या मध्यक्षण-भावित्वाद् इत्यर्थः ।

इसलिये जो आदि-अन्तवाले हैं वे केवल बीचके क्षणमें ही प्रतीतिवाले होनेसे अनित्य हैं ।

कौन्तेय न तेषु भोगेषु रमते बुधो विवेकी अवगतपरमार्थतत्त्वः, अत्यन्तमूढानाम् एव हि विषयेषु रतिः दृश्यते, यथा पशुप्रभृतीनाम् ॥ २२ ॥

हे कौन्तेय ! परमार्थतत्त्वको जाननेवाला विवेकशील बुद्धिमान् पुरुष उन भोगोंमें नहीं रमा करता । क्योंकि केवल अत्यन्त मूढ पुरुषोंकी ही पशु आदिकी भाँति विषयोंमें प्रीति देखी जाती है ॥ २२ ॥

अयं च श्रेयोमार्गप्रतिपक्षी कष्टतमो दोषः सर्वानर्थप्राप्तिहेतुः दुर्निवार्यः च इति तत्परिहारे यत्नाधिक्यं कर्तव्यम् इति आह भगवान्—

कल्याणके मार्गका प्रतिपक्षी यह (काम-क्रोधका वेगरूप) दोष बड़ा दुःखदायक है, सब अनर्थोंकी प्राप्तिका कारण है और निवारण करनेमें अति कठिन भी है । इसलिये भगवान् कहते हैं कि इसको नष्ट करनेके लिये खूब प्रयत्न करना चाहिये ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

शक्नोति उत्सहते इह एव जीवन् एव यः सोढुं प्रसहितुं प्राक् पूर्वं शरीरविमोक्षणात् आ मरणात् ।

जो मनुष्य यहाँ—जीवितावस्थामें ही शरीर छूटनेसे पहले-पहले अर्थात् मरणपर्यन्त (काम-क्रोधसे उत्पन्न हुए वेगको) सहन कर सकता है अर्थात् सहन करनेका उत्साह रखता है (वही युक्त और सुखी है) ।

मरणसीमाकरणं जीवतः अवश्यंभावी हि कामक्रोधोद्भवो वेगः अनन्तनिमित्तवान् हि स इति, यावद् मरणं तावद् न विश्रम्भणीय

जीवित पुरुषके अन्तःकरणमें काम-क्रोधका वेग अवश्य ही होता है, इसलिये मरणपर्यन्तकी सीमा की गयी है, क्योंकि वह काम-क्रोध-जनित वेग अनेक निमित्तोंसे प्रकट होनेवाला है, अतः मरनेतक उसका विश्वास न करे । (सदैव उससे सावधान

काम इन्द्रियगोचरप्राप्ते इष्टे विषये श्रूयमाणे स्मर्यमाणे वा अनुभूते सुखहेतौ या गर्धिः तृष्णा स कामः ।

किसी अनुभव किये हुए सुखदायक इष्ट-विषयके इन्द्रियगोचर हो जानेपर यानी सुन जानेपर या स्मरण हो जानेपर उसको पानेकी जो लालसा—तृष्णा होती है उसका नाम काम है ।

क्रोधः च आत्मनः प्रतिकूलेषु दुःखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा यो द्वेषः स क्रोधः ।

वैसे ही अपने प्रतिकूल दुःखदायक विषयोंके दीखने, सुनायी देने या स्मरण होनेपर उनमें जो द्वेष होता है उसका नाम क्रोध है ।

तौ कामक्रोधौ उद्भवौ यस्य वेगस्य स कामक्रोधोद्भवो वेगो रोमाञ्चनहृष्टनेत्रवदनादिलिङ्गः अन्तःकरणप्रक्षोभरूपः कामोद्भवो वेगः ।

वे काम और क्रोध जिस वेगके उत्पादक होते हैं वह काम-क्रोधसे उत्पन्न हुआ वेग कहलाता है । रोमाञ्च होना, मुख और नेत्रोंका प्रफुल्लित होना इत्यादि चिह्नोंवाला जो अन्तःकरणका क्षोभ है, वह कामसे उत्पन्न हुआ वेग है ।

गात्रप्रकम्पप्रस्वेदसंदष्टौष्ठपुटरक्तनेत्रादिलिङ्गः क्रोधोद्भवो वेगः ।

तथा शरीरका काँपना, पसीना आ जाना, होठोंको चबाने लगना, नेत्रोंका लाल हो जाना इत्यादि चिह्नोंवाला वेग क्रोधसे उत्पन्न हुआ वेग है ।

तं कामक्रोधोद्भवं वेगं य उत्सहते प्रसहते सोढुं प्रसहितुं स युक्तो योगी सुखी च इह लोके नरः ॥ २३ ॥

ऐसे काम और क्रोधके वेगको जो सहन कर सकता है उसको सहन करनेका उत्साह रखता है वह मनुष्य इस संसारमें योगी है और वही सुखी है ॥ २३ ॥

कथंभूतः च ब्रह्मणि स्थितो ब्रह्म प्राप्नोति इति आह—

ब्रह्ममें स्थित हुआ कैसा पुरुष ब्रह्मको प्राप्त होता है ? सो कहते हैं—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

यः अन्तःसुखः अन्तरात्मनि सुखं यस्य सः अन्तःसुखः तथा अन्तरेव आत्मनि आराम आक्रीडा यस्य सः अन्तरारामः तथा एव अन्तरात्मा एव ज्योतिः प्रकाशो यस्य सः अन्तर्ज्योतिः एव ।

जो पुरुष अन्तरात्मामें सुखवाला है—जिसको अन्तरात्मामें ही सुख है वह अन्तःसुखवाला है तथा जो अन्तरात्मामें रमण करनेवाला है—जिसकी क्रीड़ा (खेल) अन्तरात्मामें ही होती है वह अन्तरारामी है और अन्तरात्मा ही जिसकी ज्योति—प्रकाश है वह अन्तर्ज्योति है ।

य ईदृशः स योगी ब्रह्मनिर्वाणं **ब्रह्मणि निर्वृतिं मोक्षम् इह जीवन् एव** ब्रह्मभूतः **सन्** अधिगच्छति **प्राप्नोति** ॥ २४ ॥

जो ऐसा योगी है वह यहाँ जीवितावस्थामे ही ब्रह्मरूप हुआ ब्रह्ममे लीन होनारूप मोक्षको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

किं च—

और भी—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं **मोक्षम्** ऋषयः **सम्यग्दर्शिनः संन्यासिनः** क्षीणकल्मषाः **क्षीणपापादिदोषाः** छिन्नद्वैधाः **छिन्नसंशया** यतात्मानः **संयतेन्द्रियाः** सर्वभूतहिते रताः **सर्वेषां भूतानां हिते आनुकूल्ये रता अहिंसका इत्यर्थः** ॥ २५ ॥

जिनके पापादि दोष नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय क्षीण हो गये हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, जो सब भूतोंके हितमे अर्थात् अनुकूल आचरणमे रत हैं अर्थात् अहिंसक हैं, ऐसे ऋषिजन—सम्यक् ज्ञानी—संन्यासी लोग ब्रह्मनिर्वाणको अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

किं च—

तथा—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां **कामः च क्रोधः च कामक्रोधौ ताभ्यां वियुक्तानां** यतीनां **संन्यासिनां** यतचेतसां **संयतान्तःकरणानाम्** अभित **उभयतो जीवतां मृतानां च** ब्रह्मनिर्वाणं **मोक्षो** वर्तते विदितात्मनां **विदितो ज्ञात आत्मा येषां ते विदितात्मानः तेषां विदितात्मनां सम्यग्दर्शिनाम् इत्यर्थः** ॥ २६ ॥

जो काम और क्रोध—इन दोनो दोषोंसे रहित हो चुके हैं, जिन्होने अन्तःकरणको अपने वशमे कर लिया है, जिन्होंने आत्माको जान लिया है, ऐसे आत्मज्ञानी सम्यग्दर्शी यती—संन्यासियोंको दोनो ओरसे अर्थात् जीवित रहते हुए भी और मरनेके पश्चात् भी दोनों अवस्थाओमे ब्रह्मनिर्वाण यानी मोक्ष प्राप्त रहता है ॥ २६ ॥

सम्यग्दर्शननिष्ठानां संन्यासिनां सद्योमुक्तिः उक्ता कर्मयोगः च ईश्वरार्पितसर्वभावेन ईश्वरे ब्रह्मणि आधाय क्रियमाणः सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिसर्वकर्मसंन्यासक्रमेण मोक्षाय इति भगवान् पदे पदे अब्रवीद् वक्ष्यति च ।

यथार्थ ज्ञानमे निष्ठावाले संन्यासियोंके लिये सद्यः (तुरंत ही होनेवाली) मुक्ति बतलायी गयी है तथा सब प्रकार ईश्वरार्पितभावसे पूर्ण ब्रह्म परमात्मामे सब कर्मोंका त्याग करके किया हुआ कर्मयोग भी अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञानप्राप्ति और सर्वकर्मसंन्यासके क्रमसे मोक्षदायक है—यह बात भगवान्‌ने पद-पदपर कही है और (आगे भी) कहेंगे ।

अथ इदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्य अन्तरङ्गं विस्तरेण वक्ष्यामि इति, तस्य सूत्रस्थानीयान् श्लोकान् उपदिशति स्म—

अब सम्यक् ज्ञानके अन्तरङ्ग साधनरूप ध्यानयोगको विस्तारपूर्वक कहूँगा, यह विचारकर, उस ध्यानयोगके सूत्रस्थानीय श्लोकोंका उपदेश करते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

स्पर्शान् शब्दादीन् कृत्वा बहिः बाह्यान् श्रोत्रादिद्वारेण अन्तर्बुद्धौ प्रवेशिताः शब्दादयो विषयाः तान् अचिन्तयतो बाह्या बहिः एव कृता भवन्ति । तान् एवं बहिः कृत्वा चक्षुः च एव अन्तरे भ्रुवोः कृत्वा इति अनुषज्यते । तथा प्राणापानौ नासाभ्यन्तरचारिणौ समौ कृत्वा ॥ २७ ॥

शब्दादि बाह्य विषयोंको बाहर करके यानी जो शब्दादि विषय श्रोत्रादि इन्द्रियोंद्वारा अन्तःकरणके भीतर प्रविष्ट कर लिये गये है, उनका चिन्तन न करना ही बाह्य विषयोंको निकाल बाहर करना है, इस प्रकार उनको बाहर करके एवं दोनो नेत्रों (की दृष्टि) को भृकुटिके मध्यस्थानमें स्थित करके तथा नासिका (और कण्ठादि आभ्यन्तर भागो) के भीतर विचरनेवाले प्राण और अपानको समान करके ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिः यतानि संयतानि इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः च यस्य स यतेन्द्रियमनोबुद्धिः मननाद् मुनिः संन्यासी मोक्षपरायण एवं देहसंस्थानो मोक्षपरायणो मोक्ष एव परम् अयनं परा गतिः यस्य स अयं मोक्षपरायणो मुनिः भवेत् । विगतेच्छाभयक्रोध इच्छा च भयं च क्रोधः च इच्छाभयक्रोधाः ते विगता यस्मात् स विगतेच्छाभयक्रोधः । य एवं वर्तते सदा संन्यासी मुक्त एव स न तस्य मोक्षः अन्यः कर्तव्यः अस्ति ॥ २८ ॥

जिसके इन्द्रिय, मन और बुद्धि वशमे किये हुए हैं, जो ईश्वरके स्वरूपका मनन करनेसे मुनि यानी संन्यासी है, जो शरीरमे रहता हुआ भी मोक्षपरायण है, अर्थात् जो मोक्षको ही परम आश्रय—परम गति समझनेवाला मुनि है तथा जो इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो चुका है—जिसके इच्छा, भय और क्रोध चले गये हैं—जो इस प्रकार बर्तता है वह संन्यासी सदा मुक्त ही है, उसे कोई दूसरी मुक्ति प्राप्त नहीं करनी है ॥ २८ ॥

एवं समाहितचित्तेन किं विज्ञेयम् इति उच्यते—

इस प्रकार समाहित-चित्त हुए पुरुषद्वारा जाननेयोग्य क्या है ? इसपर कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

भोक्तारं **यज्ञानां तपसां च कर्तृरूपेण देवतारूपेण च** सर्वलोकमहेश्वरं **सर्वेषां लोकानां महान्तम् ईश्वरं सर्वलोकमहेश्वरम्,** सुहृदं सर्वभूतानां **सर्वप्राणिनां प्रत्युपकारनिरपेक्षतया उपकारिणम्, सर्वभूतानां हृदयेशयं सर्वकर्मफलाध्यक्षं सर्वप्रत्ययसाक्षिणं** मां **नारायणं** ज्ञात्वा शान्तिं **सर्वसंसारोपरतिम्** ऋच्छति **प्राप्नोति** ॥ २९ ॥

(मनुष्य) मुझ नारायणको कर्तारूपसे और देवरूपसे समस्त यज्ञों और तपोंका भोक्ता, सर्वलोक-महेश्वर अर्थात् सब लोकोंका महान् ईश्वर, समस्त प्राणियोंका सुहृद्—प्रत्युपकार न चाहकर उनका उपकार करनेवाला, सब भूतोंके हृदयमें स्थित, सब कर्मोंके फलोंका स्वामी और सब संकल्पोंका साक्षी जानकर शान्तिको अर्थात् सब संसारसे उपरामताको प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये प्रकृतिगर्भो नाम
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ॐ

षष्ठोऽध्यायः

अतीतान्तराध्यायान्ते ध्यानयोगस्य सम्यग्दर्शनं प्रति अन्तरङ्गस्य सूत्रभूताः श्लोकाः *'स्पर्शान्कृत्वा बहिः'* इत्यादय उपदिष्टाः तेषां वृत्तिस्थानीयः अयं षष्ठः अध्याय आरभ्यते ।

तत्र ध्यानयोगस्य बहिरङ्गं कर्म इति यावद् ध्यानयोगारोहणासमर्थः तावद् गृहस्थेन अधिकृतेन कर्तव्यं कर्म इति अतः तत् स्तौति ।

ननु किमर्थं ध्यानयोगारोहणसीमाकरणं यावता अनुष्ठेयम् एव विहितं कर्म यावज्जीवम् ।

न, *'आरुरुक्षोः मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'* इति विशेषणाद् आरूढस्य च शमेन एव संबन्धकरणात् ।

आरुरुक्षोः आरूढस्य च शमः कर्म च उभयं कर्तव्यत्वेन अभिप्रेतं चेत् स्यात् तदा आरुरुक्षोः आरूढस्य च इति शमकर्मविषय-भेदेन विशेषणं विभागकरणं च अनर्थकं स्यात् ।

तत्र आश्रमिणां कश्चिद् योगम् आरुरुक्षुः भवति आरूढः च कश्चिद् अन्ये न आरुरुक्षवो न च आरूढाः तान् अपेक्ष्य आरुरुक्षोः आरूढस्य च इति विशेषणं विभागकरणं च उपपद्यते एव इति चेत् ।

यथार्थ ज्ञानके लिये जो अन्तरङ्ग साधन है उस ध्यानयोगके सूत्ररूप जिन 'स्पर्शान्कृत्वा बहिः' इत्यादि श्लोकोंका पूर्वाध्यायके अन्तमें उपदेश किया है, उन श्लोकोंका व्याख्यारूप यह छठा अध्याय आरम्भ किया जाता है ।

परन्तु ध्यानयोगका बहिरङ्ग साधन कर्म है इसलिये जबतक ध्यानयोगपर आरूढ़ होनेमें समर्थ न हो, तबतक अधिकारी गृहस्थको कर्म करना चाहिये अतः उस (कर्म) की स्तुति करते हैं ।

पू०—ध्यानयोगपर आरूढ़ होनेतककी सीमा क्यों बाँधी गयी ? जबतक जीवे तबतक विहित कर्मोंका अनुष्ठान तो सबको करते ही रहना चाहिये ?

उ०—यह ठीक नहीं; क्योंकि **'योगपर आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मुनिके लिये कर्म कर्तव्य कहे गये हैं'** ऐसा कहा है और योगारूढ योगीका केवल उपशमसे ही सम्बन्ध बतलाया गया है ।

यदि आरुरुक्षु और आरूढ दोनोंहीके लिये शम और कर्म दोनों ही कर्तव्यरूपसे माने गये हो तो आरुरुक्षु और आरूढके शम और कर्म अलग-अलग विषय बतलाकर विशेषण देना और विभाग करना व्यर्थ होगा ।

पू०—उन आश्रमवालोंमे कोई योगारूढ होनेकी इच्छावाला होता है और कोई आरूढ होता है परन्तु कुछ दूसरे न तो आरूढ होते हैं और न आरुरुक्षु ही होते हैं । उनकी अपेक्षासे 'आरुरुक्षु' और 'आरूढ' यह विशेषण देना और (उन दोनों प्रकारके योगियोंको साधारण श्रेणीके लोगोंसे पृथक् करके) उनका विभाग करना, ये दोनों बातें ही बन सकती हैं ।

न, 'तस्यैव' इति वचनात्। पुनः योगग्रहणात् च 'योगारूढस्य' इति य आसीत् पूर्वं योगम् आरुरुक्षुः तस्य एव आरूढस्य शम एव कर्तव्यं कारणं योगफलं प्रति उच्यते इति। अतो न यावज्जीवं कर्तव्यत्वप्राप्तिः कस्यचिद् अपि कर्मणः।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि **'तस्यैव'** इस पदका प्रयोग किया गया है। एवं **'योगारूढस्य'** इस विशेषणमें योग शब्द भी ग्रहण किया गया है। अर्थात् जो पहले योगका आरुरुक्षु था वही जब योगपर आरूढ हो गया तो उसी योगारूढका योग-फलकी प्राप्तिके लिये शम ही कारण यानी कर्तव्य बताया गया है। इसलिये किसी भी कर्मके लिये जीवनपर्यन्त कर्तव्यताकी प्राप्ति नहीं होती।

योगविभ्रष्टवचनात् च। गृहस्थस्य चेत् कर्मिणो योगो विहितः षष्ठे अध्याये स योगविभ्रष्टः अपि कर्मगतिं कर्मफलं प्राप्नोति इति तस्य नाशाशङ्का अनुपपन्ना स्यात्।

तथा योगभ्रष्टविषयक वर्णनसे भी यही बात सिद्ध होती है। अभिप्राय यह कि, यदि कर्म करनेवाले गृहस्थके लिये भी छठे अध्यायमें कहा हुआ योग विहित हो, तो वह योगसे भ्रष्ट हुआ भी कर्मोंकी गतिको अर्थात् कर्मोंके फलको तो प्राप्त होता ही है, इसलिये उसके नाशकी आशङ्का युक्तियुक्त नहीं रह जाती।

अवश्यं हि कृतं कर्म काम्यं नित्यं वा मोक्षस्य नित्यत्वाद् अनारभ्यत्वे स्वं फलम् आरभते एव।

क्योंकि नित्य होनेके कारण मोक्ष तो कर्मोंसे प्राप्त हो ही नहीं सकता। इसलिये किये हुए काम्य या नित्य कर्म अपने फलका आरम्भ अवश्य ही करेंगे।

नित्यस्य च कर्मणो वेदप्रमाणावबुद्धत्वात् फलेन भवितव्यम् इति अवोचाम अन्यथा वेदस्य आनर्थक्यप्रसङ्गाद् इति। न च कर्मणि सति उभयविभ्रष्टवचनम् अर्थवत् कर्मणो विभ्रंशकारणानुपपत्तेः।

नित्यकर्म भी वेदप्रमाणद्वारा विज्ञात होनेके कारण अवश्य ही फल देनेवाले होते हैं, नहीं तो वेदको निरर्थक माननेका प्रसङ्ग आ जाता है, यह पहले कह चुके हैं। कर्मोंके नाशक किसी हेतुकी कोई सम्भावना न होनेके कारण कर्मोंके रहते हुए (गृहस्थको) उभयभ्रष्ट कहना युक्तियुक्त नहीं हो सकता।

कर्म कृतम् ईश्वरे संन्यस्य इति अतः कर्तरि कर्म फलं न आरभते इति चेत्।

पू०—यदि ऐसा मानें कि 'वे कर्म ईश्वरमें अर्पण करके' किये गये हैं, इसलिये वे कर्ताके लिये फलका आरम्भ नहीं करेंगे।

न, ईश्वरे संन्यासस्य अधिकतरफलहेतुत्वोपपत्तेः।

उ०—यह ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वरमें अर्पण किये हुए कर्मोंका तो और भी अधिक फल देनेवाला होना ही युक्तिसंगत है।

मोक्षाय एव इति चेत् स्वकर्मणां कृतानाम् ईश्वरे न्यासो मोक्षाय एव न फलान्तराय योगसहितो योगात् च विभ्रष्ट इति अतः तं प्रति नाशाशङ्का युक्ता एव इति चेत् ।

पू०—यदि ऐसे माने कि वे कर्म केवल मोक्षके लिये ही होते है अर्थात् अपने किये हुए कर्मोंका जो ईश्वरमे योगसहित (समतापूर्वक) संन्यास है वह केवल मोक्षके लिये ही होता है दूसरे फलके लिये नहीं और वह उस योगसे (समत्वसे) भ्रष्ट हो गया है, अत. उसके लिये नाशकी आशङ्का ठीक ही है ।

न, *'एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः'* *'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः'* इति कर्मसंन्यासविधानात् ।

उ०—यह भी ठीक नहीं, क्योकि **'एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः'** **'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः'** आदि वचनोंद्वारा कर्म-संन्यासका विधान किया गया है ।

न च अत्र ध्यानकाले स्त्रीसहायत्वाशङ्का येन एकाकित्वं विधीयते । न च गृहस्थस्य *'निराशीरपरिग्रहः'* इत्यादिवचनम् अनुकूलम् उभयविभ्रष्टप्रश्नानुपपत्तेः च ।

यहाँ ध्यानकालमे स्त्रीकी सहायताकी तो कोई आशङ्का नहीं होती कि जिससे गृहस्थके लिये एकाकीका विधान किया जाता । **'निराशीरपरिग्रहः'** इत्यादि वचन भी गृहस्थके अनुकूल नहीं है । तथा उभयभ्रष्ट-विषयक प्रश्नकी उत्पत्ति न होनेके कारण भी (उपर्युक्त मान्यता) ठीक नहीं है ।

'अनाश्रितः' इति अनेन कर्मिण एव संन्यासित्वं योगित्वं च उक्तं प्रतिषिद्धं च निरग्नेः अक्रियस्य च संन्यासित्वं योगित्वं च इति चेत् ।

पू०—'अनाश्रितः' इस श्लोकसे कर्म करनेवालेको ही संन्यासी और योगी कहा है, अग्निरहित और क्रियारहितके सन्यासित्व और योगित्वका निषेध किया है ।

न, ध्यानयोगं प्रति बहिरङ्गस्य सतः कर्मणः फलाकाङ्क्षासंन्याससस्तुतिपरत्वात् ।

उ०—यह कहना भी ठीक नहीं, क्योकि यह श्लोक केवल ध्यानयोगके लिये बहिरंग साधनरूप कर्मोंके फलाकाक्षासम्बन्धी संन्यासकी स्तुति करनेके निमित्त ही है ।

न केवलं निरग्निः अक्रिय एव संन्यासी योगी च किं तर्हि कर्मी अपि कर्मफलासङ्गं संन्यस्य कर्मयोगम् अनुतिष्ठन् सत्त्वशुद्ध्यर्थं स संन्यासी च योगी च भवति इति स्तूयते ।

केवल अग्निरहित और क्रियारहित ही संन्यासी और योगी होता है, ऐसा नहीं, किन्तु जो कोई कर्म करनेवाला भी कर्मफल और आसक्तिको छोडकर अन्त करणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगमे स्थित है वह भी संन्यासी और योगी है, इस प्रकार कर्मयोगी-की स्तुति की गयी है ।

न च एकेन वाक्येन कर्मफलासङ्गसंन्यासस्तुतिः चतुर्थाश्रमप्रतिषेधः च उपपद्यते ।

एक ही वाक्यसे कर्मफलविषयक आसक्तिके त्यागरूप संन्यासकी स्तुति और चतुर्थ आश्रमका प्रतिषेध नहीं बन सकता ।

न च प्रसिद्धं निरग्नेः अक्रियस्य परमार्थसंन्यासिनः श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासयोगशास्त्रविहितं संन्यासित्वं योगित्वं च प्रतिषेधति भगवान् । स्ववचनविरोधात् च ।

अग्निरहित और क्रियारहित वास्तविक संन्यासीका सन्यासित्व और योगित्व जो श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और योगशास्त्रसे विहित तथा सर्वत्र प्रसिद्ध है उसका भगवान् प्रतिषेध नहीं करते, क्योंकि इससे भगवान्के अपने कथनमे भी विरोध आता है ।

'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' 'नैव कुर्वन्न कारयन् आस्ते' 'मौनी संतुष्टो येन केनचित्' 'अनिकेतः स्थिरमतिः' 'विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः' 'सर्वारम्भपरित्यागी' इति च तत्र तत्र भगवता स्ववचनानि दर्शितानि तैः विरुध्येत चतुर्थाश्रमप्रतिषेधः ।

अभिप्राय यह है कि **'सब कर्मोंको मनसे छोड़कर' 'न करता हुआ न करवाता हुआ रहता है' 'मौन भाववाला जिस किस प्रकारसे भी सदा संतुष्ट' 'बिना घरद्वारवाला स्थिरबुद्धि' 'जो पुरुष समस्त कामनाओंको छोड़कर निःस्पृह भावसे विचरता है' 'समस्त आरम्भोंका त्यागी'** इस प्रकार जगह-जगह भगवान्ने जो अपने वचन प्रदर्शित किये है, उनसे चतुर्थ आश्रमके प्रतिषेधका विरोध है ।

तस्माद् मुनेः योगम् आरुरुक्षोः प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्य अग्निहोत्रादि फलनिरपेक्षम् अनुष्ठीयमानं ध्यानयोगारोहणसाधनत्वं सत्त्वशुद्धिद्वारेण प्रतिपद्यते ।

इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) जो गृहस्थाश्रममे स्थित पुरुष योगारूढ होनेकी इच्छावाला और मननशील है, उसके फल न चाहकर अनुष्ठान किये हुए अग्निहोत्रादि कर्म अन्त.करणकी शुद्धिद्वारा ध्यानयोगमे आरूढ होनेके साधन बन सकते है ।

इति स संन्यासी च योगी च इति स्तूयते—

इसी भावसे 'वह संन्यासी और योगी है' इस प्रकार उसकी स्तुति की जाती है—

श्रीभगवानुवाच—

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

अनाश्रितो **न आश्रितः अनाश्रितः किं** कर्मफलं कर्मणः फलं कर्मफलं यत् तद् अनाश्रितः कर्मफलतृष्णारहित इत्यर्थः ।

जिसने आश्रय नहीं लिया हो, वह अनाश्रित है, किसका ? कर्मफलका अर्थात् जो कर्मोंके फलका आश्रय न लेनेवाला–कर्मफलकी तृष्णासे रहित है ।

यो हि कर्मफलतृष्णावान् स कर्मफलम् आश्रितो भवति अयं तु तद्विपरीतः अतः अनाश्रितः कर्मफलम् ।

क्योंकि जो कर्मफलकी तृष्णावाला होता है वही कर्मफलका आश्रय लेता है, यह उससे विपरीत है, इसलिये कर्मफलका आश्रय न लेनेवाला है ।

एवंभूतः सन् कार्यं कर्तव्यं नित्यं काम्यविपरीतम् अग्निहोत्रादिकं करोति निर्वर्तयति,

ऐसा (कर्मफलके आश्रयसे रहित) होकर जो पुरुष कर्तव्यकर्मोंको अर्थात् काम्यकर्मोंसे विपरीत नित्य अग्निहोत्रादि कर्मोंको पूरा करता है,

यः कश्चिद् ईदृशः कर्मी स कर्म्यन्तरेभ्यो विशिष्यते इति एवम् अर्थम् आह स संन्यासी च योगी च इति ।

ऐसा जो कोई कर्मी है वह दूसरे कर्मियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, इसी अभिप्रायसे यह कहा है कि वह संन्यासी भी है और योगी भी है ।

संन्यासः परित्यागः स यस्य अस्ति स संन्यासी च योगी च योगः चित्तसमाधानं स यस्य अस्ति स योगी च इति एवंगुणसंपन्नः अयं मन्तव्यः ।

संन्यास नाम त्यागका है । वह जिसमें हो वही संन्यासी है और चित्तके समाधानका नाम योग है वह जिसमें हो वही योगी है, अतः वह कर्मयोगी भी इन गुणोंसे सम्पन्न माना जाना चाहिये ।

न केवलं निरग्निः अक्रिय एव संन्यासी योगी च इति मन्तव्यः ।

केवल अग्निरहित और क्रियारहित पुरुष ही संन्यासी और योगी है, ऐसा नहीं मानना चाहिये ।

निर्गता अग्नयः कर्माङ्गभूता यस्मात् स निरग्निः अक्रियः च अनग्निसाधना अपि अविद्यमानाः क्रियाः तपोदानादिका यस्य असौ अक्रियः ॥ १ ॥

कर्मोंके अंगभूत गार्हपत्यादि अग्नि जिससे छूट गये हैं, वह निरग्नि है और बिना अग्निके होनेवाली तप-दानादि क्रिया भी जो नहीं करता वह अक्रिय है ॥ १ ॥

ननु च निरग्नेः अक्रियस्य एव श्रुतिस्मृतियोगशास्त्रेषु संन्यासित्वं योगित्वं च प्रसिद्धं कथम् इह साग्नेः सक्रियस्य संन्यासित्वं योगित्वं च अप्रसिद्धम् उच्यते इति ।

पू०—जब कि निरग्नि और अक्रिय पुरुषके लिये ही श्रुति, स्मृति और योगशास्त्रोंमें संन्यासित्व और योगित्व प्रसिद्ध है, तब यहाँ अग्नियुक्त और क्रियायुक्त पुरुषके लिये अप्रसिद्ध संन्यासित्व और योगित्वका प्रतिपादन कैसे किया जाता है ?

न एष दोषः । कयाचिद् गुणवृत्त्या उभयस्य संपिपादयिषितत्वात् ।

उ०—यह दोष नहीं है । क्योंकि किसी एक गुणवृत्तिसे (किसी एक-गुणविशेषको लेकर) सन्यासित्व और योगित्व—इन दोनों भावोंको उसमें (गृहस्थमें) सम्पादन करना भगवान्‌को इष्ट है ।

तत् कथम् ?

पू०—वह कैसे ?

कर्मफलसंकल्पसंन्यासात् संन्यासित्वं योगाङ्गत्वेन च कर्मानुष्ठानात् कर्मफलसंकल्पस्य वा चित्तविक्षेपहेतोः परित्यागाद् योगित्वं च इति गौणम् उभयम् ।

उ०—कर्मफलके संकल्पोंका त्याग होनेसे 'संन्यासित्व' है और योगके अंगरूपसे कर्मोंका अनुष्ठान होनेसे या चित्तविक्षेपके कारणरूप कर्मफलके संकल्पोंका परित्याग होनेसे 'योगित्व' है, इस प्रकार दोनों भाव ही गौणरूपसे माने गये हैं ।

न पुनः मुख्यं संन्यासित्वं योगित्वं च अभिप्रेतम् इति एतम् अर्थं दर्शयितुम् आह-

इससे मुख्य सन्यासित्व और योगित्व इष्ट नहीं है । इसी भावको दिखलानेके लिये कहते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

यं सर्वकर्मतत्फलपरित्यागलक्षणं परमार्थसंन्यासम् इति प्राहुः श्रुतिस्मृतिविदः, योग कर्मानुष्ठानलक्षणं तं परमार्थसंन्यासं विद्धि जानीहि हे पाण्डव ।

श्रुति-स्मृतिके ज्ञाता पुरुष सर्वकर्म और उनके फलके त्यागरूप जिस भावको वास्तविक संन्यास कहते हैं, हे पाण्डव ! कर्मानुष्ठानरूप योगको (निष्काम कर्मयोगको) भी तू वही वास्तविक संन्यास जान ।

कर्मयोगस्य प्रवृत्तिलक्षणस्य तद्विपरीतेन निवृत्तिलक्षणेन परमार्थसंन्यासेन कीदृशं सामान्यम् अङ्गीकृत्य तद्भाव उच्यते इति अपेक्षायाम् इदम् उच्यते—

प्रवृत्तिरूप कर्मयोगकी उससे विपरीत निवृत्तिरूप परमार्थ-संन्यासके साथ कैसी समानता स्वीकार करके एकता कही जाती है ? ऐसा प्रश्न होनेपर यह कहा जाता है—

अस्ति परमार्थसंन्यासेन सादृश्यं कर्तृद्वारकं कर्मयोगस्य । यो हि परमार्थसंन्यासी स त्यक्तसर्वकर्मसाधनतया सर्वकर्मतत्फलविषयं संकल्पं प्रवृत्तिहेतुकामकारणं संन्यस्यति । अयम् अपि कर्मयोगी कर्म कुर्वाण एव फलविषयं संकल्पं संन्यस्यति इति एतम् अर्थं दर्शयन् आह—

परमार्थ संन्यासके साथ कर्मयोगकी कर्तृविषयक समानता है । क्योंकि जो परमार्थ-संन्यासी है वह सब कर्मसाधनोंका त्याग कर चुकता है इसलिये सब कर्मोंका और उनके फलविषयक संकल्पोंका, जो कि प्रवृत्तिहेतुक कामके कारण है, त्याग करता है । और यह कर्मयोगी भी कर्म करता हुआ फलविषयक संकल्पोका त्याग करता ही है (इस प्रकार दोनोकी समानता है) इस अभिप्रायको दिखलाते हुए कहते है—

न हि यस्माद् असंन्यस्तसंकल्पः असंन्यस्तः अपरित्यक्तः फलविषयः संकल्पः अभिसंधिः येन सः असंन्यस्तसंकल्पः, कश्चन कश्चिद् अपि कर्मी योगी समाधानवान् भवति, न संभवति इत्यर्थः । फलसंकल्पस्य चित्तविक्षेपहेतुत्वात् ।

जिसने फलविषयक सकल्पोका यानी इच्छाओका त्याग न किया हो, ऐसा कोई भी कर्मी, योगी नहीं हो सकता । अर्थात् ऐसे पुरुषका चित्त समाधिस्थ होना सम्भव नहीं है । क्योंकि फलका संकल्प ही चित्तके विक्षेपका कारण है ।

तस्माद् यः कश्चन कर्मी संन्यस्तफलसंकल्पो भवेत् स योगी समाधानवान् अविक्षिप्तचित्तो भवेत् चित्तविक्षेपहेतोः फलसंकल्पस्य संन्यस्तत्वात् इति अभिप्रायः ।

इसलिये जो कोई कर्मी फलविषयक संकल्पोंका त्याग कर देता है वही योगी होता है । अभिप्राय यह है कि चित्तविक्षेपका कारण जो फलविषयक सकल्प है उसके त्यागसे ही मनुष्य समाधानयुक्त यानी चित्तविक्षेपसे रहित योगी होता है ।

एवं परमार्थसंन्यासकर्मयोगयोः कर्तृद्वारकं संन्याससामान्यम् अपेक्ष्य *'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव'* इति कर्मयोगस्य स्तुत्यर्थं संन्यासत्वम् उक्तम् ॥ २ ॥

इस प्रकार परमार्थ-संन्यासकी और कर्मयोगकी कर्त्ताके भावसे सम्बन्ध रखनेवाली जो त्यागविषयक समानता है, उसकी अपेक्षासे ही कर्मयोगकी स्तुति करनेके लिये **'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव'** इस श्लोकमें उसे संन्यास बतलाया है ॥ २ ॥

ध्यानयोगस्य फलनिरपेक्षः कर्मयोगो बहिरङ्गं साधनम् इति तं संन्यासत्वेन स्तुत्वा अधुना कर्मयोगस्य ध्यानयोगसाधनत्वं दर्शयति—

फलेच्छासे रहित जो कर्मयोग है वह ध्यानयोगका बहिरंग साधन है इस उद्देश्यसे उसकी संन्यासरूपसे स्तुति करके अब यह भाव दिखलाते हैं कि कर्मयोग ध्यानयोगका साधन है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

आरुरुक्षोः आरोढुम् इच्छतः अनारूढस्य ध्यानयोगे अवस्थातुम् अशक्तस्य एव इत्यर्थः, कस्य आरुरुक्षोः मुनेः कर्मफलसंन्यासिन इत्यर्थः । किम् आरुरुक्षोः योगं कर्म कारणं साधनम् उच्यते ।

जो ध्यानयोगमें आरूढ़ नहीं है—ध्यानयोगमें स्थित नहीं रह सकता है, ऐसे योगारूढ होनेकी इच्छावाले मुनि अर्थात् कर्मफलत्यागी पुरुषके लिये ध्यानयोगपर आरूढ़ होनेका साधन 'कर्म' बतलाया गया है ।

योगारूढस्य पुनः तस्य एव शम उपशमः सर्वकर्मभ्यो निवृत्तिः कारणं योगारूढत्वस्य साधनम् उच्यते इत्यर्थः ।

तथा वही जब योगारूढ हो जाता है तो उसके लिये योगारूढताका (ध्यानयोगमें सदा स्थित रहनेका) साधन शम—उपशम यानी 'सर्व कर्मोंसे निवृत्त होना' बतलाया गया है ।

यावद् यावत् कर्मभ्य उपरमते तावत् तावद् निरायासस्य जितेन्द्रियस्य चित्तं समाधीयते । तथा सति स झटिति योगारूढो भवति ।

(मनुष्य) जितना-जितना कर्मोंसे उपरत होता जाता है, उतना-उतना ही उस परिश्रमरहित जितेन्द्रिय पुरुषका चित्त समाहित होता जाता है । ऐसा होनेसे वह झटपट योगारूढ़ हो जाता है ।

तथा च उक्तं व्यासेन—

'नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च । शील स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥' (महा० शान्ति० १७५ । ३७) इति ॥ ३ ॥

व्यासजीने भी यही कहा है कि 'ब्राह्मणके लिये दूसरा ऐसा कोई धन नहीं है जैसा कि एकता, समता, सत्यता, शील, स्थिति, अहिंसा, आर्जव और उन-उन क्रियाओंसे उपराम होना है' ॥ ३ ॥

अथ इदानीं कदा योगारूढो भवति इति उच्यते—

साधक कब योगारूढ हो जाता है, यह अब बतलाते है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

यदा **समाधीयमानचित्तो योगी** हि इन्द्रियार्थेषु **इन्द्रियाणाम् अर्थाः शब्दादयः तेषु इन्द्रियार्थेषु** कर्मसु **च नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धेषु प्रयोजनाभावबुद्धया** न अनुषज्जते **अनुषङ्गं कर्तव्यताबुद्धिं न करोति इत्यर्थः ।**

चित्तका समाधान कर लेनेवाला योगी जब इन्द्रियोके अर्थोमे, अर्थात् इन्द्रियोंके विषय जो शब्दादि है उनमे एवं नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्मोंमे अपना कुछ भी प्रयोजन न देखकर आसक्त नहीं होता, उनमे आसक्ति यानी ये मुझे करने चाहिये ऐसी बुद्धि नहीं करता ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी **सर्वान् संकल्पान् इहामुत्रार्थकामहेतून् संन्यसितुं शीलम् अस्य इति सर्वसंकल्पसंन्यासी,** योगारूढ. **प्राप्तयोग इति एतत्** तदा **तस्मिन् काले** उच्यते ।

तब—उस समय वह सब संकल्पोका त्यागी अर्थात् इस लोक और परलोकके भोगोकी कामनाके कारणरूप सब संकल्पोंका त्याग करना जिसका स्वभाव हो चुका है, ऐसा पुरुष, योगारूढ यानी योगको प्राप्त हो चुका है, ऐसे कहा जाता है ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी इति वचनात् सर्वान् च कामान् सर्वाणि च कर्माणि संन्यसेद् इत्यर्थः ।

'सर्वसंकल्पसंन्यासी' इस कथनका यह आशय है कि सब कामनाओंको और समस्त कर्मोंको छोड़ देना चाहिये ।

संकल्पमूला हि सर्वे कामाः— *'संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।'* *(मनु० २ । ३)* *'काम जानामि ते मूलं संकल्पात्त्वं हि जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि ॥'* *(महा० शान्ति० १७७ । २५)* **इत्यादिस्मृतेः ।**

क्योकि सब कामनाओंका मूल संकल्प ही है । स्मृतिमे भी कहा है कि—**'कामका मूल कारण संकल्प ही है । समस्त यज्ञ संकल्पसे उत्पन्न होते हैं ।' 'हे काम ! मैं तेरे मूल कारणको जानता हूँ । तू निःसन्देह संकल्पसे ही उत्पन्न होता है । मैं तेरा संकल्प नही करूँगा, अतः फिर तू मुझे प्राप्त नही होगा ।'**

सर्वकामपरित्यागे च सर्वकर्मसंन्यासः सिद्धो भवति *'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते'* *(बृह० उ० ४ । ४ । ५)* **इत्यादिश्रुतिभ्यः** *'यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम्'* *(मनु० २ । ४)* **इत्यादिस्मृतिभ्यः च ।**

सब कामनाओंके परित्यागसे ही सर्व कर्मोका त्याग सिद्ध हो जाता है । यह बात **'वह जैसी कामनावाला होता है वैसे ही निश्चयवाला होता है, जैसे निश्चयवाला होता है वही कर्म करता है'** इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित है और **'जीव जो-जो कर्म करता है वह सब कामकी ही चेष्टा है ।'** इत्यादि स्मृतिसे भी प्रमाणित है ।

न्यायात् च । न हि सर्वसंकल्पसंन्यासे कश्चित् स्पन्दितुम् अपि शक्तः ।

युक्तिसे भी यही बात सिद्ध होती है । क्योंकि सब संकल्पोंका त्याग कर देनेपर तो कोई जरा-सा हिल भी नहीं सकता ।

तस्मात् सर्वसंकल्पसंन्यासी इति वचनात् सर्वान् कामान् सर्वाणि कर्माणि च त्याजयति भगवान् ॥ ४ ॥

सुतरां 'सर्वसंकल्पसंन्यासी' कहकर भगवान् समस्त कामनाओंका और समस्त कर्मोंका त्याग कराते हैं ॥ ४ ॥

यदा एवं योगारूढः तदा तेन आत्मा आत्मना उद्धृतो भवति संसाराद् अनर्थव्राताद् अतः—

जब मनुष्य इस प्रकार योगारूढ हो जाता है तब वह अनर्थोंके समूह इस संसारसमुद्रसे स्वयं अपना उद्धार कर लेता है, इसलिये—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

उद्धरेत् संसारसागरे निमग्नम् आत्मना आत्मानं तत उद् ऊर्ध्वं हरेद् उद्धरेद् योगारूढतां आपादयेद् इत्यर्थः ।

संसार-सागरमें डूबे पड़े हुए अपने-आपको उस संसारसमुद्रसे आत्म-बलके द्वारा ऊँचा उठा लेना चाहिये अर्थात् योगारूढ अवस्थाको प्राप्त कर लेना चाहिये ।

न आत्मानम् अवसादयेद् न अधो नयेद् न अधो गमयेत् ।

अपना अधःपतन नहीं करना चाहिये अर्थात् अपने आत्माको नीचे नहीं गिरने देना चाहिये ।

आत्मा एव हि यस्माद् आत्मनो बन्धुः । न हि अन्यः कश्चिद् बन्धुः यः संसारमुक्तये भवति । बन्धुः अपि तावद् मोक्षं प्रति प्रतिकूल एव स्नेहादिबन्धनायतनत्वाद् तस्माद् युक्तम् अवधारणम् 'आत्मा एव हि आत्मनो बन्धुः' इति ।

क्योंकि यह आप ही अपना बन्धु है । दूसरा कोई (ऐसा) बन्धु नहीं है जो संसारसे मुक्त करनेवाला हो । प्रेमादि भाव बन्धनके स्थान होनेके कारण सांसारिक बन्धु भी (वास्तवमें) मोक्षमार्गका तो विरोधी ही होता है । इसलिये निश्चयपूर्वक यह कहना ठीक ही है कि, आप ही अपना बन्धु है ।

आत्मा एव रिपुः शत्रुः यः अन्यः अपकारी बाह्यः शत्रुः सः अपि आत्मप्रयुक्त एव इति, युक्तम् एव अवधारणम् आत्मा एव रिपुः आत्मन इति ॥ ५ ॥

तथा आप ही अपना शत्रु है । जो कोई दूसरा अनिष्ट करनेवाला बाह्य शत्रु है वह भी अपना ही बनाया हुआ होता है, इसलिये आप ही अपना शत्रु है, इस प्रकार केवल अपनेको ही शत्रु बतलाना भी ठीक ही है ॥ ५ ॥

आत्मा एव बन्धुः आत्मा एव रिपुः आत्मन इति उक्तम्, तत्र किंलक्षण आत्मनो बन्धुः किंलक्षणो वा आत्मनो रिपुः इति उच्यते—

आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है यह बात कही गयी, उसमे किन लक्षणोंवाला पुरुष तो (आप ही) अपना मित्र होता है और कौन (आप ही) अपना शत्रु होता है ? सो कहा जाता है—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

बन्धुः आत्मा आत्मनः तस्य **तस्य आत्मनः स आत्मा बन्धुः** येन आत्मना आत्मा एव जितः **आत्मा कार्यकरणसंघातो येन वशीकृतो जितेन्द्रिय इत्यर्थः** । अनात्मनः तु **अजितात्मनः तु** शत्रुत्वे **शत्रुभावे** वर्तेत आत्मा एव शत्रुवत्, **तथा अनात्मा शत्रुः आत्मनः अपकारी तथा आत्मा आत्मनः अपकारे वर्तेत इत्यर्थः** ॥ ६ ॥

उस जीवात्माका तो वही आप मित्र है कि जिसने स्वयमेव कार्य-करणके समुदाय शरीररूप आत्माको अपने वशमे कर लिया हो अर्थात् जो जितेन्द्रिय हो । जिसने (कार्य-करणके संघात) शरीररूप आत्माको अपने वशमे नहीं किया उसका वह आप ही शत्रुकी भाँति शत्रु-भावमे बर्तता है । अर्थात् जैसे दूसरा शत्रु अपना अनिष्ट करनेवाला होता है, वैसे ही वह आप ही अपना अनिष्ट करनेमे लगा रहता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

जितात्मनः **कार्यकरणादिसंघात आत्मा जितो येन स जितात्मा, तस्य जितात्मनः,** प्रशान्तस्य **प्रसन्नान्तःकरणस्य सतः संन्यासिनः** परमात्मा समाहितः **साक्षाद् आत्मभावेन वर्तते इत्यर्थः** ।

किं च शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा **माने अपमाने च** मानापमानयोः **पूजापरिभवयोः** ॥ ७ ॥

जिसने मन, इन्द्रिय आदिके संघातरूप इस शरीरको अपने वशमें कर लिया है और जो प्रशान्त है—जिसका अन्तःकरण सदा प्रसन्न रहता है उस संन्यासीको भली प्रकारसे सर्वत्र परमात्मा प्राप्त है अर्थात् साक्षात् आत्मभावसे विद्यमान है ।

तथा वह सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखमे एवं मान और अपमानमे यानी पूजा और तिरस्कारमे भी (सम हो जाता है) ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानं विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथा एव स्वानुभवकरणं ताभ्यां ज्ञानविज्ञानाभ्यां तृप्तः संजातालंप्रत्यय आत्मा अन्तःकरणं यस्य स ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा। कूटस्थः अप्रकम्प्यो भवति इत्यर्थः । विजितेन्द्रियः च । य ईदृशो युक्त. समाहित इति स उच्यते कथ्यते ।

स योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनो लोष्टाश्मकाञ्चनानि समानि यस्य स समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

शास्त्रोक्त पदार्थोंको समझनेका नाम 'ज्ञान' है और शास्त्रसे समझे हुए भावोंको वैसे ही अपने अन्त.करणमे प्रत्यक्ष अनुभव करनेका नाम 'विज्ञान' है, ऐसे 'ज्ञान' और 'विज्ञान'से जिसका अन्त करण तृप्त है अर्थात् जिसके अन्त.करणमे ऐसा विश्वास उत्पन्न हो गया है कि 'बस, अब कुछ भी जानना बाकी नहीं है' ऐसा जो ज्ञान विज्ञानसे तृप्त हुए अन्त.करणवाला है तथा जो कूटस्थ यानी अविचल और जितेन्द्रिय हो जाता है, वह युक्त यानी समाहित (समाविस्थ) कहा जाता है ।

वह योगी मिट्टी, पत्थर और सुवर्णको समान समझनेवाला होता है अर्थात् उसकी दृष्टिमे मिट्टी, पत्थर और सोना सब समान है (एक ब्रह्मरूप है)॥ ८॥

किं च—

तथा—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृदित्यादिश्लोकार्धम् एकं पदम् ।

'सुहृत्' शब्दसे लेकर आधा श्लोक एक पद है ।

सुहृद् इति प्रत्युपकारम् अनपेक्ष्य उपकर्ता । मित्र स्नेहवान् । अरिः शत्रुः । उदासीनो न कस्यचित् पक्षं भजते । मध्यस्थो यो विरुद्धयोः उभयोः हितैषी । द्वेष्य आत्मनः अप्रियः । बन्धुः सम्बन्धी इति एतेषु साधुषु शास्त्रानुवर्तिषु अपि च पापेषु प्रतिषिद्धकारिषु सर्वेषु एतेषु समबुद्धि. कः किंकर्मा इति अव्यापृतबुद्धिः इत्यर्थः । विशिष्यते विमुच्यते इति वा पाठान्तरम् । योगारूढानां सर्वेषाम् अयम् उत्तम इत्यर्थः ॥ ९ ॥

'सुहृत्'—प्रत्युपकार न चाहकर उपकार करनेवाला, 'मित्र'—प्रेमी, 'अरि'—शत्रु, 'उदासीन'—पक्षपातरहित, 'मध्यस्थ'—जो परस्पर विरोध करनेवाले दोनोंका हितैषी हो, 'द्वेष्य'-अपना अप्रिय और 'बन्धु'—अपना कुटुम्बी, इन सबमे तथा शास्त्रानुसार चलनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोमे और निषिद्ध कर्म करनेवाले पापियोमे भी जो समबुद्धिवाला है, इन सबने कौन कैसा क्या कर रहा है ऐसे विचारमे जिसकी बुद्धि नहीं लगती है वह श्रेष्ठ है । अर्थात् ऐसा योगी सब योगारूढ पुरुषोमे उत्तम है । यहाँ 'विशिष्यते'के स्थानमे 'विमुच्यते' (मुक्त हो जाता है) ऐसा पाठान्तर भी है ॥ ९ ॥

अत एवम् उत्तमफलप्राप्तये—

अतः ऐसे उत्तम फलकी प्राप्तिके लिये—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

योगी ध्यायी युञ्जीत समादध्यात् सततं सर्वदा आत्मानम् अन्तःकरणं रहसि एकान्ते गिरिगुहादौ स्थितः सन् एकाकी असहायः ।

रहसि स्थितः एकाकी च इति विशेषणात् संन्यासं कृत्वा इत्यर्थः ।

यतचित्तात्मा चित्तम् अन्तःकरणम् आत्मा देहः च संयतौ यस्य स यतचित्तात्मा निराशीः वीततृष्णः अपरिग्रहः च परिग्रहरहितः । संन्यासित्वे अपि त्यक्तसर्वपरिग्रहः सन् युञ्जीत इत्यर्थः ॥ १० ॥

ध्यान करनेवाला योगी अकेला—किसीको साथ न लेकर पहाडकी गुफा आदि एकान्त स्थानमें स्थित हुआ, निरन्तर अपने अन्तःकरणको ध्यानमें स्थिर किया करे ।

'एकान्त स्थानमें स्थित हुआ' और 'अकेला' इन विशेषणोंसे यह भाव पाया जाता है कि संन्यास ग्रहण करके योगका साधन करे ।

जिसका चित्त—अन्तःकरण और आत्मा—शरीर (दोनों) जीते हुए हैं ऐसा यतचित्तात्मा, निराशी—तृष्णाहीन और संग्रहरहित होकर अर्थात् संन्यासी होनेपर भी सब संग्रहका त्याग करके योगका अभ्यास करे ॥ १० ॥

अथ इदानीं योगं युञ्जतः आसनाहारविहारादीनां योगसाधनत्वेन नियमो वक्तव्यः प्राप्तयोगलक्षणं तत्फलादि च इति अतः आरभ्यते तत्र आसनम् एव तावत् प्रथमम् उच्यते—

योगाभ्यास करनेवालेके लिये योगके साधनरूप आसन, आहार और विहार आदिका नियम बतलाना उचित है एवं योगको प्राप्त हुए पुरुषका लक्षण और उसका फल आदि भी कहना चाहिये । इसलिये अब (यह प्रकरण) आरम्भ किया जाता है । उसमें पहले आसनका ही वर्णन करते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

शुचौ शुद्धे विविक्ते स्वभावतः संस्कारतो वा देशे स्थाने, प्रतिष्ठाप्य स्थिरम् अचलम् आत्मनः आसनं न अत्युच्छ्रितं न अतीव उच्छ्रितं न अपि अतिनीचं तत् च चैलाजिनकुशोत्तरम्, चैलम् अजिनं कुशाः च उत्तरे यस्मिन् आसने तद् आसनं चैलाजिनकुशोत्तरं पाठक्रमाद् विपरीतः अत्र क्रमः चैलादीनाम् ॥ ११ ॥

शुद्ध स्थानमें अर्थात् जो स्वभावसे अथवा झाडने-बुहारने आदि संस्कारोंसे साफ किया हुआ पवित्र और एकान्त स्थान हो, उसमें अपने आसनको जो न अति ऊँचा हो और न अति नीचा हो और जिसपर क्रमसे वस्त्र, मृगचर्म और कुशा बिछाये गये हों, अविचलभावसे स्थापन करके । यहाँ पाठ-क्रमसे उन वस्त्रादिका क्रम उलटा समझना चाहिये अर्थात् पहले कुशा, उसपर मृगचर्म और फिर उसपर वस्त्र बिछावे ॥ ११ ॥

प्रतिष्ठाप्य किम्—

(आसनको) स्थिर स्थापन करके क्या करे (सो कहते है)—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

तत्र तस्मिन् आसने उपविश्य योगं युञ्ज्यात् । कथम्, सर्वविषयेभ्य उपसंहृत्य एकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः चित्तं च इन्द्रियाणि च चित्तेन्द्रियाणि तेषां क्रियाः संयता यस्य स यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उस आसनपर बैठकर योगका साधन करे । कैसे करे ? मनको सब विषयोंसे हटाकर एकाग्र करके तथा यतचित्तेन्द्रियक्रिय यानी चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको जीतनेवाला होकर योगका साधन करे । जिसने मन और इन्द्रियोंकी क्रियाओं-का सयम कर लिया हो उसको यतचित्तेन्द्रियक्रिय कहते हैं ।

स किमर्थं योगं युञ्ज्याद् इति आह—

वह किसलिये योगका साधन करे ? सो कहते है—

आत्मविशुद्धये अन्तःकरणस्य विशुद्ध्यर्थम् इति एतत् ॥ १२ ॥

आत्मशुद्धिके लिये अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये करे ॥ १२ ॥

बाह्यम् आसनम् उक्तम् अधुना शरीरधारणं कथम् इति उच्यते—

बाह्य आसनका वर्णन किया, अब शरीरको कैसे रखना चाहिये ? सो कहते है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

समं कायशिरोग्रीवं कायः च शिरः च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं तत् समं धारयन् अचलं च समं धारयतः चलनं संभवति अतो विशिनष्टि अचलम् इति । स्थिरः स्थिरो भूत्वा इत्यर्थः ।

काया, शिर और गरदनको सम और अचल भावसे धारण करके स्थिर होकर बैठे । समानभावसे धारण किये हुए कायादिका भी चलन होना सम्भव है इसलिये 'अचलम्' यह विशेषण दिया गया है ।

स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य सम्यक् प्रेक्षणं दर्शनं कृत्वा इव ।

तथा अपनी नासिकाके अग्रभागको देखता हुआ यानी मानो वह उधर ही अच्छी तरह देख रहा है । इस प्रकार दृष्टि करके ।

इति इवशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः । न हि स्वनासिकाग्रसंप्रेक्षणम् इह विधित्सितम् । किं तर्हि चक्षुषोः दृष्टिसंनिपातः ।

यहाँ 'संप्रेक्ष्य' के साथ 'इव' शब्द लुप्त समझना चाहिये क्योंकि यहाँ अपनी नासिकाके अग्रभाग-को देखनेका विधान करना अभिमत नहीं है । तो क्या है ? बस, नेत्रोंकी दृष्टिको (विषयोंकी ओरसे रोककर) वहाँ स्थापन करना ही इष्ट है ।

स च अन्तःकरणसमाधानापेक्षो विवक्षितः । स्वनासिकाग्रसंप्रेक्षणम् एव चेद् विवक्षितं मनः तत्र एव समाधीयते न आत्मनि ।

आत्मनि हि मनसः समाधानं वक्ष्यति 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' इति । तस्माद् इवशब्दलोपेन अक्ष्णोः दृष्टिसंनिपात एव संप्रेक्ष्य इति उच्यते ।

दिशः च अनवलोकयन् दिशां च अवलोकनम् अन्तरा अकुर्वन् इति एतत् ॥ १३ ॥

वह (इस तरह दृष्टिस्थापन करना) भी अन्तःकरणके समाधानके लिये आवश्यक होनेके कारण ही अभीष्ट है । क्योंकि यदि अपनी नासिकाके अग्रभागको देखना ही विधेय माना जाय तो फिर मन वहीं स्थित होगा, आत्मामें नहीं ।

परन्तु (आगे चलकर) 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' इस पदसे आत्मामें ही मनको स्थित करना बतलायेंगे । इसलिये 'इव' शब्दके लोपद्वारा नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर लगाना ही 'संप्रेक्ष्य' इस पदसे कहा गया है ।

इस प्रकार (नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर लगाकर) तथा अन्य दिशाओंको न देखता हुआ अर्थात् बीच-बीचमें दिशाओंकी ओर दृष्टि न डालता हुआ ॥ १३ ॥

किं च—

तथा—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

प्रशान्तात्मा प्रकर्षेण शान्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः अयं प्रशान्तात्मा विगतभीः विगतभयो ब्रह्मचारिव्रते स्थितो ब्रह्मचारिणो व्रतं ब्रह्मचर्यं गुरुशुश्रूषाभिक्षाभुक्त्यादि तस्मिन् स्थितः तदनुष्ठाता भवेद् इत्यर्थः । किं च मनः संयम्य मनसो वृत्तीः उपसंहृत्य इति एतद् मच्चित्तो मयि परमेश्वरे चित्तं यस्य सः अयं मच्चित्तो युक्तः समाहितः सन् आसीत उपविशेत् मत्परः अहं परो यस्य सः अयं मत्परः ।

भवति कश्चिद् रागी स्त्रीचित्तो न तु स्त्रियम् एव परत्वेन गृह्णाति, किं तर्हि राजानं महादेवं वा अयं तु मच्चित्तो मत्परः च ॥ १४ ॥

प्रशान्तात्मा—अच्छी प्रकारसे शान्त हुए अन्तःकरणवाला, विगतभी—निर्भय और ब्रह्मचारियोंके व्रतमें स्थित हुआ अर्थात् ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा, भिक्षा-भोजन आदि जो ब्रह्मचारीके व्रत हैं उनमें स्थित हुआ उनका अनुष्ठान करनेवाला होकर और मनका संयम करके अर्थात् मनकी वृत्तियोंका उपसंहार करके तथा मुझमें चित्तवाला अर्थात् मुझ परमेश्वरमें ही जिसका चित्त लग गया है ऐसा मच्चित्त होकर तथा समाहितचित्त होकर और मुझे ही सर्वश्रेष्ठ माननेवाला, अर्थात् मैं ही जिसके मनमें सबसे श्रेष्ठ हूँ, ऐसा होकर बैठे ।

कोई स्त्रीप्रेमी स्त्रीमें चित्तवाला हो सकता है परन्तु वह स्त्रीको सबसे श्रेष्ठ नहीं समझता । तो किसको समझता है ? वह राजाको या महादेवको स्त्रीकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझता है, परन्तु यह साधक तो चित्त भी मुझमें ही रखता है और मुझे ही सबसे अधिक श्रेष्ठ भी समझता है ॥ १४ ॥

अथ इदानीं योगफलम् उच्यते—

अब योगका फल कहा जाता है—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

युञ्जन् **समाधानं कुर्वन्** एवं **यथोक्तेन विधानेन** सदा आत्मानं योगी नियतमानसो **नियतं संयतं मानसं मनो यस्य सः अयं नियतमानसः,** शान्तिम् **उपरतिं** निर्वाणपरमा **निर्वाणं मोक्षः तत्परमा निष्ठा यस्याः शान्तेः सा निर्वाणपरमा तां निर्वाणपरमां** मत्संस्था **मदधीनाम्** अधिगच्छति **प्राप्नोति** ॥ १५ ॥

नियत मनवाला योगी अर्थात् जिसका मन जीता हुआ है ऐसा योगी उपर्युक्त प्रकारसे सदा आत्माका समाधान करता हुआ अर्थात् मनको परमात्मामे स्थिर करता-करता मुझमे स्थित निर्वाणदायिनी शान्तिको—उपरतिको पाता है अर्थात् जिस शान्तिकी परमनिष्ठा—अन्तिम स्थिति मोक्ष है एवं जो मुझमे स्थित है—मेरे अधीन है ऐसी शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

इदानीं योगिन आहारादिनियम उच्यते—

अब योगीके आहार आदिके नियम कहे जाते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

न अत्यश्नत **आत्मसंमितम् अन्नपरिमाणम् अतीत्य अश्नतः अत्यश्नतो न** योगः अस्ति, न च एकान्तम् अनश्नतो **योगः** अस्ति *'यदु ह वा आत्मसमितमन्न तदवति तन्न हिनस्ति' 'यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति' (शतपथ)* **इति श्रुतेः** ।

तस्माद् योगी न आत्मसंमिताद् अन्नाद् अधिकं न्यूनं वा अश्नीयात् ।

अथ वा योगिनो योगशास्त्रे परिपठिताद् अन्नपरिमाणाद् अतिमात्रम् अश्नतो योगो न अस्ति ।

अधिक खानेवालेका अर्थात् अपनी शक्तिका उल्लङ्घन करके शक्तिसे अधिक भोजन करनेवालेका योग सिद्ध नहीं होता, और बिल्कुल न खानेवालेका भी योग सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यह श्रुति है कि **'जो अपने शरीरकी शक्तिके अनुसार अन्न खाया जाता है वह रक्षा करता है, वह कष्ट नहीं देता (बिगाड़ नहीं करता) जो उससे अधिक होता है वह कष्ट देता है और जो प्रमाणसे कम होता है वह रक्षा नहीं करता ।'**

इसलिये योगीको चाहिये कि अपने लिये जितना उपयुक्त हो उससे कम या ज्यादा अन्न न खाय ।

अथवा यह अर्थ समझो कि योगीके लिये योगशास्त्रमे बतलाया हुआ जो अन्नका परिमाण है उससे अधिक खानेवालेका योग सिद्ध नहीं होता ।

उक्तं हि 'अर्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु । वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥' इत्यादि परिमाणम् ।

तथा न च अतिस्वप्नशीलस्य योगो भवति न एव च अतिमात्रं जाग्रतो योगो भवति च अर्जुन ॥ १६ ॥

वहाँ यह परिमाण बतलाया है कि 'पेटका आधा भाग अर्थात् दो हिस्से तो शाक-पात आदि व्यञ्जनों-सहित भोजनसे और तीसरा हिस्सा जलसे पूर्ण करना चाहिये तथा चौथा वायुके आने-जानेके लिये खाली रखना चाहिये' इत्यादि ।

तथा हे अर्जुन ! न तो बहुत सोनेवालेका ही योग सिद्ध होता है और न अधिक जागनेवालेको ही योग-सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १६ ॥

कथं पुनः योगो भवति इति उच्यते—

तो फिर योग कैसे सिद्ध होता है ? सो कहते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

युक्ताहारविहारस्य आह्रियते इति आहारः अन्नं विहरणं विहारः पादक्रमः तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य तथा युक्तचेष्टस्य युक्ता नियता चेष्टा यस्य कर्मसु तथा युक्तस्वप्नावबोधस्य युक्तौ स्वप्नः च अवबोधः च तौ नियतकालौ यस्य, तस्य युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु युक्तस्वप्नावबोधस्य योगिनो योगो भवति दुःखहा ।

दुःखानि सर्वाणि हन्ति इति दुःखहा सर्वसंसारदुःखक्षयकृद् योगो भवति इत्यर्थः ॥१७॥

जो खाया जाय वह आहार अर्थात् अन्न और चलना-फिरनारूप जो पैरोंकी क्रिया है वह विहार, यह दोनों जिसके नियमित परिमाणसे होते हैं और कर्मोंमें जिसकी चेष्टा नियमित परिमाणसे होती है, जिसका सोना और जागना नियत-कालमें यथायोग्य होता है, ऐसे यथायोग्य आहार-विहारवाले और कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवाले तथा यथायोग्य सोने और जागनेवाले योगीका दुःखनाशक योग सिद्ध हो जाता है ।

सब दुःखोंको हरनेवालेका नाम 'दुःखहा' है । ऐसा सब संसाररूप दुःखोंका नाश करनेवाला योग (उस योगीका) सिद्ध होता है यह अभिप्राय है ॥ १७ ॥

अथ अधुना कदा युक्तो भवति इति उच्यते—

अब यह बतलाते हैं कि (साधक पुरुष) कब युक्त (समाधिस्थ) हो जाता है—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यदा विनियत चित्तं विशेषेण नियतं संयुतम् एकाग्रताम् आपन्नं चित्तम्, हित्वा बाह्यचिन्ताम् आत्मनि एव केवले अवतिष्ठते स्वात्मनि स्थितिं लभते इत्यर्थः ।

निःस्पृह सर्वकामेभ्यो निर्गता दृष्टादृष्टविषयेभ्यः स्पृहा तृष्णा यस्य योगिनः स युक्त समाहित इति उच्यते तदा तस्मिन् काले ॥ १८ ॥

वशमें किया हुआ चित्त यानी विशेषरूपसे एकाग्रताको प्राप्त हुआ चित्त, जब बाह्य चिन्तनको छोड़कर केवल आत्मामें ही स्थित होता है — अपने स्वरूपमें स्थिति लाभ करता है ।

तब—उस समय सब भोगोंकी लालसासे रहित हुआ योगी अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट समस्त भोगोंमें जिसकी तृष्णा नष्ट हो गयी है ऐसा योगी युक्त है—समाधिस्थ (परमात्मामें स्थितिवाला) है, ऐसे कहा जाता है ॥ १८ ॥

तस्य योगिनः समाहितं यत् चित्तं तस्य उपमा उच्यते—

उस योगीका जो समाधिस्थ चित्त है उसकी उपमा कही जाती है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

यथा दीप. प्रदीपो निवातस्थो निवाते वातवर्जिते देशे स्थितो न इङ्गते न चलति, सा उपमा उपमीयते अनया इति उपमा योगज्ञैः चित्तप्रचारदर्शिभिः स्मृता चिन्तिता योगिनो यतचित्तस्य संयतान्तःकरणस्य युञ्जतो योगम् अनुतिष्ठत आत्मन समाधिम् अनुतिष्ठत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

जैसे वायुरहित स्थानमें रखा हुआ दीपक विचलित नहीं होता, वही उपमा आत्मध्यानका अभ्यास करनेवाले—समाधिमें स्थित हुए योगीके जीते हुए अन्त करणकी, चित्त-गतिको प्रत्यक्ष देखनेवाले योगवेत्ता पुरुषोंने मानी है । जिससे किसी-की समानता की जाय उसका नाम उपमा है॥१९॥

एवं योगाभ्यासबलाद् एकाग्रीभूतं निवातप्रदीपकल्पं सत्—

इस प्रकार योगाभ्यासके बलसे वायुरहित स्थानमें रखे हुए दीपककी भाँति एकाग्र किया हुआ—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

यत्र यस्मिन् काले उपरमते चित्तम् उपरतिं गच्छति निरुद्धं सर्वतो निवारितप्रचारं योगसेवया योगानुष्ठानेन, यत्र च एव यस्मिन् च काले आत्मना समाधिपरिशुद्धेन अन्तःकरणेन आत्मानं परं चैतन्यज्योतिःस्वरूपं पश्यन् उपलभमानः स्वे एव आत्मनि तुष्यति तुष्टिं भजते ॥ २० ॥

योगसाधनमें निरुद्ध किया हुआ, सब ओरसे चञ्चलतारहित किया हुआ चित्त,—जिस समय उपरत होता है—उपरतिको प्राप्त होता है । तथा जिस कालमें समाधिद्वारा अति निर्मल (स्वच्छ) हुए अन्त करणसे परम चैतन्य ज्योतिःस्वरूप आत्माका साक्षात् करता हुआ वह अपने आपमें ही सन्तुष्ट हो जाता है—तृप्ति लाभ कर लेता है ॥ २० ॥

किं च— | तथा—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

सुखम् आत्यन्तिकम् अत्यन्तम् एव भवति इति आत्यन्तिकम् अनन्तम् इत्यर्थः । यत् तद् बुद्धिग्राह्यं बुद्ध्या एव इन्द्रियनिरपेक्षया गृह्यते इति बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियगोचरातीतम् अविषयजनितम् इत्यर्थः । वेत्ति तद् ईदृशं सुखम् अनुभवति यत्र यस्मिन् काले, न च, एव अयं विद्वान् आत्मस्वरूपे स्थित. तस्माद् न एव चलति तत्त्वत तत्त्वस्वरूपाद् न प्रच्यवते इत्यर्थः ॥ २१ ॥

जो सुख अत्यन्त यानी अन्तसे रहित—अनन्त है, जो इन्द्रियोंकी कुछ भी अपेक्षा न करके केवल बुद्धिसे ही ग्रहण किया जानेयोग्य है, जो इन्द्रियोंकी पहुँचसे अतीत है यानी जो विषयजनित सुख नहीं है, ऐसे सुखको यह योगी जिस कालमे अनुभव कर लेता है, जिस कालमे अपने स्वरूपमे स्थित हुआ यह ज्ञानी उस तत्त्वसे—वास्तविक स्वरूपसे चलायमान नहीं होता—विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥

किं च— | तथा—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

य लब्ध्वा यम् आत्मलाभं लब्ध्वा प्राप्य च अपरम् अन्यल्लाभान्तरं तत. अधिकम् अस्ति इति न मन्यते चिन्तयति । किं च यस्मिन् आत्मतत्त्वे स्थितो दुःखेन शस्त्रनिपातादिलक्षणे गुरुणा महता अपि न विचाल्यते ॥ २२ ॥

जिस आत्मप्राप्तिरूप लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ है ऐसा नहीं मानता, दूसरे लाभको स्मरण भी नहीं करता । एव जिस आत्मतत्त्वमे स्थित हुआ योगी शस्त्राघात आदि बडे भारी दुःखों-द्वारा भी विचलित नहीं किया जा सकता ॥ २२ ॥

'यत्रोपरमते' इत्याद्यारभ्य यावद्भिः विशेषणैः विशिष्ट आत्मावस्थाविशेषो योग उक्तः—

'यत्रोपरमते' से लेकर यहाँतक समस्त विशेषणों-से विशिष्ट आत्माका अवस्थाविशेषरूप जो योग कहा गया है—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

तं विद्याद् विजानीयाद् दुःखसंयोगवियोगम्, दुःखैः संयोगो दुःखसंयोगः तेन वियोगो दुःखसंयोगवियोगः तं दुःखसंयोगवियोगं योग इति एव संज्ञितं विपरीतलक्षणेन विद्याद् विजानीयात् इत्यर्थः ।

उस योग नामक अवस्थाको दुःखोंके सयोगका वियोग समझना चाहिये । अभिप्राय यह कि दुःखोंसे संयोग होना 'दु खसयोग' है, उससे वियोग हो जाना 'दुःखोंके सयोगका वियोग' है, उस 'दुःख-सयोग-वियोग' को 'योग' ऐसे विपरीत नामसे कहा हुआ समझना चाहिये ।

योगफलम् उपसंहृत्य पुनः अन्वारम्भेण योगस्य कर्तव्यता उच्यते, निश्चयानिर्वेदयोः योगसाधनत्वविधानार्थम् ।

योग-फलका उपसंहार करके अब दृढ़ निश्चयको और योगविषयक रुचिको भी योगका साधन बतानेके लिये पुनः प्रकारान्तरसे योगकी कर्तव्यता बतायी जाती है—

स यथोक्तफलो योगो निश्चयेन अध्यवसायेन योक्तव्यः अनिर्विण्णचेतसा ।

वह उपर्युक्त फलवाला योग बिना उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना चाहिये ।

न निर्विण्णम् अनिर्विण्णं किं तत् चेतः तेन निर्वेदरहितेन चेतसा चित्तेन इत्यर्थः ॥ २३ ॥

जिस चित्तमे निर्विण्णता (उद्वेग) न हो वह अनिर्विण्ण-चित्त है, ऐसे अनिर्विण्ण (न उकताये हुए) चित्तसे निश्चयपूर्वक योगका साधन करना चाहिये, यह अभिप्राय है ॥ २३ ॥

किं च—

तथा—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

संकल्पप्रभवान् संकल्पः प्रभवो येषां कामानां ते संकल्पप्रभवाः कामाः तान् त्यक्त्वा परित्यज्य सर्वान् अशेषतो निर्लेपेन । किं च मनसा एव विवेकयुक्तेन इन्द्रियग्रामम् इन्द्रियसमुदायं विनियम्य नियमनं कृत्वा समन्ततः समन्तात् ॥ २४ ॥

संकल्पसे उत्पन्न हुई समस्त कामनाओको निःशेषतासे अर्थात् लेशमात्र भी शेष न रखते हुए निर्लेपभावसे छोड़कर, एवं विवेकयुक्त मनसे इन्द्रियोके समुदायको सब ओरसे रोककर अर्थात् उनका सयम करके ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

शनैः शनैः न सहसा उपरमेद् उपरतिं कुर्यात् ।

शनैः-शनैः अर्थात् सहसा नहीं, क्रम-क्रमसे उपरतिको प्राप्त करे।

कया, बुद्ध्या । किंविशिष्टया धृतिगृहीतया धृत्या धैर्येण गृहीतया धृतिगृहीतया धैर्येण युक्तया इत्यर्थः ।

किसके द्वारा ? बुद्धिद्वारा । कैसी बुद्धिद्वारा ? धैर्यसे धारण की हुई अर्थात् धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा ।

आत्मसंस्थम् आत्मनि संस्थितम् आत्मा एव सर्वं न ततः अन्यत् किंचिद् अस्ति इति एवम् आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, न किंचिद् अपि चिन्तयेद् एष योगस्य परमो विधिः ॥ २५ ॥

तथा मनको आत्मामे स्थित करके अर्थात् 'यह सब कुछ आत्मा ही है उससे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है' इस प्रकार मनको आत्मामे अचल करके अन्य किसी वस्तुका भी चिन्तन न करे । यह योगकी परम श्रेष्ठ विधि है ॥ २५ ॥

तत्र एवम् आत्मसंस्थं मनः कर्तुं प्रवृत्तो योगी—

इस प्रकार मनको आत्मामें स्थित करनेमें लगा हुआ योगी—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यतो यतो यस्माद् यस्माद् निमित्तात् शब्दादेः निश्चरति निर्गच्छति स्वभावदोषाद् मनः चञ्चलम् अत्यर्थं चलम् अत एव अस्थिरं ततः ततः तस्मात् तस्मात् शब्दादेः निमित्ताद् नियम्य तत् तद् निमित्तं याथात्म्यनिरूपणेन आभासीकृत्य वैराग्यभावनया च एतद् मन आत्मनि एव वशं नयेद् आत्मवश्यताम् आपादयेत् । एवं योगाभ्यासबलाद् योगिन आत्मनि एव प्रशाम्यति मनः ॥ २६ ॥

स्वाभाविक दोषके कारण जो अत्यन्त चञ्चल है, तथा इसीलिये जो अस्थिर है ऐसा मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे विचलित होता है—बाहर जाता है, उस-उस शब्दादि विषयरूप निमित्तसे (इस मनको) रोककर एवं उस-उस विषयरूप निमित्तको यथार्थ तत्त्वनिरूपणद्वारा आभासमात्र दिखाकर, वैराग्यकी भावनासे इस मनका (बारंबार) आत्मामे ही निरोध करे अर्थात् इसे आत्माके ही वशीभूत किया करे । इस प्रकार योगाभ्यासके बलसे योगीका मन आत्मामे ही शान्त हो जाता है ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

प्रशान्तमनसं प्रशान्तं मनो यस्य स प्रशान्तमनाः तं प्रशान्तमनसं हि एनं योगिनं सुखम् उत्तमम् निरतिशयम् उपैति उपगच्छति । शान्तरजसं प्रक्षीणमोहादिक्लेशरजसम् इत्यर्थः । ब्रह्मभूतं जीवन्मुक्तं ब्रह्म एव सर्वम् इति एवं निश्चयवन्तं ब्रह्मभूतम् अकल्मषम् अधर्मादिवर्जितम् ॥ २७ ॥

क्योंकि जिसका मन भलीभाँति शान्त है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है अर्थात् जिसका मोहादि क्लेशरूप रजोगुण अच्छी प्रकार क्षीण हो चुका है, जो ब्रह्मरूप—जीवन्मुक्त अर्थात् 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसे निश्चयवाला है एवं जो अधर्मादि दोषोंसे रहित है, उस योगीको निरतिशय उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

युञ्जन् एवं यथोक्तेन क्रमेण योगी योगान्तरायवर्जितः सदा आत्मानं विगतकल्मषो विगतपापः सुखेन अनायासेन ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मणा परेण संस्पर्शो यस्य तद् ब्रह्मसंस्पर्शं सुखम् अत्यन्तम् अन्तम् अतीत्य वर्तते इति अत्यन्तम् उत्कृष्टं निरतिशयम् अश्नुते व्याप्नोति ॥ २८ ॥

योगविषयक विघ्नोंसे रहित हुआ विगतकल्मष—निष्पाप योगी उपर्युक्त क्रमसे सदा चित्तको समाहित करता हुआ, अनायास ही ब्रह्म प्राप्तिरूप निरतिशय—उत्कृष्ट सुखका अनुभव करता है अर्थात् जिसका परब्रह्मसे सम्बन्ध है और जो अन्तसे अतीत—अनन्त है ऐसे परम सुखको प्राप्त हो जाता है ॥ २८ ॥

इदानीं योगस्य यत् फलं ब्रह्मैकत्वदर्शनं सर्वसंसारविच्छेदकारणं तत् प्रदर्श्यते—

अब, योगका फल जो कि समस्त संसारका विच्छेद करा देनेवाला ब्रह्मके साथ एकताका देखना है वह दिखलाया जाता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥ २९ ॥

सर्वभूतस्थं सर्वेषु भूतेषु स्थितं स्वम् आत्मानं सर्वभूतानि च आत्मनि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि च सर्वभूतानि आत्मनि एकतां गतानि ईक्षते पश्यति योगयुक्तात्मा समाहितान्तःकरणः सर्वत्र-समदर्शनः सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विषमेषु सर्वभूतेषु समं निर्विशेषं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं दर्शनं ज्ञानं यस्य स सर्वत्रसमदर्शनः ॥ २९ ॥

समाहित अन्तःकरणसे युक्त और सब जगह समदृष्टिवाला योगी—जिसका ब्रह्म और आत्माकी एकताको विषय करनेवाला ज्ञान, ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त विभक्त प्राणियोंमें भेदभावसे रहित—सम हो चुका है, ऐसा पुरुष—अपने आत्माको सब भूतोंमें स्थित (देखता है) और आत्मामें सब भूतोंको देखता है । अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंको आत्मामें एकताको प्राप्त हुए देखता है ॥ २९ ॥

एतस्य आत्मैकत्वदर्शनस्य फलम् उच्यते—

इस आत्माकी एकताके दर्शनका फल कहा जाता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

यो मा पश्यति वासुदेवं सर्वस्य आत्मानं सर्वत्र सर्वेषु भूतेषु सर्वं च ब्रह्मादिभूतजातं मयि सर्वात्मनि पश्यति, तस्य एवम् आत्मैकत्वदर्शिनः अहम् ईश्वरो न प्रणश्यामि न परोक्षतां गमिष्यामि स च मे न प्रणश्यति स च विद्वान् मम वासुदेवस्य न प्रणश्यति न परोक्षीभवति । तस्य च मम च एकात्मकत्वात् ।

जो सबके आत्मा मुझ वासुदेवको सब जगह अर्थात् सब भूतोंमें (व्यापक) देखता है और ब्रह्मा आदि समस्त प्राणियोंको मुझ सर्वात्मा (परमेश्वर) में देखता है, इस प्रकार आत्माकी एकताको देखनेवाले उस ज्ञानीके लिये मैं ईश्वर कभी अदृश्य नहीं होता अर्थात् कभी अप्रत्यक्ष नहीं होता और वह ज्ञानी भी कभी मुझ वासुदेवसे अदृश्य—परोक्ष नहीं होता, क्योंकि उसका और मेरा स्वरूप एक ही है ।

स्वात्मा हि नाम आत्मनः प्रिय एव भवति यस्मात् च अहम् एव सर्वात्मैकत्वदर्शी ॥३०॥

निःसन्देह अपना आत्मा अपना प्रिय ही होता है और जो सर्वात्मभावसे एकताको देखनेवाला है वह मैं ही हूँ ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

इति एतत् पूर्वश्लोकार्थं सम्यग्दर्शनम् अनूद्य तत्फलं मोक्षः अभिधीयते । सर्वथा सर्वप्रकारैः वर्तमानः अपि सम्यग्दर्शी योगी मयि वैष्णवे परमे पदे वर्तते नित्यमुक्त एव स न मोक्षं प्रति केनचित् प्रतिबध्यते इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(एकत्व भावमे स्थित हुआ जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमे स्थित मुझ वासुदेवको भजता है) इस प्रकार पहले श्लोकके अर्थरूप यथार्थ ज्ञानका इस आधे श्लोकसे अनुवाद करके उसके फलस्वरूप मोक्षका विधान करते हैं- वह पूर्ण ज्ञानी—योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी वैष्णव परमपदरूप मुझ परमेश्वरमे ही बर्तता है अर्थात् वह सदा मुक्त ही है—उसके मोक्षको कोई भी रोक नहीं सकता ॥ ३१ ॥

किं च अन्यत्—

तथा और भी कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

आत्मौपम्येन आत्मा स्वयम् एव उपमीयते [*अनया*] इति उपमा तस्या उपमाया भाव औपम्यम् ।

तेन आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतेषु समं तुल्यं पश्यति यः अर्जुन ।

स च किं समं पश्यति इति उच्यते—

यथा मम सुखम् इष्टं तथा सर्वप्राणिनां सुखम् अनुकूलम् । वा शब्दः चार्थे । यदि वा यत् च दुःखं मम प्रतिकूलम् अनिष्टं यथा तथा सर्वप्राणिनां दुःखम् अनिष्टं प्रतिकूलम् इति एवम् आत्मौपम्येन सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूले तुल्यतया सर्वभूतेषु समं पश्यति, न कस्यचित् प्रतिकूलम् आचरति अहिंसक इत्यर्थः ।

य एवम् अहिंसकः सम्यग्दर्शननिष्ठः स योगी परम उत्कृष्टो मतः अभिप्रेतः सर्वयोगिनां मध्ये ॥ ३२ ॥

आत्मा अर्थात् स्वयं आप, और जिसके द्वारा उपमित किया जाय वह उपमा, उस उपमाके भावको (सादृश्यको) औपम्य कहते है ।

हे अर्जुन ! उस आत्मौपम्यद्वारा अर्थात् अपनी सदृशतासे जो योगी सर्वत्र—सब भूतोंमें तुल्य देखता है ।

वह तुल्य क्या देखता है ? सो कहते हैं—

जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे ही सभी प्राणियोंको सुख अनुकूल है और जैसे दुःख मुझे अप्रिय—प्रतिकूल है वैसे ही वह सब प्राणियोंको अप्रिय—प्रतिकूल है इस प्रकार जो सब प्राणियोमें अपने समान ही सुख और दुःखको तुल्यभावसे अनुकूल और प्रतिकूल देखता है, किसीके भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता, यानी अहिंसक है । यहाँ 'वा' शब्दका प्रयोग 'च' के अर्थमे हुआ है ।

जो इस प्रकारका अहिंसक पुरुष पूर्ण ज्ञानमें स्थित है वह योगी अन्य सब योगियोंमे परम उत्कृष्ट माना जाता है ॥ ३२ ॥

एतस्य यथोक्तस्य सम्यग्दर्शनलक्षणस्य योगस्य दुःखसंपाद्यताम् आलक्ष्य शुश्रूषुः ध्रुवं तत्प्राप्त्युपायम्—

अर्जुन उवाच—

इस उपर्युक्त पूर्णज्ञानरूप योगको कठिनतासे सम्पादन किया जानेयोग्य समझकर उसकी प्राप्तिके निश्चित उपायको सुननेकी इच्छावाला अर्जुन बोला—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

यः अयं योगः त्वया प्रोक्तः साम्येन समत्वेन हे मधुसूदन एतस्य योगस्य अहं न पश्यामि न उपलभे चञ्चलत्वाद् मनसः किं स्थिराम् अचलां स्थितिं प्रसिद्धम् एतत्॥ ३३॥

हे मधुसूदन! आपने जो यह समत्वभावरूप योग कहा है, मनकी चञ्चलताके कारण मैं इस योगकी अचल स्थिति नहीं देखता हूँ—यह बात प्रसिद्ध है॥ ३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण इति कृषतेः विलेखनार्थस्य रूपं भक्तजनपापादिदोषाकर्षणात् कृष्णः।

न केवलम् अत्यर्थं चञ्चलं प्रमाथि च प्रमथनशीलं प्रमथ्नाति शरीरम् इन्द्रियाणि च विक्षिपति परवशीकरोति।

किं च बलवद् न केनचिद् नियन्तुं शक्यम्। किं च दृढं तन्तुनागवद् अच्छेद्यम्।

तस्य एवंभूतस्य मनसः अहं निग्रहं निरोधं मन्ये वायोः इव। यथा वायोः दुष्करो निग्रहः ततः अपि मनसो दुष्करं मन्ये इति अभिप्रायः॥ ३४॥

क्योंकि हे कृष्ण! यह मन बड़ा ही चञ्चल है। विलेखनके अर्थमें जो 'कृष्' धातु है उसका रूप 'कृष्ण' है। भक्तजनोंके पापादि दोषोंको निवृत्त करनेवाले होनेके कारण भगवान्‌का नाम 'कृष्ण' है।

यह मन केवल अत्यन्त चञ्चल है इतना ही नहीं, किन्तु प्रमथनशील भी है अर्थात् शरीरको क्षुब्ध और इन्द्रियोंको विक्षिप्त यानी परवश कर देता है।

तथा बड़ा बलवान् है—किसीसे भी वशमें किया जाना अशक्य है। साथ ही यह बड़ा दृढ़ भी है अर्थात् तन्तुनाग (गोह) नामक जलचर जीवकी भाँति अच्छेद्य है।

ऐसे लक्षणोंवाले इस मनका निरोध करना मैं वायुकी भाँति दुष्कर मानता हूँ। अभिप्राय यह कि जैसे वायुका रोकना दुष्कर है, उससे भी अधिक दुष्कर मैं मनका रोकना मानता हूँ॥ ३४॥

एवम् एतद् यथा ब्रवीषि—
श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले कि जैसे तू कहता है यह ठीक ऐसा ही है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

असंशयं न अस्ति संशयो मनो दुर्निग्रहं चलम् इत्यत्र हे महाबाहो । किन्तु अभ्यासेन तु अभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्यांचित् समानप्रत्ययावृत्तिः चित्तस्य । वैराग्यं नाम दृष्टादृष्टेष्टभोगेषु दोषदर्शनाभ्यासाद् वैतृष्ण्यं तेन च वैराग्येण गृह्यते विक्षेपरूपः प्रचारः चित्तस्य । एवं तद् मनो गृह्यते निगृह्यते निरुध्यते इत्यर्थः ।३५।

हे महाबाहो ! मन चञ्चल और कठिनतासे वशमे होनेवाला है इसमे (कोई) सन्देह नहीं । किन्तु अभ्याससे अर्थात् किसी चित्तभूमिमे एक समान वृत्तिकी बारंबार आवृत्ति करनेसे और दृष्ट तथा अदृष्ट प्रिय भोगोमे बारंबार दोषदर्शनके अभ्यासद्वारा उत्पन्न हुए अनिच्छारूप वैराग्यसे चित्तके विक्षेपरूप प्रचार (चञ्चलता) को रोका जा सकता है । अर्थात् इस प्रकार उस मनका निग्रह—निरोध किया जा सकता है ॥ ३५ ॥

यः पुनः असंयतात्मा तेन—

परन्तु जिसका अन्तःकरण वशमे किया हुआ नहीं है उस—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

असंयतात्मना अभ्यासवैराग्याभ्याम् असंयत आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः अयम् असंयतात्मा तेन असंयतात्मना योगो दुष्प्रापो दुःखेन प्राप्यते इति मे मतिः ।

यः तु पुनः वश्यात्मा अभ्यासवैराग्याभ्यां वश्यत्वम् आपादित आत्मा मनो यस्य सः अयं वश्यात्मा तेन वश्यात्मना तु यतता भूयः अपि प्रयत्नं कुर्वता शक्य. अवाप्तुं योग उपायतो यथोक्ताद् उपायात् ॥ ३६ ॥

मनको वशमे न करनेवाले पुरुषद्वारा अर्थात् जिसका अन्तःकरण अभ्यास और वैराग्यद्वारा संयत किया हुआ नहीं है ऐसे पुरुषद्वारा योग प्राप्त किया जाना कठिन है, अर्थात् उसको योग कठिनतासे प्राप्त हो सकता है—यह मेरा निश्चय है ।

परन्तु जो स्वाधीन मनवाला है—जिसका मन अभ्यासवैराग्यद्वारा वशमे किया हुआ है और जो फिर भी बारंबार यत्न करता ही जाता है ऐसे पुरुषद्वारा पूर्वोक्त उपायोंमे यह योग प्राप्त किया जा सकता है ॥ ३६ ॥

तत्र योगाभ्यासाङ्गीकरणे न परलोकेहलोकप्राप्तिनिमित्तानि कर्माणि संन्यस्तानि योगसिद्धिफलं च मोक्षसाधनं सम्यग्दर्शनं न प्राप्तम् इति योगी योगमार्गाद् मरणकाले चलितचित्त इति तस्य नाशम् आशङ्क्य—

अर्जुन उवाच—

योगाभ्यासको स्वीकार करके जिसने इस लोक और परलोककी प्राप्तिके साधनरूप कर्मोंका तो त्याग कर दिया और योगसिद्धिका फल, मोक्षप्राप्तिका साधन पूर्ण ज्ञान जिसको मिला नहीं, ऐसे जिस योगीका चित्त अन्तकालमें योगमार्गसे विचलित हो गया हो, उस योगीके नाशकी आशङ्का करके अर्जुन पूछने लगा—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अयतिः **अप्रयत्नवान् योगमार्गे** श्रद्धया **आस्तिक्यबुद्ध्या च** उपेतो योगाद् **अन्तकाले अपि चलितं मानसं मनो यस्य स** चलितमानसो **भ्रष्टस्मृतिः सः** अप्राप्य योगसंसिद्धिं **योगफलं सम्यग्दर्शनं** कां गतिं हे कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

हे कृष्ण ! जो साधक योगमार्गमे यत्न करनेवाला नहीं है, परन्तु श्रद्धासे अर्थात् आस्तिक-बुद्धिसे युक्त है और अन्तकालमे जिसका मन योगसे चलायमान हो गया है वह चञ्चल-चित्त भ्रष्ट स्मृतिवाला योगी योगकी सिद्धिको अर्थात् योगफलरूप पूर्ण ज्ञानको न पाकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

कच्चित् **किं** न उभयविभ्रष्टः **कर्ममार्गाद् योगमार्गात् च विभ्रष्टः सन्** छिन्नाभ्रम् इव नश्यति **किं वा न नश्यति** अप्रतिष्ठो **निराश्रयो हे** महाबाहो विमूढः **सन्** ब्रह्मणः पथि **ब्रह्मप्राप्तिमार्गे** ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! वह आश्रयरहित और ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमे मोहित हुआ पुरुष कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर क्या छिन्न-भिन्न हुए बादलकी भाँति नष्ट हो जाता है अथवा नष्ट नहीं होता ? ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

एतद् मे **मम** संशयं कृष्ण छेत्तुम् **अपनेतुम्** अर्हसि अशेषतः त्वदन्यः **त्वत्तः अन्य ऋषिः देवो वा** छेत्ता **नाशयिता** संशयस्य अस्य न हि **यस्माद्** उपपद्यते **संभवति अतः त्वम् एव छेत्तुम् अर्हसि इत्यर्थः** ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण ! मेरे इस संशयको निःशेषतासे काटनेके लिये अर्थात् नष्ट करनेके लिये आप ही समर्थ है क्योंकि आपको छोड़कर दूसरा कोई ऋषि या देवता इस संशयका नाश करनेवाला सम्भव नहीं है । अतः आपको ही इसका नाश करना चाहिये यह अभिप्राय है ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

हे पार्थ न एव इह **लोके** न अमुत्र **परस्मिन् वा लोके** विनाशः तस्य विद्यते, **न अस्ति नाशो नाम पूर्वस्माद् हीनजन्मप्राप्तिः स योगभ्रष्टस्य न अस्ति ।**

न हि **यस्मात्** कल्याणकृत् **शुभकृत्** कश्चिद् दुर्गतिं **कुत्सितां गतिं** हे तात **तनोति आत्मानं पुत्ररूपेण इति पिता तात उच्यते, पिता एव पुत्र इति पुत्रः अपि तात उच्यते शिष्यः अपि पुत्र उच्यते,** गच्छति ॥ ४० ॥

हे पार्थ ! उस योगभ्रष्ट पुरुषका इस लोकमें या परलोकमे कहीं भी नाश नहीं होता है । पहलेकी अपेक्षा हीन-जन्मकी प्राप्तिका नाम नाश है सो ऐसी अवस्था योगभ्रष्टकी नहीं होती ।

क्योंकि हे तात ! शुभ कार्य करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको अर्थात् नीच गतिको नहीं पाता । पिता पुत्ररूपसे आत्माका विस्तार करता है अतः उसको 'तात' कहते हैं तथा पिता ही पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है अतः पुत्रको भी 'तात' कहते हैं । शिष्य भी पुत्रके तुल्य है इसलिये उसको भी 'तात' कहते हैं ॥ ४० ॥

किं तु अस्य भवति—

तो फिर इस योगभ्रष्टका क्या होता है ?—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

योगमार्गे प्रवृत्तः संन्यासी सामर्थ्यात् प्राप्य **गत्वा** पुण्यकृताम् **अश्वमेधादियाजिनां** लोकान् **तत्र च** उषित्वा **वासम् अनुभूय** शाश्वतीः **नित्याः** समाः **संवत्सरान् तद्भोगक्षये** शुचीनां **यथोक्तकारिणां** श्रीमतां **विभूतिमतां** गेहे **गृहे** योगभ्रष्टः अभिजायते ॥ ४१ ॥

योग-मार्गमे लगा हुआ योगभ्रष्ट संन्यासी पुण्यकर्म करनेवालोंके अर्थात् अश्वमेध आदि यज्ञ करनेवालोंके लोकोंमे जाकर, वहाँ बहुत कालतक अर्थात् अनन्त वर्षोंतक वास करके, उनके भोगका क्षय होनेपर शास्त्रोक्त कर्म करनेवाले शुद्ध और श्रीमान् पुरुषोंके घरमे जन्म लेता है । प्रकरणकी सामर्थ्यसे यहाँ योगभ्रष्टका अर्थ संन्यासी लिया गया है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा **श्रीमतां कुलाद् अन्यस्मिन्** योगिनाम् एव **दरिद्राणां** कुले भवति **जायते** धीमतां **बुद्धिमताम्** ।

अथवा श्रीमानोंके कुलसे अन्य जो बुद्धिमान् दरिद्र योगियोंका कुल है उसीमें जन्म ले लेता है ।

एतद् हि जन्म यद् दरिद्राणां योगिनां कुले दुर्लभतरं दुःखलभ्यतरं पूर्वम् अपेक्ष्य लोके जन्म यद् ईदृशं यथोक्तविशेषणे कुले ॥ ४२ ॥

परन्तु ऐसा जन्म अर्थात् जो उपर्युक्त दरिद्र आदि विशेषणोंसे युक्त योगियोंके कुलमें उत्पन्न होना है, वह इस लोकमें पहले बतलाये हुए श्रीमानोंके कुलमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥४२॥

यस्मात्—

क्योंकि—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

तत्र योगिनां कुले तं बुद्धिसंयोगं बुद्ध्या संयोगं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकं पूर्वस्मिन् देहे भवं पौर्वदेहिकम्, यतते च प्रयत्नं करोति ततः तस्मात् पूर्वकृतात् संस्काराद् भूयो बहुतरं संसिद्धौ संसिद्धिनिमित्तं हे कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

वहाँ योगियोंके कुलमें पहले शरीरमें होनेवाले उस बुद्धिके संयोगको पाता है—अर्थात् योगी कुलमें जन्म लेते ही उसका पूर्व-जन्ममें प्राप्त हुई बुद्धिसे सम्बन्ध हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! वह उस पूर्वकृत संस्कारके बलसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त करनेके लिये फिर और भी अधिक प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥

कथं पूर्वदेहबुद्धिसंयोग इति तद् उच्यते—

पहले शरीरकी बुद्धिसे उसका संयोग कैसे होता है ? सो कहते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

यः पूर्वजन्मनि कृतः अभ्यासः स पूर्वाभ्यासः तेन एव बलवता ह्रियते हि यस्माद् अवशः अपि स योगभ्रष्टः ।

न कृतं चेद् योगाभ्याससंस्काराद् बलवत्तरम् अधर्मादिलक्षणं कर्म तदा योगाभ्यासजनितेन संस्कारेण ह्रियते । अधर्मः चेद् बलवत्तरः कृतः तेन योगजः अपि संस्कारः अभिभूयते एव ।

क्योंकि वह योग-भ्रष्ट पुरुष परवश हुआ भी पूर्वाभ्यासके द्वारा अर्थात् जो पहले जन्ममें किया हुआ अभ्यास है, उस अति बलवान् पूर्वाभ्यासके द्वारा योगकी ओर खींच लिया जाता है ।

यदि योगाभ्यासके संस्कारोंकी अपेक्षा अधिक बलवान् अधर्मादि कर्म न किये हों तो वह योगाभ्यास-जनित संस्कारोंसे खिंच जाता है और यदि अधिक बलवान् अधर्म किया हुआ होता है तो उससे योगजन्य संस्कार भी दब ही जाते हैं ।

तत्क्षये तु योगजः संस्कारः स्वयम् एव कार्यम् आरभते, न दीर्घकालस्थस्य अपि विनाशः तस्य अस्ति इत्यर्थः ।

परन्तु उस पाप-कर्मका क्षय होनेपर वे योगजन्य संस्कार स्वयं ही अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं । बहुत कालतक दबे रहनेपर भी उसका नाश नहीं होता ।

जिज्ञासुः अपि योगस्य स्वरूपं ज्ञातुम् इच्छन् योगमार्गे प्रवृत्तः संन्यासी योगभ्रष्टः सामर्थ्यात् सः अपि शब्दब्रह्म वेदोक्तकर्मानुष्ठानफलम् अतिवर्तते अपाकरिष्यति किम् उत बुद्ध्वा यो योगं तन्निष्ठः अभ्यासं कुर्यात् ॥ ४४ ॥

जो योगका जिज्ञासु भी है अर्थात् जो योगके स्वरूपको जाननेकी इच्छा करके योगमार्गमे लगा हुआ योग-भ्रष्ट संन्यासी है वह भी शब्दब्रह्मको अर्थात् वेदमे कहे हुए कर्मफलको अतिक्रम कर जाता है, फिर जो योगको जानकर उसमे स्थित हुआ अभ्यास करता है उसका तो कहना ही क्या है । यहाँ प्रसंगकी शक्तिसे जिज्ञासुका अर्थ संन्यासी किया गया है ॥ ४४ ॥

कुतः च योगित्वं श्रेय इति—

योगित्व श्रेष्ठ किस कारणसे है ?—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

प्रयत्नाद् यतमानः अधिकं यतमान इत्यर्थः तत्र योगी विद्वान् संशुद्धकिल्बिषो विशुद्धकिल्बिषः संशुद्धपापः अनेकेषु जन्मसु किंचित् किंचित् संस्कारजातम् उपचित्य तेन उपचितेन अनेक जन्मकृतेन संसिद्धः अनेकजन्मसंसिद्धः ततो लब्धसम्यग्दर्शनः सन् याति परां प्रकृष्टां गतिम् ॥ ४५ ॥

जो प्रयत्नपूर्वक—अधिक साधनमे लगा हुआ है वह विद्वान् योगी विशुद्धकिल्बिष अर्थात् अनेक जन्मोमे थोड़े-थोड़े संस्कारोको एकत्रितकर उन अनेक जन्मोंके सञ्चित संस्कारोसे पापरहित होकर, सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हुआ—सम्यक् ज्ञानको प्राप्त करके परमगति—मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

यस्माद् एवं तस्मात्—

ऐसा होनेके कारण—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

तपस्विभ्यः अधिको योगी ज्ञानिभ्यः अपि, **ज्ञानम्** **अत्र शास्त्रपाण्डित्यं तद्वद्भ्यः अपि** मतो **ज्ञातः** अधिकः **श्रेष्ठ इति** कर्मिभ्यः **अग्निहोत्रादि कर्म तद्वद्भ्यः** अधिको योगी **विशिष्टो यस्मात्** तस्माद् योगी भव अर्जुन ॥ ४६ ॥

तपस्वियों और ज्ञानियोंसे भी योगी अधिक है। यहाँ ज्ञान शास्त्र-विषयक पाण्डित्यका नाम है, उससे युक्त जो ज्ञानवान् हैं उनकी अपेक्षा योगी अधिक श्रेष्ठ है। तथा अग्निहोत्रादि कर्म करनेवालोंसे भी योगी अधिक श्रेष्ठ है इसलिये हे अर्जुन! तू योगी हो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७ ॥

योगिनाम् अपि सर्वेषां **रुद्रादित्यादिध्यान-पराणां मध्ये** मद्गतेन **मयि वासुदेवे समाहितेन** अन्तरात्मना **अन्तःकरणेन** श्रद्धावान् **श्रद्दधानः सन्** भजते **सेवते** यो मां स मे **मम** युक्ततमः **अतिशयेन युक्तो** मतः **अभिप्रेत इति** ॥ ४७ ॥

रुद्र, आदित्य आदि देवोंके ध्यानमें लगे हुए समस्त योगियोंसे भी जो योगी श्रद्धायुक्त हुआ मुझ वासुदेवमें अच्छी प्रकार स्थिति किये हुए अन्तःकरणसे मुझे ही भजता है, उसे मैं युक्ततम अर्थात् अतिशय श्रेष्ठ योगी मानता हूँ ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्येऽभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

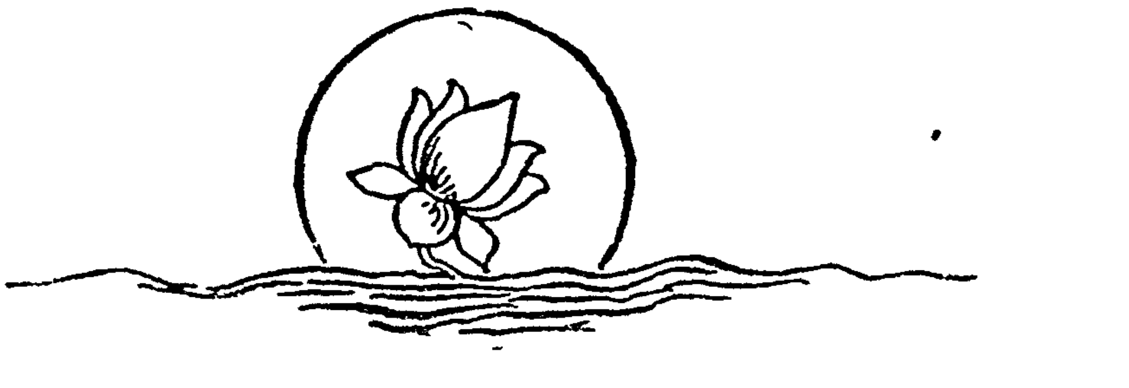

ॐ

सप्तमोऽध्यायः

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥'

इति प्रश्नबीजम् उपन्यस्य स्वयम् एव ईदृशं मदीयं तत्त्वम् एवं मद्गतान्तरात्मा स्याद् इति एतद् विवक्षुः—

श्रीभगवानुवाच—

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥'

इस श्लोकद्वारा छठे अध्यायके अन्तमे प्रश्नके बीजकी स्थापना करके फिर स्वयं ही 'ऐसा मेरा तत्त्व है' 'इस प्रकार मुझमे स्थित अन्तरात्मावाला हो जाना चाहिये' इत्यादि बातोका वर्णन करनेकी इच्छावाले भगवान् बोले——

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

मयि वक्ष्यमाणविशेषणे परमेश्वरे आसक्तं मनो यस्य स मय्यासक्तमना हे पार्थ, योगं युञ्जन् मनःसमाधानं कुर्वन् मदाश्रयः अहम् एव परमेश्वर आश्रयो यस्य स मदाश्रयः।

यो हि कश्चित् पुरुषार्थेन केनचिद् अर्थी भवति स तत्साधनं कर्म अग्निहोत्रादि तपो दानं वा किंचिद् आश्रयं प्रतिपद्यते। अयं तु योगी माम् एव आश्रयं प्रतिपद्यते हित्वा अन्यत् साधनान्तरं मयि एव आसक्तमना भवति।

यः त्वम् एवंभूतः सन् असंशयं समग्रं समस्तं विभूतिबलशक्त्यैश्वर्यादिगुणसंपन्नं मा यथा येन प्रकारेण ज्ञास्यसि संशयम् अन्तरेण एवम् एव भगवान् इति तत् शृणु उच्यमानं मया॥ १॥

आगे कहे जानेवाले विशेषणोसे युक्त मुझ परमेश्वरमे ही जिसका मन आसक्त हो, वह 'मय्यासक्तमना' है और मै परमेश्वर ही जिसका (एकमात्र) अवलम्बन हूँ वह 'मदाश्रय' है, हे पार्थ! ऐसा 'मय्यासक्तमना' और 'मदाश्रय' होकर तू योगका साधन करता हुआ अर्थात् मनको ध्यानमे स्थित करता हुआ (जिस प्रकार मुझको संशयरहित समग्ररूपसे जानेगा सो सुन–)

जो कोई (धर्मादि पुरुषार्थोंमेसे) किसी पुरुषार्थका चाहनेवाला होता है, वह उसके साधनरूप अग्निहोत्रादि कर्म, तप या दानरूप किसी एक आश्रयको ग्रहण किया करता है, परन्तु यह योगी तो अन्य साधनोको छोड़कर केवल मुझको ही आश्रयरूपसे ग्रहण करता है, और मुझमे ही आसक्त-चित्त होता है।

इसलिये तू उपर्युक्त गुणोंसे सम्पन्न होकर विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि गुणोसे सम्पन्न मुझ समग्र परमेश्वरको जिस प्रकार सशयरहित जानेगा कि 'भगवान् निस्सन्देह ठीक ऐसा ही है', वह प्रकार मैं तुझसे कहता हूँ, सुन॥ १॥

तत् च मद्विषयम्—

वही यह अपने स्वरूपका—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

ज्ञानं ते **तुभ्यम्** अहं सविज्ञानं **विज्ञानसहितं स्वानुभवसंयुक्तम्** इदं वक्ष्यामि **कथयिष्यामि** अशेषतः **कार्त्स्न्येन** ।

ज्ञान मैं तुझे विज्ञानके सहित अर्थात् अपने अनुभवके सहित निःशेषतः—सम्पूर्णतासे कहूँगा ।

तद् ज्ञानं विवक्षितं स्तौति श्रोतुः अभिमुखीकरणाय ।

श्रोताको सम्मुख अर्थात् सावधान करनेके लिये जिसका वर्णन करना है उस ज्ञानकी स्तुति करते हैं ।

यद् ज्ञात्वा **यद् ज्ञानं ज्ञात्वा** न इह भूयः **पुनः** ज्ञातव्यं **पुरुषार्थसाधनम्** अवशिष्यते, **न अवशेषो भवति इति मत्तत्त्वज्ञो यः स सर्वज्ञो भवति इत्यर्थः । अतो विशिष्टफलत्वाद् दुर्लभं ज्ञानम्** ॥ २ ॥

जिस ज्ञानको जान लेनेपर फिर इस जगत्‌में पुरुषार्थका कोई साधन जानना शेष नहीं रहता अर्थात् जो मेरे तत्त्वको जाननेवाला है वह सर्वज्ञ हो जाता है । अतः यह ज्ञान अति उत्तम फलवाला होनेके कारण दुर्लभ है ॥ २ ॥

कथम् इति उच्यते—

यह (दुर्लभ) कैसे है ? सो कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

मनुष्याणां **मध्ये** सहस्रेषु **अनेकेषु** कश्चिद् यतति **प्रयत्नं करोति** सिद्धये **सिद्ध्यर्थम्, तेषां** यतताम् अपि सिद्धानां **सिद्धा एव हि ते ये मोक्षाय यतन्ते तेषां** कश्चिद् **एव** मां वेत्ति तत्त्वतो **यथावत्** ॥ ३ ॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक ही (मोक्षरूप) सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी—जो मोक्षके लिये यत्न करते हैं वे (एक तरहसे) सिद्ध ही हैं उनमें भी—कोई एक ही मुझे तत्त्वसे—यथार्थ जान पाता है ॥ ३ ॥

श्रोतारं प्ररोचनेन अभिमुखीकृत्य आह—

इस प्रकार रुचि बढ़ाकर श्रोताको सम्मुख करके कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

भूमिः इति **पृथिवीतन्मात्रम् उच्यते न स्थूला 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' इति वचनात् । तथा अबादयः अपि तन्मात्राणि एव उच्यन्ते ।**

'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' यह कथन होनेके कारण यहाँ भूमि-शब्दसे पृथिवी-तन्मात्रा कही जाती है, स्थूल पृथ्वी नहीं, वैसे ही जल आदि तत्त्व भी तन्मात्रारूपसे ही कहे जाते हैं ।

आपः अनलो वायुः खं मन **इति मनसः कारणम् अहंकारो गृह्यते** । बुद्धिः **इति अहंकार-कारणं महत्तत्त्वम्** । अहंकार **इति अविद्या-संयुक्तम् अव्यक्तम्** ।

यथा विषसंयुक्तम् अन्नं विषम् उच्यते एवम् अहंकारवासनावद् अव्यक्तं मूलकारणम् अहंकार इति उच्यते प्रवर्तकत्वाद् अहंकारस्य । अहंकार एव हि सर्वस्य प्रवृत्तिबीजं दृष्टं लोके ।

इति इयं **यथोक्ता** प्रकृतिः मे **मम ईश्वरी मायाशक्तिः** अष्टधा भिन्ना **भेदम् आगता** ॥ ४ ॥

(इस प्रकार पृथ्वी,) जल, अग्नि, वायु और आकाश एवं मन–यहाँ मनसे उसके कारणभूत अहंकार-का ग्रहण किया गया है–तथा बुद्धि अर्थात् अहंकार-का कारण महत्तत्त्व और अहंकार अर्थात् अविद्या-युक्त अव्यक्त—मूलप्रकृति ।

जैसे विषयुक्त अन्न भी विष ही कहा जाता है वैसे ही अहंकार और वासनासे युक्त अव्यक्त—मूल-प्रकृति भी 'अहंकार' नामसे कही जाती है । क्योंकि अहंकार सबका प्रवर्तक है, संसारमे अहंकार ही सबकी प्रवृत्तिका बीज देखा गया है ।

इस प्रकार यह उपर्युक्त प्रकृति अर्थात् मुझ ईश्वर-की मायाशक्ति आठ प्रकारसे भिन्न है—विभागको प्राप्त हुई है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

अपरा **न परा निकृष्टा अशुद्धा अनर्थकरी संसारबन्धनात्मिका** इयम् ।

इतः **अस्याः यथोक्तायाः** तु अन्यां **विशुद्धां** प्रकृतिं **मम आत्मभूतां** विद्धि मे परां **प्रकृष्टां** जीवभूतां **क्षेत्रज्ञलक्षणां प्राणधारणनिमित्तभूतां** हे महाबाहो यया **प्रकृत्या** इदं धार्यते जगत् **अन्तः-प्रविष्टया** ॥ ५ ॥

यह (उपर्युक्त) मेरी अपरा प्रकृति है अर्थात् परा नहीं, किन्तु निकृष्ट है, अशुद्ध है और अनर्थ करनेवाली है एवं संसारबन्धनरूपा है ।

और हे महाबाहो ! इस उपर्युक्त प्रकृतिसे दूसरी जीवरूपा अर्थात् प्राणधारणकी निमित्त बनी हुई जो क्षेत्रज्ञरूपा प्रकृति है, अन्तरमे प्रविष्ट हुई जिस प्रकृतिद्वारा यह समस्त जगत् धारण किया जाता है उसको तू मेरी परा प्रकृति जान अर्थात् उसे मेरी आत्मरूपा उत्तम और शुद्ध प्रकृति जान ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

एतद्योनीनि **एते परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे प्रकृती योनिः येषां भूतानां तानि एतद्योनीनि** भूतानि सर्वाणि इति **एवम्** उपधारय जानीहि ।

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप दोनों 'परा' और 'अपरा' प्रकृति ही जिनकी योनि—कारण हैं ऐसे ये समस्त भूतप्राणी प्रकृतिरूप कारणसे ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा जान ।

यस्माद् मम प्रकृती योनिः कारणं सर्वभूतानाम् अतः अहं कृत्स्नस्य समस्तस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिः प्रलयो विनाशः तथा, प्रकृतिद्वयद्वारेण अहं सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणम् इत्यर्थः ॥ ६ ॥

क्योंकि मेरी दोनो प्रकृतियाँ ही समस्त भूतोकी योनि यानी कारण हैं, इसलिये समस्त जगत्का प्रभव—उत्पत्ति और प्रलय—विनाश मै ही हूँ अर्थात् इन दोनो प्रकृतियोद्वारा मै सर्वज्ञ ईश्वर ही समस्त जगत्का कारण हूँ ॥ ६ ॥

यतः तस्मात्—

ऐसा होनेके कारण—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

मत्तः परमेश्वरात् परतरम् अन्यत् कारणान्तरं किंचिद् न अस्ति न विद्यते, अहम् एव जगत्कारणम् इत्यर्थः ।

हे धनंजय यस्माद् एवं तस्माद् मयि परमेश्वरे सर्वाणि भूतानि सर्वम् इदं जगत् प्रोतम् अनुस्यूतम् अनुगतम् अनुविद्धं ग्रथितम् इत्यर्थः । दीर्घतन्तुषु पटवत् सूत्रे च मणिगणा इव ॥ ७ ॥

मुझ परमेश्वरसे परतर (अतिरिक्त) जगत्का कारण अन्य कुछ भी नहीं है अर्थात् मैं ही जगत्का एकमात्र कारण हूँ ।

हे धनंजय ! क्योंकि ऐसा है इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् और समस्त प्राणी मुझ परमेश्वरमे, दीर्घ तन्तुओमे वस्त्रकी भाँति तथा सूत्रमे मणियोकी भाँति पिरोया हुआ—अनुस्यूत—अनुगत—बिंधा हुआ—गूँथा हुआ है ॥ ७ ॥

केन केन धर्मेण विशिष्टे त्वयि सर्वम् इदं प्रोतम् इति उच्यते—

यह समस्त जगत् किस-किस धर्मसे युक्त आपमे पिरोया हुआ है ? इसपर कहते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

रसः अहम् अपां यः सारः स रसः तस्मिन् रसभूते मयि आपः प्रोता इत्यर्थः । एवं सर्वत्र ।

यथा अहम् अप्सु रस एवं प्रभा अस्मि शशिसूर्ययोः । प्रणव ओंकारः सर्ववेदेषु, तस्मिन् प्रणवभूते मयि सर्वे वेदाः प्रोताः ।

जलमे मैं रस हूँ अर्थात् जलका जो सार है उसका नाम रस है उस रसरूप मुझ परमात्मामे समस्त जल पिरोया हुआ है । ऐसे ही और सबमे भी समझना चाहिये ।

जैसे जलमे मैं रस हूँ, वैसे ही चन्द्रमा और सूर्यमे मै प्रकाश हूँ । समस्त वेदोंमे मैं ओंकार हूँ अर्थात् उस ओंकाररूप मुझ परमात्मामे सब वेद पिरोये हुए हैं ।

तथा खे आकाशे शब्दः सारभूतः तस्मिन् मयि खं प्रोतम् ।

तथा पौरुषं पुरुषस्य भावो यतः पुंबुद्धिः नृषु तस्मिन् मयि पुरुषाः प्रोताः ॥ ८ ॥

आकाशमे उसका सारभूत शब्द हूँ, अर्थात् उस शब्दरूप मुझ ईश्वरमे आकाश पिरोया हुआ है ।

तथा पुरुषोमे मैं पौरुष हूँ अर्थात् पुरुषोमे जो पुरुषत्व है, जिससे उनको पुरुष समझा जाता है वह मैं हूँ, उस पौरुषरूप मुझ ईश्वरमे पुरुष पिरोये हुए हैं ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पुण्यः सुरभिः गन्धः पृथिव्या च अहं तस्मिन् मयि गन्धभूते पृथिवी प्रोता ।

पुण्यत्वं गन्धस्य स्वभावत एव पृथिव्यां दर्शितम् अबादिषु रसादेः पुण्यत्वोपलक्षणार्थम् ।

अपुण्यत्वं तु गन्धादीनाम् अविद्याधर्माद्यपेक्षं संसारिणां भूतविशेषसंसर्गनिमित्तं भवति ।

तेजो दीप्तिः च अस्मि विभावसौ अग्नौ । तथा जीवनं सर्वभूतेषु येन जीवन्ति सर्वाणि भूतानि तद् जीवनम् । तपः च अस्मि तपस्विषु तस्मिन् तपसि मयि तपस्विनः प्रोताः ॥ ९ ॥

पृथिवीमे मै पवित्र गन्ध—सुगन्ध हूँ अर्थात् उस सुगन्धरूप मुझ ईश्वरमे पृथिवी पिरोयी हुई है ।

जल आदिमे रस आदिकी पवित्रताका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ गन्धकी स्वाभाविक पवित्रता ही पृथिवीमे दिखलायी गयी है ।

गन्ध-रस आदिमे जो अपवित्रता आ जाती है, वह तो सासारिक पुरुषोंके अज्ञान और अधर्म आदिकी अपेक्षासे एवं भूतविशेषोंके संसर्गसे है (वह स्वाभाविक नहीं है) ।

मै अग्निमे प्रकाश हूँ तथा सब प्राणियोमे जीवन हूँ अर्थात् जिससे सब प्राणी जीते है वह जीवन मै हूँ और तपस्वियोमे तप मै हूँ अर्थात् उस तपरूप मुझ परमात्मामे (सब) तपस्वी पिरोये हुए है ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बीजं प्ररोहकारणं मा विद्धि सर्वभूताना हे पार्थ सनातनं चिरन्तनम् । किं च बुद्धिः विवेकशक्तिः अन्तःकरणस्य बुद्धिमतां विवेकशक्तिमताम् अस्मि, तेजः प्रागल्भ्यं तद्वतां तेजस्विनाम् अहम् ॥ १० ॥

हे पार्थ ! मुझे तू सब भूतोंका सनातन—पुरातन बीज अर्थात् उनकी उत्पत्तिका मूल कारण जान । तथा मै ही बुद्धिमानोकी बुद्धि अर्थात् विवेक-शक्ति और तेजस्वियो अर्थात् प्रभावशाली पुरुषोंका तेज—प्रभाव हूँ ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

बलं **सामर्थ्यम् ओजो** बलवताम् अहम् । **तत् च बलं** कामरागविवर्जितम् ।

कामः च रागः च कामरागौ कामः तृष्णा असंनिकृष्टेषु विषयेषु रागो रञ्जना प्राप्तेषु विषयेषु ताभ्यां विवर्जितं देहादिधारणमात्रार्थं बलम् अहम् अस्मि, न तु यत् संसारिणां तृष्णारागकारणम् ।

किं च धर्माविरुद्धो **धर्मेण शास्त्रार्थेन अविरुद्धो यः प्राणिषु** भूतेषु कामो **यथा देहधारणमात्राद्यर्थः अशनपानादिविषयः कामः** अस्मि **हे** भरतर्षभ ॥ ११ ॥

बलवानोंका जो कामना और आसक्तिसे रहित बल—ओज-सामर्थ्य है, वह मैं हूँ ।

(अभिप्राय यह कि) अप्राप्त विषयोंकी जो तृष्णा है, उसका नाम 'काम' है और प्राप्त विषयोंमें जो प्रीति-तन्मयता है, उसका नाम 'राग' है, उन दोनोंसे रहित, केवल देह आदिको धारण करनेके लिये जो बल है, वह मैं हूँ । जो संसारी जीवोंका बल कामना और आसक्तिका कारण है, वह मैं नहीं हूँ ।

तथा हे भरतश्रेष्ठ ! प्राणियोंमें जो धर्मसे अविरुद्ध शास्त्रानुकूल कामना है, जैसे देहधारणमात्रके लिये खाने-पीनेकी इच्छा आदि, वह (इच्छारूप) काम भी मैं ही हूँ ॥ ११ ॥

किं च—

तथा—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

ये च एव सात्त्विकाः **सत्त्वनिर्वृत्ताः** भावा: **पदार्था** राजसा **रजोनिर्वृत्ताः** तामसाः **तमोनिर्वृत्ताः** च ये **केचित् प्राणिनां स्वकर्मवशाद् जायन्ते भावाः** तान् मत्त एव **जायमानान्** इति **एवं** विद्धि **सर्वान् समस्तान् एव** ।

यद्यपि ते मत्तो जायन्ते तथापि न तु अहं तेषु **तदधीनः तद्वशो यथा संसारिणः** ते **पुनः** मयि **मद्वशाः मदधीनाः** ॥ १२ ॥

जो सात्त्विक—सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुए भाव-पदार्थ हैं और जो राजस—रजोगुणसे उत्पन्न हुए एवं तामस—तमोगुणसे उत्पन्न हुए भाव-पदार्थ हैं, उन सबको अर्थात् प्राणियोंके अपने कर्मानुसार ये जो कुछ भी भाव उत्पन्न होते हैं उन सबको तू मुझसे ही उत्पन्न हुए जान ।

यद्यपि वे मुझसे उत्पन्न होते हैं तथापि मैं उनमें नहीं हूँ अर्थात् संसारी मनुष्योंकी भाँति मैं उनके वशमें नहीं हूँ, परन्तु वे मुझमें हैं यानी मेरे वशमें हैं—मेरे अधीन हैं ॥ १२ ॥

एवंभूतम् अपि परमेश्वरं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वभूतात्मानं निर्गुणं संसारदोषबीजप्रदाहकारणं मां न अभिजानाति जगद् इति अनुक्रोशं दर्शयति भगवान्। तत् च किंनिमित्तं जगतः अज्ञानम् इति उच्यते—

ऐसा जो साक्षात् परमेश्वर नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव एवं सब भूतोंका आत्मा गुणोंसे अतीत और संसाररूप दोषके बीजको भस्म करनेवाला मै हूँ, उसको जगत् नहीं पहचानता। इस प्रकार भगवान् खेद प्रकट करते है और जगत्का यह अज्ञान किस कारणसे है, सो बतलाते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

त्रिभिः गुणमयैः गुणविकारैः रागद्वेषमोहादिप्रकारैः भावैः पदार्थैः एभिः यथोक्तैः सर्वम् इदं प्राणिजातं जगत् मोहितम् अविवेकताम् आपादितं सत् न अभिजानाति माम् एभ्यो यथोक्तेभ्यो गुणेभ्यः परं व्यतिरिक्तं विलक्षणं च अव्ययं व्ययरहितं जन्मादिसर्वभावविकारवर्जितम् इत्यर्थः॥ १३॥

गुणोंमें विकाररूप सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों भावोंसे अर्थात् उपर्युक्त राग, द्वेष और मोह आदि पदार्थोंसे यह समस्त जगत्—प्राणिसमूह मोहित हो रहा है अर्थात् विवेकशून्य कर दिया गया है, अतः इन उपर्युक्त गुणोंसे अतीत-विलक्षण, अविनाशी—विनाशरहित तथा जन्मादि सम्पूर्ण भावविकारोंसे रहित मुझ परमात्माको नहीं जान पाता॥ १३॥

कथं पुनः दैवीम् एतां त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं मायाम् अतिक्रामन्ति इति उच्यते—

तो फिर इस देवसम्बन्धिनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मायाको मनुष्य कैसे तरते हैं? इसपर कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

दैवी देवस्य मम ईश्वरस्य विष्णोः स्वभूता हि यस्माद् एषा यथोक्ता गुणमयी मम माया दुरत्यया दुःखेन अत्ययः अतिक्रमणं यस्याः सा दुरत्यया। तत्र एवं सति सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एव मायाविनं स्वात्मभूतं सर्वात्मना ये प्रपद्यन्ते ते मायाम् एतां सर्वभूतमोहिनीं तरन्ति अतिक्रामन्ति, संसारबन्धनाद् मुच्यन्ते इत्यर्थः॥ १४॥

क्योंकि यह उपर्युक्त दैवी माया अर्थात् मुझ व्यापक ईश्वरकी निज शक्ति मेरी त्रिगुणमयी माया दुस्तर है अर्थात् जिससे पार होना बड़ा कठिन है, ऐसी है। इसलिये जो सब धर्मोंको छोड़कर अपने ही आत्मा मुझ मायापति परमेश्वरकी ही सर्वात्मभावसे शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे सब भूतोंको मोहित करनेवाली इस मायासे तर जाते हैं—वे इसके पार हो जाते है अर्थात् संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं॥ १४॥

यदि त्वां प्रपन्ना मायाम् एतां तरन्ति कस्मात् त्वाम् एव सर्वे न प्रपद्यन्ते, इति उच्यते—

यदि आपके शरण हुए मनुष्य इस मायासे तर जाते हैं तो फिर सभी आपकी शरण क्यों नहीं लेते ? इसपर कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

न मां **परमेश्वरं** दुष्कृतिनः **पापकारिणो** मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमा **नराणां मध्ये अधमा निकृष्टाः ते च** मायया अपहृतज्ञानाः **संमुषितज्ञाना** आसुरं भावं **हिंसानृतादिलक्षणम्** आश्रिताः ॥ १५ ॥

जो कोई पापकर्म करनेवाले मूढ और नराधम है अर्थात् मनुष्योंमें अधम—नीच है एवं मायाद्वारा जिनका ज्ञान छीन लिया गया है वे हिंसा, मिथ्या-भाषण आदि आसुरी भावोंके आश्रित हुए मनुष्य मुझ परमेश्वरकी शरणमें नहीं आते ॥ १५ ॥

ये पुनः नरोत्तमाः पुण्यकर्माणः—

परन्तु जो पुण्यकर्म करनेवाले नरश्रेष्ठ हैं (वे क्या करते है सो बतलाते हैं—)

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

चतुर्विधाः **चतुष्प्रकारा** भजन्ते **सेवन्ते** मा जनाः सुकृतिनः **पुण्यकर्माणो हे** अर्जुन । आर्त **आर्तिपरिगृहीतः तस्करव्याघ्ररोगादिना अभिभूत आपन्नो** जिज्ञासुः **भगवत्तत्त्वं ज्ञातुम् इच्छति यः** अर्थार्थी **धनकामो** ज्ञानी **विष्णोः तत्त्ववित्** च **हे** भरतर्षभ ॥ १६ ॥

हे भारत ! आर्त अर्थात् चोर, व्याघ्र, रोग आदिके वशमें होकर किसी आपत्तिसे युक्त हुआ, जिज्ञासु अर्थात् भगवान्‌का तत्त्व जाननेकी इच्छावाला, अर्थार्थी यानी धनकी कामनावाला और ज्ञानी अर्थात् विष्णुके तत्त्वको जाननेवाला, हे अर्जुन ! ये चार प्रकारके पुण्यकर्मकारी मनुष्य मेरा भजन-सेवन करते है ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

तेषां **चतुर्णां मध्ये** ज्ञानी **तत्त्ववित् तत्त्ववित्त्वाद्** नित्ययुक्तो **भवति एकभक्तिः च अन्यस्य भजनीयस्य अदर्शनाद् अतः स** एकभक्ति. विशिष्यते, **विशेषम् आधिक्यम् आपद्यते अतिरिच्यते इत्यर्थः** ।

उन चार प्रकारके भक्तोंमें जो ज्ञानी है अर्थात् यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला है वह तत्त्ववेत्ता होनेके कारण सदा मुझमें स्थित है और उसकी दृष्टिमें अन्य किसी भजनेयोग्य वस्तुका अस्तित्व न रहनेके कारण वह केवल एक मुझ परमात्मामें ही अनन्य भक्तिवाला होता है । इसलिये वह अनन्य प्रेमी (ज्ञानी भक्त) श्रेष्ठ माना जाता है । (अन्य तीनों-की अपेक्षा) अधिक—उच्च कोटिका समझा जाता है ।

प्रियो हि यस्माद् अहम् आत्मा ज्ञानिनः अतः तस्य अहम् अत्यर्थं प्रियः।

प्रसिद्धं हि लोके आत्मा प्रियो भवति इति। तस्माद् ज्ञानिनः आत्मत्वाद् वासुदेवः प्रियो भवति इत्यर्थः।

स च ज्ञानी मम वासुदेवस्य आत्मा एव इति मम अत्यर्थं प्रियः॥ १७॥

क्योंकि मैं ज्ञानीका आत्मा हूँ इसलिये उसको अत्यन्त प्रिय हूँ।

संसारमें यह प्रसिद्ध ही है कि आत्मा ही प्रिय होता है। इसलिये ज्ञानीका आत्मा होनेके कारण भगवान् वासुदेव उसे अत्यन्त प्रिय होता है। यह अभिप्राय है।

तथा वह ज्ञानी भी मुझ वासुदेवका आत्मा ही है, अतः वह मेरा अत्यन्त प्रिय है॥ १७॥

न तर्हि आर्तादयः त्रयो वासुदेवस्य प्रियाः।

न, किं तर्हि—

तो फिर क्या आर्त आदि तीन प्रकारके भक्त आप वासुदेवके प्रिय नहीं हैं? यह बात नहीं, तो क्या बात है?

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

उदारा उत्कृष्टाः सर्वे एव एते त्रयः अपि मम प्रिया एव इत्यर्थः। न हि कश्चिद् मद्भक्तो मम वासुदेवस्य अप्रियो भवति, ज्ञानी तु अत्यर्थं प्रियो भवति इति विशेषः।

तत् कस्माद् इति आह—

ज्ञानी तु आत्मा एव न अन्यो मत्त इति मे मम मतं निश्चयः। आस्थित आरोढुं प्रवृत्तः स ज्ञानी हि यस्माद् अहम् एव भगवान् वासुदेवो न अन्यः अस्मि इति एवं युक्तात्मा समाहितचित्तः सन् माम् एव परं ब्रह्म गन्तव्यम् अनुत्तमां गतिं गन्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः॥ १८॥

ये सभी भक्त उदार हैं, श्रेष्ठ हैं। अर्थात् वे तीनों भी मेरे प्रिय ही हैं। क्योंकि मुझ वासुदेवको अपना कोई भी भक्त अप्रिय नहीं होता; परन्तु ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय होता है इतनी विशेषता है।

ऐसा क्यों है सो कहते हैं—

ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, वह मुझसे अन्य नहीं है, यह मेरा निश्चय है; क्योंकि वह योगारूढ होनेके लिये प्रवृत्त हुआ ज्ञानी—'स्वयं मैं ही भगवान् वासुदेव हूँ, दूसरा नहीं' ऐसा युक्तात्मा—समाहितचित्त होकर मुझ परम प्राप्तव्य गतिस्वरूप परब्रह्ममें ही आनेके लिये प्रवृत्त है॥ १८॥

ज्ञानी पुनः अपि स्तूयते—

फिर भी ज्ञानीकी स्तुति करते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

बहूनां जन्मनां **ज्ञानार्थसंस्कारार्जनाश्रयाणाम् अन्ते समाप्तौ** ज्ञानवान् **प्राप्तपरिपाकज्ञानो** मां **वासुदेवं प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्षतः** प्रपद्यते। **कथम्,** वासुदेवः सर्वम् इति।

य एवं सर्वात्मानं मां प्रतिपद्यते स महात्मा **न तत्समः अन्यः अस्ति अधिको वा। अतः** सुदुर्लभः **स मनुष्याणां सहस्रेषु इति उक्तम्** ॥ १९ ॥

ज्ञानप्राप्तिके लिये जिनमें संस्कारोंका संग्रह किया जाय ऐसे बहुत-से जन्मोंका अन्त—समाप्ति होनेपर (अन्तिम जन्ममें) परिपक्व ज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी अन्तरात्मारूप मुझ वासुदेवको 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त होता है।

जो इस प्रकार सर्वात्मरूप मुझ परमात्माको प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त हो जाता है, वह महात्मा है; उसके समान या उससे अधिक और कोई नहीं है, अतः कहा है कि हजारों मनुष्योंमें भी ऐसा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

आत्मा एव सर्वं वासुदेव इति एवम् अप्रतिपत्तौ कारणम् उच्यते—

'यह सर्व जगत् आत्मस्वरूप वासुदेव ही है' इस प्रकार न समझमें आनेका कारण बतलाते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

कामैः तैः तैः **पुत्रपशुस्वर्गादिविषयैः** हृतज्ञाना **अपहृतविवेकविज्ञानाः** प्रपद्यन्ते अन्यदेवताः **प्राप्नुवन्ति वासुदेवाद् आत्मनः अन्या देवताः** तं तं नियमं **देवताराधने प्रसिद्धो यो यो नियमः तं तम्** आस्थाय **आश्रित्य** प्रकृत्या **स्वभावेन जन्मान्तरार्जितसंस्कारविशेषेण** नियता **नियमिताः** स्वया **आत्मीयया** ॥ २० ॥

पुत्र, पशु, स्वर्ग आदि भोगोंकी प्राप्तिविषयक नाना कामनाओंद्वारा जिनका विवेक-विज्ञान नष्ट हो चुका है वे लोग अपनी प्रकृतिसे अर्थात् जन्म-जन्मान्तरमें इकट्ठे किये हुए संस्कारोंके समुदायरूप स्वभावसे प्रेरित हुए अन्य देवताओंको अर्थात् आत्मस्वरूप मुझ वासुदेवसे भिन्न जो देवता हैं, उनको, उन्हींकी आराधनाके लिये जो-जो नियम प्रसिद्ध हैं उनका अवलम्बन करके भजते हैं अर्थात् उनकी शरण लेते हैं ॥ २० ॥

तेषां च कामिनाम्—

उन कामी पुरुषोंमेंसे—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

यो यः **कामी** या या **देवता-**तनुं श्रद्धया **संयुक्तो** भक्तः **च सन्** अर्चितु **पूजयितुम्** इच्छति, तस्य तस्य **कामिनः** अचला **स्थिरां** श्रद्धा ताम् एव विदधामि **स्थिरीकरोमि**।

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपका श्रद्धा और भक्तियुक्त होकर अर्चन-पूजन करना चाहता है, उस-उस भक्तकी देवता-विषयक उस श्रद्धाको मैं अचल—स्थिर कर देता हूँ।

यया एव पूर्वं प्रवृत्तः स्वभावतो यो यां देवतातनुं श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति इति ॥२१॥

अभिप्राय यह कि जो पुरुष पहले स्वभावसे ही प्रवृत्त हुआ जिस श्रद्धाद्वारा जिस देवताके स्वरूप-का पूजन करना चाहता है (उस पुरुषकी उसी श्रद्धाको मैं स्थिर कर देता हूँ) ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

स तया मद्विहितया श्रद्धया युक्तः सन् तस्या देवतातन्वा राधनम् आराधनम् ईहते चेष्टते ।

लभते च ततः तस्या आराधिताया देवता-तन्वाः कामान् ईप्सितान् मया एव परमेश्वरेण सर्वज्ञेन कर्मफलविभागज्ञतया विहितान् निर्मितान् तान् हि यस्मात् ते भगवता विहिताः कामाः तस्मात् तान् अवश्यं लभते इत्यर्थः ।

हितान् इति पदच्छेदे हितत्वं कामानाम् उपचरितं कल्प्यं न हि कामा हिताः कस्यचित् ॥ २२ ॥

मेरे द्वारा स्थिर की हुई उस श्रद्धासे युक्त हुआ वह उसी देवताके स्वरूपकी सेवा—पूजा करनेमें तत्पर होता है ।

और उस आराधित देवविग्रहसे कर्म-फल-विभाग-के जाननेवाले मुझ सर्वज्ञ ईश्वरद्वारा निश्चित किये हुए इष्ट भोगोंको प्राप्त करता है । वे भोग परमेश्वर-द्वारा निश्चित किये होते हैं इसलिये वह उन्हें अवश्य पाता है, यह अभिप्राय है ।

यहाँपर यदि 'हितान्' ऐसा पदच्छेद करें तो भोगोंमें जो 'हितत्व' है उसको औपचारिक समझना चाहिये, क्योंकि वास्तवमें भोग किसीके लिये भी हितकर नहीं हो सकते ॥ २२ ॥

यस्माद् अन्तवत्साधनव्यापारा अविवे-किनः कामिनः च ते अतः—

क्योंकि वे कामी और अविवेकी पुरुष विनाश-शील साधनकी चेष्टा करनेवाले होते हैं, इसलिये—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अन्तवद् विनाशि तु फलं तेषां तद् भवति अल्पमेधसाम् अल्पप्रज्ञानाम्, देवान् देवयजो यान्ति देवान् यजन्ति इति देवयजः ते देवान् यान्ति । मद्भक्ता यान्ति माम् अपि ।

एवं समाने अपि आयासे माम् एव न प्रपद्यन्ते अनन्तफलाय अहो खलु कष्टं वर्तन्ते, इति अनुक्रोशं दर्शयति भगवान् ॥ २३ ॥

उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान्—विनाशशील होता है । देवयाजी अर्थात् जो देवों-का पूजन करनेवाले हैं वे देवोंको पाते हैं और मेरे भक्त मुझको ही पाते हैं ।

अहो ! बड़े दुःखकी बात है कि इस प्रकार समान परिश्रम होनेपर भी लोग अनन्त फलकी प्राप्तिके लिये केवल मुझ परमेश्वरकी ही शरणमें नहीं आते । इस प्रकार भगवान् करुणा प्रकट करते हैं ॥ २३ ॥

किंनिमित्तं माम् एव न प्रपद्यन्ते इति उच्यते—

वे मुझ परमेश्वरकी ही शरणमे क्यों नहीं आते, सो बतलाते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

अव्यक्तम् **अप्रकाशं** व्यक्तिम् आपन्नं **प्रकाशं गतम् इदानीं** मन्यन्ते मां **नित्यप्रसिद्धम् ईश्वरम् अपि सन्तम्** अबुद्धयः **अविवेकिनः** परं भावं **परमात्मस्वरूपम्** अजानन्तः **अविवेकिनो** मम अव्ययं **व्ययरहितम्** अनुत्तमं **निरतिशयं मदीयं भावम् अजानन्तो मन्यन्ते इत्यर्थः** ॥ २४ ॥

मेरे अविनाशी निरतिशय परम भावको अर्थात् परमात्मस्वरूपको न जाननेवाले बुद्धिरहित—विवेकहीन मनुष्य मुझको, यद्यपि मैं नित्य-प्रसिद्ध सबका ईश्वर हूँ तो भी, ऐसा समझते है कि यह पहले प्रकट नहीं थे, अब प्रकट हुए हैं। अभिप्राय यह कि मेरे वास्तविक प्रभावको न समझनेके कारण वे ऐसा मानते हैं ॥ २४ ॥

तदीयम् अज्ञानं किंनिमित्तम् इति उच्यते—

उनका वह अज्ञान किस कारणसे है ? सो बतलाते है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

न अहं प्रकाशः सर्वस्य **लोकस्य केषांचिद् एव मद्भक्तानां प्रकाशः अहम् इति अभिप्रायः ।** योगमायासमावृतो **योगो गुणानां युक्तिः घटनं सा एव माया योगमाया तया योगमायया समावृतः संच्छन्न इत्यर्थः । अत एव** मूढो लोकः अयं न अभिजानाति माम् अजम् अव्ययम् ॥२५॥

तीनो गुणोंके मिश्रणका नाम योग है और वही माया है—उस योगमायासे आच्छादित हुआ मै समस्त प्राणिसमुदायके लिये प्रकट नहीं रहता हूँ, अभिप्राय यह कि किन्हीं-किन्हीं भक्तोंके लिये ही मै प्रकट होता हूँ । इसलिये यह मूढ़ जगत् (प्राणिसमुदाय) मुझ जन्मरहित अविनाशी परमात्माको नहीं जानता ॥ २५ ॥

यथा योगमायया समावृतं मां लोको न अभिजानाति, न असौ योगमाया मदीया सती मम ईश्वरस्य मायाविनो ज्ञानं प्रतिबध्नाति यथा अन्यस्य अपि मायाविनो माया ज्ञानं तद्वत् । यत एवम् अतः—

जिस योगमायासे छिपे हुए मुझ परमात्माको संसार नहीं जानता, वह योगमाया, मेरी ही होनेके कारण मुझ मायापति ईश्वरके ज्ञानका प्रतिबन्ध नहीं कर सकती, जैसे कि अन्य मायावी (बाजीगर) पुरुषोंकी माया भी उनके ज्ञानको (आच्छादित नहीं करती) इसलिये—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

अहं तु वेद जाने समतीतानि समतिक्रान्तानि भूतानि वर्तमानानि च अर्जुन भविष्याणि च भूतानि वेद अहम्, मां तु वेद न कश्चन मद्भक्तं मच्छरणम् एकं मुक्त्वा मत्तत्त्ववेदनाभावाद् एव न मां भजते ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! जो पूर्वमे हो चुके है उन प्राणियोको एवं जो वर्तमान है और जो भविष्यमे होनेवाले हैं उन सब भूतोको मै जानता हूँ । परन्तु मेरे शरणागत भक्तको छोड़कर मुझे और कोई भी नहीं जानता और मेरे तत्त्वको न जाननेके कारण ही (अन्य जन) मुझे नहीं भजते ॥ २६ ॥

केन पुनः त्वत्तत्त्ववेदनप्रतिबन्धेन प्रतिबद्धानि सन्ति जायमानानि सर्वभूतानि त्वां न विदन्ति इति अपेक्षायाम् इदम् आह—

आपका तत्त्व जाननेमे ऐसा कौन प्रतिबन्धक है, जिससे मोहित हुए सभी उत्पत्तिशील प्राणी आपको नहीं जान पाते ? यह जाननेकी इच्छा होनेपर कहते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन इच्छा च द्वेषः च इच्छाद्वेषौ ताभ्यां समुत्तिष्ठति इति इच्छाद्वेषसमुत्थः तेन इच्छाद्वेषसमुत्थेन ।

केन इति विशेषापेक्षायाम् इदम् आह—

द्वन्द्वमोहेन द्वन्द्वनिमित्तो मोहो द्वन्द्वमोहः तौ एव इच्छाद्वेषौ शीतोष्णवत् परस्परविरुद्धौ सुखदुःखतद्धेतुविषयौ यथाकालं सर्वभूतैः संबध्यमानौ द्वन्द्वशब्देन अभिधीयेते । तत्र यदा इच्छाद्वेषौ सुखदुःखतद्धेतुसंप्राप्त्या लब्धात्मकौ भवतः तदा तौ सर्वभूतानां प्रज्ञायाः स्ववशापादनद्वारेण परमार्थात्मतत्त्वविषयज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकारणं मोहं जनयतः ।

इच्छा और द्वेष इन दोनोंसे जो उत्पन्न होता है उसका नाम इच्छाद्वेषसमुत्थ है, उससे (प्राणी मोहित होते है ।)

वह कौन है ? ऐसी विशेष जिज्ञासा होनेपर यह कहते है—

द्वन्द्वोके निमित्तसे होनेवाला जो मोह है उस द्वन्द्वमोहसे (सब मोहित होते हैं) । शीत और उष्णकी भाँति परस्परविरुद्ध (स्वभाववाले) और सुख-दुःख तथा उनके कारणोंमे रहनेवाले वे इच्छा और द्वेष ही यथासमय सब भूतप्राणियोंसे सम्बन्धयुक्त होकर द्वन्द्व नामसे कहे जाते हैं । सो ये इच्छा और द्वेष, जब इस प्रकार सुख दुःख और उनके कारणकी प्राप्ति होनेपर प्रकट होते हैं, तब वे सब भूतोकी बुद्धिको अपने वशमे करके परमार्थ-तत्त्व-विषयक ज्ञानकी उत्पत्तिका प्रतिबन्ध करनेवाले मोहको उत्पन्न करते हैं ।

न हि इच्छाद्वेषदोषवशीकृतचित्तस्य यथाभूतार्थविषयज्ञानम् उत्पद्यते बहिः अपि, किमु वक्तव्यं ताभ्याम् आविष्टबुद्धेः संमूढस्य प्रत्यगात्मनि बहुप्रतिबन्धे ज्ञानं न उत्पद्यते इति ।

जिसका चित्त इच्छा-द्वेषरूप दोषोंके वशमें फँस रहा है, उसको बाहरी विषयोंके भी यथार्थ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त नहीं होता, फिर उन दोनोंसे जिसकी बुद्धि आच्छादित हो रही है ऐसे मूढ़ पुरुषको अनेकों प्रतिबन्धोंवाले अन्तरात्मविषयका ज्ञान नहीं होता, इसमें तो कहना ही क्या है ?

अतः तेन इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत भरतान्वयज सर्वभूतानि संमोहितानि सन्ति संमोह संमूढतां सर्गे जन्मनि उत्पत्तिकाले इति एतद् यान्ति गच्छन्ति हे परंतप ।

इसलिये हे भारत ! अर्थात् भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन ! उस इच्छा-द्वेष-जन्य द्वन्द्व-निमित्तक मोहके द्वारा मोहित हुए समस्त प्राणी, हे परन्तप ! जन्म-कालमें—उत्पन्न होते ही मूढ़भावमें फँस जाते हैं ।

मोहवशानि एव सर्वभूतानि जायमानानि जायन्ते इति अभिप्रायः ।

अभिप्राय यह है कि उत्पत्तिशील समस्त प्राणी मोहके वशीभूत हुए ही उत्पन्न होते हैं ।

यत एवम् अतः तेन द्वन्द्वमोहेन प्रतिबद्धप्रज्ञानानि सर्वभूतानि संमोहितानि माम् आत्मभूतं न जानन्ति अत एव आत्मभावेन मां न भजन्ते ॥ २७ ॥

ऐसा होनेके कारण द्वन्द्वमोहसे जिनका ज्ञान प्रतिबद्ध हो गया है वे मोहित हुए समस्त प्राणी अपने आत्मारूप मुझ (परमात्मा) को नहीं जानते और इसीलिये वे आत्मभावसे मुझे नहीं भजते ॥ २७ ॥

के पुनः अनेन द्वन्द्वमोहेन निर्मुक्ताः सन्तः त्वां विदित्वा यथाशास्त्रम् आत्मभावेन भजन्ते इति अपेक्षितम् अर्थं दर्शयितुम् उच्यते—

तो फिर इस द्वन्द्वमोहसे छूटे हुए ऐसे कौन-से मनुष्य हैं जो आपको शास्त्रोक्त प्रकारसे आत्मभावसे भजते हैं ? इस अपेक्षित अर्थको दिखानेके लिये कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

येषां तु पुनः अन्तगतं समाप्तप्रायं क्षीणं पापं जनानां पुण्यकर्मणां पुण्यं कर्म येषां सत्त्वशुद्धिकारणं विद्यते ते पुण्यकर्माणः तेषां पुण्यकर्मणाम्, ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता यथोक्तेन द्वन्द्वमोहेन निर्मुक्ता भजन्ते मां परमात्मानं दृढव्रताः, एवम् एव परमार्थतत्त्वं न अन्यथा इति एवं निश्चितविज्ञाना दृढव्रता उच्यन्ते ॥ २८ ॥

जिन पुण्यकर्मा पुरुषोंके पापोंका लगभग अन्त हो गया होता है, अर्थात् जिनके कर्म पवित्र यानी अन्तःकरणकी शुद्धिके कारण होते हैं वे पुण्यकर्मा हैं ऐसे उपर्युक्त द्वन्द्वमोहसे मुक्त हुए वे दृढव्रती पुरुष मुझ परमात्माको भजते हैं । 'परमार्थतत्त्व ठीक इसी प्रकार है, दूसरी प्रकार नहीं' ऐसे निश्चित विज्ञानवाले पुरुष दृढव्रती कहे जाते हैं ॥ २८ ॥

ते किमर्थं भजन्ते, इति उच्यते—

वे किसलिये भजते हैं ? सो कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

जरामरणमोक्षाय **जरामरणमोक्षार्थं** मां **परमेश्वरम्** आश्रित्य **मत्समाहितचित्ताः सन्तो** यतन्ति **प्रयतन्ते** ये ते **यद्** ब्रह्म **परं** तद् विदुः कृत्स्नं **समस्तम्** अध्यात्मं **प्रत्यगात्मविषयं वस्तु तद् विदुः**, कर्म च अखिलं **समस्तं विदुः** ॥२९॥

जो पुरुष जरा और मृत्युसे छूटनेके लिये मुझ परमेश्वरका आश्रय लेकर अर्थात् मुझमें चित्तको समाहित करके प्रयत्न करते हैं, वे जो परब्रह्म है उसको जानते हैं एवं समस्त अध्यात्म अर्थात् अन्तरात्मविषयक वस्तुको और समस्त कर्मको भी जानते हैं ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

साधिभूताधिदैवम् **अधिभूतं च अधिदैवं च अधिभूताधिदैवं सह अधिभूताधिदैवेन साधिभूताधिदैवं च** मां ये विदुः साधियज्ञं **च सह अधियज्ञेन साधियज्ञं ये विदुः** प्रयाणकाले अपि च **मरणकाले अपि च** मां ते विदुः युक्तचेतसः **समाहितचित्ता इति** ॥ ३० ॥

(इसी प्रकार) जो मनुष्य मुझ परमेश्वरको साधिभूताधिदैव अर्थात् अधिभूत और अधिदैवके सहित जानते हैं, एवं साधियज्ञ अर्थात् अधियज्ञके सहित भी जानते है वे निरुद्ध चित्त योगी लोग मरण-कालमे भी मुझे यथावत् जानते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये ज्ञानविज्ञानयोगो नाम
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

ॐ

अष्टमोऽध्यायः

'*ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नम्*' इत्यादिना भगवता अर्जुनस्य प्रश्नबीजानि उपदिष्टानि अतः तत्प्रश्नार्थम्—

अर्जुन उवाच—

'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नम्' इत्यादि वचनोंसे (पूर्वाध्यायमें) भगवान्‌ने अर्जुनके लिये प्रश्नके बीजोंका उपदेश किया था, अतः उन प्रश्नोंको पूछनेके लिये अर्जुन बोला—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्मतत्त्व क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसको कहते हैं ? अधिदैव किसको कहते हैं ? हे मधुसूदन ! इस देहमें अधियज्ञ कौन है और कैसे है तथा संयतचित्तवाले योगियोंद्वारा आप मरण-कालमें किस प्रकार जाने जा सकते हैं ? ॥ १-२ ॥

एषां प्रश्नानां यथाक्रमं निर्णयाय—

श्रीभगवानुवाच—

इन प्रश्नोंका क्रमसे निर्णय करनेके लिये श्रीभगवान् बोले—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अक्षरं न क्षरति इति परमात्मा '*तस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि*' (बृह० उ० ३ । ८ । ९) इति श्रुतेः ।

ओंकारस्य च '*ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म*' इति परेण विशेषणाद् अग्रहणं परमम् इति च निरतिशये ब्रह्मणि अक्षरे उपपन्नतरं विशेषणम् ।

परम अक्षर ब्रह्म है अर्थात् 'हे गार्गि ! इस अक्षरके शासनमें ही यह सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुए स्थित हैं' इत्यादि श्रुतियोंसे जिसका वर्णन किया गया है, जो कभी नष्ट नहीं होता वह परमात्मा ही 'ब्रह्म' है ।

'परम' विशेषणसे युक्त होनेके कारण यहाँ अक्षर शब्दसे 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इस वाक्यमें वर्णित ओंकारका ग्रहण नहीं किया गया है । क्योंकि 'परम' यह विशेषण निरतिशय अक्षर ब्रह्ममें ही अधिक सम्भव—युक्तियुक्त है ।

तस्य एव परस्य ब्रह्मणः प्रतिदेहं प्रत्यगात्मभावः स्वभावः । स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते ।

उसी परब्रह्मका जो प्रत्येक शरीरमे अन्तरात्म-भाव है उसका नाम स्वभाव है, वह स्वभाव ही 'अध्यात्म' कहलाता है ।

आत्मानं देहम् अधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तं परमार्थब्रह्मावसानं वस्तु स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते अध्यात्मशब्देन अभिधीयते ।

अभिप्राय यह कि आत्मा यानी शरीरको आश्रय बनाकर जो अन्तरात्मभावसे उसमे रहनेवाला है और परिणाममे जो परमार्थ ब्रह्म ही है वही तत्त्व स्वभाव है उसे ही अध्यात्म कहते है अर्थात् वही अध्यात्म नामसे कहा जाता है ।

भूतभावोद्भवकरो भूतानां भावो भूतभावः तस्य उद्भवो भूतभावोद्भवः तं करोति इति भूतभावोद्भवकरो भूतवस्तूत्पत्तिकर इत्यर्थः । विसर्गो विसर्जनं देवतोद्देशेन चरुपुरोडाशादेः द्रव्यस्य परित्यागः स एष विसर्गलक्षणो यज्ञः, कर्मसंज्ञितः कर्मशब्दित इति एतत् । एतस्माद् हि बीजभूताद् वृष्ट्यादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतानि उद्भवन्ति ॥ ३ ॥

'भूतभाव-उद्भव-कर' अर्थात् भूतोकी सत्ता 'भूत-भाव' है । उसका उद्भव (उत्पत्ति) 'भूतभावोद्भव' है, उसको करनेवाला 'भूतभावोद्भवकर' यानी भूत-वस्तुको उत्पन्न करनेवाला, ऐसा जो विसर्ग अर्थात् देवोके उद्देश्यसे चरु, पुरोडाश आदि (हवन करनेयोग्य) द्रव्योका त्याग करना है, वह त्यागरूप यज्ञ, कर्म नामसे कहा जाता है ! इस बीजरूप यज्ञसे ही वृष्टि आदिके क्रमसे स्थावर-जङ्गम समस्त भूतप्राणी उत्पन्न होते है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अधिभूतं प्राणिजातम् अधिकृत्य भवति इति । कः असौ क्षरः क्षरति इति क्षरो विनाशी भावो यत्किंचिद् जनिमद् वस्तु इत्यर्थः ।

जो प्राणिमात्रको आश्रित किये होता है उसका नाम अधिभूत है । वह कौन है ? क्षर—जो कि क्षय होता है ऐसा विनाशी भाव यानी जो कुछ भी उत्पत्ति-शील पदार्थ है वे सब-के-सब अधिभूत है ।

पुरुष. पूर्णम् अनेन सर्वम् इति पुरि शयनाद् वा पुरुष आदित्यान्तर्गतो हिरण्यगर्भः सर्व-[illegible] अधिदैवतम् ।

पुरुष अर्थात् जिससे यह सब जगत् परिपूर्ण है अथवा जो शरीररूप पुरमे रहनेवाला होनेसे पुरुष कहलाता है, वह सब प्राणियोके इन्द्रियादि करणोका अनुग्राहक सूर्यलोकमे रहनेवाला हिरण्य-गर्भ अधिदैवत है ।

अधियज्ञः **सर्वयज्ञाभिमानिनी देवता विष्ण्वाख्या** *'यज्ञो वै विष्णुः'* **इति श्रुतेः। स हि विष्णुः** अहम् एव अत्र **अस्मिन्** देहे **यो यज्ञः तस्य अहम्** अधियज्ञः, **यज्ञो हि देहनिर्वर्त्यत्वेन देहसमवायी इति देहाधिकरणो भवति,** देहभृतां वर ॥ ४ ॥

'यज्ञ ही विष्णु है' इस श्रुतिके अनुसार सब यज्ञोंका अधिष्ठाता जो विष्णुनाम देवता है वह अधियज्ञ है। हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस देहमे जो यज्ञ है उसका अधिष्ठाता वह विष्णुरूप 'अधियज्ञ' मै ही हूँ। यज्ञ शरीरसे ही सिद्ध होता है अतः यज्ञका शरीरसे नित्य सम्बन्ध है इसलिये वह शरीरमे रहनेवाला माना जाता है ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अन्तकाले च **मरणकाले** माम् एव **परमेश्वरं विष्णुं** स्मरन् मुक्त्वा **परित्यज्य** कलेवरं **शरीरं** यः प्रयाति **गच्छति** स मद्भावं **वैष्णवं तत्त्वं** याति, न अस्ति **न विद्यते** अत्र **अस्मिन् अर्थे** संशयो **याति वा न वा इति** ॥ ५ ॥

और जो पुरुष अन्तकालमे—मरणकालमे मुझ परमेश्वर–विष्णुका ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे भावको अर्थात् विष्णुके परम स्वरूपको प्राप्त होता है। इस विषयमे 'प्राप्त होता है या नहीं' ऐसा कोई संशय नहीं है ॥ ५ ॥

न मद्विषय एव अयं नियमः किं तर्हि—

केवल मेरे विषयमे ही यह नियम नहीं है, किन्तु—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

यं यं वा अपि **यं यं** भावं **देवताविशेषं** स्मरन् **चिन्तयन्** त्यजति **परित्यजति** अन्ते **प्राणवियोगकाले** कलेवरम्, तं तम् एव **स्मृतं भावम् एव** एति **न अन्यं** कौन्तेय सदा **सर्वदा** तद्भावभावितः **तस्मिन् भावः तद्भावः स भावितः स्मर्यमाणतया अभ्यस्तो येन स तद्भावभावितः सन्** ॥ ६ ॥

हे कुन्तीपुत्र! प्राणवियोगके समय (यह जीव) जिस जिस भी भावका अर्थात् (जिस किसी भी) देवताविशेषका चिन्तन करता हुआ शरीर छोडता है, उस भावसे भावित हुआ वह पुरुष सदा उस स्मरण किये हुए भावको ही प्राप्त होता है, अन्यको नहीं। उपास्य देवविषयक भावनाका नाम 'तद्भाव' है, वह जिसने भावित यानी बारंबार चिन्तन करनेके द्वारा अभ्यस्त किया हो, उसका नाम 'तद्भावभावित' है ऐसा होता हुआ (उसीको प्राप्त होता है) ॥ ६ ॥

यस्माद् एवम् अन्त्या भावना देहान्तरप्राप्तौ कारणम्—

क्योंकि इस प्रकार अन्तकालकी भावना ही अन्य शरीरकी प्राप्तिका कारण है—,

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर यथाशास्त्रं युध्य च युद्धं च स्वधर्मं कुरु मयि वासुदेवे अर्पिते मनोबुद्धी यस्य तव स त्वं मय्यर्पितमनोबुद्धिः सन् माम् एव यथास्मृतम् एष्यसि आगमिष्यसि असंशयो न संशयो अत्र विद्यते ॥ ७ ॥

इसलिये तू हर समय मेरा स्मरण कर और शास्त्राज्ञानुसार स्वधर्मरूप युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझ वासुदेवमे जिसके मन-बुद्धि अर्पित हैं, ऐसा तू मुझमें अर्पित किये हुए मन-बुद्धिवाला होकर मुझको ही अर्थात् मेरे यथाचिन्तित स्वरूपको ही प्राप्त हो जायगा, इसमें संशय नहीं ॥ ७ ॥

किं च—

तथा—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन, मयि चित्तसमर्पणविषयभूते एकस्मिन् तुल्यप्रत्ययावृत्तिलक्षणो विलक्षणप्रत्ययानन्तरितः अभ्यासः स च अभ्यासो योगः तेन युक्तं तत्र एव व्यापृतं योगिनः चेतः तेन चेतसा न अन्यगामिना न अन्यत्र विषयान्तरे गन्तुं शीलम् अस्य इति न अन्यगामि तेन नान्यगामिना परमं निरतिशयं पुरुषं दिव्यं दिवि सूर्यमण्डले भवं याति गच्छति हे पार्थ, अनुचिन्तयन् शास्त्राचार्योपदेशम् अनुध्यायन् इति एतत् ८

हे पार्थ! अभ्यासयोगयुक्त अनन्यगामी चित्तद्वारा, चित्तसमर्पणके आश्रयभूत एक मुझमे ही विजातीय प्रतीतियोंके व्यवधानसे रहित तुल्य प्रत्ययोंकी आवृत्ति का नाम 'अभ्यास' है, वह अभ्यास ही योग है, ऐसे अभ्यासरूप योगसे युक्त, उस एक ही आलम्बनमें लगा हुआ, विषयान्तरमे न जानेवाला जो योगीका चित्त है उस चित्तद्वारा, शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार चिन्तन करता हुआ योगी परम निरतिशय–दिव्य पुरुषको–जो आकाशस्थ सूर्यमण्डलमे परम पुरुष है–उसको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

किंविशिष्टं च पुरुषं याति, इति उच्यते—

किन लक्षणोंसे युक्त परम पुरुषको (योगी) प्राप्त होता है? इसपर कहते हैं—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।

कविं **क्रान्तदर्शिनं सर्वज्ञं** पुराणं **चिरंतनम्** अनुशासितारं **सर्वस्य जगतः प्रशासितारम्** अणोः **सूक्ष्माद् अपि** अणीयांसं **सूक्ष्मतरम्** अनुस्मरेद् **अनुचिन्तयेद्** यः **कश्चित्** सर्वस्य **कर्मफलजातस्य** धातारं **विचित्रतया प्राणिभ्यो विभक्तारं विभज्य दातारम्** अचिन्त्यरूपं **न अस्य रूपं नियतं विद्यमानम् अपि केनचित् चिन्तयितुं शक्यते इति अचिन्त्यरूपः तम्** आदित्यवर्णम् **आदित्यस्य इव नित्यचैतन्यप्रकाशो वर्णो यस्य तम् आदित्यवर्णं** तमसः परस्ताद् **अज्ञानलक्षणाद् मोहान्धकारात् परम्** ।

तम् अनुचिन्तयन् याति इति पूर्वेण एव संबन्धः ॥ ९ ॥

जो पुरुष भूत, भविष्यत् और वर्तमानको जाननेवाले—सर्वज्ञ, पुरातन, सम्पूर्ण संसारके शासक और अणुसे भी अणु यानी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर परमात्माका, जो कि सम्पूर्ण कर्मफलका विधायक अर्थात् विचित्ररूपसे विभाग करके सब प्राणियोंको उनके कर्मोंका फल देनेवाला है, तथा अचिन्त्यस्वरूप अर्थात् जिसका स्वरूप नियत और विद्यमान होते हुए भी किसीके द्वारा चिन्तन न किया जा सके ऐसा है, एवं सूर्यके समान वर्णवाला अर्थात् सूर्यके समान नित्य चेतन-प्रकाशमय वर्णवाला है और अज्ञानरूप-मोहमय अन्धकारसे सर्वथा अतीत है, उसका स्मरण करता है ।

(वह) उसका स्मरण करता हुआ उसीको प्राप्त होता है, इस प्रकार पूर्वश्लोकसे सम्बन्ध है ॥ ९ ॥

किं च—

तथा—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

प्रयाणकाले **मरणकाले** मनसा अचलेन **चलनवर्जितेन** भक्त्या युक्तो **भजनं भक्तिः तया युक्तो** योगबलेन च एव **योगस्य बलं योगबलं तेन** समाधिजसंस्कारप्रचयजनितचित्तस्थैर्य-**लक्षणं योगबलं तेन च युक्त इत्यर्थः । पूर्वं हृदयपुण्डरीके वशीकृत्य चित्तम्, तत ऊर्ध्वगामिन्या नाड्या भूमिजयक्रमेण** भ्रुवोः मध्ये प्राणम् आवेश्य **स्थापयित्वा,** सम्यग् **अप्रमत्तः सन् स एवं बुद्धिमान् योगी** *'कविं पुराणम्'* **इत्यादिलक्षणं** तं परं पुरुषम् उपैति **प्रतिपद्यते** दिव्यं **द्योतनात्मकम्** ॥ १० ॥

(जो योगी) अन्त समय—मृत्युकालमें भक्ति और योगबलसे युक्त हुआ—भजनका नाम भक्ति है उससे युक्त हुआ और समाधिजनित संस्कारोंके संग्रहसे उत्पन्न हुई चित्तस्थिरता नाम योगबल है, उससे भी युक्त हुआ, चञ्चलतारहित—अचल मनसे, पहले हृदय-कमलमें चित्तको स्थिर करके, फिर ऊपरकी ओर जानेवाली नाड़ीद्वारा चित्तकी प्रत्येक भूमिको क्रमसे जय करता हुआ भृकुटिके मध्यमें प्राणोंको स्थापन करके भली प्रकार सावधान हुआ (परमात्मस्वरूपका चिन्तन करता है) वह ऐसा बुद्धिमान् योगी **'कविं पुराणम्'** इत्यादि लक्षणोंवाले उस दिव्य—चेतनात्मक परमपुरुषको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

पुनः अपि वक्ष्यमाणेन उपायेन प्रतिपित्सितस्य ब्रह्मणो वेदविद्वदनादिविशेषण-विशेष्यस्य अभिधानं करोति भगवान्—

फिर भी भगवान् आगे बतलाये जानेवाले उपायोंसे प्राप्त होने योग्य और 'वेदविदो वदन्ति' इत्यादि विशेषणोंद्वारा वर्णन किये जानेयोग्य ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

यद् अक्षरं **न क्षरति इति अक्षरम् अविनाशि** वेदविदो **वेदार्थज्ञा** वदन्ति *'तद्वा एतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति'* (बृह० उ० ३ । ८ । ८) इति **श्रुतेः । सर्वविशेषनिवर्तकत्वेन अभिवदन्ति** *'अस्थूलमनणु'* (बृह० उ० ३ । ८ । ८) इत्यादि ।

किं च विशन्ति **प्रविशन्ति सम्यग्दर्शनप्राप्तौ सत्यां** यद् यतयो **यतनशीलाः संन्यासिनो** वीतरागा **विगतो रागो येभ्यः ते वीतरागाः ।**

यत् **च अक्षरम्** इच्छन्तो **ज्ञातुम् इति वाक्यशेषः ।** ब्रह्मचर्यं **गुरौ** चरन्ति ।

तत् ते पदं **तद् अक्षराख्यं पदं पदनीयं ते तुभ्यं** संग्रहेण **संग्रहः संक्षेपः तेन संक्षेपेण** प्रवक्ष्ये **कथयिष्यामि ॥ ११ ॥**

'हे गार्गि ! ब्राह्मणलोग उसी इस अक्षरको वर्णन किया करते हैं' इस श्रुतिके अनुसार वेदके परम अर्थको जाननेवाले विद्वान् जिस अक्षरका अर्थात् जिसका कभी नाश न हो, ऐसे परमात्माका 'वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है' इस प्रकार सब विशेषोंका निराकरण करके वर्णन किया करते हैं,

तथा जिनकी आसक्ति नष्ट हो चुकी है ऐसे वीतराग, यत्नशील, संन्यासी, यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर जिसमें प्रविष्ट होते हैं,

एवं जिस अक्षरको जानना* चाहनेवाले (साधक) गुरुकुलमें ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया करते हैं,

वह अक्षरनामक पद अर्थात् प्राप्त करनेयोग्य स्थान मैं तुझे संग्रहसे—संक्षेपसे बतलाता हूँ। संग्रह संक्षेपको कहते हैं ॥ ११ ॥

'स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति तस्मै स होवाच, एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इति **उपक्रम्य** *'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत'* (प्र० उ० ५ । १-२-५) **इत्यादिना वचनेन,**

सत्यकामके यह पूछनेपर कि **'हे भगवन् ! मनुष्योंमेंसे वह जो कि मरणपर्यन्त ओंकारका भली प्रकार ध्यान करता रहता है वह उस साधनसे किस लोकको जीत लेता है ? पिप्पलाद ऋषिने कहा कि हे सत्यकाम ! यह ओंकार ही निःसन्देह परब्रह्म है और यही अपर ब्रह्म भी है।'** इस प्रकार प्रसङ्ग आरम्भ करके फिर **'जो कोई इस तीन मात्रावाले 'ओम्' इस अक्षरद्वारा परम पुरुषकी उपासना करता रहता है।'** इत्यादि वचनोंसे (प्रश्नोपनिषद्में),

---

* 'ज्ञातुम्' शब्द मूलश्लोकमें नहीं है, इसको भाष्यकारने वाक्यशेष माना है।

'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इति च उपक्रम्य 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्' (क० उ० १।२।१४-१५) इत्यादिभिः च वचनैः ।

परस्य ब्रह्मणो वाचकरूपेण प्रतिमावत् प्रतीकरूपेण च परब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वेन मन्दमध्यमबुद्धीनां विवक्षितस्य ओंकारस्य उपासनं कालान्तरे मुक्तिफलम् उक्तं यत्,

तद् एव इह अपि 'कविं पुराणमनुशासितारम्' 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' इति च उपन्यस्तस्य परस्य ब्रह्मणः पूर्वोक्तरूपेण प्रतिपत्त्युपायभूतस्य ओंकारस्य कालान्तरमुक्तिफलम् उपासनम्, योगधारणासहितं वक्तव्यं प्रसक्तानुप्रसक्तं च यत्किंचिद् इति एवमर्थ उत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते—

तथा 'जो धर्मसे विलक्षण है और अधर्मसे भी विलक्षण है' इस प्रकार प्रसङ्ग आरम्भ करके फिर 'समस्त वेद जिस परमपदका वर्णन कर रहे हैं, समस्त तप जिसको बतला रहे हैं, तथा जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचर्यका पालन किया करते हैं, वह परमपद संक्षेपसे तुझे बतलाऊँगा; वह है 'ओम्' ऐसा यह (एक अक्षर) ।' इत्यादि वचनोंसे (कठोपनिषद्‌मे) ।

परब्रह्मका वाचक होनेसे एवं प्रतिमाकी भाँति उसका प्रतीक (चिह्न) होनेसे मन्द और मध्यम बुद्धिवाले साधकोंके लिये जो परब्रह्म–परमात्माकी प्राप्तिका साधनरूप माना गया है उस ओंकारकी कालान्तरमे मुक्तिरूप फल देनेवाली जो उपासना बतलायी गयी है,

यहाँ भी 'कविं पुराणमनुशासितारम्' 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' इस प्रकार प्रतिपादन किये हुए परब्रह्मकी प्राप्तिका पूर्वोक्तरूपसे उपायभूत जो ओंकार है, उसकी कालान्तरमे मुक्तिरूप फल देनेवाली वही उपासना, योग-धारणासहित कहनी है । तथा उसके प्रसङ्ग और अनुप्रसङ्गमे आनेवाली बाते भी कहनी है । इसलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

सर्वद्वाराणि सर्वाणि च तानि द्वाराणि च सर्वद्वाराणि उपलब्धौ तानि सर्वाणि संयम्य संयमनं कृत्वा, मनो हृदि हृदयपुण्डरीके निरुध्य निरोधं कृत्वा निष्प्रचारम् आपाद्य, तत्र वशीकृतेन मनसा हृदयाद् ऊर्ध्वगामिन्या नाड्या ऊर्ध्वम् आरुह्य मूर्ध्नि आधाय आत्मनः प्राणम् आस्थितः प्रवृत्तो योगधारणां धारयितुम् ॥ १२ ॥

समस्त द्वारोंका अर्थात् विषयोंकी उपलब्धिके द्वाररूप जो समस्त इन्द्रियगोलक हैं उन सबका संयम करके, एवं मनको हृदयकमलमे निरुद्ध करके अर्थात् संकल्प-विकल्पसे रहित करके, फिर वशमे किये हुए मनके सहारेसे हृदयसे ऊपर जानेवाली नाडीद्वारा ऊपर चढ़कर अपने प्राणोंको मस्तकमे स्थापन करके योगधारणाको धारण करनेके लिये प्रवृत्त हुआ साधक (परमगतिको प्राप्त होता है इस प्रकार अगले श्लोकसे सम्बन्ध है) ॥ १२ ॥

तत्र एव च धारयन्—

उसी जगह (प्राणोंको) स्थिर रखते हुए—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मणः अभिधानभूतम् ओंकारं व्याहरन् उच्चारयन् तदर्थभूतं माम् ईश्वरम् अनुस्मरन् अनुचिन्तयन् यः प्रयाति म्रियते,

स त्यजन् परित्यजन् देहं शरीरम्, त्यजन् देहम् इति प्रयाणविशेषणार्थं देहत्यागेन प्रयाणम् आत्मनो न स्वरूपनाशेन इत्यर्थः। स एवं त्यजन् याति गच्छति परमां प्रकृष्टां गतिम् ॥ १३ ॥

'ओम्' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपका लक्ष्य करानेवाले ओंकारका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थरूप मुझ ईश्वरका चिन्तन करता हुआ जो पुरुष शरीरको छोडकर जाता है अर्थात् मरता है,

वह इस प्रकार शरीरको छोड़कर जानेवाला परम गतिको पाता है। यहाँ 'त्यजन्देहम्' यह विशेषण 'मरण'का लक्ष्य करानेके लिये है। अभिप्राय यह कि देहके त्यागसे ही आत्माका मरण है, स्वरूपके नाशसे नहीं ॥ १३ ॥

किं च—

तथा—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

अनन्यचेता न अन्यविषये चेतो यस्य सः अयम् अनन्यचेता योगी सततं सर्वदा यो मां परमेश्वरं स्मरति नित्यशः।

सततम् इति नैरन्तर्यम् उच्यते। नित्यश इति दीर्घकालत्वम् उच्यते। न षण्मासं संवत्सरं वा किं तर्हि यावज्जीवं नैरन्तर्येण यो मां स्मरति इत्यर्थः।

तस्य योगिनः अहं सुलभः सुखेन लभ्यः पार्थ नित्ययुक्तस्य सदा समाहितस्य योगिनः। यत एवम् अतः अनन्यचेताः सन् मयि सदा समाहितो भवेत् ॥ १४ ॥

अनन्यचित्तवाला अर्थात् जिसका चित्त अन्य किसी भी विषयका चिन्तन नहीं करता, ऐसा जो योगी सर्वदा निरन्तर प्रतिदिन मुझ परमेश्वरका स्मरण किया करता है।

यहाँ 'सततम्' इस शब्दसे निरन्तरताका कथन है और 'नित्यशः' इस शब्दसे दीर्घकालका कथन है, अतः यह समझना चाहिये कि छः महीने या एक वर्ष ही नहीं किन्तु जीवनपर्यन्त जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है।

हे पार्थ! उस नित्य-समाधिस्थ योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। अर्थात् उसको मैं अनायास प्राप्त हो जाता हूँ। जब कि यह बात है, इसलिये (मनुष्यको) अनन्य चित्तवाला होकर सदा ही मुझमें समाहितचित्त रहना चाहिये ॥ १४ ॥

तव सौलभ्येन किं स्यात्, इति उच्यते शृणु तद् मम सौलभ्येन यद् भवति—

आपके सुलभ हो जानेसे क्या होगा? इसपर कहते है कि मेरी सुलभ प्राप्तिसे जो होता है, वह सुन—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

माम् उपेत्य माम् ईश्वरम् उपेत्य मद्भावम् आपाद्य पुनर्जन्म पुनरुत्पत्तिं न प्राप्नुवन्ति ।

मुझ ईश्वरको पाकर अर्थात् मेरे भावको प्राप्त करके फिर (वे महापुरुष) पुनर्जन्मको नहीं पाते ।

किंविशिष्टं पुनर्जन्म न प्राप्नुवन्ति इति तद्विशेषणम् आह—

किस प्रकारके पुनर्जन्मको नहीं पाते, यह स्पष्ट करनेके लिये उसके विशेषण बतलाते है—

दुःखालय दुःखानाम् आध्यात्मिकादीनाम् आलयम् आश्रयम् आलीयन्ते यस्मिन् दुःखानि इति दुःखालयं जन्म । न केवलं दुःखालयम् अशाश्वतम् अनवस्थितरूपं च न आप्नुवन्ति ईदृशं पुनर्जन्म महात्मानो यतयः संसिद्धिं मोक्षाख्यां परमां प्रकृष्टां गताः प्राप्ताः ये पुनः मां न प्राप्नुवन्ति ते पुनः आवर्तन्ते ॥ १५ ॥

आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकारके दुःखोका जो स्थान—आधार है अर्थात् समस्त दुःख जिसमे रहते है, केवल दुःखोंका स्थान ही नहीं जो अशाश्वत भी है अर्थात् जिसका स्वरूप स्थिर नहीं है; ऐसे पुनर्जन्मको मोक्षरूप परम श्रेष्ठ सिद्धिको प्राप्त हुए महात्मा—संन्यासीगण नहीं पाते । परन्तु जो मुझे प्राप्त नहीं होते वे फिर संसारमे आते है ॥ १५ ॥

किं पुनः त्वत्तः अन्यत् प्राप्ताः पुनः आवर्तन्ते इति उच्यते—

तो क्या आपके सिवा अन्य स्थानको प्राप्त होनेवाले पुरुष फिर संसारमे आते हैं? इसपर कहा जाता है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

आब्रह्मभुवनाद् भवन्ति यस्मिन् भूतानि इति भुवनं ब्रह्मभुवनं ब्रह्मलोक इत्यर्थः ।

जिसमे प्राणी उत्पन्न होते और निवास करते है उसका नाम भुवन है, ब्रह्मलोक ब्रह्मभुवन कहलाता है ।

आब्रह्मभुवनात् सह ब्रह्मभुवनेन लोकाः सर्वे पुनरावर्तिनः पुनरावर्तनस्वभावा हे अर्जुन । माम् एकम् उपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म पुनरुत्पत्तिः न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त अर्थात् ब्रह्मलोकसहित समस्त लोक पुनरावर्ती है अर्थात् जिनमे जाकर फिर संसारमे जन्म लेना पड़े, ऐसे है । परतु हे कुन्तीपुत्र ! केवल एक मुझे प्राप्त होनेपर फिर पुनर्जन्म—पुनरुत्पत्ति नहीं होती ॥ १६ ॥

ब्रह्मलोकसहिता लोकाः कस्मात् पुनरावर्तिनः कालपरिच्छिन्नत्वात्, कथम्—

ब्रह्मलोकसहित समस्त लोक पुनरावर्ती किस कारणसे हैं ? कालसे परिच्छिन्न हैं इसलिये; कालसे परिच्छिन्न कैसे है ?—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तं सहस्रं युगानि पर्यन्तः पर्यवसानं यस्य अह्नः तद् अहः सहस्रयुगपर्यन्तं ब्रह्मणः प्रजापतेः विराजो विदुः ।

ब्रह्मा—प्रजापति अर्थात् विराट्के एक दिनको, एक सहस्रयुगकी अवधिवाला अर्थात् जिसका एक सहस्र युगमे अन्त हो, ऐसा समझते हैं ।

रात्रिम् अपि युगसहस्रान्ताम् अहःपरिमाणाम् एव ।

तथा ब्रह्माकी रात्रिको भी सहस्रयुगकी अवधिवाली अर्थात् दिनके बराबर ही समझते हैं ।

के विदुः इति आह—

ऐसा कौन समझते हैं ? सो कहते हैं—

ते अहोरात्रविदः कालसंख्याविदो जना इत्यर्थः ।

वे दिन और रातके तत्त्वको जाननेवाले, अर्थात् कालके परिमाणको जाननेवाले योगीजन ऐसा जानते हैं ।

यत एवं कालपरिच्छिन्नाः ते अतः पुनरावर्तिनो लोकाः ॥ १७ ॥

इस प्रकार कालसे परिच्छिन्न होनेके कारण वे सभी लोक पुनरावृत्तिवाले है ॥ १७ ॥

प्रजापतेः अहनि यद् भवति रात्रौ च तद् उच्यते—

प्रजापतिके दिनमें और रात्रिमें जो कुछ होता है उसका वर्णन किया जाता है—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

अव्यक्ताद् अव्यक्तं प्रजापतेः स्वापावस्था तस्माद् अव्यक्तात् व्यक्तयो व्यज्यन्ते इति व्यक्तयः स्थावरजङ्गमलक्षणाः सर्वाः प्रजाः प्रभवन्ति अभिव्यज्यन्ते, अह्न आगमः अहरागमः तस्मिन् अहरागमे काले ब्रह्मणः प्रबोधकाले ।

दिनके आरम्भकालका नाम 'अहरागम' है, ब्रह्माके दिनके आरम्भकालमें अर्थात् ब्रह्माके प्रबोधकालमें अव्यक्तसे—प्रजापतिकी निद्रावस्थासे समस्त व्यक्तियाँ—स्थावर-जङ्गमरूप समस्त प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं—प्रकट होती है । जो व्यक्त—प्रकट होती है, उसका नाम व्यक्ति है ।

तथा रात्र्यागमे ब्रह्मणः स्वापकाले प्रलीयन्ते सर्वा व्यक्तयः तत्र एव पूर्वोक्ते अव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

तथा रात्रिके आनेपर—ब्रह्माके शयन करनेके समय उस पूर्वोक्त अव्यक्त नामक प्रजापतिकी निद्रावस्थामे ही समस्त प्राणी लीन हो जाते हैं १८ ॥

अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशदोषपरिहारार्थम्, बन्धमोक्षशास्त्रप्रवृत्तिसाफल्यप्रदर्शनार्थम् अविद्यादिक्लेशमूलकर्माशयवशात् च अवशो भूतग्रामो भूत्वा भूत्वा प्रलीयते इति अतः संसारे वैराग्यप्रदर्शनार्थं च इदम् आह—

न किये कर्मोंका फल मिलना और किये हुए कर्मोंका फल न मिलना, इस दोषका परिहार करनेके लिये, बन्धन और मुक्तिका मार्ग बतलानेवाले शास्त्रवाक्योंकी सफलता दिखानेके लिये और 'अविद्यादि पञ्च-क्लेशमूलक कर्मसंस्कारोंके वशमे पड़कर पराधीन हुआ प्राणी-समुदाय बारंबार उत्पन्न हो-होकर लय हो जाता है'—इस प्रकारके कथनसे संसारमे वैराग्य दिखलानेके लिये यह कहते हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

भूतग्रामो **भूतसमुदायः स्थावरजङ्गमलक्षणो यः पूर्वस्मिन् कल्पे आसीत्** स एव अयं **न अन्यो** भूत्वा भूत्वा **अहरागमे** प्रलीयते **पुनः पुनः** रात्र्यागमे **अह्नः क्षये** अवशः **अस्वतन्त्र एव** पार्थ, प्रभवति **अवश एव** अहरागमे ॥ १९ ॥

जो पहले कल्पमे था, वही—दूसरा नहीं—यह स्थावर-जङ्गमरूप भूतोंका समुदाय ब्रह्माके दिनके आरम्भमे, बारंबार उत्पन्न हो-होकर दिनकी समाप्ति और रात्रिका प्रवेश होनेपर पराधीन हुआ ही बारंबार लय होता जाता है और फिर उसी प्रकार विवश होकर दिनके प्रवेशकालमे पुनः उत्पन्न होता जाता है ॥ १९ ॥

यद् उपन्यस्तम् अक्षरं तस्य प्राप्त्युपायो निर्दिष्टः *'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'* इत्यादिना। अथ इदानीम् अक्षरस्य एव स्वरूपनिर्दिदिक्षया इदम् उच्यते अनेन योगमार्गेण इदं गन्तव्यम् इति—

जिस अक्षरका पहले प्रतिपादन किया था उसकी प्राप्तिका उपाय **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'** इत्यादि कथनसे बतला दिया। अब उसी अक्षरके स्वरूपका निर्देश करनेकी इच्छासे यह बतलाया जाता है कि 'इस योगमार्गद्वारा अमुक वस्तु मिलती है'—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

परो **व्यतिरिक्तो भिन्नः। कुतः** तस्मात् **पूर्वोक्तात्। तु शब्दः अक्षरस्य विवक्षितस्य अव्यक्ताद् वैलक्षण्यप्रदर्शनार्थः।** भावः **अक्षराख्यं परं ब्रह्म।**

व्यतिरिक्तत्वे सति अपि सालक्षण्यप्रसङ्गः अस्ति इति तद्विनिवृत्त्यर्थम् आह—अन्य **इति। अन्यो विलक्षणः स च** अव्यक्तः **अनिन्द्रियगोचरः।**

'तु' शब्द यहाँ आगे वर्णन किये जानेवाले अक्षरकी उस पूर्वोक्त अव्यक्तसे विलक्षणता दिखलानेके लिये है। (वह अव्यक्त) भाव यानी अक्षरनामक परब्रह्म परमात्मा अत्यन्त भिन्न है। किससे? उस पहले कहे हुए अव्यक्तसे।

भिन्न होनेपर भी किसी प्रकार समानता हो सकती है? इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि वह इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष न होनेवाला अव्यक्तभाव अन्य—दूसरा है अर्थात् सर्वथा विलक्षण है।

परः तस्माद् इति उक्तम्, कस्मात् पुनः परः, पूर्वोक्ताद् भूतग्रामबीजभूताद् अविद्यालक्षणाद् अव्यक्तात् । सनातनः चिरंतनः । यः स भावः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

उससे पर है ऐसा कहा, सो किससे पर है ? वह उस पूर्वोक्त भूत-समुदायके बीजभूत अविद्यारूप अव्यक्तसे परे है । ऐसा जो सनातन भाव अर्थात् सदासे होनेवाला भाव है, वह ब्रह्मादि समस्त प्राणियोंका नाश होनेपर भी नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

यः असौ अव्यक्तः अक्षर इति उक्तः तम् एव अक्षरसंज्ञकम् अव्यक्तं भावम् आहुः परमां प्रकृष्टां गतिम् । यं भावं प्राप्य गत्वा न निवर्तन्ते संसाराय तद् धाम स्थानं परमं प्रकृष्टं मम विष्णोः परमं पदम् इत्यर्थः ॥ २१ ॥

जो वह 'अव्यक्त' 'अक्षर' ऐसे कहा गया है उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परम-श्रेष्ठ गति कहते हैं । जिस परम भावको प्राप्त होकर (मनुष्य) फिर संसारमें नहीं लौटते, वह मेरा परम श्रेष्ठ स्थान है अर्थात् मुझ विष्णुका परमपद है ॥ २१ ॥

तल्लब्धेः उपाय उच्यते—

उस परमधामकी प्राप्तिका उपाय बतलाया जाता है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

पुरुषः पुरि शयनात् पूर्णत्वाद् वा स परः पार्थ परो निरतिशयो यस्मात् पुरुषाद् न परं किंचित् स भक्त्या लभ्यः तु ज्ञानलक्षणया अनन्यया आत्मविषयया—यस्य पुरुषस्य अन्तःस्थानि मध्यस्थानि कार्यभूतानि भूतानि । कार्यं हि कारणस्य अन्तर्वर्ति भवति । येन पुरुषेण सर्वम् इदं जगत् ततं व्याप्तम् आकाशेन इव घटादि ॥ २२ ॥

शरीररूप पुरमें शयन करनेसे या सर्वत्र परिपूर्ण होनेसे परमात्माका नाम पुरुष है । हे पार्थ ! वह निरतिशय परमपुरुष, जिससे पर (सूक्ष्म-श्रेष्ठ) अन्य कुछ भी नहीं है, जिस पुरुषके अन्तर्गत समस्त कार्यरूप भूत स्थित हैं—क्योंकि कार्य कारणके अन्तर्वर्ती हुआ करता है—और जिस पुरुषसे यह सारा संसार आकाशसे घट आदिकी भाँति व्याप्त है । ऐसा परमात्मा, अनन्य भक्तिसे अर्थात् आत्मविषयक ज्ञानरूप भक्तिसे प्राप्त होने योग्य है ॥ २२ ॥

प्रकृतानां योगिनां प्रणवावेशितब्रह्मबुद्धीनां कालान्तरमुक्तिभाजां ब्रह्मप्रतिपत्तये उत्तरो मार्गो वक्तव्य इति यत्र काले इत्यादि विवक्षितार्थसमर्पणार्थम् उच्यते । आवृत्तिमार्गोपन्यास इतरमार्गस्तुत्यर्थः—

जिन्होंने ओंकारमें ब्रह्मबुद्धि सम्पादन की है, जिन्हें कालान्तरमें मुक्ति मिलनेवाली है तथा यहाँ जिनका प्रकरण चल रहा है, उन योगियोंकी ब्रह्म-प्राप्तिके लिये आगेका मार्ग बताना चाहिये । अतः विवक्षित अर्थको बतलानेके लिये ही 'यत्र काले' इत्यादि अगले श्लोक कहे जाते हैं । यहाँ पुनरावर्ती मार्गका वर्णन दूसरे मार्गकी स्तुति करनेके लिये किया गया है—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

यत्र काले प्रयाता इति व्यवहितेन सम्बन्धः ।

यत्र **यस्मिन्** काले तु अनावृत्तिम् **अपुनर्जन्म** आवृत्तिं **तद्विपरीतां** च एव । योगिन **इति योगिनः कर्मिणः च उच्यन्ते । कर्मिणः तु गुणतः** *'कर्मयोगेन योगिनाम्'*, **इति विशेषणाद् योगिनः ।**

यत्र काले प्रयाता **मृता योगिनः अनावृत्तिं** यान्ति **यत्र काले च प्रयाता आवृत्तिं यान्ति** तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

'यत्र काले' इस पदका व्यवधानयुक्त 'प्रयाताः' इस अगले पदसे सम्बन्ध है ।

जिस कालमें अनावृत्तिको—अपुनर्जन्मको और जिस कालमें आवृत्तिको—उससे विपरीत पुनर्जन्मको योगी लोग पाते हैं । 'योगिनः' इस पदसे कर्म करनेवाले कर्मी लोग भी योगी कहे गये हैं, क्योंकि **'कर्मयोगेन योगिनाम्'** इस विशेषणसे कर्मी भी किसी गुणविशेषसे योगी हैं ।

तात्पर्य यह है कि हे अर्जुन ! जिस कालमें मरे हुए योगी लोग पुनर्जन्मको नहीं पाते और जिस कालमें मरे हुए लोग पुनर्जन्म पाते हैं मैं अब उस कालका वर्णन करता हूँ ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अग्निः **कालाभिमानिनी देवता तथा** ज्योतिः **देवता एव कालाभिमानिनी । अथवा अग्निज्योतिषी यथाश्रुते एव देवते ।**

भूयसां तु निर्देशो *'यत्र काले' 'तं कालम्'* **इति आम्रवणवत् ।**

यहाँ अग्नि कालाभिमानी देवताका वाचक है तथा ज्योति भी कालाभिमानी देवताका ही वाचक है, अथवा अग्नि और ज्योति नामवाले दोनों प्रसिद्ध वैदिक देवता ही हैं ।

जिस वनमें आमके पेड़ अधिक होते हैं उसको जैसे आमका वन कहते हैं, उसी प्रकार यहाँ कालाभिमानी देवताओंका वर्णन अधिक होनेसे **'यत्र काले' 'तं कालम्'** इत्यादि कालवाचक शब्दोंका प्रयोग किया गया है ।

तथा अहर्देवता अहः शुक्लः शुक्लपक्षदेवता षण्मासा उत्तरायणं तत्र अपि देवता एव मार्गभूता इति स्थितः अन्यत्र न्यायः तत्र तस्मिन् मार्गे प्रयाता मृता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो ब्रह्मोपासनपरा जना । क्रमेण इति वाक्यशेषः ।

न हि सद्योमुक्तिभाजां सम्यग्दर्शननिष्ठानां गतिः आगतिः वा क्वचिद् अस्ति *'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'* इति श्रुतेः ब्रह्मसंलीनप्राणा एव ते ब्रह्ममया ब्रह्मभूता एव ते ॥ २४ ॥

(अभिप्राय यह कि जिस मार्गमे अग्निदेवता ज्योतिदेवता,) जिनका देवता, शुक्ल-पक्षका देवता और उत्तरायणके छः महीनोका देवता है उस मार्गमे (अर्थात् उपर्युक्त देवताओके अधिकारमे) मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता यानी ब्रह्मकी उपासनामे तत्पर हुए पुरुष क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । यहाँ उत्तरायण मार्ग भी देवताका ही वाचक है, क्योंकि अन्यत्र (ब्रह्मसूत्रमे) भी यही न्याय माना गया है ।

जो पूर्ण ज्ञाननिष्ठ सद्योमुक्तिके पात्र होते हैं उनका आना-जाना कहीं नहीं होता ! श्रुति भी कहती है, **'उसके प्राण निकलकर कही नहीं जाते ।'** वे तो 'ब्रह्मसंलीनप्राण' अर्थात् ब्रह्ममय—ब्रह्मरूप ही है ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

धूमो रात्रिः धूमाभिमानिनी रात्र्यभिमानिनी च देवता । तथा कृष्णः कृष्णपक्षदेवता । षण्मासा दक्षिणायनम् इति च पूर्ववद् देवता एव । तत्र चन्द्रमसि भवं चान्द्रमसं ज्योति फलम् इष्टादिकारी योगी कर्मी प्राप्य भुक्त्वा तत्क्षयाद् निवर्तते ॥ २५ ॥

जिस मार्गमे धूम और रात्रि है अर्थात् धूमाभिमानी और रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्ष अर्थात् कृष्णपक्षका देवता है एव दक्षिणायनके छः महीने हैं अर्थात् पूर्ववत् दक्षिणायन मार्गाभिमानी देवता है, उस मार्गमें (उन उपर्युक्त देवताओके अधिकारमे मरकर) गया हुआ योगी अर्थात् इष्ट-पूर्त आदि कर्म करनेवाला कर्मी, चन्द्रमाकी ज्योतिको अर्थात् कर्मफलको प्राप्त होकर—भोगकर उस कर्मफलका क्षय होनेपर लौट आता है ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

शुक्लकृष्णे शुक्ला च कृष्णा च शुक्लकृष्णे । ज्ञानप्रकाशकत्वात् शुक्ला तदभावात् कृष्ण । एते शुक्लकृष्णे हि गती जगत इति

शुक्ल और कृष्ण ये दो मार्ग, अर्थात् जिसमे ज्ञानका प्रकाश है—वह शुक्ल और जिसमे उसका अभाव है वह कृष्ण—ऐसे ये दोनों मार्ग जगत्के लिये नित्य—सदासे माने गये है क्योंकि जगत् नित्य है ।

अधिकृतानां ज्ञानकर्मणोः न जगतः सर्वस्य एव एते गती संभवतः । शाश्वते **नित्ये संसारस्य नित्यत्वाद्** मते **अभिप्रेते** ।

तत्र एकया **शुक्लया** याति अनावृत्तिम् अन्यया **इतरया** आवर्तते पुन. **भूयः** ॥ २६ ॥

यहाँ जगत्-शब्दसे जो ज्ञानी और कर्मी उपर्युक्त गतिके अधिकारी है उन्हींको समझना चाहिये, क्योंकि सारे ससारके लिये यह गति सम्भव नहीं है ।

उन दोनो मार्गोमेसे एक—शुक्लमार्गसे गया हुआ तो फिर लौटता नहीं है और दूसरे मार्गसे गया हुआ लौट आता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

न एते **यथोक्ते** सृती **मार्गौ** पार्थ जानन् **संसाराय एका अन्या मोक्षाय च इति** योगी **न** मुह्यति कश्चन **कश्चिद् अपि** । तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्त. **समाहितो** भव अर्जुन ॥२७॥

हे पार्थ ! इन उपर्युक्त दोनो मार्गोंको इस प्रकार जाननेवाला कि 'एक पुनर्जन्मरूप ससारको देनेवाला है और दूसरा मोक्षका कारण है' कोई भी योगी मोहित नहीं होता । इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समय योगयुक्त हो अर्थात् समाधिस्थ हो ॥ २७ ॥

शृणु योगस्य माहात्म्यम्—

योगका माहात्म्य सुन—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

वेदेषु **सम्यग् अधीतेषु** यज्ञेषु **च साद्‌गुण्येन अनुष्ठितेषु** तप सु च **सुतप्तेषु** दानेषु **च सम्यग् दत्तेषु** यद् **एतेषु** पुण्यफलं **पुण्यस्य फलं पुण्यफलं** प्रदिष्टं **शास्त्रेण** अत्येति **अतीत्य गच्छति** तत् सर्व **फलजातम्** इद विदित्वा **सप्तप्रश्ननिर्णयद्वारेण उक्तं सम्यग् अवधार्य अनुष्ठाय** योगी, परं **प्रकृष्टम् ऐश्वरं** स्थानम् उपैति **प्रतिपद्यते,** आद्यम् **आदौ भवं कारणं ब्रह्म इत्यर्थः** ॥ २८ ॥

इनको जानकर अर्थात् इन सात प्रश्नोंके निर्णयद्वारा कहे हुए रहस्यको यथार्थ समझकर और उसका अनुष्ठान करके योगी पुरुष, भली-भाँति पढे हुए वेद, श्रेष्ठ गुणोसहित सम्पादन किये हुए यज्ञ, भली प्रकार किये हुए तप और यथार्थ पात्रको दिये हुए दान इन सबका शास्त्रोंने जो पुण्य-फल बतलाया है उस सबको अतिक्रम कर जाता है और आदिमे होनेवाले सबके कारणरूप परम श्रेष्ठ ऐश्वर-पदको अर्थात् ब्रह्मको पा लेता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे तारकब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ॐ

नवमोऽध्यायः

अष्टमे नाडीद्वारेण धारणायोगः सगुण उक्तः। तस्य च फलम् अग्न्यर्चिरादिक्रमेण कालान्तरे ब्रह्मप्राप्तिलक्षणम् एव अनावृत्तिरूपं निर्दिष्टम्।

तत्र अनेन एव प्रकारेण मोक्षप्राप्तिफलम् अधिगम्यते न अन्यथा इति तदाशङ्का-व्यावितृत्सया—

श्रीभगवानुवाच—

आठवें अध्यायमें सुषुम्ना नाड़ीद्वारा धारणायोगका अंगोंसहित वर्णन किया है और उसका फल अग्नि, ज्योति आदिकी प्राप्तिके क्रमसे कालान्तरमें ब्रह्म-प्राप्तिरूप और अपुनरावृत्तिरूप दिखलाया गया है।

वहाँ (यह शङ्का होती है कि) क्या इस प्रकार साधन करनेसे ही मोक्ष-प्राप्तिरूप फल मिलता है अन्य किसी प्रकारसे नहीं मिलता ? इस शङ्काको निवृत्त करनेकी इच्छासे श्रीभगवान् बोले—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

इद ब्रह्मज्ञानं वक्ष्यमाणम् उक्तं च पूर्वेषु अध्यायेषु तद् बुद्धौ संनिधीकृत्य इदम् इति आह तु शब्दो विशेषनिर्धारणार्थः।

इदम् एव सम्यग्ज्ञानं साक्षाद् मोक्षप्राप्ति-साधनम् *'वासुदेवः सर्वमिति' 'आत्मैवेदं सर्वम्'* (बृह० उ० २।४।६) *'एकमेवाद्वितीयम्'* (छा० उ० ६।२।१) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। न अन्यत्।

'अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्य-लोका भवन्ति' इत्यादिश्रुतिभ्यः च।

ते तुभ्यं गुह्यतम गोप्यतमं प्रवक्ष्यामि कथ-यिष्यामि अनसूयवे असूयारहिताय।

किं तत्, ज्ञानम्, किंविशिष्टं विज्ञानसहितम् अनुभवयुक्तम्।

जो ब्रह्मज्ञान आगे कहा जायगा और जो कि पूर्वके अध्यायोंमें भी कहा जा चुका है, उसको बुद्धिके सामने रखकर यहाँ 'इदम्' शब्दका प्रयोग किया है। 'तु' शब्द अन्यान्य ज्ञानोंसे इसे अलग करके विशेषतासे लक्ष्य करानेके लिये है।

यही यथार्थ ज्ञान साक्षात् मोक्षप्राप्तिका साधन है। जो कि **'सब कुछ वासुदेव ही है' 'आत्मा ही यह समस्त जगत् है' 'ब्रह्म अद्वितीय एक ही है'** इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे दिखलाया गया है, (इसके अतिरिक्त) और कोई (मोक्षका साधन) नहीं है।

'जो इससे विपरीत जानते हैं, वे अपनेसे भिन्न अपना स्वामी माननेवाले मनुष्य विनाशशील लोकोंको प्राप्त होते हैं' इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही सिद्ध होता है।

तुझ असूयारहित भक्तसे मैं यह अति गोपनीय विषय कहूँगा।

वह क्या है ? ज्ञान। कैसा ज्ञान ? विज्ञानसहित अर्थात् अनुभवसहित ज्ञान।

यद् ज्ञानं ज्ञात्वा प्राप्य मोक्ष्यसे अशुभात् संसारबन्धनात् ॥ १ ॥

जिस ज्ञानको जानकर अर्थात् पाकर तू संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ १ ॥

तत् च—

वह ज्ञान—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

राजविद्या विद्यानां राजा दीप्त्यतिशयत्वात् । दीप्यते हि इयम् अतिशयेन ब्रह्मविद्या सर्वविद्यानाम् ।

अतिशय प्रकाशयुक्त होनेके कारण समस्त विद्याओंका राजा है। ब्रह्मविद्या सब विद्याओंमे अतिशय देदीप्यमान है यह प्रसिद्ध ही है।

तथा राजगुह्यं गुह्यानां राजा । पवित्रम् पावनम् इदम् उत्तमं सर्वेषां पावनानां शुद्धिकारणम् इदं ब्रह्मज्ञानम् उत्कृष्टतमम् । अनेकजन्मसहस्रसञ्चितम् अपि धर्माधर्मादि समूलं कर्म क्षणमात्राद् भस्मीकरोति यतः अतः किं तस्य पावनत्वं वक्तव्यम् ।

तथा (यह ज्ञान) समस्त गुप्त रखनेयोग्य भावोंका भी राजा है। एवं यह बड़ा पवित्र और उत्तम भी है, अर्थात् सम्पूर्ण पवित्र करनेवालोंको पवित्र करनेवाला यह ब्रह्मज्ञान सबसे उत्कृष्ट है। जो अनेक सहस्र जन्मोंमे इकट्ठे हुए पुण्य-पापादि कर्मोंको क्षणमात्रमे मूलसहित भस्म कर देता है उसकी पवित्रताका क्या कहना है ?

किं च प्रत्यक्षावगमं प्रत्यक्षेण सुखादेः इव अवगमो यस्य तत् प्रत्यक्षावगमम् ।

साथ ही यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभवमे आनेवाला है, अर्थात् सुख आदिकी भाँति जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सके, ऐसा है।

अनेकगुणवतः अपि धर्मविरुद्धत्वं दृष्टं न तथा आत्मज्ञानं धर्मविरोधि किन्तु धर्म्यं धर्माद् अनपेतम् ।

अनेक गुणोंसे युक्त वस्तुका भी धर्मसे विरोध देखा जाता है; परन्तु आत्मज्ञान उनकी तरह धर्मविरोधी नहीं है बल्कि धर्म्य—धर्ममय है अर्थात् धर्मसे युक्त है।

एवम् अपि स्याद् दुःसंपाद्यम् इति अत आह सुसुखं कर्तुं यथा रत्नविवेकविज्ञानम् ।

ऐसा पदार्थ भी दु.सम्पाद्य (प्राप्त करनेमे बड़ा कठिन) हो सकता है। इसलिये कहते है कि यह ज्ञान रत्नोंके विवेक-विज्ञानकी भाँति समझनेमे बड़ा सुगम है।

तत्र अल्पायासानां कर्मणां सुखसंपाद्यानाम् अल्पफलत्वं दुष्कराणां च महाफलत्वं दृष्टम् इति इदं तु सुखसंपाद्यत्वात् फलक्षयाद् व्येति इति प्राप्तम् अत आह—

परन्तु ससारमे अल्प परिश्रमसे सुखपूर्वक सम्पन्न होनेवाले कर्मोंका अल्प फल और कठिनतासे सम्पन्न होनेवाले कर्मोंका महान् फल देखा गया है, अत यह ज्ञान भी सुगमतासे सम्पन्न होनेवाला होनेके कारण अपने फलका क्षय होनेपर क्षीण हो जायगा, ऐसी शङ्का प्राप्त होनेपर कहते हैं—

अन्वयं न अस्य फलतः कर्मवद् व्ययः अस्ति इति अव्ययम् अतः श्रद्धेयम् आत्मज्ञानम् ॥ २ ॥

यह ज्ञान अव्यय है अर्थात् कर्मोंकी भाँति फलनाशके द्वारा इसका नाश नहीं होता। अत यह आत्मज्ञान श्रद्धा करने योग्य है ॥ २ ॥

ये पुनः—

परन्तु जो—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अश्रद्दधानाः श्रद्धाविरहिता आत्मज्ञानस्य धर्मस्य अस्य स्वरूपे तत्फले च नास्तिकाः पापकारिणः असुराणाम् उपनिषदं देहमात्रात्मदर्शनम् एव प्रतिपन्ना असुतृपः पुरुषा परतप अप्राप्य मा परमेश्वरं मत्प्राप्तौ न एव आशङ्का इति मत्प्राप्तिमार्गसाधनभेदभक्तिमात्रम् अपि अप्राप्य इत्यर्थः। निवर्तन्ते निश्चयेन आवर्तन्ते।

इस आत्मज्ञानरूप धर्मकी श्रद्धासे रहित हैं, अर्थात् इसके स्वरूपमे और फलमे आस्तिक भावसे रहित हैं—नास्तिक हैं वे असुरोंके सिद्धान्तोका अनुवर्तन करनेवाले देहमात्रको ही आत्मा समझनेवाले एव पापकर्म करनेवाले इन्द्रियलोलुप मनुष्य, हे परन्तप! मुझ परमेश्वरको प्राप्त न होकर—मेरी प्राप्तिकी तो उनके लिये आशङ्का भी नहीं हो सकती, मेरी प्राप्तिके मार्गकी साधनरूप भेदभक्तिको भी प्राप्त न होकर-निश्चय ही घूमते रहते है।

क, मृत्युसंसारवर्त्मनि मृत्युयुक्तः संसारो मृत्युसंसारः तस्य वर्त्म नरकतिर्यगादिप्राप्तिमार्गः तस्मिन् एव वर्तन्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

कहाँ घूमते रहते हैं? मृत्युयुक्त ससारके मार्गमे, अर्थात् जो संसार मृत्युयुक्त है उस मृत्युसंसारके नरक और पशु-पक्षी आदि योनियोंकी प्राप्तिरूप मार्गमे वे बारंबार घूमते रहते हैं ॥ ३ ॥

स्तुत्या अर्जुनम् अभिमुखीकृत्य आह—

इस प्रकार ज्ञानकी प्रशंसाद्वारा अर्जुनको सम्मुख करके कहते है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मया मम यः परो भावः तेन ततं व्याप्तं सर्वम् इदं जगद् अव्यक्तमूर्तिना न व्यक्ता मूर्तिः स्वरूपं यस्य मम सः अहम् अव्यक्तमूर्तिः तेन मया अव्यक्तमूर्तिना करणगोचरस्वरूपेण इत्यर्थः।

मुझ अव्यक्तस्वरूप परमात्माद्वारा अर्थात् मेरा जो परमभाव है, जिसका स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं है यानी मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका विषय नहीं है, ऐसे मुझ अव्यक्तमूर्तिद्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त है—परिपूर्ण है।

तस्मिन् मयि अव्यक्तमूर्तौ स्थितानि मत्स्थानि सर्वभूतानि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि।

उस अव्यक्तस्वरूप मुझ परमात्मामें ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी स्थित हैं।

न हि निरात्मकं किंचिद् भूतं व्यवहाराय अवकल्पते अतो मत्स्थानि मया आत्मना आत्मवत्त्वेन स्थितानि अतो मयि स्थितानि इति उच्यन्ते ।

क्योंकि कोई भी निर्जीव प्राणी व्यवहारके योग्य नहीं समझा जाता । अतः वे सब मुझमे स्थित है अर्थात् मुझ परमात्मासे ही आत्मवान् हो रहे है, इसलिये मुझमे स्थित कहे जाते है ।

तेषां भूतानाम् अहम् एव आत्मा इति अतः तेषु स्थित इति मूढबुद्धीनाम् अवभासते । अतः ब्रवीमि न च अहं तेषु भूतेषु अवस्थितः, मूर्तवत् संश्लेषाभावेन आकाशस्य अपि अन्तरतमो हि अहम् । न हि असंसर्गि वस्तु क्वचिद् आधेयभावेन अवस्थितं भवति ॥ ४ ॥

उन भूतोका वास्तविक स्वरूप मै ही हूँ इसलिये अज्ञानियोको ऐसी प्रतीति होती है कि मै उनमे स्थित हूँ, अत. कहता हूँ कि मै उन भूतोंमे स्थित नहीं हूँ । क्योंकि साकार वस्तुओकी भॉति मुझमे संसर्गदोष नहीं है । इसलिये मै बिना संसर्गके सूक्ष्मभावसे आकाशके भी अन्तर्यामी हूँ । सङ्गहीन वस्तु कहीं भी आधेयभावसे स्थित नहीं होती, यह प्रसिद्ध है ॥४॥

अत एव असंसर्गित्वाद् मम—

मै असंसर्गी हूँ इसलिये—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि ब्रह्मादीनि पश्य मे योगं युक्तिं घटनं मे मम ऐश्वरम् ईश्वरस्य इमम् ऐश्वरं योगम् आत्मनो याथात्म्यम् इत्यर्थः ।

(वास्तवमे) ब्रह्मादि सब प्राणी भी मुझमे स्थित नहीं हैं, तू मेरे इस ईश्वरीय योग—युक्ति—घटनाको देख, अर्थात् मुझ ईश्वरके योगको यानी यथार्थ आत्मतत्त्वको समझ ।

तथा च श्रुतिः असंसर्गित्वाद् असङ्गतां दर्शयति '*असङ्गो न हि सज्जते*' (बृह० उ० ३ । ९ । २६) इति ।

'**संसर्गरहित आत्मा कहीं भी लिप्त नहीं होता**' यह श्रुति भी संसर्गरहित होनेके कारण (आत्माकी) निर्लेपता दिखलाती है ।

इदं च आश्चर्यम् अन्यत् पश्य भूतभृद् असङ्गः अपि सन् भूतानि बिभर्ति न च भूतस्थो यथोक्तेन न्यायेन दर्शितत्वाद् भूतस्थत्वानुपपत्तेः ।

यह और भी आश्चर्य देख कि भूतभावन मेरा आत्मा संसर्गरहित होकर भी भूतोका भरण-पोषण करता रहता है परन्तु भूतोमे स्थित नहीं है । क्योकि परमात्माका भूतोंमे स्थित होना सम्भव नहीं, यह बात उपर्युक्त न्यायसे स्पष्ट दिखलायी जा चुकी है ।

कथं पुनः उच्यते असौ मम आत्मा इति,

पू०—(जब कि आत्मा अपनेसे कोई अन्य वस्तु ही नहीं है) तो 'मेरा आत्मा' यह कैसे कहा जाता है ?

विभज्य देहादिसंघातं तस्मिन् अहंकारम् अध्यारोप्य लोकबुद्धिम् अनुसरन् व्यपदिशति मम आत्मा इति, न पुनः आत्मन आत्मा अन्य

उ०—लौकिक बुद्धिका अनुकरण करते हुए देहादि संघातको आत्मासे अलग करके फिर उसमे अहंकारका अध्यारोप करके 'मेरा आत्मा' ऐसा

इति लोकवद् अजानन् ।

कहते हैं, आत्मा अपने आपसे भिन्न है ऐसा समझकर लोगोंकी भाँति अज्ञानपूर्वक ऐसा नहीं कहते ।

तथा भूतभावनो भूतानि भावयति उत्पादयति वर्धयति इति वा भूतभावनः ॥ ५ ॥

जो भूतोंको प्रकट करता है—उत्पन्न करता है या बढ़ाता है उसको भूतभावन कहते है ॥ ५ ॥

यथोक्तेन श्लोकद्वयेन उक्तम् अर्थं दृष्टान्तेन उपपादयन् आह—

उपर्युक्त दो श्लोकोंद्वारा कहे हुए अर्थको दृष्टान्तसे सिद्ध करते हुए कहते है—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

यथा लोके आकाशस्थित आकाशे स्थितो नित्यं सदा वायुः सर्वत्र गच्छति इति सर्वत्रगो महान् परिमाणतः तथा आकाशवत् सर्वगते मयि असंश्लेषेण एव स्थितानि इति एवम् उपधारय जानीहि ॥ ६ ॥

लोकमे जैसे (यह प्रसिद्ध है कि) सब जगह विचरनेवाला परिमाणमे अति महान् वायु सदा आकाशमे ही स्थित है, वैसे ही आकाशके समान सर्वत्र परिपूर्ण मुझ परमात्मामे समस्त भूत निर्लिप्तभावसे स्थित है, ऐसा तू जान ॥ ६ ॥

एवं वायुः आकाशे इव मयि स्थितानि सर्वभूतानि स्थितिकाले तानि—

इस प्रकार जगत्के स्थितिकालमे, आकाशमे वायुकी भाँति, मुझमे स्थित जो समस्त भूत हैं वे—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकाम् अपरां निकृष्टां यान्ति मामिका मदीयां कल्पक्षये प्रलयकाले । पुनः भूयः तानि भूतानि उत्पत्तिकाले कल्पादौ विसृजामि उत्पादयामि अहं पूर्ववत् ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण प्राणी, हे कुन्तीपुत्र ! प्रलयकालमे मेरी त्रिगुणमयी—अपरा—निकृष्ट प्रकृतिको प्राप्त हो जाते हैं और फिर कल्पके आदिमे अर्थात् उत्पत्तिकालमे मै पहलेकी भाँति पुनः उन प्राणियोंको रचता हूँ—उत्पन्न करता हूँ ॥ ७ ॥

एवम् अविद्यालक्षणाम्—

इस प्रकार अविद्यारूप—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

प्रकृतिं स्वां स्वीयाम् अवष्टभ्य वशीकृत्य विसृजामि पुनः पुनः प्रकृतितो जातं भूतग्रामं भूतसमुदायम् इमं वर्तमानं कृत्स्नं समग्रम् अवशम् अस्वतन्त्रम् अविद्यादिदोषैः परवशीकृतं प्रकृतेः वशात् स्वभाववशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृतिको वशमे करके, मै प्रकृतिसे उत्पन्न हुए इस विद्यमान समग्र अस्वतन्त्र भूतसमुदायको, जो कि स्वभाववश अविद्यादि दोषोंसे परवश हो रहा है, बारंबार रचता हूँ ॥ ८ ॥

तर्हि तस्य ते परमेश्वरस्य भूतग्रामं विषमं विदधतः तन्निमित्ताभ्यां धर्माधर्माभ्यां संबन्धः स्याद् इति इदम् आह भगवान्—

तब तो भूतसमुदायको विषम रचनेवाले आप परमेश्वरका उस विषम रचनाजनित पुण्य-पापसे भी सम्बन्ध होता ही होगा ? ऐसी शङ्का होनेपर भगवान् ये वचन बोले—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

न च माम् ईशं तानि भूतग्रामस्य विषमविसर्गनिमित्तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनजय ।

हे धनंजय ! भूतसमुदायकी विषम रचनानिमित्तक वे कर्म, मुझ ईश्वरको बन्धनमे नहीं डालते ।

तत्र कर्मणाम् असंबद्धत्वे कारणम् आह—

उन कर्मोंका सम्बन्ध न होनेमे कारण बतलाते है—

उदासीनवद् आसीन यथा उदासीन उपेक्षकः कश्चित् तद्वद् आसीनम् आत्मनः अविक्रियत्वात्, असक्तं फलासङ्गरहितम् अभिमानवर्जितम् अहं करोमि इति तेषु कर्मसु ।

मै उन कर्मोंमे उदासीनकी भाँति स्थित रहता हूँ अर्थात् आत्मा निर्विकार है, इसलिये जैसे कोई उदासीन–उपेक्षा करनेवाला स्थित हो, उसीकी भाँति मै स्थित रहता हूँ । तथा उन कर्मोंमे फलसम्बन्धी आसक्तिसे और 'मै करता हूँ' इस अभिमानसे भी मै रहित हूँ (इस कारण वे कर्म मुझे नहीं बाँधते) ।

अतः अन्यस्य अपि कर्तृत्वाभिमानाभावः फलासङ्गाभावः च अबन्धकारणम् अन्यथा कर्मभिः बध्यते मूढः कोशकारवद् इति अभिप्रायः ॥ ९ ॥

इससे यह अभिप्राय समझ लेना चाहिये कि कर्तापनके अभिमानका अभाव और फलसम्बन्धी आसक्तिका अभाव दूसरोको भी बन्धनरहित कर देनेवाला है । इसके सिवा अन्य प्रकारसे किये हुए कर्मोंद्वारा मूर्ख लोग कोशकार (रेशमके कीड़े) की भाँति बन्धनमे पडते है ॥ ९ ॥

तत्र भूतग्रामम् इमं विसृजामि उदासीनवद् आसीनम् इति च विरुद्धम् उच्यते इति तत्परिहारार्थम् आह—

यहाँ यह शङ्का होती है कि 'इस भूतसमुदायको मै रचता हूँ' तथा मै उदासीनकी भाँति स्थित रहता हूँ' यह कहना परस्पर विरुद्ध है । इस शङ्काको दूर करनेके लिये कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

मया **सर्वतो दृशिमात्रस्वरूपेण अविक्रियात्मना** अध्यक्षेण **मम माया त्रिगुणात्मिका अविद्यालक्षणा** प्रकृतिः सूयते **उत्पादयति** सचराचर **जगत्** ।

सब ओरसे द्रष्टामात्र ही जिसका स्वरूप है ऐसे निर्विकारस्वरूप मुझ अधिष्ठातासे (प्रेरित होकर) अविद्यारूप मेरी त्रिगुणमयी माया—प्रकृति समस्त चराचर जगत्को उत्पन्न किया करती है ।

तथा च मन्त्रवर्णः—*'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥'* (श्वे० उ० ६ । ११) इति ।

वेद-मन्त्र भी यही बात कहते हैं कि **'समस्त भूतोंमें अदृश्यभावसे रहनेवाला एक ही देव है जो कि सर्वव्यापी और सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा तथा कर्मोंका स्वामी, समस्त भूतोंका आधार, साक्षी, चेतन, शुद्ध और निर्गुण है ।'**

हेतुना **निमित्तेन** अनेन **अध्यक्षत्वेन** कौन्तेय जगत् **सचराचरं व्यक्ताव्यक्तात्मकं** विपरिवर्तते **सर्वासु अवस्थासु** ।

हे कुन्तीपुत्र ! इसी कारणसे अर्थात् मैं इसका अध्यक्ष हूँ इसीलिये चराचरसहित साकार-निराकाररूप समस्त जगत् सब अवस्थाओंमें परिवर्तित होता रहता है ।

दृशिकर्मत्वापत्तिनिमित्ता हि जगतः सर्वा प्रवृत्तिः अहम् इदं भोक्ष्ये पश्यामि इदं शृणोमि इदं सुखम् अनुभवामि दुःखम् अनुभवामि तदर्थम् इदं करिष्यामि एतदर्थम् इदं करिष्ये इदं ज्ञास्यामि इत्याद्या अवगतिनिष्ठा अवगत्यवसाना एव ।

क्योंकि जगत्की समस्त प्रवृत्तियाँ साक्षी-चेतनके ज्ञानका विषय बननेके लिये ही हैं । मैं यह खाऊँगा, यह देखता हूँ, यह सुनता हूँ, अमुक सुखका अनुभव करता हूँ, दुःखका अनुभव करता हूँ, उसके लिये अमुक कार्य करूँगा, इसके लिये अमुक कार्य करूँगा, अमुक वस्तुको जानूँगा इत्यादि जगत्की समस्त प्रवृत्तियाँ ज्ञानाधीन और ज्ञानमें ही लय हो जानेवाली हैं ।

'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' (तै० ब्रा० २।८।९) **इत्यादयः च मन्त्रा एतम् अर्थं दर्शयन्ति** ।

'जो इस जगत्का अध्यक्ष साक्षी चेतन है वह परम हृदयाकाशमें स्थित है' इत्यादि मन्त्र भी यही अर्थ दिखला रहे हैं ।

ततः च एकस्य देवस्य सर्वाध्यक्षभूतचैतन्यमात्रस्य परमार्थतः सर्वभोगानभिसंबन्धिनः अन्यस्य चेतनान्तरस्य अभावे भोक्तुः अन्यस्य अभावात् किंनिमित्ता इयं सृष्टिः इति अत्र प्रश्नप्रतिवचने अनुपपन्ने ।

जब कि सबका अध्यक्षरूप चैतन्यमात्र एक देव वास्तवमें समस्त भोगोंके सम्बन्धसे रहित है और उसके सिवा अन्य चेतन न होनेके कारण दूसरे भोक्ताका अभाव है तो यह सृष्टि किसके लिये है ? इस प्रकारका प्रश्न और उसका उत्तर—यह दोनों ही नहीं बन सकते (अर्थात् यह विषय अनिर्वचनीय है) ।

'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः' (तै० ब्रा० २ । ८ । ९) इत्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः ।

'(इसको) साक्षात् कौन जानता है—इस विषयमें कौन कह सकता है ? यह जगत् कहाँसे आया ? किस कारण यह रचना हुई ?' इत्यादि मन्त्रोंसे (यही बात कही गयी है) ।

दर्शितं च भगवता *'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'* इति ॥ १० ॥

इसके सिवा भगवान्‌ने भी कहा है कि 'अज्ञानसे ज्ञान आवृत हो रहा है इसलिये समस्त जीव मोहित हो रहे हैं' ॥ १० ॥

एवं मां नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वजन्तूनाम् आत्मानम् अपि सन्तम्—

इस प्रकार मैं यद्यपि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव तथा सभी प्राणियोंका आत्मा हूँ तो भी—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

अवजानन्ति अवज्ञां परिभवं कुर्वन्ति मां मूढा अविवेकिनो मानुषीं मनुष्यसंबन्धिनीं तनुं देहम् आश्रितं मनुष्यदेहेन व्यवहरन्तम् इति एतत् । परं प्रकृष्टं भावं परमात्मतत्त्वम् आकाशकल्पम् आकाशाद् अपि अन्तरतमम् अजानन्तो मम भूतमहेश्वरं सर्वभूतानां महान्तम् ईश्वरं स्वम् आत्मानम् ।

ततः च तस्य मम अवज्ञानभावनेन आहता वराकाः ते ॥ ११ ॥

मूढ—अविवेकी लोग मेरे सर्व लोकोंके महान् ईश्वररूप परमभावको अर्थात् सबका अपना आत्मारूप मैं परमात्मा सब प्राणियोंका महान् ईश्वर हूँ एवं आकाशकी भाँति बल्कि आकाशकी अपेक्षा भी सूक्ष्मतर भावसे व्यापक हूँ—इस परम परमात्मतत्त्वको न जाननेके कारण मुझ मनुष्यदेहधारी परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् मनुष्यरूपसे लीला करते हुए मुझ परमात्माकी अवज्ञा—अनादर करते हैं ।

इसलिये मुझ परमात्माके निरादरकी भावनासे वे पामर जीव (व्यर्थ) मारे हुए पड़े हैं ॥ ११ ॥

कथम्—

क्योंकि—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

मोघाशा वृथा आशा आशिषो येषां ते मोघाशाः । तथा मोघकर्माणो यानि च अग्निहोत्रादीनि तैः अनुष्ठीयमानानि कर्माणि तानि च तेषां भगवत्परिभवात् स्वात्मभूतस्य अवज्ञानाद् मोघानि एव निष्फलानि कर्माणि भवन्ति इति मोघकर्माणः ।

वे मोघाशा—जिनकी आशाएँ—कामनाएँ व्यर्थ हों ऐसे व्यर्थ कामना करनेवाले और मोघकर्मा—व्यर्थ कर्म करनेवाले होते हैं, क्योंकि उनके द्वारा जो कुछ अग्निहोत्रादि कर्म किये जाते हैं वे सब अपने अन्तरात्मारूप भगवान्‌का अनादर करनेके कारण निष्फल हो जाते हैं । इसलिये वे मोघकर्मा होते हैं ।

तथा मोघज्ञाना निष्फलज्ञाना ज्ञानम् अपि तेषां निष्फलम् एव स्यात् । विचेतसो विगतविवेकाः च ते भवन्ति इति अभिप्रायः ।

किं च ते भवन्ति राक्षसीं रक्षसां प्रकृतिं स्वभावम् आसुरीम् असुराणां च प्रकृतिं मोहिनीं मोहकरीं देहात्मवादिनीं श्रिता आश्रिताः छिन्धि भिन्धि पिब खाद परस्वम् अपहर इति एवं वदनशीलाः क्रूरकर्माणो भवन्ति इत्यर्थः । '*असुर्या नाम ते लोकाः*' (*ई० उ० ३*) इति श्रुतेः ॥

इसके अतिरिक्त वे मोघज्ञानी-निष्फल ज्ञानवाले होते हैं, अर्थात् उनका ज्ञान भी निष्फल ही होता है । और वे विचेता अर्थात् विवेकहीन भी होते हैं ।

तथा वे मोह उत्पन्न करनेवाली देहात्मवादिनी राक्षसी और आसुरी प्रकृतिका यानी राक्षसोंके और असुरोंके स्वभावका आश्रय करनेवाले हो जाते हैं । अभिप्राय यह कि तोड़ो, फोड़ो, पियो, खाओ, दूसरोंका धन लूट लो इत्यादि वचन बोलनेवाले और बड़े क्रूरकर्मा हो जाते हैं । श्रुति भी कहती है कि 'वे असुरोंके रहने योग्य लोक प्रकाशहीन हैं' इत्यादि ॥

ये पुनः श्रद्दधाना भगवद्भक्तिलक्षणे मोक्षमार्गे प्रवृत्ताः—

परन्तु जो श्रद्धायुक्त हैं और भगवद्भक्तिरूप मोक्षमार्गमें लगे हुए हैं वे—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

महात्मानः तु अक्षुद्रचित्ता माम् ईश्वरं पार्थ दैवीं देवानां प्रकृतिं शमदमदयाश्रद्धादिलक्षणाम् आश्रिताः सन्तः, भजन्ति सेवन्ते अनन्यमनसः अनन्यचित्ता ज्ञात्वा भूतादिं भूतानां वियदादीनां प्राणिनां च आदिं कारणम् अव्ययम् ॥ १३ ॥

हे पार्थ ! शम, दम, दया, श्रद्धा आदि सद्गुणरूप देवोंके स्वभावका अवलम्बन करनेवाले उदारचित्त महात्मा भक्तजन, मुझ ईश्वरको सब भूतोंका अर्थात् आकाशादि पञ्चभूतोंका और समस्त प्राणियोंका भी आदिकारण जानकर, एवं अविनाशी समझकर, अनन्य मनसे युक्त हुए भजते हैं अर्थात् मेरा चिन्तन किया करते हैं ॥ १३ ॥

कथम्—

किस प्रकार भजते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

सततं सर्वदा भगवन्तं ब्रह्मस्वरूपं मा कीर्तयन्तो यतन्तः च इन्द्रियोपसंहारशमदमदयाहिंसादिलक्षणैः धर्मैः प्रयतन्तः च दृढव्रता दृढं स्थिरम् अचाञ्चल्यं व्रतं येषां ते दृढव्रताः, नमस्यन्तः च मां हृदयेशयम् आत्मानं भक्त्या नित्ययुक्ताः सन्त उपासते सेवन्ते ॥ १४ ॥

वे दृढव्रती भक्त अर्थात् जिनका निश्चय दृढ़—स्थिर—अचल है ऐसे वे भक्तजन सदा—निरन्तर ब्रह्मस्वरूप मुझ भगवान्का कीर्तन करते हुए तथा इन्द्रिय-निग्रह, शम, दम, दया और अहिंसा आदि धर्मोंसे युक्त होकर प्रयत्न करते हुए एवं हृदयमें वास करनेवाले मुझ परमात्माको भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए और सदा मेरा चिन्तन करनेमें लगे रहकर, मेरी उपासना—सेवा करते रहते हैं ॥ १४ ॥

ते केन केन प्रकारेण उपासते इति उच्यते—

वे किस-किस प्रकारसे उपासना करते हैं सो कहते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

ज्ञानयज्ञेन **ज्ञानम् एव भगवद्विषयं यज्ञः तेन ज्ञानयज्ञेन** यजन्तः **पूजयन्तो** माम् **ईश्वरं** च अपि अन्ये **अन्याम् उपासनां परित्यज्य** उपासते। **तत् च ज्ञानम्** एकत्वेन **एकम् एव परं ब्रह्म इति परमार्थदर्शनेन यजन्त उपासते।**

केचित् च पृथक्त्वेन **आदित्यचन्द्रादिभेदेन स एव भगवान् विष्णुः आदित्यादिरूपेण अवस्थित इति उपासते।**

केचिद् बहुधा **अवस्थितः स एव भगवान् सर्वतोमुखो विश्वतोमुखो विश्वरूप इति, तं विश्वरूपं सर्वतोमुखं बहुधा बहुप्रकारेण उपासते॥ १५॥**

कुछ (ज्ञानीजन) दूसरी उपासनाओंको छोड़कर भगवद्विषयक ज्ञानरूप यज्ञसे मेरा पूजन करते हुए उपासना किया करते हैं अर्थात् परमब्रह्म परमात्मा एक ही है, ऐसे एकत्वरूप परमार्थज्ञानसे पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

और कोई-कोई पृथक् भावसे अर्थात् आदित्य, चन्द्रमा आदिके भेदसे इस प्रकार समझकर उपासना करते हैं कि वही भगवान् विष्णु, सूर्य आदिके रूपमें स्थित हुए हैं।

तथा कितने ही भक्त ऐसा समझकर कि वही सब ओर मुखवाले विश्वमूर्ति भगवान् अनेक रूपसे स्थित हो रहे हैं। उन विश्वरूप विराट् भगवान्‌हीकी विविध प्रकारसे उपासना करते हैं॥ १५॥

यदि बहुभिः प्रकारैः उपासते कथं त्वाम् एव उपासते इति अत आह—

यदि भक्तलोग बहुत प्रकारसे उपासना करते हैं तो आपकी ही उपासना कैसे करते हैं? इसपर कहते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

अहं क्रतुः **श्रौतकर्मभेदः अहम् एव** अहं यज्ञः **स्मार्तः। किं च** स्वधा **अन्नम्** अहं **पितृभ्यो यद् दीयते।** अहम् औषधं **सर्वप्राणिभिः यद् अद्यते तद् औषधशब्दवाच्यम्।**

अथवा स्वधा इति सर्वप्राणिसाधारणम् अन्नम् औषधम् इति व्याध्युपशमार्थं भेषजम्।

क्रतु—श्रौतयज्ञविशेष मैं हूँ और यज्ञ—स्मार्त-कर्मविशेष भी मैं ही हूँ। तथा जो पितरोंको दिया जाता है, वह स्वधा नामक अन्न भी मैं ही हूँ। सब प्राणियोंसे जो खायी जाती है, उसका नाम औषध है, वह औषध भी मैं ही हूँ।

अथवा यों समझो कि सब प्राणियोंका साधारण अन्न 'स्वधा' है और व्याधिका नाश करनेके लिये काममें ली जानेवाली भेषज 'औषध' है।

मन्त्रः अहं येन पितृभ्यो देवताभ्यः च हविः दीयते। अहम् एव आज्यं हविः च अहम् अग्निः यस्मिन् हूयते सः अग्निः अहम् एव अहं हुतं हवनकर्म च ॥ १६ ॥

तथा जिसके द्वारा देव और पितरोंको हवि पहुँचायी जाती है वह मन्त्र भी मै ही हूँ। इसके अतिरिक्त मैं ही आज्य–हवि–घृत हूँ, जिसमें होम किया जाता है वह अग्नि भी मैं ही हूँ और मै ही हवनरूप कर्म भी हूँ ॥ १६ ॥

किं च—

तथा—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

पिता जनयिता अहम् अस्य जगतो माता जनयित्री, धाता कर्मफलस्य प्राणिभ्यो विधाता, पितामहः पितुः पिता, वेद्यं वेदितव्यम्, पवित्रं पावनम्, ओंकारः च ऋक्सामयजुः एव च ॥१७॥

मै ही इस जगत्का उत्पन्न करनेवाला पिता और उसकी जन्मदात्री माता हूँ तथा मै ही प्राणियोंके कर्मफलका विधान करनेवाला विधाता और पितामह अर्थात् पिताका पिता हूँ; तथा जाननेके योग्य, पवित्र करनेवाला ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद सब कुछ मै ही हूँ ॥ १७ ॥

किं च—

तथा मैं ही—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

गतिः कर्मफलम्, भर्ता पोष्टा, प्रभुः स्वामी, साक्षी प्राणिनां कृताकृतस्य, निवासो यस्मिन् प्राणिनो निवसन्ति, शरणम् आर्तानां प्रपन्नानाम् आर्तिहरः, सुहृत् प्रत्युपकारानपेक्षः सन् उपकारी, प्रभव उत्पत्तिः जगतः, प्रलय. प्रलीयते यस्मिन् इति।

तथा स्थानं तिष्ठति अस्मिन् इति, निधानं निक्षेपः कालान्तरोपभोग्यं प्राणिनाम्, बीजं प्ररोहकारणं प्ररोहधर्मिणाम्, अव्ययम्।

गति–कर्मफल, भर्ता–सबका पोषण करनेवाला, प्रभु–सबका स्वामी, प्राणियोंके कर्म और अकर्मका साक्षी, जिसमे प्राणी निवास करते हैं वह वासस्थान, शरण अर्थात् शरणमे आये हुए दुःखियोका दु.ख दूर करनेवाला, सुहृत्—प्रत्युपकार न चाहकर उपकार करनेवाला, प्रभव—जगत्की उत्पत्तिका कारण और जिसमें सब लीन हो जाते हैं वह प्रलय भी मैं ही हूँ।

तथा जिसमें सब स्थित होते हैं वह स्थान, प्राणियोंके कालान्तरमे उपभोग करनेयोग्य कर्मोंका भण्डाररूप निधान और अविनाशी बीज भी मै ही हूँ अर्थात् उत्पत्तिशील वस्तुओंकी उत्पत्तिका अविनाशी कारण मैं ही हूँ।

यावत्संसारभावित्वाद् अव्ययम्। न हि अबीजं किंचित् प्ररोहति। नित्यं च प्ररोहदर्शनाद् बीजसंततिः न व्येति इति गम्यते। १८।

जबतक संसार है तबतक उसका बीज भी अवश्य रहता है, इसलिये बीजको अविनाशी कहा है; क्योंकि बिना बीजके कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और उत्पत्ति नित्य देखी जाती है, इससे यह जाना जाता है कि बीजकी परम्पराका नाश नहीं होता॥ १८॥

किं च—

तथा—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

तपामि अहम् आदित्यो भूत्वा कैश्चिद् रश्मिभिः उल्बणैः अहं वर्षं कैश्चिद् रश्मिभिः उत्सृजामि उत्सृज्य पुनः निगृह्णामि कैश्चिद् रश्मिभिः अष्टभिः मासैः पुनः उत्सृजामि प्रावृषि।

मैं ही सूर्य होकर अपनी कुछ प्रखर रश्मियोंसे सबको तपाता हूँ और कुछ किरणोंसे वर्षा करता हूँ तथा वर्षा कर चुकनेपर फिर कुछ रश्मियोंद्वारा आठ महीनेतक जलका शोषण करता रहता हूँ और वर्षाकाल आनेपर फिर बरसा देता हूँ।

अमृतं च एव देवानां मृत्युः च मर्त्यानाम्। सद् यस्य यत् संबन्धितया विद्यमानं तद्विपरीतम् असत् च एव अहम् अर्जुन।

हे अर्जुन! देवोंका अमृत और मर्त्यलोकमें बसनेवालोंकी मृत्यु तथा सत् और असत् सब मैं ही हूँ अर्थात् जो जिसके सम्बन्धसे विद्यमान है वह और जो उसके विपरीत है वह भी मैं ही हूँ।

न पुनः अत्यन्तम् एव असद् भगवान् स्वयम्। कार्यकारणे वा सदसती।

परन्तु (यह ध्यानमें रखना चाहिये कि) स्वयं भगवान् अत्यन्त असत् नहीं है। अथवा सत् और असत्का अर्थ यहाँ कार्य और कारण समझना चाहिये।

ये पूर्वोक्तैः अनुवृत्तिप्रकारैः एकत्वपृथक्त्वादिविज्ञानैः यज्ञैः मां पूजयन्त उपासते ज्ञानविदः ते यथाविज्ञानं माम् एव प्राप्नुवन्ति॥ १९॥

जो ज्ञानी पहले कहे हुए क्रमानुसार एकत्व-पृथक्त्व आदि विज्ञानरूप यज्ञोंसे पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं वे अपने विज्ञानानुसार मुझे ही प्राप्त होते हैं॥ १९॥

ये पुनः अज्ञाः कामकामाः—

परन्तु जो विषयवासनायुक्त अज्ञानी—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥

त्रैविद्या ऋग्यजुःसामविदो मां वस्वादिदेवरूपिणं सोमपाः सोमं पिबन्ति इति सोमपाः तेन एव सोमपानेन पूतपापाः शुद्धकिल्बिषाः, यज्ञैः अग्निष्टोमादिभिः इष्ट्वा पूजयित्वा, स्वर्गतिं स्वर्गगमनं स्वर्गतिः तां प्रार्थयन्ते। ते च पुण्यं पुण्यफलम् आसाद्य संप्राप्य सुरेन्द्रलोकं शतक्रतोः स्थानम् अश्नन्ति भुञ्जते दिव्यान् दिवि भवान् अप्राकृतान् देवभोगान् देवानां भोगाः तान् ॥ २० ॥

ऋक्, यजु और साम-इन तीनों वेदोंको जाननेवाले, सोमरसका पान करनेवाले और पापरहित हुए अर्थात् सोमरसका पान करनेसे जिनके पाप नष्ट हो गये है ऐसे सकाम पुरुष वसु आदि देवोंके रूपमे स्थित मुझ परमात्माका अग्निष्टोमादि यज्ञोंद्वारा पूजन करके स्वर्गप्राप्तिकी इच्छा करते है। वे अपने पुण्यके फलस्वरूप इन्द्रके स्थानको पाकर स्वर्गमे देवताओके दिव्य भोगोको भोगते हैं अर्थात् देवताओंके जो स्वर्गमे होनेवाले अप्राकृत भोग हैं उनको भोगते हैं॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं विस्तीर्णं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकम् इमं विशन्ति आविशन्ति।

एवं हि यथोक्तेन प्रकारेण त्रैधर्म्यं केवलं वैदिकं कर्म अनुप्रपन्ना गतागतं गतं च आगतं च गतागतं गमनागमनं कामकामाः कामान् कामयन्ते इति कामकामा लभन्ते गतागतम् एव न तु स्वातन्त्र्यं क्वचिद् लभन्ते इत्यर्थः ॥ २१ ॥

वे उस विशाल—विस्तृत स्वर्गलोकको भोग चुकनेपर (उसकी प्राप्तिके कारणरूप) पुण्योंका क्षय हो जानेपर इस मृत्युलोकमे लौट आते है।

उपर्युक्त प्रकारसे केवल वैदिक कर्मोंका आश्रय लेनेवाले कामकामी—विषयवासनायुक्त मनुष्य बारंबार आवागमनको ही प्राप्त होते रहते है अर्थात् जाते हैं और लौट आते है इस प्रकार बराबर आवागमनको ही प्राप्त होते हैं, कहीं भी स्वतन्त्रता लाभ नहीं करते ॥ २१ ॥

ये पुनः निष्कामाः सम्यग्दर्शिनः—

परन्तु जो निष्कामी—पूर्ण ज्ञानी है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

अनन्या अपृथग्भूताः परं देवं नारायणम् आत्मत्वेन गताः सन्तः चिन्तयन्तो मा ये जना. संन्यासिनः पर्युपासते, तेषा परमार्थदर्शिनां नित्याभियुक्ताना सतताभियुक्तानां योगक्षेमं योगः अप्राप्तस्य प्रापणं क्षेमः तद्रक्षणं तद् उभयं वहामि प्रापयामि अहम्।

जो संन्यासी अनन्यभावसे युक्त हुए अर्थात् परमदेव मुझ नारायणको आत्मरूपसे जानते हुए मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरी श्रेष्ठ—निष्काम उपासना करते हैं, निरन्तर मुझमे ही स्थित उन परमार्थज्ञानियोंका योग-क्षेम मैं चलाता हूँ। अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम योग है और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम क्षेम है, उनके ये दोनों काम मै स्वयं किया करता हूँ।

'ज्ञानी तु आत्मा एव मे मतम्' 'स च मम प्रियः' यस्मात् तस्मात् ते मम आत्मभूताः। प्रियाः च इति।

क्योंकि 'ज्ञानीको तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ' और 'वह मेरा प्यारा है' इसलिये वे उपर्युक्त भक्त मेरे आत्मारूप और प्रिय हैं।

ननु अन्येषाम् अपि भक्तानां योगक्षेमं वहति एव भगवान्।

पू०—अन्य भक्तोंका योगक्षेम भी तो भगवान् ही चलाते हैं?

सत्यम् एवं वहति एव। किं तु अयं विशेषः अन्ये ये भक्ताः ते स्वात्मार्थं स्वयम् अपि योगक्षेमम् ईहन्ते अनन्यदर्शिनः तु न आत्मार्थं योगक्षेमम् ईहन्ते। न हि ते जीविते मरणे वा आत्मनो गृधिं कुर्वन्ति केवलम् एव भगवच्छरणाः ते। अतो भगवान् एव तेषां योगक्षेमं वहति इति॥ २२॥

उ०—यह बात ठीक है, अवश्य भगवान् ही चलाते हैं; किन्तु उसमें यह भेद है कि जो दूसरे भक्त हैं वे स्वयं भी अपने लिये योगक्षेम-सम्बन्धी चेष्टा करते हैं, पर अनन्यदर्शी भक्त अपने लिये योगक्षेम-सम्बन्धी चेष्टा नहीं करते। क्योंकि वे जीने और मरनेमें भी अपनी वासना नहीं रखते, केवल भगवान् ही उनके अवलम्बन रह जाते हैं। अतः उनका योग-क्षेम स्वयं भगवान् ही चलाते हैं॥ २२॥

ननु अन्या अपि देवताः त्वम् एव चेत् तद्भक्ताः च त्वाम् एव यजन्ते सत्यम् एवम्—

यदि कहो कि अन्य देव भी आप ही हैं, अतः उनके भक्त भी आपहीका पूजन करते हैं तो यह बात ठीक है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

ये अपि अन्यदेवताभक्ता अन्यासु देवतासु भक्ता अन्यदेवताभक्ताः सन्तो यजन्ते पूजयन्ते श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या अन्विता अनुगताः ते अपि माम् एव कौन्तेय यजन्ति अविधिपूर्वकम् अविधिः अज्ञानं तत्पूर्वकम् अज्ञानपूर्वकं यजन्ते इत्यर्थः॥ २३॥

जो कोई अन्य देवोंके भक्त—अन्य देवताओंमें भक्ति रखनेवाले, श्रद्धासे—आस्तिक-बुद्धिसे युक्त हुए (उनका) पूजन करते हैं, हे कुन्तीपुत्र! वे भी मेरा ही पूजन करते हैं (परन्तु) अविधिपूर्वक (करते हैं)। अविधि अज्ञानको कहते हैं, सो वे अज्ञानपूर्वक मेरा पूजन करते हैं॥ २३॥

कस्मात् ते अविधिपूर्वकं यजन्ते इति उच्यते यस्मात्—

उनका पूजन करना अविधिपूर्वक कैसे है? सो कहते हैं कि—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

अहं हि सर्वयज्ञानां **श्रौतानां स्मार्तानां च सर्वेषां यज्ञानां देवतात्मत्वेन** भोक्ता च प्रभुः एव च। **मत्स्वामिको हि यज्ञः** *'अधियज्ञोऽहमेवात्र'* **इति हि उक्तम्।** **तथा** न तु माम् अभिजानन्ति तत्त्वेन **यथावत्।** अतः **च अविधिपूर्वकम् इष्ट्वा यागफलात्** च्यवन्ति **प्रच्यवन्ते** ते ॥ २४ ॥

श्रौत और स्मार्त समस्त यज्ञोंका देवतारूपसे मैं ही भोक्ता हूँ और मैं ही स्वामी हूँ। मैं ही सब यज्ञोंका स्वामी हूँ यह बात **'अधियज्ञोऽहमेवात्र'** इस श्लोकमें भी कही गयी है। परन्तु वे अज्ञानी इस प्रकार यथार्थ तत्त्वसे मुझे नहीं जानते। अतः अविधिपूर्वक पूजन करके वे यज्ञके असली फलसे गिर जाते हैं अर्थात् उनका पतन हो जाता है॥२४॥

ये अपि अन्यदेवताभक्तिमत्त्वेन अविधिपूर्वकं यजन्ते तेषाम् अपि यागफलम् अवश्यंभावि, कथम्—

जो भक्त अन्य देवताओंकी भक्तिके रूपमें अविधिपूर्वक भी मेरा पूजन करते हैं उनको भी यज्ञका फल अवश्य मिलता है। कैसे? (सो कहा जाता है—)

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

यान्ति **गच्छन्ति** देवव्रता **देवेषु व्रतं नियमो भक्तिः च येषां ते देवव्रता** देवान् **यान्ति।** पितॄन् **अग्निष्वात्तादीन्** यान्ति पितृव्रताः **श्राद्धादिक्रियापराः पितृभक्ताः।** भूतानि **विनायकमातृगणचतुर्भगिन्यादीनि** यान्ति भूतेज्या **भूतानां पूजकाः।** यान्ति मद्याजिनो **मद्यजनशीला वैष्णवा** माम् एव। **समाने अपि आयासे माम् एव न भजन्ते अज्ञानात्। तेन ते अल्पफलभाजो भवन्ति इत्यर्थः** ॥ २५ ॥

जिनका नियम और भक्ति देवोंके लिये ही है वे देव-उपासकगण देवोंको प्राप्त होते हैं। श्राद्ध आदि क्रियाके परायण हुए पितृभक्त अग्निष्वात्तादि पितरोंको पाते हैं। भूतोंकी पूजा करनेवाले विनायक, षोडशमातृकागण और चतुर्भगिनी आदि भूतगणोंको पाते हैं तथा मेरा पूजन करनेवाले वैष्णव भक्त अवश्यमेव मुझे ही पाते हैं। अभिप्राय यह कि समान परिश्रम होनेपर भी वे (अन्यदेवोपासक) अज्ञानके कारण केवल मुझ परमेश्वरको ही नहीं भजते इसीसे वे अल्प फलके भागी होते हैं॥२५॥

न केवलं मद्भक्तानाम् अनावृत्तिलक्षणम् अनन्तफलं सुखाराधनः च अहं कथम्—

मेरे भक्तोंको केवल अपुनरावृत्तिरूप अनन्त फल मिलता है इतना ही नहीं, किन्तु मेरी आराधना भी सुखपूर्वक की जा सकती है। कैसे? (सो कहते हैं—)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयम् उदकं यो मे मह्यं भक्त्या प्रयच्छति तद् अहं पत्रादि भक्त्या उपहृतं भक्तिपूर्वकं प्रापितं भक्त्या उपहृतम् अश्नामि गृह्णामि प्रयतात्मनः शुद्धबुद्धेः ॥ २६ ॥

जो भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल आदि कुछ भी वस्तु भक्तिपूर्वक देता है, उस प्रयतात्मा—शुद्ध-बुद्धि भक्तके द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए वे पत्र-पुष्पादि मैं (स्वयं) खाता हूँ अर्थात् ग्रहण करता हूँ ॥ २६ ॥

यत एवम् अतः—

क्योंकि यह बात है इसलिये—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

यत् करोषि स्वतः प्राप्तं यद् अश्नासि यत् च जुहोषि हवनं निर्वर्तयसि श्रौतं स्मार्तं वा, यद् ददासि प्रयच्छसि ब्राह्मणादिभ्यो हिरण्यान्नाज्यादि यत् तपस्यसि तपः चरसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणं मत्समर्पणम् ॥ २७ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! तू जो कुछ भी स्वतःप्राप्त कर्म करता है, जो खाता, जो कुछ श्रौत या स्मार्त यज्ञरूप हवन करता है, जो कुछ सुवर्ण, अन्न, घृतादि वस्तु ब्राह्मणादि सत्पात्रोंको दान देता है और जो कुछ तपका आचरण करता है, वह सब मेरे समर्पण कर ॥ २७ ॥

एवं कुर्वतः तव यद् भवति तत् शृणु—

ऐसा करनेसे तुझे जो लाभ होगा वह सुन—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

शुभाशुभफलैः एवं शुभाशुभे इष्टानिष्टफले येषां तानि शुभाशुभफलानि कर्माणि तैः शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः कर्माणि एव बन्धनानि तैः कर्मबन्धनैः एवं मत्समर्पणं कुर्वन् मोक्ष्यसे । सः अयं संन्यासयोगो नाम संन्यासः च असौ मत्समर्पणतया कर्मत्वाद् योगः च असौ इति तेन संन्यासयोगेन युक्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य तव स त्वं संन्यासयोगयुक्तात्मा सन् विमुक्तः कर्मबन्धनैः जीवन् एव पतिते च अस्मिन् शरीरे माम् उपैष्यसि आगमिष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार कर्मोंको मेरे अर्पण करके तू शुभाशुभ फलयुक्त कर्मबन्धनसे अर्थात् अच्छा और बुरा जिसका फल है ऐसे कर्मरूप बन्धनसे छूट जायगा । तथा इस प्रकार तू संन्यासयोगयुक्तात्मा होकर,—मेरे अर्पण करके कर्म किये जानेके कारण जो 'संन्यास' है और कर्मरूप होनेके कारण जो 'योग' है उस सन्यासरूप योगसे जिसका अन्तःकरण युक्त है उसका नाम 'संन्यास-योग-युक्तात्मा' है, ऐसा होकर,—तू इस जीवितावस्थामें ही कर्मबन्धनसे मुक्त होकर इस शरीरका नाश होनेपर मुझे ही प्राप्त हो जायगा । अर्थात् मुझमें ही विलीन हो जायगा ॥ २८ ॥

रागद्वेषवान् तर्हि भगवान् यतो भक्तान् अनुगृह्णाति न इतरान् इति, तद् न—

(यदि कहो कि) तब तो भगवान् राग-द्वेषसे युक्त हैं; क्योंकि वे भक्तोंपर ही अनुग्रह करते हैं दूसरोंपर नहीं करते, तो यह कहना ठीक नहीं है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

समः **तुल्यः** अहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यः अस्ति न प्रियः **अग्निवद् अहम्, दूरस्थानां यथा अग्निः शीतं** न **अपनयति समीपम् उपसर्पताम् अपनयति, तथा अहं भक्तान् अनुगृह्णामि न इतरान् ।** ये भजन्ति तु माम् **ईश्वरं** भक्त्या मयि ते **स्वभावत एव न मम रागनिमित्तं मयि वर्तन्ते ।** तेषु च अपि अहं **स्वभावत एव वर्ते न इतरेषु न एतावता तेषु द्वेषो मम** ॥ २९ ॥

मैं सभी प्राणियोंके प्रति समान हूँ, मेरा न तो (कोई) द्वेष्य है और न (कोई) प्रिय है । मैं अग्निके समान हूँ । जैसे अग्नि अपनेसे दूर रहनेवाले प्राणियोंके शीतका निवारण नहीं करता, पास आनेवालोंका ही करता है, वैसे ही मैं भक्तोंपर अनुग्रह किया करता हूँ, दूसरोंपर नहीं ।

जो (भक्त) मुझ ईश्वरका प्रेमपूर्वक भजन करते हैं, वे मुझमें स्वभावसे ही स्थित हैं, कुछ मेरी आसक्तिके कारण नहीं और मैं भी स्वभावसे ही उनमें स्थित हूँ, दूसरोंमें नहीं । परन्तु इतनेहीसे यह बात नहीं है कि मेरा उनमें (दूसरोंमें) द्वेष है ॥२९॥

शृणु मद्भक्तेः माहात्म्यम्—

मेरी भक्तिकी महिमा सुन—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः, सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

अपि चेद् **यद्यपि सुष्ठु दुराचारः** सुदुराचारः **अतीव कुत्सिताचारः अपि** भजते माम् अनन्यभाग् **अनन्यभक्तिः सन्** साधुः एव **सम्यग्वृत्त एव** स मन्तव्यो **ज्ञातव्यः** सम्यग् **यथावद्** व्यवसितो हि **यस्मात् साधुनिश्चयः** सः ॥ ३० ॥

यदि कोई सुदुराचारी अर्थात् अतिशय बुरे आचरणवाला मनुष्य भी अनन्य प्रेमसे युक्त हुआ मुझ (परमेश्वर) को भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये अर्थात् उसे यथार्थ आचरण करनेवाला ही समझना चाहिये, क्योंकि वह यथार्थ निश्चययुक्त हो चुका है—उत्तम निश्चयवाला हो गया है ॥ ३० ॥

उत्सृज्य च बाह्यां दुराचारताम् अन्तः-सम्यग्व्यवसायसामर्थ्यात्—

आन्तरिक यथार्थ निश्चयकी शक्तिसे बाहरी दुराचारिताको छोड़कर—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

क्षिप्रं **शीघ्रं** भवति धर्मात्मा **धर्मचित्त एव** शश्वद् **नित्यं** शान्तिं **च उपशमं** निगच्छति **प्राप्नोति** ।

शृणु **परमार्थं** कौन्तेय प्रतिजानीहि **निश्चितां प्रतिज्ञां कुरु,** न मे **मम** भक्तो **मयि समर्पितान्तरात्मा मद्भक्तो न** प्रणश्यति **इति** ॥ ३१ ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा—धार्मिक चित्तवाला बन जाता है और सदा रहनेवाली नित्य शान्ति—उपरतिको पा लेता है ।

हे कुन्तीपुत्र ! तू यथार्थ बात सुन, तू यह निश्चित प्रतिज्ञा कर अर्थात् दृढ़ निश्चय कर ले कि जिसने मुझ परमात्मामे अपना अन्त.करण समर्पित कर दिया है वह मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता, अर्थात् उसका कभी पतन नहीं होता ॥ ३१ ॥

किं च—

तथा—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

मां हि **यस्मात्** पार्थ व्यपाश्रित्य **माम् आश्रयत्वेन गृहीत्वा** ये अपि स्युः **भवेयुः** पापयोनयः **पापा योनिः येषां ते पापयोनयः पापजन्मानः । के ते इति आह** स्त्रियो वैश्या. तथा शूद्राः ते अपि यान्ति **गच्छन्ति** परां गतिं **प्रकृष्टां गतिम्** ॥३२॥

क्योंकि हे पार्थ ! जो कोई पापयोनिवाले हैं अर्थात् जिनके जन्मका कारण पाप है ऐसे प्राणी है—वे कौन हैं ? सो कहते है— वे स्त्री, वैश्य और शूद्र भी मेरी शरणमे आकर—मुझे ही अपना अवलम्बन बनाकर परम—उत्तम गतिको ही पाते है ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः **पुण्ययोनयो** भक्ता राजर्षयः तथा **राजानः च ते ऋषयः च इति राजर्षयः** ।

यत एवम् अतः अनित्यं **क्षणभङ्गुरम्** असुखं **च सुखवर्जितम्** इमं लोकं **मनुष्यलोकं** प्राप्य, **पुरुषार्थसाधनं दुर्लभं मनुष्यत्वं लब्ध्वा** भजस्व **सेवस्व** माम् ॥ ३३ ॥

फिर जो पुण्ययोनि ब्राह्मण और राजर्षि भक्त है उनका तो कहना ही क्या है ? जो राजा भी हों और ऋषि भी हो, वे राजर्षि कहलाते है ।

क्योंकि यह बात है इसलिये इस अनित्य, क्षणभङ्गुर और सुखरहित मनुष्यलोकको पाकर अर्थात् परम पुरुषार्थके साधनरूप दुर्लभ मनुष्यशरीरको पाकर मुझ ईश्वरका ही भजन कर—मेरी ही सेवा कर ॥ ३३ ॥

कथम्—

किस प्रकार (भजन-सेवा करें सो कहा जाता है)—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

मयि मनो यस्य स त्वं मन्मना भव तथा मद्भक्तो भव । मद्याजी मद्यजनशीलो भव । माम् एव च नमस्कुरु । माम् एव ईश्वरम् एष्यसि आगमिष्यसि युक्त्वा समाधाय चित्तम् । एवम् आत्मानम् अहं हि सर्वेषां भूतानाम् आत्मा परा च गतिः परम् अयनम्, तं माम् एवंभूतम् एष्यसि इति अतीतेन पदेन संबन्धः । मत्परायणः सन् इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

तू मन्मना—मुझमे ही मनवाला हो । मद्भक्त—मेरा ही भक्त हो । मद्याजी—मेरा ही पूजन करनेवाला हो और मुझे ही नमस्कार किया कर । इस प्रकार चित्तको मुझमे लगाकर मेरे परायण—शरण हुआ तू मुझ परमेश्वरको ही प्राप्त हो जायगा । अभिप्राय यह कि मैं ही सब भूतोंका आत्मा और परमगति—परम स्थान हूँ, ऐसा जो मैं आत्मरूप हूँ उसीको तू प्राप्त हो जायगा । इस प्रकार पहलेके 'माम्' शब्दसे 'आत्मानम्' शब्दका सम्बन्ध है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

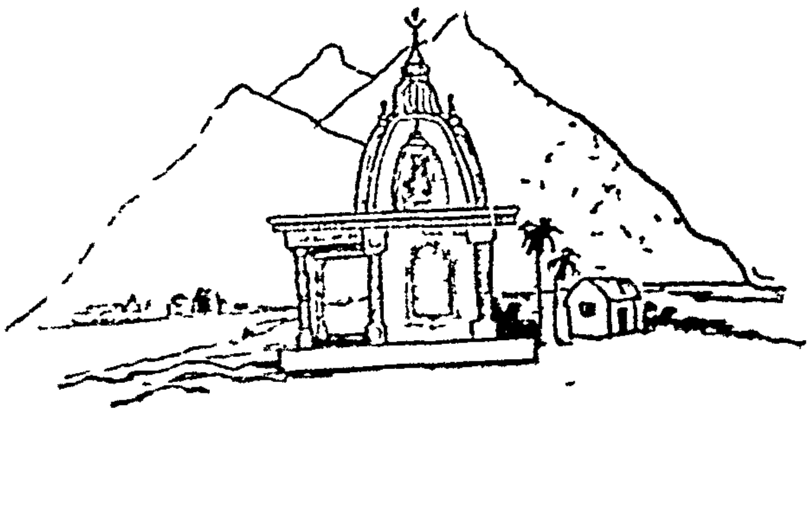

ॐ

दशमोऽध्यायः

सप्तमे अध्याये भगवतः तत्त्वं विभूतयः च प्रकाशिता नवमे च। अथ इदानीं येषु येषु भावेषु चिन्त्यो भगवान् ते ते भावा वक्तव्याः। तत्त्वं च भगवतो वक्तव्यम् उक्तम् अपि दुर्विज्ञेयत्वाद् इति अतः।

श्रीभगवानुवाच—

सातवें और नवें अध्यायमें भगवान्‌के तत्त्वका और विभूतियोंका वर्णन किया गया। अब जिन-जिन भावोंमें भगवान् चिन्तन किये जाने योग्य हैं उन-उन भावोंका वर्णन किया जाना चाहिये। यद्यपि भगवान्‌का तत्त्व पहले कहा गया है परन्तु दुर्विज्ञेय होनेके कारण फिर भी उसका वर्णन होना चाहिये, इसलिये श्रीभगवान् बोले—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

भूय एव भूयः पुनः हे महाबाहो शृणु मे मदीयं परमं प्रकृष्टं निरतिशयवस्तुनः प्रकाशकं वचो वाक्यम्, यत् परमं ते तुभ्यं प्रीयमाणाय मद्वचनात् प्रीयसे त्वम् अतीव अमृतम् इव पिबन् ततो वक्ष्यामि हितकाम्यया हितेच्छया॥ १॥

हे महाबाहो! फिर भी तू मेरे परम उत्तम निरतिशय वस्तुको प्रकाशित करनेवाले वाक्य सुन, जो कि मैं तुझ प्रसन्न होनेवालेके हितकी इच्छासे कहूँगा। मेरे वचनोंको सुनकर तू अमृतपान करता हुआ-सा अत्यन्त प्रसन्न होता है, इसीलिये मैं तुझसे यह परम वाक्य कहने लगा हूँ॥ १॥

किमर्थम् अहं वक्ष्यामि इति अत आह—

मैं (ऐसा) किसलिये कहता हूँ? सो बतलाते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

न मे विदुः न जानन्ति सुरगणा ब्रह्मादयः। किं ते न विदुः मम प्रभवं प्रभावं प्रभुशक्त्यतिशयम्, अथवा प्रभवं प्रभवनम् उत्पत्तिम्। न अपि महर्षयो भृग्वादयो विदुः।

कस्मात् ते न विदुः इति उच्यते—

अहम् आदिः कारणं हि यस्माद् देवानां महर्षीणां च सर्वशः सर्वप्रकारैः॥ २॥

ब्रह्मादि देवता मेरे प्रभवको यानी अतिशय प्रभुत्व-शक्तिको अथवा प्रभव यानी मेरी उत्पत्तिको नहीं जानते। और भृगु आदि महर्षि भी (मेरे प्रभवको) नहीं जानते।

वे किस कारणसे नहीं जानते? सो कहते हैं—

क्योंकि देवोंका और महर्षियोंका सब प्रकारसे मैं ही आदि—मूल कारण हूँ॥ २॥

किं च—

तथा—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

यो माम् अजम् अनादिं च यस्माद् अहम् आदिः देवानां महर्षीणां च न मम अन्यः आदिः विद्यते अतः अहम् अजः अनादिः च अनादित्वम् अजत्वे हेतुः। तं माम् अजम् अनादि च यो वेत्ति विजानाति लोकमहेश्वरं लोकानां महान्तम् ईश्वरं तुरीयम् अज्ञानतत्कार्यवर्जितम् असंमूढः संमोहवर्जितः स मर्त्येषु मनुष्येषु सर्वपापैः सर्वैः पापैः मतिपूर्वामतिपूर्वकृतैः प्रमुच्यते प्रमोक्ष्यते ॥ ३ ॥

क्योंकि मै महर्षियोका और देवोंका आदि-कारण हूँ, मेरा आदि दूसरा कोई नहीं है, इसलिये मैं अजन्मा और अनादि हूँ । अनादित्व ही जन्मरहित होनेमे कारण है । इस प्रकार जो मुझे जन्मरहित अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर अर्थात् अज्ञान और उसके कार्यसे रहित (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति— इन तीनो अवस्थाओंसे अतीत) चतुर्थ अवस्था-युक्त जानता है, वह (इस प्रकार जाननेवाला) मनुष्योमें ज्ञानी है अर्थात् मोहसे रहित श्रेष्ठ पुरुष है और वह जान-बूझकर किये हुए या बिना जाने किये हुए सभी पापोसे मुक्त हो जाता है ॥३॥

इतः च अहं महेश्वरो लोकानाम्—

इसलिये भी मै लोकोका महान् ईश्वर हूँ—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

बुद्धिः अन्तःकरणस्य सूक्ष्माद्यर्थावबोधन-सामर्थ्यं तद्वन्तं बुद्धिमान् इति हि वदन्ति ।

ज्ञानम् आत्मादिपदार्थानाम् अवबोधः असंमोहः प्रत्युपपन्नेषु बोद्धव्येषु विवेकपूर्विका प्रवृत्तिः । क्षमा आक्रुष्टस्य ताडितस्य वा अविकृतचित्तता । सत्यं यथादृष्टस्य यथा-श्रुतस्य च आत्मानुभवस्य परबुद्धिसंक्रान्तये तथा एव उच्चार्यमाणा वाक् सत्यम् उच्यते । दमो बाह्येन्द्रियोपशमः । शमः अन्तःकरणस्य । सुखम् आह्लादः । दुःखं संतापः । भवः उद्भवः । अभावः तद्विपर्ययः । भयं च त्रासः, अभयम् एव च तद्विपरीतम् ॥ ४ ॥

सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि पदार्थोंको समझनेवाली अन्तःकरणकी ज्ञानशक्तिका नाम बुद्धि है । उससे युक्त मनुष्यको ही 'बुद्धिमान्' कहते हैं ।

ज्ञान—आत्मा आदि पदार्थोंका बोध, असंमोह—जाननेयोग्य पदार्थ प्राप्त होनेपर उनमें विवेकपूर्वक प्रवृत्ति, क्षमा—किसीके द्वारा अपनी निन्दा की जाने या ताडना दी जानेपर भी चित्तमे विकार न होना, सत्य—देखने और सुननेसे जिस प्रकारका अपनेको अनुभव हुआ हो, उसको दूसरेकी बुद्धिमे पहुँचानेके लिये उसी प्रकार कही जानेवाली वाणी 'सत्य' कहलाती है, दम—बाह्य इन्द्रियोको वशमे कर लेना, शम—अन्तःकरणकी उपरति, सुख-आह्लाद, दुःख-सन्ताप, भव—उत्पत्ति, अभाव—उत्पत्तिके विपरीत (विनाश) तथा भय—त्रास और अभय—उसके विपरीत जो निर्भयता है वह भी ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अहिंसा **अपीडा प्राणिनाम्** । समता **समचित्तता** । तुष्टिः **संतोषः पर्याप्तबुद्धिः लाभेषु** । तप **इन्द्रियसंयमपूर्वकं शरीरपीडनम्** । दानं **यथाशक्ति संविभागः** । यशो **धर्मनिमित्ता कीर्तिः** । अयशः **तु अधर्मनिमित्ता अकीर्तिः** । भवन्ति भावा **यथोक्ता बुद्ध्यादयो** भूतानां **प्राणिनां** मत्त एव **ईश्वरात्** पृथग्विधा **नानाविधाः स्वकर्मानुरूपेण** ॥ ५ ॥

अहिंसा—प्राणियोंको किसी प्रकार पीड़ा न पहुँचाना, समता—चित्तका समभाव, सन्तोष—जो कुछ मिले उसीको यथेष्ट समझना, तप—इन्द्रियसंयमपूर्वक शरीरको सुखाना, दान—अपनी शक्तिके अनुसार धनका विभाग करना (दूसरोंको बाँटना), यश—धर्मके निमित्तसे होनेवाली कीर्ति, अपयश—अधर्मके निमित्तसे होनेवाली अपकीर्ति ।

इस प्रकार जो प्राणियोंके अपने-अपने कर्मोंके अनुसार होनेवाले बुद्धि आदि नाना प्रकारके भाव हैं, वे सब मुझ ईश्वरसे ही होते हैं ॥ ५ ॥

किं च—

तथा—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

महर्षयः सप्त **भृग्वादयः**[1] पूर्वे **अतीतकालसंबन्धिनः** चत्वारो मनवः तथा **सावर्णा इति प्रसिद्धाः**[2] । **ते च** मद्भावा **मद्गतभावना वैष्णवेन सामर्थ्येन उपेता** मानसा **मनसा एव उत्पादिता मया** जाता **उत्पन्ना** येषां **मनूनां महर्षीणां च सृष्टिः** लोके इमाः **स्थावरजङ्गमाः** प्रजाः ॥ ६ ॥

भृगु आदि सप्त महर्षि और पहले होनेवाले चार मनु जिनका अतीत कालसे सम्बन्ध है और जो 'सावर्ण' इस नामसे पुराणोंमें प्रसिद्ध है, ये सभी मुझमें भावनावाले—ईश्वरीय सामर्थ्यसे युक्त और मेरे द्वारा मनसे उत्पन्न किये हुए हैं, जिन मनु और महर्षियोंकी रची हुई ये चर और अचररूप सब प्रजाएँ लोकमें प्रसिद्ध हैं ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

एतां **यथोक्तां** विभूतिं **विस्तारं** योग च **युक्तिं च आत्मनो घटनम् अथवा योगैश्वर्यसामर्थ्यं सर्वज्ञत्वं योगजं योग उच्यते** । मम **मदीयं** यो वेत्ति तत्त्वतः **तत्त्वेन यथावद् इति एतत्** ।

मेरी इस उपर्युक्त विभूतिको अर्थात् विस्तारको और योग—युक्तिको अर्थात् अपनी मायिक घटनाको, अथवा योगसे उत्पन्न हुई सर्वज्ञतारूप सामर्थ्यको जो कि योग-शब्दसे कही जाती है, जो तत्त्वसे—यथार्थ जानता है,

१. भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सात महर्षि हैं ।
२. मनु १४ हैं पर चार मनु सावर्ण नामसे प्रसिद्ध हैं—सावर्णि, धर्मसावर्णि, दक्षसावर्णि और सावर्ण ।

सः अविकम्पेन **अप्रचलितेन** योगेन **सम्यग्दर्शनस्थैर्यलक्षणेन** युज्यते **संबध्यते** न अत्र संशयो **न अस्मिन् अर्थे संशयः अस्ति** ॥७॥

वह पुरुष पूर्ण ज्ञानकी स्थिरतारूप निश्चल योगसे युक्त हो जाता है, इस विषयमें (कुछ भी) संशय नहीं है ॥ ७ ॥

कीदृशेन अविकम्पेन योगेन युज्यते इति उच्यते—

किस प्रकारके अविचल योगसे युक्त हो जाता है ? सो कहा जाता है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अहं **परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं** सर्वस्य **जगतः** प्रभव **उत्पत्तिः** मत्त **एव स्थितिनाशक्रिया-फलोपभोगलक्षणं विक्रियारूपं** सर्वं **जगत्** प्रवर्तते इति **एवं** मत्वा भजन्ते **सेवन्ते** मां बुधा **अवगततत्त्वार्था** भावसमन्विता **भावो भावना परमार्थतत्त्वाभिनिवेशः तेन समन्विताः संयुक्ता इत्यर्थः** ॥ ८ ॥

मैं वासुदेव नामक परमब्रह्म समस्त जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ, और मुझसे ही यह स्थिति, नाश, क्रिया और कर्मफलोपभोगरूप विकारमय सारा जगत् घुमाया जा रहा है । इस अभिप्रायको (अच्छी प्रकार) समझकर भावसमन्वित—परमार्थतत्त्वकी धारणासे युक्त हुए, बुद्धिमान्—तत्त्वज्ञानी पुरुष, मुझे भजते हैं अर्थात् मेरा चिन्तन किया करते हैं ॥८॥

किं च—

तथा—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

मच्चित्ता **मयि चित्तं येषां ते मच्चित्ता** मद्गतप्राणा **मां गताः प्राप्ताः चक्षुरादयः प्राणा येषां ते मद्गतप्राणा मयि उपसंहृतकरणा इत्यर्थः अथवा मद्गतप्राणा मद्गतजीवना इति एतत्** । बोधयन्तः **अवगमयन्तः** परस्परम् **अन्योन्यं** कथयन्तो **ज्ञानबलवीर्यादिधर्मैः विशिष्टं** मां तुष्यन्ति च **परितोषम् उपयान्ति** रमन्ति च **रतिं च प्राप्नुवन्ति प्रियसंगत्या इव** ॥ ९ ॥

मुझमें ही जिनका चित्त है वे मच्चित्त हैं तथा मुझमें ही जिनके चक्षु आदि इन्द्रियरूप प्राण लगे रहते हैं—मुझमें ही जिन्होंने समस्त करणोंका उपसंहार कर दिया है वे मद्गतप्राण हैं अथवा जिन्होंने मेरे लिये ही अपना जीवन अर्पण कर दिया है वे मद्गतप्राण हैं ।

ऐसे मेरे भक्त आपसमें एक दूसरेको (मेरा तत्त्व) समझाते हुए एवं ज्ञान, बल और सामर्थ्य आदि गुणोंसे युक्त मुझ परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए सदा सन्तुष्ट रहते हैं अर्थात् सन्तोषको प्राप्त होते हैं और रमण करते हैं अर्थात् मानो कोई अपना अत्यन्त प्यारा मिल गया हो उसी तरह रतिको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

ये यथोक्तप्रकारैः भजन्ते मां भक्ताः सन्तः—

जो पुरुष मुझमे प्रेम रखते हुए उपर्युक्त प्रकारसे मेरा भजन करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

तेषां सततयुक्तानां नित्याभियुक्तानां निवृत्तसर्वबाह्यैषणानां भजतां सेवमानानाम्, किम् अर्थित्वादिना कारणेन, न इति आह, प्रीतिपूर्वकं प्रीतिः स्नेहः तत्पूर्वकं मां भजताम् इत्यर्थः । ददामि प्रयच्छामि बुद्धियोगं बुद्धिः सम्यग्दर्शनं मत्तत्त्वविषयं तेन योगो बुद्धियोगः तं बुद्धियोगम् । येन बुद्धियोगेन सम्यग्दर्शनलक्षणेन मां परमेश्वरम् आत्मभूतम् आत्मत्वेन उपयान्ति प्रतिपद्यन्ते ।

उन समस्त बाह्य तृष्णाओंसे रहित निरन्तर तत्पर होकर भजन—सेवन करनेवाले पुरुषोंको, किसी वस्तुकी इच्छा आदि कारणोंसे भजनेवालोंको नहीं किन्तु प्रीतिपूर्वक भजनेवालोको यानी प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवालोंको, मै वह बुद्धियोग देता हूँ । मेरे तत्त्वके यथार्थ ज्ञानका नाम बुद्धि है, उससे युक्त होना ही बुद्धियोग है । वह ऐसा बुद्धियोग मै (उनको) देता हूँ कि जिस पूर्णज्ञानरूप बुद्धियोगसे वे मुझ आत्मरूप परमेश्वरको आत्मरूपसे समझ लेते है ।

के, ते ये मच्चित्तत्वादिप्रकारैः मां भजन्ते ॥ १० ॥

वे कौन है ? जो 'मच्चित्ताः' आदि ऊपर कहे हुए प्रकारोसे मेरा भजन करते हैं ॥ १० ॥

किमर्थं कस्य वा त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धहेतोः नाशकं बुद्धियोगं तेषां त्वद्भक्तानां ददासि इति आकाङ्क्षायाम् आह—

आपकी प्राप्तिके कौन-से प्रतिबन्धके कारणका नाश करनेवाला बुद्धियोग आप उन भक्तोंको देते हैं और किसलिये देते है ? इस आकांक्षापर कहते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

तेषाम् एव कथं नाम श्रेयः स्याद् इति अनुकम्पार्थं दयाहेतोः अहम् अज्ञानजम् अविवेकतो जातं मिथ्याप्रत्ययलक्षणं मोहान्धकारं तमो नाशयामि आत्मभावस्थ आत्मनो भावः अन्तःकरणाशयः तस्मिन् एव स्थितः सन् । ज्ञानदीपेन विवेकप्रत्ययरूपेण ।

उन (मेरे भक्तों) का किसी तरह भी कल्याण हो ऐसा अनुग्रह करनेके लिये ही मै उनके आत्मभावमे स्थित हुआ अर्थात् आत्माका भाव जो अन्तःकरण है उसमे स्थित हुआ उनके अविवेकजन्य मिथ्या प्रतीतिरूप मोहमय अन्धकारको प्रकाशमय विवेक-बुद्धिरूप ज्ञानदीपकद्वारा नष्ट कर देता हूँ ।

भक्तिप्रसादस्नेहाभिषिक्तेन मद्भावनाभिनिवेशवातेरितेन ब्रह्मचर्यादिसाधनसंस्कारवत्

अर्थात् जो भक्तिके प्रसादरूप घृतसे परिपूर्ण है और मेरे स्वरूपकी भावनाके अभिनिवेशरूप वायुकी सहायतासे प्रज्वलित हो रहा है,

प्रज्ञावर्तिना विरक्तान्तःकरणाधारेण विषयव्यावृत्तचित्तरागद्वेषाकलुषितनिवातापवारकस्थेन नित्यप्रवृत्तैकाग्र्यध्यानजनितसम्यग्दर्शनभास्वता ज्ञानदीपेन इत्यर्थः ॥ ११ ॥

जिसमें ब्रह्मचर्य आदि साधनोंके संस्कारोंसे युक्त बुद्धिरूप बत्ती है, आसक्तिरहित अन्तःकरण जिसका आधार है, जो विषयोंसे हटे हुए और राग-द्वेषरूप कालुष्यसे रहित हुए चित्तरूप वायुरहित अपवारकमें (ढकनेमें) स्थित है और जो निरन्तर अभ्यास किये हुए एकाग्रतारूप ध्यानजनित, पूर्ण ज्ञानस्वरूप प्रकाशसे युक्त है, उस ज्ञानदीपकद्वारा (मैं उनके मोहका नाश कर देता हूँ) ॥ ११ ॥

यथोक्तां भगवतो विभूतिं योगं च श्रुत्वा—अर्जुन उवाच—

ऊपर कही हुई भगवान्की विभूतिको और योगको सुनकर अर्जुन बोला—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

परं ब्रह्म **परमात्मा** परं धाम **परं तेजः** पवित्रं **पावनं** परमं **प्रकृष्टं** भवान् पुरुषं शाश्वतं **नित्यं** दिव्यं **दिवि भवम्** आदिदेवं **सर्वदेवानाम् आदौ भवं देवम्** अजं विभुं **विभवनशीलम्** ॥ १२ ॥

आप परमब्रह्म—परमात्मा, परमधाम—परमतेज और परमपावन हैं । तथा आप नित्य और दिव्य पुरुष हैं अर्थात् देवलोकमें रहनेवाले अलौकिक पुरुष हैं एवं आप सब देवोंसे पहले होनेवाले आदिदेव, अजन्मा और व्यापक हैं ॥ १२ ॥

ईदृशम्—

ऐसे—

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

आहुः **कथयन्ति** त्वाम् ऋषयो **वसिष्ठादयः** सर्वे देवर्षिः नारदः तथा असितो देवलः **अपि एवम् एव आह** व्यासः च स्वयं च एव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

आपका वसिष्ठादि सब महर्षिगण वर्णन करते हैं; तथा असित, देवल, व्यास और देवर्षि नारद भी इसी प्रकार कहते हैं एवं स्वयं आप भी मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

सर्वम् एतद् **यथोक्तम् ऋषिभिः त्वया च तद्** ऋतं **सत्यम् एव** मन्ये यद् मां **प्रति** वदसि **भाषसे** हे केशव । न हि ते **तव** भगवन् व्यक्तिं **प्रभवं** विदुः **न** देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव ! उपर्युक्त प्रकारसे ऋषियोंद्वारा और आपके द्वारा कही हुई ये सब बातें जो कि आप मुझसे कह रहे हैं, मैं सत्य मानता हूँ । क्योंकि हे भगवन् ! आपकी उत्पत्तिको न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं ॥ १४ ॥

यतः त्वं देवादीनाम् आदिः अतः—

क्योंकि आप देवादिके आदिकारण हैं इसलिये—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

स्वयम् एव आत्मना आत्मानं वेत्थ त्वं **निरतिशयज्ञानैश्वर्यबलादिशक्तिमन्तम् ईश्वरं** पुरुषोत्तम । **भूतानि भावयति इति भूतभावनो हे** भूतभावन भूतेश **भूतानाम् ईश, हे** देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम ! हे भूतप्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले भूतभावन ! हे भूतेश–भूतोंके ईश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगत्पते ! आप स्वयं ही अपनेद्वारा अपने आपको अर्थात् निरतिशय ज्ञान, ऐश्वर्य, सामर्थ्य आदि शक्तियोंसे युक्त ईश्वरको जानते है ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

वक्तुं **कथयितुम्** अर्हसि अशेषेण दिव्या हि आत्मविभूतय **आत्मनो विभूतयो याः ता वक्तुम् अर्हसि** याभिः विभूतिभिः **आत्मनो माहात्म्यविस्तरैः** इमान् लोकान् त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

अपनी दिव्य विभूतियोंका पूर्णतया वर्णन करनेमे (आप ही) समर्थ है --आपकी जो विभूतियॉ है, जिन विभूतियोंसे अर्थात् अपने माहात्म्यके विस्तारसे आप इन सारे लोकोंको व्याप्त करके स्थित हो रहे है, उन्हें कहनेमे आप ही समर्थ है ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

कथं विद्यां **विजानीयाम्** अहं **हे** योगिन् त्वां सदा परिचिन्तयन् । केषु केषु च भावेषु **वस्तुषु** चिन्त्यः असि **ध्येयः असि** भगवन् मया ॥ १७ ॥

हे योगिन् ! आपका सदा चिन्तन करता हुआ मै आपको किस प्रकार जानूँ ? हे भगवन् ! आप किन-किन भावोंमे अर्थात् वस्तुओंमे मेरे द्वारा चिन्तन किये जानेयोग्य है ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

विस्तरेण आत्मनो योगं **योगैश्वर्यशक्तिविशेषं** विभूतिं च **विस्तरं ध्येयपदार्थानां** हे जनार्दन ।

हे जनार्दन ! अपने योगको–अपनी योगैश्वर्यरूप विशेष शक्तिको और विभूतिको यानी चिन्तन करनेयोग्य पदार्थोंके विस्तारको, विस्तारपूर्वक कहिये ।

अर्दतेः गतिकर्मणो* रूपम् । असुराणां देवप्रतिपक्षभूतानां जनानां नरकादिगमयितृत्वाद् जनार्दनः । अभ्युदयनिःश्रेयसपुरुषार्थप्रयोजनं सर्वैः जनैः याच्यते इति वा ।

भूयः पूर्वम् उक्तम् अपि कथय तृप्तिः हि परितोषो यस्माद् न अस्ति मे शृण्वतः त्वन्मुखनिःसृतवाक्यामृतम् ॥ १८ ॥

गमन जिसका कर्म है ऐसी अर्द् धातुका रूप जनार्दन है। असुरोंको यानी देवोंके प्रतिपक्षी मनुष्योंको नरकादिमें भेजनेवाले होनेसे भगवान्‌का नाम जनार्दन है। अथवा उन्नति और कल्याण—ये दोनों पुरुषार्थरूप प्रयोजन सब लोगोंके द्वारा भगवान्‌से माँगे जाते हैं, इसलिये भगवान्‌का नाम जनार्दन है—

यद्यपि आप पहले कह चुके हैं तो भी फिर कहिये, क्योंकि आपके मुखसे निकले हुए वाक्यरूप अमृतको सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती है—सन्तोष नहीं होता है ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

हन्त इदानीं ते दिव्या दिवि भवा आत्मविभूतय आत्मनो मम विभूतयो याः ताः कथयिष्यामि इति एतत्, प्राधान्यतो यत्र यत्र प्रधाना या या विभूतिः तां तां प्रधानां प्राधान्यतः कथयिष्यामि अहं कुरुश्रेष्ठ । अशेषतः तु वर्षशतेन अपि न शक्या वक्तुं यतो न अस्ति अन्तो विस्तरस्य मे मम विभूतीनाम् इत्यर्थः ॥ १९ ॥

हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ ! अब मैं तुझे अपनी दिव्य—देवलोकमें होनेवाली विभूतियाँ प्रधानतासे बतलाता हूँ अर्थात् मेरी जहाँ-जहाँपर जो-जो प्रधान-प्रधान विभूतियाँ हैं, उन-उन प्रधान विभूतियोंका ही मैं प्रधानतासे वर्णन करता हूँ। सम्पूर्णतासे तो वे सैकड़ों वर्षोंमें भी नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि मेरे विस्तारका अर्थात् मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

तत्र प्रथमम् एव तावत् शृणु—

उनमें तू पहली विभूतिको ही सुन—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

अहम् आत्मा प्रत्यगात्मा गुडाकेश गुडाका निद्रा तस्या ईशो गुडाकेशो जितनिद्र इत्यर्थः, घनकेश इति वा । सर्वेषां भूतानाम् आशये अन्तर्हृदि स्थितः नित्यं ध्येयः ।

गुडाका—निद्रा उसका स्वामी यानी निद्रा-जयी होनेके कारण अथवा घनकेश होनेके कारण अर्जुनका नाम गुडाकेश है। हे गुडाकेश ! समस्त भूतोंके आशयमें यानी आन्तरिक हृदयदेशमें स्थित सबका अन्तरात्मा मैं हूँ (ऊँचे अधिकारियोंको तो) मेरा ध्यान सदा इस प्रकार करना चाहिये ।

* अर्द धातुके दो अर्थ होते हैं—गमन और याचना । यहाँ पहले गमन अर्थ स्वीकार करके उसके अनुसार व्युत्पत्ति दिखलायी गयी है; फिर 'अथवा' कहकर पक्षान्तरमें याचना अर्थ भी स्वीकार किया गया है ।

तदशक्तेन च उत्तरेषु भावेषु चिन्त्यः, अहं चिन्तयितुं शक्यो यस्माद् अहम् एव आदिः भूतानां कारणं तथा मध्यं च स्थितिः अन्तः प्रलयः च ॥ २० ॥

परन्तु जो ऐसा ध्यान करनेमे असमर्थ हों उन्हे आगे कहे हुए भावोंमे मेरा चिन्तन करना चाहिये, अर्थात् उनके द्वारा (इन अगले भावोंमे) मेरा चिन्तन किया जा सकता है, क्योंकि मै ही सब भूतोंका आदि, मध्य और अन्त हूँ अर्थात् उनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप मै ही हूँ ॥ २० ॥

एवं च ध्येयः अहम्—

तथा इस प्रकार भी मेरा ध्यान किया जा सकता है—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

आदित्यानां द्वादशानां विष्णुः नाम आदित्यः अहम्, ज्योतिषां रविः प्रकाशयितॄणाम् अंशुमान् रश्मिमान् मरीचिः नाम मरुतां मरुद्देवताभेदानाम् अस्मि नक्षत्राणाम् अहं शशी चन्द्रमाः ॥ २१ ॥

द्वादश आदित्योंमे मै विष्णु नामक आदित्य हूँ । प्रकाश करनेवाली ज्योतियोंमे मै किरणों-वाला सूर्य हूँ । वायु-सम्बन्धी देवताओंके भेदोंमे मै मरीचि नामक देवता हूँ और नक्षत्रोंमे मै शशि—चन्द्रमा हूँ ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदानां मध्ये सामवेदः अस्मि, देवानां रुद्रादित्यादीनां वासव इन्द्रः अस्मि, इन्द्रियाणाम् एकादशानां चक्षुरादीनां मनः च अस्मि संकल्पविकल्पात्मकं मनः च अस्मि । भूतानाम् अस्मि चेतना, कार्यकरणसंघाते नित्याभिव्यक्ता बुद्धिवृत्तिः चेतना ॥ २२ ॥

मै वेदोंमे सामवेद हूँ, रुद्र, आदित्य आदि देवोंमे इन्द्र हूँ और चक्षु आदि एकादश इन्द्रियोंमे संकल्प-विकल्पात्मक मन हूँ । सब प्राणियोंमे (मै) चेतना हूँ । कार्य-करणके समुदायरूप शरीरमे सदा प्रकाशित रहनेवाली जो बुद्धि-वृत्ति है, उसका नाम चेतना है ॥ २२ ॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

रुद्राणां एकादशानां शंकरः च अस्मि वित्तेशः कुबेरो यक्षरक्षसां यक्षाणां रक्षसां च । वसूनाम् अष्टानां पावकः च अस्मि अग्निः मेरुः शिखरिणां शिखरवताम् अहम् ॥ २३ ॥

एकादश रुद्रोंमे मै शंकर हूँ । यक्ष और राक्षसोंमे मै धनेश्वर कुबेर हूँ । आठ वसुओंमे मै पावक—अग्नि हूँ । शिखरवालोंमे (पर्वतोंमें) मैं सुमेरु पर्वत हूँ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पुरोधसां राजपुरोहितानां मुख्यं प्रधानं मा विद्धि जानीहि हे पार्थ बृहस्पतिम् । स हि इन्द्रस्य इति मुख्यः स्यात् पुरोधाः । सेनानीनां सेनापतीनाम् अहं स्कन्दो देवसेनापतिः । सरसां यानि देवखातानि सरांसि तेषां सरसां सागरः अस्मि भवामि ॥ २४ ॥

हे पार्थ ! पुरोहितोमे यानी राजपुरोहितोमें तू मुझे प्रधान पुरोहित बृहस्पति समझ, क्योंकि वे ही इन्द्रके मुख्य पुरोहित हैं । सेनापतियोंमे मै देवोंका सेनापति कार्तिकेय हूँ तथा सरोवरोमें अर्थात् जो देव-निर्मित सरोवर है उनमे समुद्र हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षीणां भृगुः अहम्, गिरां वाचां पदलक्षणानाम् एकम् अक्षरम् ओंकारः अस्मि । यज्ञानां जपयज्ञः अस्मि, स्थावराणां स्थितिमतां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षियोमे मै भृगु हूँ, वाणीसम्बन्धी भेदोंमे— पदात्मक वाक्योमे एक अक्षर-ओंकार हूँ, यज्ञोंमें जपयज्ञ हूँ और स्थावरोंमे अर्थात् अचल पदार्थोंमें हिमालय नामक पर्वत हूँ ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्, देवर्षीणां च नारदो देवा एव सन्त ऋषित्वं प्राप्ता मन्त्रदर्शित्वात् ते देवर्षयः तेषां नारदः अस्मि । गन्धर्वाणा चित्ररथो नाम गन्धर्वः अस्मि । सिद्धाना जन्मना एव धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्तानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

समस्त वृक्षोमे पीपलका वृक्ष और देवर्षियोंमें अर्थात् जो देव होकर मन्त्रोंके द्रष्टा होनेके कारण ऋषिभावको प्राप्त हुए है, उनमे मै नारद हूँ । गन्धर्वोंमे मै चित्ररथ नामक गन्धर्व हूँ, सिद्धोंमें अर्थात् जन्मसे ही अतिशय धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यको प्राप्त हुए पुरुषोंमे मै कपिलमुनि हूँ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

उच्चैःश्रवसम् अश्वानाम् उच्चैःश्रवा नाम अश्वः तं मा विद्धि जानीहि अमृतोद्भवम् अमृतनिमित्त-मथनोद्भवम् । ऐरावतम् इरावत्या अपत्यं गजेन्द्राणां हस्तीश्वराणां तं मां विद्धि इति अनुवर्तते । नराणां मनुष्याणां च नराधिप राजानं मां विद्धि जानीहि ॥ २७ ॥

घोड़ोमे, जो अमृतप्राप्तिके निमित्त किये हुए समुद्रमन्थनसे उत्पन्न उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा है, उसको तू मेरा स्वरूप समझ । गजेन्द्रोंमें—मुख्य हाथियोमे—इरावतीका पुत्र जो ऐरावत नामक हाथी है उसको तू मेरा स्वरूप जान और मनुष्योंमें मुझे तू राजा समझ ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥

आयुधानाम् अहं वज्र **दधीच्यस्थिसंभवं** धेनूनां **दोग्ध्रीणाम्** अस्मि कामधुक्, **वसिष्ठस्य सर्वकामानां दोग्ध्री सामान्या वा कामधुक्।** प्रजनः **प्रजनयिता** अस्मि कन्दर्पः **कामः**, सर्पाणां **सर्पभेदानाम्** अस्मि वासुकिः **सर्पराजः** ॥ २८॥

शस्त्रोमे मैं दधीचि ऋषिकी अस्थियोसे बना हुआ वज्र हूँ। दूध देनेवाली गौओमे कामधेनु—वसिष्ठको सब कामनारूप दूध देनेवाली अथवा सामान्य भावसे जो भी कामधेनु है वह मै हूँ। प्रजाको उत्पन्न करनेवाला कामदेव मै हूँ और सर्पोंमे अर्थात् सर्पोंके नाना भेदोंमे सर्पराज वासुकि मै हूँ ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

अनन्तः च अस्मि नागाना **नागविशेषाणां नागराजः च अस्मि।** वरुणो यादसाम् अहम् **अब्देवतानां राजा अहम्।** पितॄणाम् अर्यमा **नाम पितृराजः** च अस्मि, यमः संयमता **संयमनं कुर्वताम्** अहम्॥ २९॥

नागोके नाना भेदोंमे मै अनन्त हूँ अर्थात् नागराज शेष हूँ और जलसम्बन्धी देवोमे उनका राजा वरुण मै हूँ। मै पितरोमे अर्यमा नामक पितृराज हूँ और शासन करनेवालोंमे यमराज हूँ॥ २९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

प्रह्लादो **नाम** च अस्मि दैत्यानां **दितिवंश्यानाम्,** कालः कलयता **कलनं गणनं कुर्वताम्** अहम्, मृगाणा च मृगेन्द्रः **सिंहो व्याघ्रो वा** अहम्, वैनतेय. च **गरुत्मान् विनतासुतः** पक्षिणा **पतत्रिणाम्**॥३०॥

दैत्योमे अर्थात् दितिके वंशजोंमे मै प्रह्लाद नामक दैत्य हूँ और कलना—गणना करनेवालोमे मै काल हूँ। पशुओमे पशुओंका राजा सिंह या व्याघ्र और पक्षियोमे विनता-पुत्र—गरुड़ हूँ॥ ३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

पवनो **वायुः** पवता **पावयितृणाम्** अस्मि, रामः शस्त्रभृताम् **अहं शस्त्राणां धारयितृणां दाशरथी रामः** अहम्। झषाणा **मत्स्यादीनां** मकरो **नाम जातिविशेषः अहं** स्रोतसा **स्रवन्तीनाम्** अस्मि जाह्नवी **गङ्गा**॥ ३१॥

पवित्र करनेवालोमे वायु और शस्त्रधारियोंमें दशरथपुत्र राम मै हूँ, मछली आदि जलचर प्राणियों-मे मकर नामक जलचरोकी जातिविशेष मै हूँ, स्रोतोमे—नदियोमे मै जाह्नवी—गङ्गा हूँ॥ ३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

सृष्टीनाम् आदिः अन्तः च मध्यं च एव अहम् **उत्पत्तिस्थितिलया अहम्** अर्जुन । **भूतानां जीवाधिष्ठितानाम् एव आदिः अन्तः च इत्यादि उक्तम् उपक्रमे, इह तु सर्वस्य एव सर्गमात्रस्य इति विशेषः ।**

अध्यात्मविद्या विद्यानां **मोक्षार्थत्वात् प्रधानम् अस्मि** । वादः **अर्थनिर्णयहेतुत्वात्** प्रवदतां **प्रधानम् अतः सः** अहम् **अस्मि । प्रवक्तृद्वारेण वदनभेदानाम् एव वादजल्पवितण्डानाम् इह ग्रहणं प्रवदताम् इति ॥ ३२ ॥**

हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि, अन्त और मध्य अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मै हूँ । आरम्भमे तो भगवान्‌ने अपनेको केवल चेतनाधिष्ठित प्राणियोंका ही आदि, मध्य और अन्त बतलाया है परन्तु यहाँ समस्त जगत्‌मात्रका आदि, मध्य और अन्त बतलाते है, यह विशेषता है ।

समस्त विद्याओमे जो कि मोक्ष देनेवाली होनेके कारण प्रधान है, वह अध्यात्मविद्या मै हूँ । शंका-समाधान करनेके समय बोले जानेवाले वाक्योमे जो अर्थनिर्णयका हेतु होनेसे प्रधान है वह वाद नामक वाक्य मै हूँ । यहाँ 'प्रवदताम्' इस पदसे वक्ताद्वारा बोले जानेवाले वाद, जल्प और वितण्डा—इन तीन प्रकारके वचन-भेदोंका ही ग्रहण है (बोलनेवालोका नहीं) ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षराणां **वर्णानाम्** अकारो **वर्णः** अस्मि द्वन्द्वः **समासः अस्मि** सामासिकस्य **समाससमूहस्य । किं च** अहम् एव अक्षयः **अक्षीणः** काल. **प्रसिद्धः क्षणाद्याख्यः, अथवा परमेश्वरः कालस्य अपि कालः असि,** धाता अहं **कर्मफलस्य विधाता सर्वजगतो** विश्वतोमुखः **सर्वतोमुखः ॥ ३३ ॥**

अक्षरोंमे—वर्णोंमे अकार—'अ' वर्ण मै हूँ । समास-समूहमे द्वन्द्व नामक समास मै हूँ । तथा मैं ही अविनाशी काल—जो क्षण-घड़ी आदि नामोंसे प्रसिद्ध है वह समय, अथवा कालका भी काल परमेश्वर हूँ । और मै ही विधाता—सब जगत्‌के कर्मफलका विधान करनेवाला तथा सब ओर मुखवाला परमात्मा हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

मृत्युः द्विविधो धनादिहरः प्राणहरः च सर्वहर उच्यते सः अहम् इत्यर्थः। अथवा पर ईश्वरः प्रलये सर्वहरणात् सर्वहरः सः अहम्।

धनादिका नाश करनेवाला और प्राणोंका नाश करनेवाला ऐसे दो प्रकारका मृत्यु 'सर्वहर' कहलाता है, वह सर्वहर मृत्यु मैं हूँ। अथवा परम ईश्वर प्रलयकालमे सबका नाश करनेवाला होनेसे सर्वहर है, वह मै हूँ।

उद्भव उत्कर्षः अभ्युदयः तत्प्राप्तिहेतुः च अहम्, केषां भविष्यतां भाविकल्याणानाम् उत्कर्षप्राप्तियोग्यानाम् इत्यर्थः।

भविष्यत्मे जिनका कल्याण होनेवाला है अर्थात् जो उत्कर्षता-प्राप्तिके योग्य हैं उनका उद्भव अर्थात् उत्कर्ष—उन्नतिकी प्राप्तिका कारण मै हूँ।

कीर्तिः श्रीः वाक् च नारीणां स्मृतिः मेधा धृतिः क्षमा इति एता उत्तमाः स्त्रीणाम् अहम् अस्मि यासाम् आभासमात्रसंबन्धेन अपि लोकः कृतार्थम् आत्मानं मन्यते॥ ३४॥

स्त्रियोमे जो कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धृति और क्षमा ये उत्तम स्त्रियाँ है, जिनके आभासमात्र सम्बन्धसे भी लोग अपनेको कृतार्थ मानते है, वे मै हूँ॥ ३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

बृहत्साम तथा साम्नां प्रधानम् अस्मि। गायत्री छन्दसाम् अहं गायत्र्यादिछन्दोविशिष्टानाम् ऋचां गायत्री ऋग् अहम् इत्यर्थः। मासानां मार्गशीर्षः अहम् ऋतूनां कुसुमाकरो वसन्तः॥ ३५॥

तथा सामवेदके प्रकरणोंमे जो बृहत्साम नामक प्रधान प्रकरण है वह मै हूँ। छन्दोमे मै गायत्री छन्द हूँ अर्थात् जो गायत्री आदि छन्दोबद्ध ऋचाएँ है उनमे गायत्री नामक ऋचा मैं हूँ। महीनोमे मार्गशीर्ष नामक महीना और ऋतुओमे वसन्त ऋतु मै हूँ॥ ३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

द्यूतम् अक्षदेवनादिलक्षणं छलयतां छलस्य कर्तॄणाम् अस्मि, तेजः तेजस्विनाम् अहम्, जयः अस्मि जेतॄणाम्, व्यवसायः अस्मि व्यवसायिनाम् सत्त्वं सत्त्ववतां सात्त्विकानाम् अहम्॥ ३६॥

छल करनेवालोंमे जो पासोसे खेलना आदि द्यूत है वह मै हूँ। तेजस्वियोंका मैं तेज हूँ। जीतनेवालोंका मैं विजय हूँ। निश्चय करनेवालोंका निश्चय (अथवा उद्यमशीलोंका उद्यम) हूँ और सत्त्वयुक्त पुरुषोंका अर्थात् सात्त्विक पुरुषोंका मैं सत्त्वगुण हूँ॥ ३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वृष्णीनां वासुदेवः अस्मि **अयम् एव अहं त्वत्-सखा**, पाण्डवानां धनंजयः **त्वम् एव**, मुनीनां **मननशीलानां सर्वपदार्थज्ञानिनाम्** अपि अहं व्यासः, कवीनां **क्रान्तदर्शिनाम्**, उशना कविः **अस्मि** ॥ ३७ ॥

वृष्णिवंशियोंमे यह तुम्हारा सखा वासुदेव मै हूँ । पाण्डवोमे धनंजय अर्थात् तू ही मै हूँ । मुनियोमे अर्थात् मनन करनेवालोमे और सब पदार्थोंको जाननेवालोंमे भी मै व्यास हूँ । कवियोमे अर्थात् त्रिकालदर्शियोमे मै शुक्राचार्य हूँ ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दण्डो दमयतां **दमयितॄणाम्** अस्मि **अदान्तानां दमकारणम्**, नीतिः अस्मि जिगीषतां **जेतुम् इच्छताम्**, मौनं च एव अस्मि गुह्यानां **गोप्यानाम्**, ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम् ॥ ३८ ॥

दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् उन्मार्गमे चलनेवालोको दमन करनेकी शक्ति मै हूँ । विजय चाहनेवालोका न्याय मै हूँ । गुप्त रखने योग्य भावोमे मौन मै हूँ । ज्ञानवानोका ज्ञान मै हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

यत् च अपि सर्वभूतानां बीजं **प्ररोहकारणं** तद् अहम् अर्जुन ।

हे अर्जुन ! सर्वभूतोंका जो बीज अर्थात् उत्पत्तिका कारण है, वह मैं हूँ ।

प्रकरणोपसंहारार्थं विभूतिसंक्षेपम् आह—

प्रकरणका उपसंहार करनेके लिये समस्त विभूतियोंका सार कहते हैं—

न तद् अस्ति भूतं चराचरं **चरम् अचरं वा** मया विना यत् स्याद् **भवेद् मया अपकृष्टं परित्यक्तं निरात्मकं शून्यं हि तत् स्याद् अतो मदात्मकं सर्वम् इत्यर्थः** ॥ ३९ ॥

ऐसा वह चर या अचर कोई भी भूत-प्राणी नहीं है जो मेरे विना हो । क्योंकि जो मुझसे रहित होगा वह सत्तारहित–शून्य होगा, अतः यह सिद्ध हुआ कि सब कुछ मेरा ही स्वरूप है ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

न अन्तः अस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां **विस्तराणां** परंतप । **न हि ईश्वरस्य सर्वात्मनो दिव्यानां विभूतीनाम् इयत्ता शक्या वक्तुं ज्ञातुं वा केनचित्** । एष तु उद्देशत **एकदेशेन** प्रोक्तो विभूतेः विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अर्थात् विस्तारका अन्त नहीं है । क्योंकि सर्वात्मरूप ईश्वरकी दिव्य विभूतियाँ 'इतनी ही है' इस प्रकार किसीके द्वारा भी जाना या कहा नहीं जा सकता । यह तो अपनी विभूतियोंका विस्तार मेरेद्वारा सक्षेपसे अर्थात् एक अंशसे ही कहा गया है ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

यद् यद् **लोके** विभूतिमद् **विभूतियुक्तं** सत्त्वं **वस्तु** श्रीमद् ऊर्जितम् एव वा **श्रीः लक्ष्मीः तया सहितम् उत्साहोपेतं वा** । तत् तद् एव अवगच्छ त्व **जानीहि** मम **ईश्वरस्य** तेजोऽशसंभवं **तेजसः अंश एकदेशः संभवो यस्य तत् तेजोंऽशसंभवम् इति अवगच्छ त्वम्** ॥ ४१ ॥

संसारमे जो-जो भी पदार्थ विभूतिमान्—विभूति-युक्त हैं तथा श्रीमान् और ऊर्जित (शक्तिमान्) अर्थात् श्री–लक्ष्मी, उससे युक्त और उत्साहयुक्त हैं उन-उनको तू मुझ ईश्वरके तेजोमय अंशसे उत्पन्न हुए ही जान । अर्थात् मेरे तेजका एक अंश–भाग ही जिनकी उत्पत्तिका कारण है, इन सब वस्तुओंको ऐसी जान ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अथवा बहुना एतेन **एवमादिना** किं ज्ञातेन तव अर्जुन **स्यात् सावशेषेण । अशेषतः त्वम् इमम् उच्यमानम् अर्थं शृणु** ।

विष्टभ्य **विशेषतः स्तम्भनं दृढं कृत्वा** इदं कृत्स्न जगद् एकांशेन **एकावयवेन एकपादेन सर्वभूतस्वरूपेण इति एतत्, तथा च मन्त्र-वर्णः**—*'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'(तै० आर० ३ । १२)* **इति** स्थित अहम् **इति** ॥ ४२ ॥

अथवा हे अर्जुन ! इस उपर्युक्त प्रकारसे वर्णन किये हुए अधूरे विभूति-विस्तारके जाननेसे तेरा क्या (प्रयोजन सिद्ध) होगा, (तू तो बस,) यह सम्पूर्णतासे कहा जानेवाला अभिप्राय ही सुन ले—

मै एक अंशसे अर्थात् सर्व भूतोंका आत्मरूप जो मेरा एक अवयव है उससे, इस सारे जगत्को विशेष रूपसे दृढतापूर्वक धारण करके स्थित हो रहा हूँ ऐसा ही वेदमन्त्र भी कहते है कि '**समस्त भूत इस परमेश्वरका एक पाद है** ।' इत्यादि ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीता-सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूति-योगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ॐ

एकादशोऽध्यायः

भगवतो विभूतय उक्ताः तत्र च *'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'* इति भगवता अभिहितं श्रुत्वा यद् जगदात्मरूपम् आद्यम् ऐश्वरं तत् साक्षात् कर्तुम् इच्छन्—

अर्जुन उवाच—

(पूर्वाध्यायमे जो) भगवान्‌की विभूतियोंका वर्णन किया गया है उसमे भगवान्‌से कहे हुए **'मैं इस सारे जगत्‌को एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ'** इन वचनोंको सुनकर ईश्वरका जो जगदात्मक आदि स्वरूप है उसका प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी इच्छासे अर्जुन बोला—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

मदनुग्रहाय **मम अनुग्रहार्थं** परमं **निरतिशयं** गुह्यं **गोप्यम्** अध्यात्मसंज्ञितम् **आत्मानात्मविवेकविषयं** यत् त्वया उक्तं वचो **वाक्यम्**, तेन **ते वचसा** मोहः अयं विगतो मम **अविवेकबुद्धिः अपगता इत्यर्थः** ॥ १ ॥

मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम—अत्यन्त श्रेष्ठ, गुह्य—गोपनीय, अध्यात्म नामक अर्थात् आत्मा-अनात्माके विवेचनविषयक वाक्य कहे हैं, उन आपके वचनोसे मेरा यह मोह नष्ट हो गया है अर्थात् मेरी अविवेक-बुद्धि नष्ट हो गयी है ॥ १ ॥

किं च—

तथा—

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

भव **उत्पत्तिः** अप्ययः **प्रलयो** भूताना **तौ** भवाप्ययौ श्रुतौ विस्तरशो मया **न संक्षेपतः** त्वत्तः **त्वत्सकाशात्** कमलपत्राक्ष **कमलस्य पत्रं कमलपत्रं तद्वद् अक्षिणी यस्य तव स त्वं कमलपत्राक्षो हे कमलपत्राक्ष** माहात्म्यम् अपि च अव्ययम् **अक्षयं श्रुतम् इति अनुवर्तते** ॥ २ ॥

मैने आपसे प्राणियोके भव—उत्पत्ति और अप्यय—प्रलय, ये दोनो सक्षेपसे नहीं, विस्तारपूर्वक सुने है; और हे कमलपत्राक्ष अर्थात् कमलपत्रके सदृश नेत्रोवाले कृष्ण ! आपका अविनाशी—अक्षय माहात्म्य भी मै सुन चुका हूँ । 'श्रुतम्' यह क्रिया-पद पूर्ववाक्यसे लिया गया है ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

एवम् एतद् **न अन्यथा** यथा **येन प्रकारेण** आत्थ **कथयसि** त्वम् आत्मानं परमेश्वर **तथापि** द्रष्टुम् इच्छामि ते **तव ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः संपन्नम्** ऐश्वरं वैष्णवं रूपं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! आप अपनेको जिस प्रकारसे बतलाते हैं, आप ठीक वैसे ही हैं अन्यथा नहीं । तथापि हे पुरुषोत्तम ! ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त आपके ऐश्वर्यमय वैष्णवरूपको मै देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

मन्यसे **चिन्तयसि** यदि मया **अर्जुनेन** तत् शक्यं द्रष्टुम्, इति प्रभो **स्वामिन्** योगेश्वर **योगिनो योगाः तेषाम् ईश्वरो योगेश्वरो हे योगेश्वर । यस्माद् अहम् अतीव अर्थी द्रष्टुं** ततः **तस्माद्** मे **मदर्थं** दर्शय त्वम् आत्मानम् अव्ययम् ॥ ४ ॥

हे स्वामिन् ! यदि मुझ अर्जुनद्वारा आप अपना वह रूप देखा जाना सम्भव समझते है, तो हे योगेश्वर अर्थात् योगियोके ईश्वर ! मै आपके उस रूपका दर्शन करनेकी उत्कट इच्छा रखता हूँ, इसलिये आप मुझे अपना वह अविनाशी स्वरूप दिखलाइये ॥ ४ ॥

एवं चोदितः अर्जुनेन—श्रीभगवानुवाच—

अर्जुनसे इस प्रकार प्रेरित हुए श्रीभगवान् बोले—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पश्य मे **मम** पार्थ रूपाणि शतशः अथ सहस्रशः **अनेकश इत्यर्थः । तानि च** नानाविधानि **अनेकप्रकाराणि दिवि भवानि** दिव्यानि **अप्राकृतानि** नानावर्णाकृतीनि च **नाना विलक्षणा नीलपीतादिप्रकारा वर्णाः तथा आकृतयो अवयवसंस्थानविशेषा येषां रूपाणां तानि नानावर्णाकृतीनि च** ॥ ५ ॥

हे पार्थ ! तू मेरे सैकड़ो-हजारों अर्थात् अनेकों रूपोको देख, जो कि नाना प्रकारके भेदवाले और दिव्य अर्थात् देवलोकमे होनेवाले—अलौकिक है तथा नाना प्रकारके वर्ण और आकृतिवाले है अर्थात् जिनके नील, पीत आदि नाना प्रकारके वर्ण और अनेक आकारवाले अवयव है, ऐसे रूपोको देख ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

पश्य आदित्यान् **द्वादश, वसून् अष्टौ, रुद्रान् एकादश,** अश्विनौ **द्वौ,** मरुतः **सप्तसप्तगणा ये तान्,** तथा बहूनि **अन्यानि अपि** अदृष्टपूर्वाणि **मनुष्यलोके त्वया अन्येन वा केनचित्** पश्य आश्चर्याणि **अद्भुतानि** भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! तू द्वादश आदित्योंको, आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उनचास मरुद्गणोंको देख । तथा और भी जिन्हें मनुष्यलोकमे तूने अथवा और किसीने भी कभी नहीं देखा, ऐसे बहुत-से आश्चर्यमय–अद्भुत दृश्य देख ॥ ६ ॥

न केवलम् एतावद् एव—

केवल इतना ही नहीं—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

इह एकस्थम् **एकस्मिन् स्थितं** जगत् कृत्स्नं **समस्तं** पश्य अद्य **इदानीं** सचराचरं **सह चरेण अचरेण च वर्तमानं** मम देहे गुडाकेश यत् च अन्यद् **जयपराजयादि यत् शङ्कसे** *'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'* **इति यद् अवोचः तद् अपि** द्रष्टुं **यदि** इच्छसि ॥ ७ ॥

हे गुडाकेश ! अब तू मेरे इस शरीरमे एक ही स्थानमे स्थित चराचरसहित सारे जगत्को देख ले । तथा और भी जो कुछ जय-पराजय आदि दृश्य जिनके लिये तू **'हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे ?'** इस प्रकार शंका करता था, वह सब या अन्य जो कुछ यदि देखना चाहता हो तो देख ले ॥ ७ ॥

किन्तु—

किन्तु—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

न तु मां **विश्वरूपधरं** शक्यसे द्रष्टुम् अनेन एव **प्राकृतेन** स्वचक्षुषा **स्वकीयेन चक्षुषा येन तु शक्यसे द्रष्टुं दिव्येन तद्** दिव्यं ददामि ते **तुभ्यं** चक्षुः **तेन** पश्य मे योगम् ऐश्वरम् **ईश्वरस्य मम ऐश्वरं योगं योगशक्त्यतिशयम् इत्यर्थः** ॥ ८ ॥

तू मुझ विश्वरूपधारी परमेश्वरको अपने इन प्राकृत नेत्रोंसे नहीं देख सकेगा । जिन दिव्य नेत्रोंद्वारा तू मुझे देख सकेगा, वे दिव्य नेत्र (मैं) तुझे देता हूँ, उनके द्वारा तू मुझ ईश्वरके ऐश्वर्य और योगको अर्थात् अतिशय योगसामर्थ्यको देख ॥ ८ ॥

संजय उवाच—

संजय बोला—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

एवं यथोक्तप्रकारेण उक्त्वा ततः अनन्तरं हे राजन् धृतराष्ट्र महायोगेश्वरो महान् च असौ योगेश्वरः च हरिः नारायणो दर्शयामास दर्शितवान् पार्थाय पृथासुताय परमं रूपं विश्वरूपम् ऐश्वरम् ॥ ९ ॥

हे राजा धृतराष्ट्र ! इस प्रकार कहनेके अनन्तर महायोगेश्वर श्रीहरिने यानी जो अति महान् और योगेश्वर भी है उन नारायणने पृथा-पुत्र अर्जुनको अपना ईश्वरीय परम रूप—विराट्स्वरूप दिखलाया ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

अनेकवक्त्रनयनम् अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन् रूपे तद् अनेकवक्त्रनयनम् । अनेकाद्भुतदर्शनम् अनेकानि अद्भुतानि विस्मापकानि दर्शनानि यस्मिन् रूपे तद् अनेकाद्भुतदर्शनं तथा अनेकदिव्याभरणम् अनेकानि दिव्यानि आभरणानि यस्मिन् तद् अनेकदिव्याभरणं तथा दिव्यानेकोद्यतायुधं दिव्यानि अनेकानि उद्यतानि आयुधानि यस्मिन् तद् दिव्यानेकोद्यतायुधं दर्शयामास इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ १० ॥

जो अनेक मुख और नेत्रोंवाला है अर्थात् जिस रूपमे अनेक मुख और नेत्र हैं, तथा अनेक अद्भुत दर्शनोंवाला है अर्थात् जिसमे आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले अनेक दृश्य हैं, जो अनेक दिव्य भूषणोसे युक्त है यानी जिसमे अनेक दिव्य आभूषण है और जो हाथमे उठाये हुए अनेक दिव्य शस्त्रोसे युक्त है यानी जिस रूपके हाथोमे अनेक दिव्य शस्त्र उठाये हुए हैं, ऐसा वह रूप भगवान्ने अर्जुनको दिखलाया । इस श्लोकका पूर्वश्लोकके 'दर्शयामास' शब्दसे सम्बन्ध है ॥ १० ॥

किं च—

तथा—

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यानि माल्यानि पुष्पाणि अम्बराणि वस्त्राणि च ध्रियन्ते येन ईश्वरेण तं दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनं दिव्यं गन्धानुलेपनं यस्य तं दिव्यगन्धानुलेपनं सर्वाश्चर्यमयं सर्वाश्चर्यप्रायं देवम् अनन्तं न अस्य अन्तः अस्ति इति अनन्तः तं विश्वतोमुखं सर्वतोमुखं सर्वभूतात्मत्वात् तं दर्शयामास अर्जुनो ददर्श इति वा अध्याह्रियते ॥ ११ ॥

जिस ईश्वरने दिव्य पुष्पमालाओ और वस्त्रोंको धारण कर रक्खा है, जिसने दिव्य गन्धका अनुलेपन कर रक्खा है, जो समस्त आश्चर्यमय दृश्योंसे युक्त है, जो सब भूतोंका आत्मा होनेके कारण सब ओर मुखवाला है तथा जिसका अन्त नहीं है ऐसा अनन्त और दिव्य विराट्रूप भगवान्ने अर्जुनको 'दिखलाया' इस प्रकार पूर्वश्लोकसे अन्वय कर लेना चाहिये अथवा अर्जुनने ऐसा रूप 'देखा' इस प्रकार अध्याहार कर लेना चाहिये ॥ ११ ॥

या पुनः भगवतो विश्वरूपस्य भाः तस्या उपमा उच्यते—

भगवान्के विराट्रूपकी जो प्रभा-प्रकाश है, उसकी उपमा कहते हैं—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

दिवि **अन्तरिक्षे तृतीयस्यां वा दिवि सूर्याणां सहस्रं सूर्यसहस्रं तस्य युगपदुत्थितस्य या** युगपत् उत्थिता भाः सा यदि सदृशी स्यात् तस्य महात्मनो **विश्वरूपस्य एव** भासो **यदि वा न स्यात् ततः अपि विश्वरूपस्य एव भा अतिरिच्यते इति अभिप्रायः** ॥ १२ ॥

द्युलोकमें अर्थात् आकाशमें या तीसरे स्वर्गलोकमें एक साथ उदय हुए हजारों सूर्योंका जो एक साथ उत्पन्न हुआ प्रकाश हो, वह प्रकाश उस महात्मन्–विश्वरूपके प्रकाशके सदृश कदाचित् हो तो हो, अथवा सम्भव है कि न भी हो अर्थात् उससे भी विश्वरूपका प्रकाश ही अधिक हो सकता है ॥ १२ ॥

किं च—

तथा—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

तत्र **तस्मिन् विश्वरूपे एकस्मिन् स्थितम्** एकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तम् अनेकधा **देवपितृ-मनुष्यादिभेदैः** अपश्यद् **दृष्टवान्** देवदेवस्य **हरेः** शरीरे पाण्डवः **अर्जुनः** तदा ॥ १३ ॥

उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुनने देव, पितृ और मनुष्यादि भेदसे अनेक प्रकार विभक्त हुए समस्त जगत्को उस विश्वरूप देवाधिदेव हरिके शरीरमें ही एकत्र स्थित देखा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

ततः **तं दृष्ट्वा** स **विस्मयेन आविष्टो** विस्मयाविष्टो **हृष्टानि रोमाणि यस्य सः अयं** हृष्टरोमा **च अभवद्** धनंजयः । प्रणम्य **प्रकर्षेण नमनं कृत्वा प्रह्वीभूतः सन्** शिरसा देवं **विश्वरूपधरं** कृताञ्जलिः **नमस्कारार्थं संपुटी-कृतहस्तः सन्** अभाषत **उक्तवान्** ॥ १४ ॥

फिर, उसको देखकर वह धनंजय आश्चर्ययुक्त और प्रफुल्लित रोमवाला हो गया अर्थात् उसके रोंगटे खड़े हो गये, फिर वह विश्वरूपधारी परमात्मदेवको शिरसे प्रणाम करके अर्थात् नम्रता-पूर्वक भली प्रकार नमस्कार करके पुनः नमस्कारके लिये हाथ जोड़कर बोला ॥ १४ ॥

कथं यत् त्वया दर्शितं विश्वरूपं तद् अहं पश्यामि इति स्वानुभवम् आविष्कुर्वन्—

अर्जुन उवाच—

जो विश्वरूप आपने मुझे दिखलाया है उसे मैं किस प्रकार देख रहा हूँ—ऐसा अपना अनुभव प्रकट करता हुआ अर्जुन बोला—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

पश्यामि **उपलभे हे** देव तव देहे देवान् सर्वान् तथा भूतविशेषसंघान् **भूतविशेषाणां स्थावरजङ्गमानां नानासंस्थानविशेषाणां संघा भूतविशेषसंघाः तान् । किं च** ब्रह्माणं **चतुर्मुखम्** ईशम् **ईशितारं प्रजानां** कमलासनस्थं **पृथिवीपद्ममध्ये मेरुकर्णिकासनस्थम् इत्यर्थः** । ऋषीन् च **वसिष्ठादीन्**, सर्वान् उरगान् च **वासुकिप्रभृतीन्** दिव्यान् **दिवि भवान्** ॥ १५ ॥

हे देव ! मै आपके शरीरमे समस्त देवोको, तथा स्थावर-जङ्गमरूप नाना प्रकारकी विभक्त आकृतिवाले समस्त भूत-विशेषोंके समूहोको एव कमलासनपर विराजमान अर्थात् पृथिवीरूप कमलमे सुमेरुरूप कर्णिकापर बैठे हुए प्रजाके शासनकर्ता चतुर्मुख ब्रह्माको, वसिष्ठादि ऋषियोको और वासुकि प्रभृति समस्त दिव्य अर्थात् देवलोकमे होनेवाले सर्पोंको देख रहा हूँ ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् **अनेके बाहव उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्य तव स त्वम् अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रः तम् अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं** पश्यामि त्वा **त्वां** सर्वतः **सर्वत्र** अनन्तरूपम् **अनन्तानि रूपाणि अस्य इति अनन्तरूपः तम् अनन्तरूपम्** । न अन्तम् **अन्तः अवसानं** न मध्य **मध्यं नाम द्वयोः कोटयोः अन्तरं** न पुनः तव आदिम्, **तव देवस्य न अन्तं** पश्यामि **न मध्यं पश्यामि न पुनः आदिं पश्यामि हे** विश्वेश्वर **हे** विश्वरूप ॥ १६ ॥

मै आपको अनेको भुजा, उदर, मुख और नेत्रोवाला अर्थात् आपके जिस स्वरूपमे अनेकों भुजा, उदर, मुख और नेत्र है ऐसे रूपवाला तथा सब ओरसे अनन्त रूपवाला अर्थात् जिसके सर्वत्र अनन्त रूप है ऐसा, देख रहा हूँ । हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप !! मै आपका न तो अन्त अर्थात् समाप्ति, न मध्य अर्थात् आदि और अन्तके बीचकी अवस्था और न आदि ही देखता हूँ, अभिप्राय यह कि मुझे आप परमात्मदेवका न अन्त दिखलायी देता है, न मध्य दीखता है और न आपका आदि ही दिखलायी देता है ॥ १६ ॥

किं च—

तथा—

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

किरीटिनं **किरीटं नाम शिरोभूषणविशेषः तद् यस्य अस्ति स किरीटी तं किरीटिनं तथा** गदिनं **गदा यस्य विद्यते इति गदी तं गदिनं**

सिरके भूषणविशेषका नाम किरीट है, वह जिसके शिरपर हो उसे किरीटी कहते है । जिसके पास गदा हो वह गदी है । जिसके हाथमे चक्र हो वह चक्री है ।

तथा चक्रिणं चक्रम् अस्य अस्ति इति चक्री तं चक्रिणं च तेजोराशिं तेजःपुञ्जं सर्वतोदीप्तिमन्तं सर्वतो दीप्तिः यस्य अस्ति स सर्वतोदीप्तिमान् तं सर्वतोदीप्तिमन्तं पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं दुःखेन निरीक्ष्यो दुर्निरीक्ष्यः तं दुर्निरीक्ष्यं समन्तात् समन्ततः सर्वत्र दीप्तानलार्कद्युतिम् अनलः च अर्कः च अनलार्कौ दीप्तौ अनलार्कौ दीप्तानलार्कौ तयोः दीप्तानलार्कयोः द्युतिः इव द्युतिः तेजो यस्य तव स त्वं दीप्तानलार्कद्युतिः तं त्वां दीप्तानलार्कद्युतिम् । अप्रमेयं न प्रमेयम् अप्रमेयम् अशक्यपरिच्छेदम् इत्यर्थः॥ १७ ॥

इस प्रकार, मै आपको किरीटी—किरीटयुक्त, गदी—गदायुक्त, चक्री—चक्रयुक्त, तेजोराशि—तेजका समूह और सर्वतोदीप्तिमान्—सब ओरसे दीप्तिशाली देख रहा हूँ । तथा आपको दुर्निरीक्ष्य—जो कठिनतासे देखा जा सके ऐसा, एवं सब ओरसे प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशमय और बुद्धि आदिसे जिसका ग्रहण न हो सके, ऐसा अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ, प्रदीप्त यानी प्रकाशित अग्नि और अर्क यानी सूर्य इन दोनोके समान जिसका प्रकाश—तेज हो उसका नाम 'दीप्तानलार्कद्युति' है ॥ १७ ॥

इत एव ते योगशक्तिदर्शनाद् अनुमिनोमि—

इसीलिये अर्थात् आपकी योगशक्तिको देखकर ही मै अनुमान करता हूँ—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

त्वम् अक्षरं न क्षरति इति परमं ब्रह्म वेदितव्यं ज्ञातव्यं मुमुक्षुभिः, त्वम् अस्य विश्वस्य समस्तस्य जगतः परं प्रकृष्टं निधानम्, निधीयते अस्मिन् इति निधानं पर आश्रय इत्यर्थः ।

किं च त्वम् अव्ययो न तव व्ययो विद्यते इति अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता शश्वद् भवः शाश्वतो नित्यो धर्मः तस्य गोप्ता शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनः चिरंतनः त्वं पुरुषः परो मतः अभिप्रेतो मे मम ॥ १८ ॥

आप मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा जाननेयोग्य परम-अक्षर अर्थात् जिसका कभी नाश न हो ऐसे परम-ब्रह्म परमात्मा है । आप ही इस समस्त जगत्के परम उत्तम निधान है—जिसमे कोई वस्तु रक्खी जाय उसे निधान कहते हैं, सो आप इस संसारके परम आश्रय हैं ।

इसके सिवा आप अविनाशी है अर्थात् आपका कभी नाश नहीं होता, इसलिये आप नाशरहित है और सनातनधर्मके रक्षक हैं अर्थात् जो सदासे है, ऐसे नित्यधर्मके आप रक्षक है और आप ही सनातन परमपुरुष हैं—यह मेरा मत है ॥ १८ ॥

किं च—

तथा—

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

अनादिमध्यान्तम् **आदिः च मध्यं च अन्तः च न विद्यते यस्य सः अयम् अनादिमध्यान्तः तं त्वाम् अनादिमध्यान्तम्**, अनन्तवीर्यं **न तव वीर्यस्य अन्तः अस्ति इति अनन्तवीर्यः तं त्वाम् अनन्तवीर्यम्, तथा** अनन्तबाहुम् **अनन्ता बाहवो यस्य तव स त्वम् अनन्तबाहुः तं त्वाम् अनन्तबाहुं** शशिसूर्यनेत्रं **शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तव स त्वं शशिसूर्यनेत्रं तं त्वां शशिसूर्यनेत्रं चन्द्रादित्यनयनं** पश्यामि, त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं **दीप्तः च असौ हुताशः च स वक्त्रं यस्य तव स त्वं दीप्तहुताशवक्त्रः तं त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं** स्वतेजसा विश्वम् इदं तपन्तं **तापयन्तम्** ॥ १९ ॥

(मैं) आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित अर्थात् जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, ऐसे रूपवाला और अनन्तवीर्य—अनन्त सामर्थ्यसे युक्त देखता हूँ, आपकी सामर्थ्यका अन्त नहीं है, इसलिये आप अनन्तवीर्य हैं तथा मैं आपको अनन्त भुजाओंसे युक्त, चन्द्रमा और सूर्यरूप नेत्रोंवाला, प्रज्वलित अग्निरूप मुखोंवाला और अपने तेजसे इस जगत्‌को तपायमान करते हुए देखता हूँ अर्थात् जिस रूपके अनन्त हाथ हों, चन्द्रमा और सूर्य ही जिसके नेत्र हों, प्रज्वलित अग्नि ही जिसका मुख हो और जो अपने तेजसे इस सारे विश्वको तपायमान करता हो, ऐसा रूप धारण किये आपको देख रहा हूँ ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

द्यावापृथिव्योः इदम् अन्तरं हि **अन्तरिक्षं** व्याप्तं त्वया एकेन **विश्वरूपधरेण** दिशः च सर्वा **व्याप्ताः** । दृष्ट्वा **उपलभ्य** अद्भुतं **विस्मापकं** रूपम् इदं तव उग्रं **क्रूरं लोकानां त्रयं** लोकत्रय प्रव्यथितं **भीतं प्रचलितं वा हे** महात्मन् **अक्षुद्रस्वभाव** ॥ २० ॥

एकमात्र आप विश्वरूपधारी परमेश्वरसे ही यह स्वर्ग और पृथिवीके बीचका सारा आकाश और समस्त दिशाएँ भी परिपूर्ण हो रही हैं ।

हे महात्मन् ! अर्थात् हे अक्षुद्र स्वभाववाले कृष्ण ! आपके इस अद्भुत—आश्चर्यजनक, भयंकर—क्रूर रूपको देखकर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं अर्थात् भयभीत या विचलित हो रहे हैं ॥ २० ॥

अथ अधुना पुरा '*यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः*' **इति अर्जुनस्य संशय आसीत् तन्निर्णयाय पाण्डवजयम् ऐकान्तिकं दर्शयामि इति प्रवृत्तो भगवान् तं पश्यन् आह किं च—**

अर्जुनके मनमें जो पहले ऐसा संशय था कि **'हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे ?'** उसका निर्णय करनेके लिये 'मैं पाण्डवोंकी निश्चित विजय दिखलाऊँगा' इस भावसे प्रवृत्त हुए भगवान् अपना वैसा रूप दिखाने लगे, उस रूपको देखकर अर्जुन बोला—

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

अमी हि **युध्यमाना योद्धारः** त्वा **त्वां** सुरसंघा **ये अत्र भूभारावताराय अवतीर्णा वस्वादिदेवसंघा मनुष्यसंस्थानाः त्वां** विशन्ति **प्रविशन्तो दृश्यन्ते । तत्र** केचिद् भीताः प्राञ्जलयः **सन्तो** गृणन्ति **स्तुवन्ति त्वाम् अन्ये पलायने अपि अशक्ताः सन्तः ।**

युद्धे प्रत्युपस्थिते उत्पातादिनिमित्तानि उपलक्ष्य स्वस्ति **अस्तु जगत** इति उक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा **महर्षीणां सिद्धानां च संघाः** स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः **संपूर्णाभिः** ॥२१॥

यह युद्ध करनेवाले योद्धा-स्वरूप देवगण, यानी जो भूमिका भार उतारनेके लिये यहाँ अवतीर्ण हुए है, वे मनुष्योकी-सी आकृतिवाले वस्वादि देव-समुदाय आपमे (दौड-दौड़कर) प्रवेश कर रहे है अर्थात् प्रवेश करते हुए दिखलायी दे रहे हैं। उनमेसे अन्य कोई-कोई तो भागनेमे असमर्थ होनेके कारण भयभीत होकर हाथ जोडे हुए आपकी स्तुति कर रहे है ।

तथा महर्षियो और सिद्धोके समुदाय युद्ध आरम्भ होनेपर उत्पात आदि अशुभ चिह्नोंको देखकर 'संसारका कल्याण हो' ऐसा कहकर अनेको अर्थात् सम्पूर्ण स्तोत्रोद्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥

किं च अन्यत्—

तथा और भी—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या **रुद्रादयो गणा** विश्वे अश्विनौ **च देवौ** मरुत. च ऊष्मपाः च **पितरो** गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा **गन्धर्वा हाहा-हूहूप्रभृतयो यक्षाः कुबेरप्रभृतयः असुरा विरोचनप्रभृतयः सिद्धाः कपिलादयः तेषां संघा गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः ते** वीक्षन्ते **पश्यन्ति** त्वा **त्वां** विस्मिता **विस्मयम् आपन्नाः सन्तः ते** एव सर्वे ॥ २२ ॥

जो रुद्र, आदित्य, वसु और साध्य आदि देव-गण हैं, एवं जो विश्वेदेव, दोनो अश्विनीकुमार, वायु-देव और ऊष्मपा नामक पितृगण हैं तथा जो गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोके समुदाय है यानी हाहा-हूहू आदि गन्धर्व, कुबेरादि यक्ष, विरोचनादि असुर और कपिलादि सिद्ध इन सबके समुदाय हैं, वे सभी आश्चर्ययुक्त हुए आपको देख रहे हैं ॥२२॥

यस्मात्—

क्योंकि—

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

रूपं महद् अतिप्रमाणं ते तव बहुवक्त्रनेत्रं बहूनि वक्त्राणि मुखानि नेत्राणि चक्षूंषि च यस्मिन् तद् रूपं बहुवक्त्रनेत्रं हे महाबाहो, बहुबाहूरुपादं बहवो बाहव ऊरवः पादाः च यस्मिन् रूपे तद् बहुबाहूरुपादम्, किं च बहूदरं बहूनि उदराणि यस्मिन् इति बहूदरम्, बहुदंष्ट्राकरालं बह्वीभिः दंष्ट्राभिः करालं विकृतं तद् बहुदंष्ट्राकरालम् । दृष्ट्वा रूपम् ईदृशं लोका लौकिकाः प्राणिनः प्रव्यथिताः प्रचलिता भयेन तथा अहम् अपि ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! आपका यह रूप अति महान्—बहुत लंबा-चौड़ा अनेकों मुख और नेत्रोंवाला—जिसके अनेकों मुख और नेत्र है ऐसा, बहुत-सी भुजाओं, जंघाओं और चरणोंवाला—जिसके बहुत-सी भुजाएँ, जंघाएँ और चरण हैं ऐसा, तथा बहुत-से पेटोंवाला—जिसके बहुत-से पेट हैं ऐसा,और बहुत-सी दाढ़ोंसे अति विकराल आकृतिवाला है अर्थात् बहुत-सी दाढ़ोंके कारण जिसकी आकृति अति भयंकर हो गयी है, ऐसा है । आपके ऐसे (विकट) रूपको देखकर संसारके समस्त प्राणी भयसे व्याकुल हो रहे है—काँप रहे है, और मै भी उन्हींकी भाँति भयभीत हो रहा हूँ ॥ २३ ॥

तत्र इदं कारणम्—

उसमे यह कारण है कि—

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

नभःस्पृशं द्युस्पर्शम् इत्यर्थः, दीप्तं प्रज्वलितम् अनेकवर्णम् अनेके वर्णा भयंकरा नानासंस्थाना यस्मिन् त्वयि तं त्वाम् अनेकवर्णम्, व्यात्ताननं व्यात्तानि विवृतानि आननानि मुखानि यस्मिन् त्वयि तं त्वां व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रं दीप्तानि प्रज्वलितानि विशालानि विस्तीर्णानि नेत्राणि यस्मिन् त्वयि तं त्वां दीप्तविशालनेत्रम्, दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा प्रव्यथितः प्रभीतः अन्तरात्मा मनो यस्य मम सः अहं प्रव्यथितान्तरात्मा सन् धृतिं धैर्यं न विन्दामि न लभे शमं च उपशमं मनस्तुष्टिं हे विष्णो ॥२४॥

आपको आकाशका स्पर्श किये हुए यानी स्वर्गतक व्याप्त, प्रदीप्त—प्रकाशमान और अनेक वर्णोंवाले अर्थात् अनेक भयंकर आकृतियोंसे युक्त देखकर तथा फैलाये हुए मुखोंवाले—जिस शरीरमे फैलाये हुए बहुत-से मुख है ऐसे और दीप्त विशाल नेत्रोंवाले–जिसके बडे-बडे नेत्र प्रज्वलित हो रहे हैं ऐसे, देखकर हे विष्णो ! प्रव्यथित-अन्तरात्मा—अत्यन्त भयभीत अन्तःकरणवाला मै अर्थात् जिसका मन भयसे व्याकुल हो रहा है ऐसा, मै धैर्य और उपशमको अर्थात् मनकी तृप्तिरूप शान्तिको नहीं पा रहा हूँ ॥ २४ ॥

कस्मात्—

क्योंकि—

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

दंष्ट्राकरालानि **दंष्ट्राभिः करालानि विकृतानि** ते तव मुखानि दृष्ट्वा एव **उपलभ्य** कालानलसंनिभानि **प्रलयकाले लोकानां दाहकः अग्निः कालानलः तत्संनिभानि कालानलसदृशानि दृष्ट्वा इति एतत्** । दिशः **पूर्वापरविवेकेन** न जाने **दिङ्मूढो जातः अस्मि, अतः** न लभे च **न उपलभे च** शर्म **सुखम् अतः** प्रसीद **प्रसन्नो भव हे** देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

दाढ़ोंसे युक्त भयंकर—विकराल आकृतिवाले और कालाग्निके समान अर्थात् प्रलयकालमें लोकोंको भस्मीभूत करनेवाली जो कालाग्नि है उसके समान आपके मुखोंको देखकर मैं इन दिशाओंको पूर्व और पश्चिमके विवेकपूर्वक नहीं जानता हूँ अर्थात् मुझे दिग्भ्रम हो गया है। इसीसे (आपके स्वरूपका दर्शन करते हुए भी) मुझे विश्राम—सुख नहीं मिल रहा है, सो हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ॥ २५ ॥

येभ्यो मम पराजयाशङ्का आसीत् सा च अपगता यतः—

जिन शूरवीरोंसे मुझे पहले पराजयकी आशंका थी, वह भी अब चली गयी; क्योंकि—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रा **दुर्योधनप्रभृतयः त्वरमाणा विशन्ति इति व्यवहितेन सम्बन्धः** ।* सर्वे सह एव **संहता** अवनिपालसंघैः **अवनिं पृथ्वीं पालयन्ति इति अवनिपालाः तेषां संघैः** । **किं च** भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः **कर्णः** तथा असौ सह अस्मदीयैः अपि **धृष्टद्युम्नप्रभृतिभिः** योधमुख्यैः **योधानां मुख्यैः प्रधानैः सह** ॥ २६ ॥

ये दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके समस्त पुत्र अवनिपालोंके दलोंसहित—अवनि यानी पृथ्वीका जो पालन करें उनका नाम अवनिपाल है। उनके दलों-सहित इकट्ठे होकर बड़े वेगसे आपके मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। यही नहीं, किन्तु भीष्म, द्रोण और यह सूतपुत्र—कर्ण एवं हमारी ओरके भी धृष्टद्युम्नादि प्रधान योद्धाओंके सहित (सब-के-सब) ॥ २६ ॥

किं च—

तथा—

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

वक्त्राणि **मुखानि** ते **तव** त्वरमाणाः **त्वरायुक्ताः सन्तो** विशन्ति । **किंविशिष्टानि मुखानि** दंष्ट्राकरालानि भयानकानि **भयंकराणि** ।

शीघ्रतासे—बड़ी जल्दीके साथ आपके मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। किस प्रकारके मुखोंमें ? दाढ़ोंवाले विकराल भयंकर मुखोंमें ।

किं च केचिद् **मुखानि प्रविष्टानां मध्ये** विलग्ना दशनान्तरेषु **दन्तान्तरेषु मांसम् इव भक्षितं** संदृश्यन्ते **उपलभ्यन्ते** चूर्णितैः **चूर्णीकृतैः** उत्तमाङ्गैः **शिरोभिः** ॥ २७ ॥

तथा उन मुखोंमें प्रविष्ट हुए पुरुषोंमेंसे भी कितने ही विचूर्णित मस्तकोंसहित दाँतोंके बीचमें भक्षण किये हुए मांसकी भाँति चिपके हुए दीख रहे हैं ॥ २७ ॥

* 'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति' इस अगले श्लोकके वाक्यांशसे इस वाक्यका सम्बन्ध है ।

कथं प्रविशन्ति मुखानि इति आह—

वे किस प्रकार मुखोमे प्रवेश करते है, सो कहते हैं—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा नदीना **स्रवन्तीनां** बहवः **अनेके अम्बूनां वेगा** अम्बुवेगाः **त्वराविशेषाः** समुद्रम् एव अभिमुखाः **प्रतिमुखा** द्रवन्ति **प्रविशन्ति** तथा **तद्वत्** तव अमी **भीष्मादयो** नरलोकवीरा **मनुष्यलोकशूरा** विशन्ति वक्त्राणि अभिविज्वलन्ति **प्रकाशमानानि** ॥ २८ ॥

जैसे चलती हुई नदियोके बहुत-से जलप्रवाह बडे वेगसे समुद्रके सम्मुख हुए ही दौड़ते हैं—समुद्रमे ही प्रवेश करते हैं, वैसे ही यह मनुष्यलोकके शूरवीर भीष्मादि आपके प्रज्वलित—प्रकाशमान मुखोमे प्रवेश कर रहे है ॥ २८ ॥

ते किमर्थं प्रविशन्ति कथं च इति आह—

वे किसलिये और किस प्रकार प्रवेश कर रहे हैं, सो कहते है—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनम् **अग्निं** पतङ्गाः **पक्षिणो** विशन्ति नाशाय **विनाशाय** समृद्धवेगाः **समृद्ध उद्भूतो वेगो गतिः येषां ते समृद्धवेगाः** तथा एव नाशाय विशन्ति लोकाः **प्राणिनः** तव अपि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे पतंग—पक्षीगण अपने नाशके लिये दौड़-दौड़कर अत्यन्त वेगसे प्रदीप्त अग्निमे प्रवेश करते है, वैसे ही (ये सब) प्राणी भी नष्ट होनेके लिये दौड़-दौडकर अत्यन्त वेगके साथ आपके मुखोमे प्रवेश कर रहे हैं। जिनका वेग—गति बढ़ी हुई हो, वे 'समृद्धवेग' कहलाते है ॥ २९ ॥

त्वं पुनः—

और आप—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

लेलिह्यसे **आस्वादयसि** ग्रसमानः **अन्तः प्रवेशयन् समन्ततो** लोकान् समग्रान् **समस्तान्** वदनैः **वक्त्रैः** ज्वलद्भिः **दीप्यमानैः**। तेजोभिः आपूर्य **संव्याप्य** जगत् समग्रं **सह अग्रेण समस्तम् इति एतत्**। **किं च** भासो **दीप्तयः** तव उग्राः **क्रूराः** प्रतपन्ति **प्रतापं कुर्वन्ति हे** विष्णो **व्यापनशील** ॥ ३० ॥

(उन) समस्त लोकोको देदीप्यमान मुखोद्वारा सब ओरसे निगलते हुए चाट रहे हैं अर्थात् उनका आस्वादन कर रहे है। तथा हे विष्णो—व्यापनशील परमात्मन् ! आपकी उग्र—कठोर प्रभाएँ समग्र जगत्को अर्थात् समस्त जगत्को अपने तेजसे व्याप्त करके तप रही हैं—तेज फैला रही हैं ॥३०॥

यत एवम् उग्रस्वभावः अतः

क्योंकि आप ऐसे उग्र स्वभाववाले हैं, इसलिये—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

आख्याहि **कथय** मे **मह्यं** को भवान् उग्ररूप. **क्रूराकारः** । नमः अस्तु ते **तुभ्यं हे** देववर **देवानां प्रधान** प्रसीद **प्रसादं कुरु** । विज्ञातुं **विशेषेण ज्ञातुम्** इच्छामि भवन्तम् आद्यम् **आदौ भवम् आद्यम्** । न हि **यस्मात्** प्रजानामि तव **त्वदीयां** प्रवृत्तिं **चेष्टाम्** ॥ ३१ ॥

मुझे बतलाइये कि भयङ्कर आकारवाले आप कौन हैं ? हे देववर अर्थात् देवोंमें प्रधान ! आपको नमस्कार हो, आप कृपा करें । सृष्टिके आदिमें होनेवाले आप परमेश्वरको मैं भली प्रकार जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टाको नहीं समझ रहा हूँ ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२ ॥

कालः अस्मि लोकक्षयकृत् **लोकानां क्षयं करोति इति लोकक्षयकृत्** प्रवृद्धो **वृद्धिं गतः** । **यदर्थं प्रवृद्धः तत् शृणु** लोकान् समाहर्तुं **संहर्तुम्** इह **अस्मिन् काले** प्रवृत्तः । ऋते अपि **विना अपि** त्वा **त्वां** न भविष्यन्ति **भीष्मद्रोणकर्णप्रभृतयः** सर्वे **येभ्यः तव आशङ्का** ये अवस्थिता. प्रत्यनीकेषु **अनीकम् अनीकं प्रति प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षभूतेषु अनीकेषु** योधा **योद्धारः** ॥ ३२ ॥

मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ । मैं जिसलिये बढ़ा हूँ वह सुन, इस समय मैं लोकोंका संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, इससे तेरे बिना भी (अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी) ये सब भीष्म, द्रोण और कर्ण प्रभृति शूरवीर-योद्धा लोग जिनसे तुझे आशंका हो रही है एवं जो प्रतिपक्षियोंकी प्रत्येक सेनामें अलग-अलग डटे हुए हैं—नहीं रहेंगे ॥ ३२ ॥

यस्माद् एवम्—

क्योंकि ऐसा है—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ **भीष्मद्रोणप्रभृतयः अतिरथा अजेया देवैः अपि अर्जुनेन जिता इति** यशो लभस्व **केवलं पुण्यैः हि तत् प्राप्यते** । जित्वा शत्रून् **दुर्योधनप्रभृतीन्** भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् **असपत्नम् अकण्टकम्** ।

इसलिये तू खड़ा हो और 'देवोंसे भी न जीते जानेवाले भीष्म, द्रोण आदि महारथियोंको अर्जुनने जीत लिया' ऐसे निर्मल यशको लाभ कर । ऐसा यश पुण्योंसे ही मिला करता है । दुर्योधनादि शत्रुओंको जीतकर समृद्धिसम्पन्न निष्कण्टक राज्य भोग ।

मया एव एते निहता **निश्चयेन हताः प्राणैः वियोजिताः** पूर्वम् एव । निमित्तमात्रं भव **त्वं हे** सव्यसाचिन् **सव्येन वामेन अपि हस्तेन शराणां क्षेपात् सव्यसाची इति उच्यते अर्जुनः ॥३३॥**

ये सब (शूरवीर) मेरेद्वारा निःसन्देह पहले ही मारे हुए हैं अर्थात् प्राणविहीन किये हुए हैं । हे सव्यसाचिन् ! तू केवल निमित्तमात्र बन जा । बायें हाथसे भी बाण चलानेका अभ्यास होनेके कारण अर्जुन 'सव्यसाची' कहलाता है ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोणं च **येषु येषु योधेषु अर्जुनस्य आशङ्का तान् तान् व्यपदिशति भगवान् मया हतान् इति ।**

द्रोण आदि जिन-जिन शूरवीरोंसे अर्जुनको आशङ्का थी (जिनके कारण पराजय होनेका डर था) उन-उनका नाम लेकर भगवान् कहते हैं कि 'तू मुझसे मारे हुओंको मार' इत्यादि ।

तत्र द्रोणभीष्मयोः तावत् प्रसिद्धम् आशङ्का-कारणं द्रोणो धनुर्वेदाचार्यो दिव्यास्त्रसम्पन्न आत्मनः च विशेषतो गुरुः गरिष्ठो भीष्मः स्वच्छन्दमृत्युः दिव्यास्त्रसम्पन्नः च परशुरामेण द्वन्द्वयुद्धम् अगमद् न च पराजितः ।

उनमेंसे द्रोण और भीष्मसे भय होनेका कारण प्रसिद्ध ही है । क्योंकि द्रोण तो धनुर्वेदके आचार्य दिव्य अस्त्रोंसे युक्त और विशेषरूपसे अपने सर्वोत्तम गुरु हैं तथा भीष्म सबसे बड़े स्वेच्छा-मृत्यु और दिव्य अस्त्रोंसे सम्पन्न हैं जो कि परशुरामजीके साथ द्वन्द्व युद्ध करनेपर भी उनसे पराजित नहीं हुए ।

तथा जयद्रथो यस्य पिता तपः चरति मम पुत्रस्य शिरो भूमौ पातयिष्यति यः तस्य अपि शिरः पतिष्यति इति ।

वैसा ही जयद्रथ भी है जिसका पिता इस उद्देश्यसे तप कर रहा है कि 'जो कोई मेरे पुत्रका शिर भूमिपर गिरावेगा, उसका भी शिर गिर जायगा ।'

कर्णः अपि वासवदत्तया शक्त्या तु अमोघया सम्पन्नः सूर्यपुत्रः कानीनो यतः अतः तन्नाम्ना एव निर्देशः ।

कर्ण भी (बड़ा शूरवीर है) क्योंकि वह इन्द्रद्वारा दी हुई अमोघ शक्तिसे युक्त है और कन्यासे जन्मा हुआ सूर्यका पुत्र है, इसलिये उसके नामका भी निर्देश किया गया है ।

मया हतान् त्वं जहि **निमित्तमात्रेण** मा व्यथिष्ठाः **तेभ्यो भयं मा कार्षीः ।** युध्यस्व जेतासि **दुर्योधनप्रभृतीन्** रणे युद्धे सपत्नान् **शत्रून् ॥३४॥**

(अभिप्राय यह कि द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण, तथा अन्यान्य शूरवीर योद्धा) जो कि मेरेद्वारा मारे हुए हैं, उनको तू निमित्तमात्रसे मार, उनसे भय मत कर । युद्ध कर, तू संग्राममें दुर्योधनादि शत्रुओंको जीतेगा ॥ ३४ ॥

संजय उवाच—

संजय बोला—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

एतत् श्रुत्वा वचनं केशवस्य **पूर्वोक्तं** कृताञ्जलिः **सन्** वेपमानः **कम्पमानः** किरीटी नमस्कृत्वा भूयः **पुनः** एव आह **उक्तवान्** कृष्णं सगद्गदम्।

भयाविष्टस्य दुःखाभिघातात् स्नेहाविष्टस्य च हर्षोद्भवाद् अश्रुपूर्णनेत्रत्वे सति श्लेष्मणा कण्ठावरोधः ततः च वाचः अपाटवं मन्दशब्दत्वं यत् स गद्गदः तेन सह वर्तते इति सगद्गदं वचनम् आह इति। वचनक्रियाविशेषणम् एतत्। भीतभीतः **पुनः पुनः भयाविष्टचेताः सन्** प्रणम्य **प्रह्वी भूत्वा आह इति व्यवहितेन सम्बन्धः।**

अत्र अवसरे संजयवचनं साभिप्रायम्। कथम्, द्रोणादिषु अर्जुनेन निहतेषु अजेयेषु चतुर्षु निराश्रयो दुर्योधनो निहत एव इति मत्वा धृतराष्ट्रो जयं प्रति निराशः सन् सन्धिं करिष्यति ततः शान्तिः उभयेषां भविष्यति इति। तद् अपि न अश्रौषीद् धृतराष्ट्रो भवितव्यवशात् ॥ ३५ ॥

केशवके इन—उपर्युक्त वचनोको सुनकर अर्जुन काँपता हुआ हाथ जोड़कर नमस्कार करके फिर श्रीकृष्णसे इस प्रकार गद्गद वाणीसे बोला।

जब दुःख प्राप्त होनेके कारण भयभीत पुरुषके और हर्षोत्पत्तिके कारण स्नेहयुक्त पुरुषके नेत्र आँसुओंसे परिपूर्ण हो जाते है और कण्ठ कफसे रुक जाता है, उस समय जो वाणीमे अपटुता और शब्दमे मन्दता हो जाती है, उसका नाम गद्गद है, जो उससे युक्त थे ऐसे सगद्गद वचन बोला। यहाँ 'सगद्गद' शब्द बोलनारूप क्रियाका विशेषण है। इस प्रकार भयभीत—भयसे बारंबार विह्वलचित्त हुआ प्रणाम करके अत्यन्त नम्र होकर बोला।

यहाँपर संजयके वचन इस गूढ़ अभिप्रायसे भरे हुए है कि द्रोणादि चार अजेय शूरवीरोंका अर्जुनके द्वारा नाश हो जानेपर आश्रयरहित दुर्योधन तो मरा हुआ ही है, ऐसा मानकर विजयसे निराश हुआ धृतराष्ट्र सन्धि कर लेगा और उससे दोनों पक्षवालोकी शान्ति हो जायगी। परन्तु भावीके वशमें होकर धृतराष्ट्रने ऐसे वचन भी नहीं सुने ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

स्थाने **युक्तं किं तत्,** तव प्रकीर्त्या **त्वन्माहात्म्यकीर्तनेन श्रुतेन हे** हृषीकेश **यद्** जगत् प्रहृष्यति **प्रहर्षम् उपैति स्थाने तद् युक्तम् इत्यर्थः।**

यह उचित ही है। वह क्या ? कि हे हृषीकेश! आपकी कीर्तिसे अर्थात् आपकी महिमाका कीर्तन और श्रवण करनेसे जो जगत् हर्षित हो रहा है सो उचित ही है।

अथवा विषयविशेषणं स्थाने इति, युक्तो हर्षादिविषयो भगवान्। यत ईश्वरः सर्वात्मा सर्वभूतसुहृत् च इति।

तथा अनुरज्यते अनुरागं च उपैति तत् च विषये इति व्याख्येयम्। किं च रक्षांसि भीतानि भयाविष्टानि दिशो द्रवन्ति गच्छन्ति तत् च स्थाने विषये। सर्वे नमस्यन्ति नमस्कुर्वन्ति च सिद्धसंघाः सिद्धानां समुदायाः कपिलादीनां तत् च स्थाने॥ ३६॥

अथवा 'स्थाने' यह शब्द विषयका विशेषण भी समझा जा सकता है। भगवान् हर्ष आदिके विषय हैं, यह मानना भी ठीक ही है। क्योंकि ईश्वर सबका आत्मा और सब भूतोका सुहृद् है।

यहाँ ऐसी व्याख्या करनी चाहिये कि जगत् जो भगवान्मे अनुराग—प्रेम करता है, यह उसका अनुराग करना उचित विषयमे ही है, तथा राक्षसगण भयसे युक्त हुए सब दिशाओमे भाग रहे है, यह भी ठीक-ठिकानेकी ही बात है। एवं समस्त कपिलादि सिद्धोके समुदाय जो नमस्कार कर रहे हैं, यह भी उचित विषयमे ही है॥ ३६॥

भगवतो हर्षादिविषयत्वे हेतुं दर्शयति—

भगवान् हर्षादि भावोके योग्य स्थान किस प्रकार हैं? इसमे कारण दिखाते हैं—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

कस्मात् च हेतोः ते तुभ्यं न नमेरन् न नमस्कुर्युः हे महात्मन् गरीयसे गुरुतराय यतो ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य अपि आदिकर्ता कारणम् अतः तस्माद् आदिकर्त्रे कथम् एते न नमस्कुर्युः। अतो हर्षादीनां नमस्कारस्य च स्थानं त्वम् अर्हो विषय इत्यर्थः।

हे अनन्त देवेश जगन्निवास त्वम् अक्षरं तत् परं यद् वेदान्तेषु श्रूयते।

किं तत्, सद् असद् विद्यमानम् असत् च यत्र नास्ति इति बुद्धिः ते उपधानभूते सदसती यस्य अक्षरस्य, यद्द्वारेण सद् असद् इति उपचर्यते। परमार्थतः तु सदसतः परं तद् यद् अक्षरं वेदविदो वदन्ति तत् त्वम् एव न अन्यद् इति अभिप्रायः॥ ३७॥

हे महात्मन्! आप जो अतिशय गुरुतर हैं अर्थात् सबसे बड़े है, उनको ये सब किसलिये नमस्कार न करें, क्योंकि आप हिरण्यगर्भके भी आदिकर्ता—कारण है अत. आप आदिकर्ताको कैसे नमस्कार न करे। अभिप्राय यह कि उपर्युक्त कारणसे आप हर्षादिके और नमस्कारके योग्य पात्र है।

हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! वह परम अक्षर (ब्रह्म) आप ही हैं, जो वेदान्तोमे सुना जाता है।

वह क्या है? सत् और असत्—जो विद्यमान है वह सत् और जिसमे 'नहीं है' ऐसी बुद्धि होती है वह असत् है। वे दोनो सत् और असत् जिस अक्षरकी उपाधि हैं, जिनके कारण वह ब्रह्म उपचारसे 'सत् और असत्' कहा जाता है परन्तु वास्तवमे जो सत् और असत् दोनोसे परे है, जिसको वेदवेत्ता लोग अक्षर कहते है वह ब्रह्म भी आप ही है। अभिप्राय यह कि आपसे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है॥ ३७॥

पुनः अपि स्तौति—

अर्जुन फिर भी स्तुति करता है—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

त्वम् आदिदेवो जगतः स्रष्टृत्वात् पुरुषः पुरि शयनात्, पुराणः चिरन्तनः त्वम् एव अस्य विश्वस्य परं प्रकृष्टं निधानं निधीयते अस्मिन् जगत् सर्वं महाप्रलयादौ इति।

किं च वेत्ता असि वेदिता असि सर्वस्य एव वेद्यजातस्य। यत् च वेद्यं वेदनार्हं तत् च असि। परं च धाम परमं पदं वैष्णवम्। त्वया ततं व्याप्तं विश्वं समस्तम् अनन्तरूप अन्तो न विद्यते तव रूपाणाम् ॥ ३८ ॥

आप जगत्‌के रचयिता होनेके कारण आदिदेव हैं और शरीररूप पुरमें रहनेके कारण सनातन पुरुष हैं तथा आप ही इस विश्वके परम उत्तम स्थान हैं अर्थात् महाप्रलयादिमें समस्त जगत् जिसमें स्थित होता है वह (जगत्‌का आश्रय) आप ही हैं।

तथा समस्त जाननेयोग्य वस्तुओंके आप जाननेवाले हैं और जो जाननेयोग्य है वह भी आप ही हैं। आप ही परम धाम—परम वैष्णवपद हैं। हे अनन्तरूप! समस्त विश्व आपसे परिपूर्ण है—व्याप्त है। आपके रूपोंका अन्त नहीं है ॥ ३८ ॥

किं च—

तथा—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

वायुः त्वं यमः च अग्निः वरुणः अपां पतिः शशाङ्कः चन्द्रमाः प्रजापतिः त्वं कश्यपादिः प्रपितामहः च पितामहस्य अपि पिता प्रपितामहो ब्रह्मणः अपि पिता इत्यर्थः। नमो नमः ते तुभ्यम् अस्तु सहस्रकृत्वः पुनः च भूयः अपि नमो नमः ते।

बहुशो नमस्कारक्रियाभ्यासावृत्तिगणनं कृत्वसुचा उच्यते। पुनः च भूयः अपि इति श्रद्धाभक्त्यतिशयाद् अपरितोषम् आत्मनो दर्शयति ॥ ३९ ॥

आप ही वायु, यम, अग्नि, जलके राजा वरुण, चन्द्रमा और कश्यपादि प्रजापति हैं और आप ही पितामहके भी पिता प्रपितामह हैं अर्थात् ब्रह्माके भी पिता हैं। आपको हजारों बार नमस्कार हो, नमस्कार हो, फिर भी बारंबार आपको नमस्कार हो, नमस्कार हो।

सहस्र शब्दसे 'कृत्वसुच्' प्रत्यय कर देनेसे अनेकों बार नमस्कार क्रियाके अभ्यास और आवृत्ति, की गणनाका प्रतिपादन हो जाता है, परन्तु फिर भी 'पुनश्च' 'भूयोऽपि' इन शब्दोंसे अर्जुन अतिशय श्रद्धा और भक्तिके कारण 'नमस्कार' करता-करता 'मैं तृप्त नहीं हुआ हूँ' ऐसा अपना भाव दिखलाता है ॥ ३९ ॥

तथा—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

नमः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि तुभ्यम् अथ पृष्ठतः ते पृष्ठतः अपि च ते । नमः अस्तु ते सर्वत एव सर्वासु दिक्षु सर्वत्र स्थिताय हे सर्व अनन्तवीर्यामितविक्रमः अनन्तं वीर्यम् अस्य अमितो विक्रमः अस्य ।

वीर्यं सामर्थ्यं विक्रमः पराक्रमः । वीर्यवान् अपि कश्चित् शस्त्रादिविषये न पराक्रमते मन्दपराक्रमो वा । त्वं तु अनन्तवीर्यः अमितविक्रमः च इति अनन्तवीर्यामितविक्रमः ।

सर्वं समस्तं जगत् समाप्नोषि सम्यग् एकेन आत्मना व्याप्नोषि यतः तस्माद् असि भवसि सर्वः, त्वया विना भूतं न किंचिद् अस्ति इत्यर्थः ॥ ४० ॥

तथा—

आपको आगेसे अर्थात् पूर्वदिशामें और पीछेसे भी नमस्कार है । हे सर्वरूप ! आपको सब ओरसे नमस्कार है अर्थात् सर्वत्र स्थित हुए आपको सब दिशाओंमें नमस्कार है । आप अनन्तवीर्य और अपार पराक्रमवाले हैं ।

वीर्य सामर्थ्यको कहते हैं और विक्रम पराक्रमको । कोई व्यक्ति सामर्थ्यवान् होकर भी शस्त्रादि चलानेमें पराक्रम नहीं दिखा सकता, अथवा मन्दपराक्रमी होता है । परन्तु आप तो अनन्त वीर्य और अमित पराक्रमसे युक्त हैं । इसलिये आप अनन्तवीर्य और अमितपराक्रमी हैं ।

आप अपने एक स्वरूपसे सारे जगत्‌को व्याप्त किये हुए स्थित हैं, इसलिये आप सर्वरूप हैं, अर्थात् आपसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ॥ ४० ॥

यतः अहं त्वन्माहात्म्यापरिज्ञानापराधी अतः—

क्योंकि मैं आपकी महिमाको न जाननेका अपराधी रहा हूँ, इसलिये—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

सखा समानवया इति मत्वा ज्ञात्वा विपरीतबुद्ध्या प्रसभम् अभिभूय प्रसह्य यद् उक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखे इति च अजानता अज्ञानिना मूढेन । किम् अजानता, इति आह महिमानं माहात्म्यं तव इदम् ईश्वरस्य विश्वरूपम् ।

तव इदं महिमानम् अजानता इति वैयधिकरण्येन संबन्धः । तव इमम् इति पाठो यदि अस्ति तदा सामानाधिकरण्यम् एव ।

आपकी महिमाको अर्थात् आप ईश्वरके इस विश्वरूपको न जाननेवाले मुझ मूढ़द्वारा विपरीत बुद्धिसे आपको मित्र—समान अवस्थावाला समझकर जो अपमानपूर्वक हठसे हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इत्यादि वचन कहे गये हैं—

'तव इदं महिमानम् अजानता' इस पाठमें 'इदम्' शब्द नपुंसक लिङ्ग है और 'महिमानम्' शब्द पुल्लिङ्ग है, अतः इनका आपसमें वैयधिकरण्यसे विशेष्य-विशेषणभाव-सम्बन्ध है । यदि 'इदम्'की जगह 'इमम्' पाठ हो तो सामानाधिकरण्यसे सम्बन्ध हो सकता है ।

मया प्रमादाद् **विक्षिप्तचित्ततया** प्रणयेन वा अपि **प्रणयो नाम स्नेहनिमित्तो विश्रम्भः तेन अपि कारणेन यद् उक्तवान् असि ॥ ४१ ॥**

इसके सिवा प्रमादसे यानी विक्षिप्तचित्त होनेके कारण अथवा प्रणयसे भी—स्नेहनिमित्तक विश्वासका नाम प्रणय है, उसके कारण भी मैंने जो कुछ कहा है ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

यत् च अवहासार्थं **परिहासप्रयोजनाय** असत्कृतः **परिभूतः** असि **भवसि, क्व,** विहारशय्यासनभोजनेषु, **विहरणं विहारः पादव्यायामः, शयनं शय्या, आसनम् आस्थायिका, भोजनम् अदनम् इति एतेषु विहारशय्यासनभोजनेषु ।** एकः **परोक्षः सन् असत्कृतः असि परिभूतः असि** अथवा अपि **हे** अच्युत तत् समक्षं **तत् शब्दः क्रियाविशेषणार्थः प्रत्यक्षं वा असत्कृतः असि तत् सर्वम् अपराधजातं** क्षामये **क्षमां कारये** त्वाम् अहम् अप्रमेयं **प्रमाणातीतम् ॥ ४२ ॥**

तथा जो हँसीके लिये भी आप मुझसे असत्कृत—अपमानित हुए हैं; कहाँ ? विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें। विचरनारूप पैरोंसे चलने-फिरनेकी क्रियाका नाम विहार है, शयनका नाम शय्या है, स्थित होने-बैठनेका नाम आसन है और भक्षण करनेका नाम भोजन है। इन सब क्रियाओंके करते समय (मुझसे) अकेलेमें—आपके पीछे अथवा आपके सामने आपका जो कुछ अपमान—तिरस्कार हुआ है; हे अच्युत ! उस समस्त अपराधोंके समुदायको मैं आप अप्रमेयसे अर्थात् प्रमाणातीत परमेश्वरसे क्षमा कराता हूँ। 'समक्षम्' शब्दके पहलेका 'तत्' शब्द क्रियाविशेषण है ॥ ४२ ॥

यतः त्वम्—

क्योंकि आप—

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

पिता असि **जनयिता असि** लोकस्य **प्राणिजातस्य** चराचरस्य **स्थावरजङ्गमस्य, न केवलं** त्वम् अस्य **जगतः पिता** पूज्यः च **पूजार्हो यतो** गुरुः गरीयान् **गुरुतरः ।**

इस स्थावर-जंगमरूप समस्त जगत्के यानी प्राणिमात्रके उत्पन्न करनेवाले पिता हैं। केवल पिता ही नहीं आप पूजनीय भी हैं, क्योंकि आप बड़े-से-बड़े गुरु हैं।

कस्माद् गुरुतरः त्वम् इति आह—

न च त्वत्समः त्वत्तुल्यः अन्यः अस्ति । न हि ईश्वरद्वयं संभवति अनेकेश्वरत्वे व्यवहारानुपपत्तेः । त्वत्सम एव तावद् अन्यो न संभवति कुत एव अन्यः अभ्यधिकः स्यात् । लोकत्रये अपि सर्वस्मिन् अप्रतिमप्रभाव ।

प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा, न विद्यते प्रतिमा यस्य तव प्रभावस्य स त्वम् अप्रतिम-प्रभावः, हे अप्रतिमप्रभाव निरतिशयप्रभाव इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

आप कैसे गुरुतर हैं सो (अर्जुन) बतलाता है—

हे अप्रतिमप्रभाव ! सारी त्रिलोकीमें आपके समान दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि अनेक ईश्वर मान लेनेपर व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये ईश्वर दो नहीं हो सकते । जब कि सारे त्रिभुवनमें आपके समान ही दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है ?

जिससे किसी वस्तुकी समानता की जाय उसका नाम 'प्रतिमा' है, जिन आपके प्रभावकी कोई प्रतिमा नहीं है, वह आप अप्रतिमप्रभाव हैं । इस प्रकार हे अप्रतिमप्रभाव ! अर्थात् हे निरतिशयप्रभाव ! ॥ ४३ ॥

यत एवम्—

जब कि यह बात है—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

तस्मात् प्रणम्य नमस्कृत्य प्रणिधाय प्रकर्षेण नीचैः धृत्वा कायं शरीरं प्रसादये प्रसादं कारये त्वाम् अहम् ईशम् ईशितारम् ईड्य स्तुत्यम् । त्वं पुनः पुत्रस्य अपराधं पिता यथा क्षमते सर्वं सखा इव च सख्युः अपराधं यथा वा प्रियाया अपराधं प्रियः क्षमते एवम् अर्हसि हे देव सोढुं प्रसहितुं क्षन्तुम् इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

इसीलिये मैं अपने शरीरको भली प्रकार नीचा करके अर्थात् आपके चरणोंमें रखकर प्रणाम करके स्तुति करनेयोग्य शासन-कर्ता आप ईश्वरको प्रसन्न करता हूँ । अर्थात् आपसे अनुग्रह कराता हूँ । जैसे पुत्रका समस्त अपराध पिता क्षमा करता है तथा जैसे मित्रका अपराध मित्र अथवा प्रियाका अपराध प्रिय (पति) क्षमा करता है—सहन करता है, वैसे ही हे देव ! आपको भी (मेरे समस्त अपराधोंको सर्वथा) सहन करना अर्थात् क्षमा करना उचित है ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अदृष्टपूर्वं न कदाचिद् अपि दृष्टपूर्वम् इदं विश्वरूपं तव मया अन्यैः वा तद् अहं दृष्ट्वा हृषितः अस्मि भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।

आपके जिस विश्वरूपको मैंने या अन्य किसीने पहले कभी नहीं देखा, ऐसे पहले न देखे हुए इस रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ । तथा साथ ही मेरा मन भयसे व्याकुल भी हो रहा है ।

अतः तद् एव मे मम दर्शय हे देव रूपं यद् मत्सखं प्रसीद देवेश जगन्निवास जगतो निवासो जगन्निवासो हे जगन्निवास ॥ ४५ ॥

इसलिये हे देव ! मुझे अपना वही रूप दिखलाइये जो मेरा मित्ररूप है । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये । जगत्के निवासस्थानका नाम जगन्निवास है ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

किरीटिनं किरीटवन्तं तथा गदिनं गदावन्तं चक्रहस्तम् इच्छामि त्वां प्रार्थये त्वां द्रष्टुम् अहं तथा एव पूर्ववद् इत्यर्थः ।

यत एवं तस्मात् तेन एव रूपेण वसुदेवपुत्ररूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो वार्तमानिकेन विश्वरूपेण भव विश्वमूर्ते उपसंहृत्य विश्वरूपं तेन एव रूपेण वसुदेवपुत्ररूपेण भव इत्यर्थः ॥४६॥

मै आपको वैसे ही अर्थात् पहलेहीकी भाँति शिरपर मुकुट धारण किये, हाथोमे गदा और चक्र लिये हुए देखना चाहता हूँ ।

जब कि यह बात है तो हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! अर्थात् वर्तमान विश्वरूपसे (युक्त) भगवन् ! आप उसी अपने वसुदेव-पुत्ररूप चतुर्भुज-स्वरूपसे युक्त होइये । अर्थात् इस विश्वरूपका उपसहार करके आप वसुदेव-पुत्र—श्रीकृष्णके स्वरूपसे स्थित होइये ॥ ४६ ॥

अर्जुनं भीतम् उपलभ्य उपसंहृत्य विश्वरूपं प्रियवचनेन आश्वासयन्—

श्रीभगवानुवाच—

अर्जुनको भयभीत देखकर, विश्वरूपका उपसंहार करके प्रिय वचनोसे धैर्य देते हुए श्रीभगवान् बोले—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

मया प्रसन्नेन प्रसादो नाम त्वयि अनुग्रहबुद्धिः तद्वता प्रसन्नेन मया तव हे अर्जुन इदं परं रूपं विश्वरूपं दर्शितम् आत्मयोगाद् आत्मन ऐश्वर्यस्य सामर्थ्यात् तेजोमयं तेजःप्रायं विश्वं समस्तम् अनन्तम् अन्तरहितम् आदौ भवम् आद्यं यद् रूपम् मे मम त्वदन्येन त्वत्तः अन्येन केनचिद् न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

हे अर्जुन ! प्रसन्न हुए मुझ परमात्माने—तुझपर जो अनुग्रहबुद्धि है उसका नाम प्रसाद है उससे युक्त मुझ परमेश्वरने—अपने ऐश्वर्यकी सामर्थ्यसे यह परम श्रेष्ठ तेजोमय—तेजसे परिपूर्ण अनन्त—अन्तरहित सबसे पहले होनेवाला अनादि विश्वरूप तुझे दिखाया है, जो मेरा रूप तेरे सिवा पहले और किसीसे भी नहीं देखा गया ॥ ४७ ॥

आत्मनो मम रूपदर्शनेन कृतार्थ एव त्वं संवृत्त इति तत् स्तौति—

मेरे रूपका दर्शन करके तू निःसन्देह कृतार्थ हो गया है। इस प्रकार उस रूप-दर्शनकी स्तुति करते हैं—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः **चतुर्णाम् अपि वेदानाम् अध्ययनैः यथावद् यज्ञाध्ययनैः च।**

वेदाध्ययनैः एव यज्ञाध्ययनस्य सिद्धत्वात् पृथग् यज्ञाध्ययनग्रहणं यज्ञविज्ञानोपलक्षणार्थम्।

तथा न दानैः तुलापुरुषादिभिः न च क्रियाभिः **अग्निहोत्रादिभिः श्रौतादिभिः** न अपि तपोभिः उग्रैः **चान्द्रायणादिभिः उग्रैः घोरैः** एवंरूपो **यथादर्शितं विश्वरूपं यस्य सः अहम् एवंरूपः** शक्यो **न शक्यः** अहं नृलोके **मनुष्यलोके** द्रष्टुं त्वदन्येन **त्वत्तः अन्येन** कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

न तो वेद और यज्ञोंके अध्ययनद्वारा अर्थात् न तो चारों वेदोंका यथावत् अध्ययन करनेसे और न यज्ञोंका अध्ययन करनेसे ही (मैं दर्शन दे सकता हूँ)।

वेदोंके अध्ययनसे ही यज्ञोंका अध्ययन सिद्ध हो सकता था, उसपर भी जो अलग यज्ञोंके अध्ययनका ग्रहण है, वह यज्ञविषयक विशेष विज्ञानके उपलक्षणके लिये है।

वैसे ही न मनुष्यके बराबर तोलकर सुवर्णादि दान करनेसे, न श्रौत-स्मार्तादि अग्निहोत्ररूप क्रियाओंसे और न चान्द्रायण आदि उग्र तपोंसे ही मैं अपने ऐसे रूपका दर्शन दे सकता हूँ। हे कुरुप्रवीर! जैसा विश्वरूप तुझे दिखाया गया है वैसा मैं तेरे सिवा इस मनुष्यलोकमें और किसीके द्वारा नहीं देखा जा सकता ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

मा ते व्यथा **मा भूत् ते भयं** मा च विमूढभावो **विमूढचित्तता** दृष्ट्वा **उपलभ्य** रूपं घोरम् ईदृग् **यथादर्शितं** मम इदम्। व्यपेतभीः **विगतभयः** प्रीतमनाः **च सन्** पुनः **भूयः** त्वं तद् एव **चतुर्भुजं शंखचक्रगदाधरं तव इष्टं** रूपम् इदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

जैसा पहले दिखाया जा चुका है, वैसे मेरे इस घोर रूपको देखकर तुझे भय न होना चाहिये, और विमूढभाव अर्थात् चित्तकी मूढावस्था भी नहीं होनी चाहिये। तू भयरहित और प्रसन्नमन हुआ वही अपना इष्ट यह शंख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुजरूप फिर भी देख ॥ ४९ ॥

संजय उवाच—

संजय बोला—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

इति **एवम्** अर्जुनं वासुदेवः तथा **भूतं वचनम्** उक्त्वा स्वकं **वसुदेवगृहे जातं** रूपं दर्शयामास **दर्शितवान्** । भूयः **पुनः** आश्वासयामास च **आश्वासितवान् च** भीतम् एनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुः **प्रसन्नदेहो** महात्मा ॥ ५० ॥

इस प्रकार भगवान् वासुदेवने पूर्वोक्त वचन कहकर अर्जुनको अपना—वसुदेवके घरमे प्रकट हुआ रूप दिखलाया। फिर सौम्यमूर्ति होकर अर्थात् प्रसन्न देहसे युक्त होकर महात्मा कृष्णने इस भयभीत अर्जुनको पुनः-पुनः धैर्य दिया ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

दृष्ट्वा इदं मानुषं रूपं **मत्सखं प्रसन्नं** तव सौम्यं जनार्दन इदानीम् **अधुना** अस्मि संवृत्तः **संजातः किं** सचेताः **प्रसन्नचित्तः** प्रकृतिं **स्वभावं** गतः **च अस्मि** ॥ ५१ ॥

हे जनार्दन ! अब मै अपने मित्रकी आकृतिमें आपके इस प्रसन्नमुख सौम्य मानुषरूपको देखकर सचेता यानी प्रसन्नचित्त हुआ हूँ और अपनी प्रकृतिको—वास्तविक स्थितिको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

सुदुर्दर्शं **सुष्ठु दुःखेन दर्शनम् अस्य इति सुदुर्दर्शम्** इदं रूपं दृष्टवानसि यद् मम । देवा अपि अस्य **मम** रूपस्य नित्यं **सर्वदा** दर्शनकाङ्क्षिणः, **दर्शनेप्सवः अपि न त्वम् इव दृष्टवन्तो न द्रक्ष्यन्ति च इति अभिप्रायः** ॥ ५२ ॥

मेरे जिस रूपको तूने देखा है, वह बड़ा दुर्दर्श है अर्थात् जिसका दर्शन बड़ी कठिनतासे हो, ऐसा है। देवता लोग भी मेरे इस रूपका दर्शन करनेकी सदा इच्छा करते है। अभिप्राय यह है कि दर्शनकी इच्छा करते हुए भी उन्होने तेरी भॉति (मेरा रूप) देखा नहीं है और देखेगे भी नहीं ॥ ५२ ॥

कस्मात्—

किस लिये ?—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

न अहं वेदैः ऋग्यजुःसामाथर्ववेदैः चतुर्भिः अपि न तपसा उग्रेण चान्द्रायणादिना न दानेन गोभूहिरण्यादिना न च इज्यया यज्ञेन पूजया वा शक्य एवंविधो यथादर्शितप्रकारो द्रष्टुं दृष्टवान् असि मां यथा त्वम् ॥ ५३ ॥

जिस प्रकार मुझे तूने देखा है ऐसे पहले दिखलाये हुए रूपवाला मै न तो ऋक्, यजु, साम और अथर्व आदि चारो वेदोसे, न चान्द्रायण आदि उग्र तपोसे, न गौ, भूमि तथा सुवर्ण आदिके दानसे और न यजनसे ही देखा जा सकता हूँ अर्थात् यज्ञ या पूजासे भी मै (इस प्रकार) नहीं देखा जा सकता ॥ ५३ ॥

कथं पुनः शक्य इति उच्यते—

तो फिर आपके दर्शन किस प्रकार हो सकते है ? इसपर कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

भक्त्या तु किंविशिष्टया इति आह—

भक्तिसे दर्शन हो सकते हैं, सो किस प्रकारकी भक्तिसे हो सकते है, यह बतलाते है—

अनन्यया अपृथग्भूतया भगवतः अन्यत्र पृथग् न कदाचिद् अपि या भवति सा तु अनन्यया भक्तिः सर्वैः अपि करणैः वासुदेवाद् अन्यद् न उपलभ्यते यया सा अनन्यया भक्तिः तया भक्त्या शक्यः अहम् एवंविधो विश्वरूपप्रकारो हे अर्जुन ज्ञातुं शास्त्रतो न केवलं ज्ञातुं शास्त्रतो द्रष्टुं च साक्षात्कर्तुं तत्त्वेन तत्त्वतः प्रवेष्टुं च मोक्षं च गन्तुं परतप ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन ! अनन्य भक्तिसे अर्थात् जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसी पृथक् वस्तुमे कभी भी नहीं होती वह अनन्य भक्ति है एवं जिस भक्तिके कारण (भक्तिमान् पुरुषको) समस्त इन्द्रियोद्वारा एक वासुदेव परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी उपलब्धि नहीं होती, वह अनन्य भक्ति है । ऐसी अनन्य भक्तिद्वारा इस प्रकारके रूपवाला अर्थात् विश्वरूपवाला मै परमेश्वर शास्त्रोद्वारा जाना जा सकता हूँ । केवल शास्त्रोद्वारा जाना जा सकता हूँ इतना ही नहीं, हे परन्तप ! तत्त्वसे देखा भी जा सकता हूँ अर्थात् साक्षात् भी किया जा सकता हूँ और प्राप्त भी किया जा सकता हूँ अर्थात् मोक्ष भी प्राप्त करा सकता हूँ ॥ ५४ ॥

अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतः अर्थो निःश्रेयसार्थः अनुष्ठेयत्वेन समुच्चित्य उच्यते—

अब समस्त गीताशास्त्रका सारभूत अर्थ संक्षेपमे कल्याणप्राप्तिके लिये कर्तव्यरूपसे बतलाया जाता है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

मत्कर्मकृद् मदर्थं कर्म मत्कर्म तत्करोति इति मत्कर्मकृत् । मत्परमः करोति भृत्यः स्वामिकर्म न तु आत्मनः परमा प्रेत्य गन्तव्या गतिः इति स्वामिनं प्रतिपद्यते, अयं तु मत्कर्मकृद् माम् एव परमां गतिं प्रतिपद्यते इति मत्परमः अहं परमः परा गतिः यस्य सः अयं मत्परमः ।

जो मुझ परमेश्वरके लिये कर्म करनेवाला है और मेरे ही परायण है—सेवक स्वामीके लिये कर्म करता है परन्तु मरनेके पश्चात् पानेयोग्य अपनी परमगति उसे नहीं मानता और यह तो मेरे लिये ही कर्म करनेवाला और मुझे ही अपनी परमगति समझनेवाला होता है, इस प्रकार जिसकी परमगति मैं ही हूँ ऐसा जो मत्परायण है ।

तथा मद्भक्तो माम् एव सर्वप्रकारैः सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजते इति मद्भक्तः ।

तथा मेरा ही भक्त है अर्थात् जो सब प्रकारसे सब इन्द्रियोंद्वारा सम्पूर्ण उत्साहसे मेरा ही भजन करता है, ऐसा मेरा भक्त है ।

सङ्गवर्जितो धनपुत्रमित्रकलत्रबन्धुवर्गेषु सङ्गवर्जितः सङ्गः प्रीतिः स्नेहः तद्वर्जितः ।

तथा जो धन, पुत्र, मित्र, स्त्री और बन्धुवर्गमें सङ्ग—प्रीति—स्नेहसे रहित है ।

निर्वैरो निर्गतवैरः सर्वभूतेषु शत्रुभावरहित आत्मनः अत्यन्तापकारप्रवृत्तेषु अपि ।

तथा सब भूतोंमें वैरभावसे रहित है अर्थात् अपना अत्यन्त अनिष्ट करनेकी चेष्टा करनेवालोंमें भी जो शत्रुभावसे रहित है ।

य ईदृशो मद्भक्तः स माम् एति अहम् एव तस्य परा गतिः न अन्या गतिः काचिद् भवति अयं तव उपदेश इष्टो मया उपदिष्टो हे पाण्डव इति ॥ ५५ ॥

ऐसा जो मेरा भक्त है, हे पाण्डव ! वह मुझे पाता है अर्थात् मैं ही उसकी परमगति हूँ, उसकी दूसरी कोई गति कभी नहीं होती । यह मैंने तुझे तेरे जाननेके लिये इष्ट उपदेश दिया है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

ॐ

द्वादशोऽध्यायः

द्वितीयप्रभृतिषु अध्यायेषु विभूत्यन्तेषु परमात्मनो ब्रह्मणः अक्षरस्य विध्वस्तसर्वविशेषणस्य उपासनम् उक्तम्।

सर्वयोगैश्वर्यसर्वज्ञानशक्तिमत्सत्त्वोपाधेः ईश्वरस्य तव च उपासनं तत्र तत्र उक्तम्।

विश्वरूपाध्याये तु ऐश्वरम् आद्यं समस्तजगदात्मरूपं विश्वरूपं त्वदीयं दर्शितम् उपासनार्थम् एव त्वया, तत् च दर्शयित्वा उक्तवान् असि *'मत्कर्मकृत्'* इत्यादि, अतः अहम् अनयोः उभयोः पक्षयोः विशिष्टतरबुभुत्सया त्वां पृच्छामि इति—

अर्जुन उवाच—

दूसरे अध्यायसे लेकर विभूतियोगतक अर्थात् दसवें अध्यायतक समस्त विशेषणोंसे रहित अक्षर-ब्रह्म परमात्माकी उपासनाका वर्णन किया गया है।

तथा उन्हीं अध्यायोंमे स्थान-स्थानपर सम्पूर्ण योग-ऐश्वर्य और सम्पूर्ण ज्ञान-शक्तिसे युक्त, सत्त्व-गुणरूप उपाधिवाले आप परमेश्वरकी उपासनाका भी वर्णन किया गया है।

तथा विश्वरूप (एकादश) अध्यायमे आपने उपासनाके लिये ही मुझे सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त, सबका आदि और समस्त जगत्का आत्मारूप अपना विश्वरूप भी दिखलाया है और वह रूप दिखलाकर आपने **'मेरे ही लिये कर्म करनेवाला हो'** इत्यादि वचन भी कहे है। इसलिये इन दोनों पक्षोमे कौन-सा पक्ष श्रेष्ठतर है, यह जाननेकी इच्छासे मै आपसे पूछता हूँ। इस प्रकार अर्जुन बोला—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

एवम् इति अतीतानन्तरश्लोकेन उक्तम् अर्थं परामृशति, *'मत्कर्मकृत्'* इत्यादिना।

'एवम्' शब्दसे जिसके आदिमे 'मत्कर्मकृत्' यह पद है, उस पासमे ही कहे हुए श्लोकके अर्थका अर्थात् एकादश अध्यायके अन्तिम श्लोकमें कहे हुए अर्थका (अर्जुन) निर्देश करता है।

एवं सततयुक्ता **नैरन्तर्येण भगवत्कर्मादौ यथोक्ते अर्थे समाहिताः सन्तः प्रवृत्ता इत्यर्थः।** ये भक्ता **अनन्यशरणाः सन्तः** त्वां **यथादर्शितं विश्वरूपं** पर्युपासते **ध्यायन्ति।**

इस प्रकार निरन्तरतासे उपर्युक्त साधनोंमें अर्थात् भगवदर्थ कर्म करने आदिमे दत्तचित्त हुए—लगे हुए जो भक्त, अनन्य भावसे शरण होकर पूर्वदर्शित विश्वरूपधारी आप परमेश्वरकी उपासना करते हैं—उसीका ध्यान किया करते हैं।

ये च अन्ये अपि त्यक्तसर्वैषणाः संन्यस्तसर्वकर्माणो यथाविशेषितं ब्रह्म अक्षरं निरस्तसर्वोपाधित्वाद् अव्यक्तम् अकरणगोचरम्। यद् हि लोके करणगोचरं तद् व्यक्तम् उच्यते अञ्जेः धातोः तत्कर्मकत्वाद् इदं तु अक्षरं तद्विपरीतम्, शिष्टैः च उच्यमानैः विशेषणैः विशिष्टं तद् ये च अपि पर्युपासते।

तथा दूसरे जो समस्त वासनाओंका त्याग करनेवाले, सर्व-कर्म-संन्यासी (ज्ञानीजन) उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त परम अक्षर, जो समस्त उपाधियोंसे रहित होनेके कारण अव्यक्त है, ऐसे इन्द्रियादि करणोंसे अतीत ब्रह्मकी उपासना किया करते हैं। संसारमें जो इन्द्रियादि करणोंसे जाननेमें आनेवाला पदार्थ है वह व्यक्त कहा जाता है क्योंकि 'अञ्ज' धातुका अर्थ इन्द्रियगोचर होना ही है और यह अक्षर उससे विपरीत अकरणगोचर हैं एवं महापुरुषोंद्वारा कहे हुए विशेषणोंसे युक्त हैं, ऐसे ब्रह्मकी जो उपासना करते है।

तेषाम् उभयेषां मध्ये के योगवित्तमाः के अतिशयेन योगविद् इत्यर्थः॥ १॥

उन दोनोंमें श्रेष्ठतर योगवेत्ता कौन है? अर्थात् अधिकतासे योग जाननेवाले कौन हैं?॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

ये तु अक्षरोपासकाः सम्यग्दर्शिनो निवृत्तैषणाः ते तावत् तिष्ठन्तु तान् प्रति यद् वक्तव्यं तद् उपरिष्टाद् वक्ष्यामः। ये तु इतरे—

श्रीभगवान् बोले—

जो कामनाओंसे रहित पूर्णज्ञानी अक्षरब्रह्मके उपासक हैं उनको अभी रहने दो, उनके प्रति जो कुछ कहना है वह आगे कहेंगे, परन्तु जो दूसरे हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

मयि विश्वरूपे परमेश्वरे आवेश्य समाधाय मनो ये भक्ताः सन्तः, मां सर्वयोगेश्वराणाम् अधीश्वरं सर्वज्ञं विमुक्तरागादिक्लेशतिमिरदृष्टिम्, नित्ययुक्ता अतीतानन्तराध्यायान्तोक्तश्लोकार्थन्यायेन सततयुक्ताः सन्त उपासते श्रद्धया परया प्रकृष्टया उपेताः, ते मे मम मता अभिप्रेता युक्ततमा इति।

जो भक्त मुझ विश्वरूप परमेश्वरमें मनको समाधिस्थ करके सर्व योगेश्वरोंके अधीश्वर रागादि पञ्चक्लेशरूप अज्ञानदृष्टिसे रहित मुझ सर्वज्ञ परमेश्वरकी पिछले (एकादश) अध्यायके अन्तिम श्लोकके अर्थानुसार निरन्तर तत्पर हुए उत्तम श्रद्धासे युक्त होकर उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठतम योगी हैं, यह मैं मानता हूँ।

नैरन्तर्येण हि ते मच्चित्ततया अहोरात्रम् अतिवाहयन्ति अतो युक्तं तान् प्रति युक्ततमा इति वक्तुम्॥ २॥

क्योंकि वे लगातार मुझमें ही चित्त लगाकर रात-दिन व्यतीत करते हैं, अतः उनको युक्ततम कहना उचित ही है॥ २॥

किम् इतरे युक्ततमा न भवन्ति, न, किं तु तान् प्रति यद् वक्तव्यं तत् शृणु—

तो क्या दूसरे युक्ततम नहीं हैं? यह बात नहीं, किन्तु उनके विषयमें जो कुछ कहना है सो सुन—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तत्वाद् अशब्दगोचरम् इति न निर्देष्टुं शक्यते अतः अनिर्देश्यम् अव्यक्तं न केन अपि प्रमाणेन व्यज्यते इति अव्यक्तं पर्युपासते परि समन्ताद् उपासते ।

परन्तु जो पुरुष उस अक्षरकी–जो कि अव्यक्त होनेके कारण शब्दका विषय न होनेसे किसी प्रकार भी बतलाया नहीं जा सकता इसलिये अनिर्देश्य है और किसी भी प्रमाणसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता इसलिये अव्यक्त है–सब प्रकारसे उपासना करते हैं ।

उपासनं नाम यथाशास्त्रम् उपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यम् उपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यद् आसनं तद् उपासनम् आचक्षते ।

उपास्य वस्तुको शास्त्रोक्त विधिसे बुद्धिका विषय बनाकर उसके समीप पहुँचकर तैलधाराके तुल्य समान वृत्तियोंके प्रवाहसे जो दीर्घकालतक उसमें स्थित रहना है, उसको 'उपासना' कहते हैं—

अक्षरस्य विशेषणम् आह—

उस अक्षरके विशेषण बतलाते हैं—

सर्वत्रगं व्योमवद् व्यापि, अचिन्त्यम् च अव्यक्तत्वाद् अचिन्त्यम् । यद् हि करणगोचरं तद् मनसा अपि चिन्त्यं तद्विपरीतत्वाद् अचिन्त्यम् अक्षरम् कूटस्थम् ।

वह आकाशके समान सर्वव्यापक है और अव्यक्त होनेसे अचिन्त्य है, क्योंकि जो वस्तु इन्द्रियादि करणोंसे जाननेमें आती है उसीका मनसे भी चिन्तन किया जा सकता है । परन्तु अक्षर उससे विपरीत होनेके कारण अचिन्त्य और कूटस्थ है ।

दृश्यमानगुणम् अन्तर्दोषं वस्तु कूटं कूटरूपं कूटसाक्ष्यम् इत्यादौ कूटशब्दः प्रसिद्धो लोके । तथा च अविद्यादि अनेकसंसारबीजम् अन्तर्दोषवद् मायाव्याकृतादिशब्दवाच्यं *'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'* (श्वे० उ० ४ । १०) *'मम माया दुरत्यया'* इत्यादौ प्रसिद्धं यत् तत् कूटम् । तस्मिन् कूटे स्थितं कूटस्थं तदध्यक्षतया ।

जो वस्तु ऊपरसे गुणयुक्त प्रतीत होती हो और भीतर दोषोंसे भरी हो उसका नाम 'कूट' है । संसारमें भी 'कूटरूप' 'कूटसाक्ष्य' इत्यादि प्रयोगोंमें कूट शब्द (इसी अर्थमें) प्रसिद्ध है । वैसे ही जो अविद्यादि अनेक संसारोंकी बीजभूत अन्तर्दोषोंसे युक्त प्रकृति 'माया–अव्याकृत' आदि शब्दोंद्वारा कही जाती है एवं **'प्रकृतिको तो माया और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये' 'मेरी माया दुस्तर है'** इत्यादि श्रुति-स्मृतिके वचनोंमें जो माया नामसे प्रसिद्ध है, उसका नाम कूट है उस कूट (नामक माया) में जो उसका अधिष्ठातारूपसे स्थित हो रहा हो उसका नाम कूटस्थ है ।

अथवा राशिः इव स्थितं कूटस्थम् अत एव अचलं यस्माद् अचलं तस्माद् ध्रुवं नित्यम् इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथवा राशि—ढेरकी भाँति जो (कुछ भी क्रिया न करता हुआ) स्थित हो उसका नाम कूटस्थ है। इस प्रकार कूटस्थ होनेके कारण जो अचल है और अचल होनेके कारण ही जो ध्रुव अर्थात् नित्य है (उस ब्रह्मकी जो लोग उपासना करते है) ॥ ३ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

संनियम्य सम्यग् नियम्य संहृत्य इन्द्रियग्रामं इन्द्रियसमुदायम्, सर्वत्र सर्वस्मिन् काले समबुद्धयः समा तुल्या बुद्धिः येषाम् इष्टानिष्टप्राप्तौ ते समबुद्धयः ते ये एवंविधाः ते प्राप्नुवन्ति माम् एव सर्वभूतहिते रताः ।

तथा जो इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार संयम करके— उन्हे विषयोंसे रोककर, सर्वत्र —सब समय सम-बुद्धिवाले होते हैं अर्थात् इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें जिनकी बुद्धि समान रहती है, ऐसे वे समस्त भूतोंके हितमे तत्पर अक्षरोपासक मुझे ही प्राप्त करते हैं।

न तु तेषां वक्तव्यं किंचिद् मां ते प्राप्नुवन्ति इति। *'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'* इति हि उक्तम्। नहि भगवत्स्वरूपाणां सतां युक्ततमत्वम् अयुक्ततमत्वं वा वाच्यम् ॥ ४ ॥

उन अक्षर-उपासकोके सम्बन्धमे 'वे मुझे प्राप्त होते हैं' इस विषयमे तो कहना ही क्या है क्योंकि **'ज्ञानीको तो मैं अपना आत्मा ही समझता हूँ'** यह पहले ही कहा जा चुका है। जो भगवत्-स्वरूप ही है उन सतजनोंके विषयमें युक्ततम या अयुक्ततम कुछ भी कहना नहीं बन सकता ॥ ४ ॥

किं तु—

किन्तु—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

क्लेशः अधिकतरो यद्यपि मत्कर्मादिपराणां क्लेशः अधिक एव क्लेशः अधिकतरः तु अक्षरात्मनां परमार्थदर्शिनां देहाभिमान-परित्यागनिमित्तः अव्यक्तासक्तचेतसाम् अव्यक्ते आसक्तं चेतो येषां ते अव्यक्तासक्तचेतसः तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

(उनको) क्लेश अधिकतर होता है। यद्यपि मेरे ही लिये कर्मादि करनेमें लगे हुए साधकोंको भी बहुत क्लेश होता है, परन्तु जिनका चित्त अव्यक्तमें आसक्त है, उन अक्षरचिन्तक परमार्थदर्शियोंको तो देहाभिमानका परित्याग करना पड़ता है इसलिये उन्हें और भी अधिक क्लेश उठाना पड़ता है।

अव्यक्ता हि यस्माद् या गतिः अक्षरात्मिका दुःखं सा देहवद्भिः देहाभिमानवद्भिः अवाप्यते अतः क्लेशः अधिकतरः। अक्षरोपासकानां यद् वर्तनं तद् उपरिष्टाद् वक्ष्यामः ॥ ५ ॥

क्योंकि जो अक्षरात्मिका अव्यक्तगति है वह देहाभिमानयुक्त पुरुषोंको बड़े कष्टसे प्राप्त होती है, अतः उनको अधिकतर क्लेश होता है। उन अक्षरोपासकोंका जैसा आचार-विचार-व्यवहार होता है वह आगे ('अद्वेष्टा' इत्यादि श्लोकोंसे) बतलायेंगे ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि ईश्वरे संन्यस्य मत्परा अहं परो येषां ते मत्पराः सन्तः अनन्येन एव अविद्यमानम् अन्यद् आलम्बनं विश्वरूपं देवम् आत्मानं मुक्त्वा यस्य स अनन्यः तेन अनन्येन एव केवलेन योगेन समाधिना मां ध्यायन्तः चिन्तयन्त उपासते ॥ ६ ॥

परन्तु जो समस्त कर्मोंको मुझ ईश्वरके समर्पण करके मेरे परायण होकर अर्थात् मैं ही जिनकी परमगति हूँ ऐसे होकर केवल अनन्ययोगसे अर्थात् विश्वरूप आत्मदेवको छोड़कर जिसमें अन्य अवलम्बन नहीं है, ऐसे अनन्य समाधियोगसे ही मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥६॥

तेषां किम्—

उनका क्या होता है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

तेषां मदुपासनैकपराणाम् अहम् ईश्वरः समुद्धर्ता। कुत इति आह मृत्युसंसारसागरात्, मृत्युयुक्तः संसारो मृत्युसंसारः स एव सागर इव सागरो दुरुत्तरत्वात् तस्माद् मृत्युसंसारसागराद् अहं तेषां समुद्धर्ता भवामि न चिरात् किं तर्हि क्षिप्रम् एव हे पार्थ मयि आवेशितचेतसा मयि विश्वरूपे आवेशितं समाहितं प्रवेशितं चेतो येषां ते मयि आवेशितचेतसः तेषाम् ॥७॥

हे पार्थ! मुझ विश्वरूप परमेश्वरमें ही जिनका चित्त समाहित है ऐसे केवल एक मुझ परमेश्वरकी उपासनामें ही लगे हुए उन भक्तोंका मैं ईश्वर उद्धार करनेवाला होता हूँ। किससे (उनका उद्धार करते हैं)? सो कहते हैं कि मृत्युयुक्त संसार-समुद्रसे। मृत्युयुक्त संसारका नाम मृत्युसंसार है, वही पार उतरनेमें कठिन होनेके कारण सागरकी भाँति सागर है, उससे मैं उनका विलम्बसे नहीं, किन्तु शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ ॥ ७ ॥

यत एवं तस्मात्—

जब कि यह बात है तो—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मयि एव विश्वरूपे ईश्वरे मनः संकल्पविकल्पात्मकम् आधत्स्व स्थापय, मयि एव अध्यवसायं कुर्वतीं बुद्धिम् आधत्स्व निवेशय।

तू मुझ विश्वरूप ईश्वरमे ही अपने संकल्पविकल्पात्मक मनको स्थिर कर और मुझमे ही निश्चय करनेवाली बुद्धिको स्थिर कर—लगा।

ततः ते किं स्याद् इति शृणु—

उससे तेरा क्या (लाभ) होगा सो सुन—

निवसिष्यसि निवत्स्यसि निश्चयेन मदात्मना मयि निवासं करिष्यसि एव अतः शरीरपाताद् ऊर्ध्वं न संशयः संशयः अत्र न कर्त्तव्यः ॥८॥

इसके पश्चात् अर्थात् शरीरका पतन होनेके उपरान्त तू निःसन्देह एकात्मभावसे मुझमे ही निवास करेगा, इसमे कुछ भी संशय नहीं है अर्थात् इस विषयमे संशय नहीं करना चाहिये ॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अथ एवं यथा अवोचाम तथा मयि चित्तं समाधातुं स्थापयितुं स्थिरम् अचलं न शक्नोषि चेत् ततः पश्चाद् अभ्यासयोगेन चित्तस्य एकस्मिन् आलम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनः पुनः स्थापनम् अभ्यासः तत्पूर्वको योगः समाधानलक्षणः तेन अभ्यासयोगेन मां विश्वरूपम् इच्छ प्रार्थयस्व आप्तुं प्राप्तुं हे धनंजय ॥ ९ ॥

यदि इस प्रकार यानी जैसे मैने बतलाया है उस प्रकार तू मुझमे चित्तको अचल स्थापित नहीं कर सकता, तो फिर हे धनंजय ! तू अभ्यासयोगके द्वारा—चित्तको सब ओरसे खींचकर बारंबार एक अवलम्बनमे लगानेका नाम अभ्यास है उससे युक्त जो समाधानरूप योग है, ऐसे अभ्यासयोगके द्वारा—मुझ—विश्वरूप परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छा कर ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अभ्यासे अपि असमर्थः असि अशक्तः असि तर्हि मत्कर्मपरमो भव, मदर्थं कर्म मत्कर्म तत्परमो मत्कर्मप्रधान इत्यर्थः। अभ्यासेन विना मदर्थम् अपि कर्माणि केवलं कुर्वन् सिद्धिं सत्त्वशुद्धियोगज्ञानप्राप्तिद्वारेण अवाप्स्यसि ॥ १० ॥

(यदि तू) अभ्यासमे भी असमर्थ है तो मेरे लिये कर्म करनेमे तत्पर हो—मदर्थकर्मका नाम मत्कर्म है, उसमे तत्पर हो अर्थात् मेरे लिये कर्म करनेको ही प्रधान समझनेवाला हो। अभ्यासके बिना केवल मेरे लिये कर्म करता हुआ भी तू अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानयोगकी प्राप्तिद्वारा परमसिद्धि प्राप्त कर लेगा ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अथ पुनः एतद् अपि **यद् उक्तं मत्कर्मपरमत्वं तत्** कर्तुम् अशक्तः असि मद्योगम् आश्रितो **मयि क्रियमाणानि कर्माणि संन्यस्य यत्करणं तेषाम् अनुष्ठानं स मद्योगः तम् आश्रितः सन्** सर्वकर्मफलत्यागं **सर्वेषां कर्मणां फलसंन्यासं सर्वकर्मफलत्यागं** ततः **अनन्तरं** कुरु यतात्मवान् **संयतचित्तः सन् इत्यर्थः** ॥ ११ ॥

परन्तु यदि तू ऐसा करनेमें भी अर्थात् जैसा ऊपर कहा है उस प्रकार मेरे लिये कर्म करनेके परायण होनेमें भी असमर्थ है तो फिर मद्योगके आश्रित होकर—किये जानेवाले समस्त कर्मोंको मुझमें समर्पण करके उनका अनुष्ठान करना मद्योग है । उसके आश्रित होकर—और संयतात्मा होकर अर्थात् वशीभूत मनवाला होकर समस्त कर्मोंके फलका त्याग कर ॥ ११ ॥

इदानीं सर्वकर्मफलत्यागं स्तौति—

अब सर्व कर्मोंके फलत्यागकी स्तुति करते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

श्रेयो हि **प्रशस्यतरं** ज्ञानम् **कस्मात्, अविवेकपूर्वकाद्** अभ्यासात् **तस्माद् अपि** ज्ञानाद् **ज्ञानपूर्वकं** ध्यानं विशिष्यते । **ज्ञानवतो** ध्यानाद् **अपि** कर्मफलत्यागो **विशिष्यते इति अनुषज्यते** ।*

एवं कर्मफलत्यागात् **पूर्वविशेषणवतः** शान्तिः **उपशमः सहेतुकस्य संसारस्य** अनन्तरम् **एव स्याद् न तु कालान्तरम् अपेक्षते** ।

अज्ञस्य कर्मणि प्रवृत्तस्य पूर्वोपदिष्टोपायानुष्ठानाशक्तौ सर्वकर्मणां फलत्यागः श्रेयःसाधनम् उपदिष्टम् न प्रथमम् एव, अतः च श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासाद् इति उत्तरोत्तरविशिष्टत्वोपदेशेन सर्वकर्मफलत्यागः स्तूयते सम्पन्नसाधनानुष्ठानाशक्तौ अनुष्ठेयत्वेन श्रुतत्वात् ।

निःसन्देह ज्ञान श्रेष्ठतर है । किससे? अविवेकपूर्वक किये हुए अभ्याससे; उस ज्ञानसे भी ज्ञानपूर्वक ध्यान श्रेष्ठ है, और (इसी प्रकार) ज्ञानयुक्त ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग अधिक श्रेष्ठ है ।

पहले बतलाये हुए विशेषणोंसे युक्त पुरुषको इस कर्म-फल-त्यागसे तुरंत ही शान्ति हो जाती है, अर्थात् हेतुसहित समस्त संसारकी निवृत्ति तत्काल ही हो जाती है । कालान्तरकी अपेक्षा नहीं रहती ।

कर्मोंमें लगे हुए अज्ञानीके लिये, पूर्वोक्त उपायोंका अनुष्ठान करनेमें असमर्थ होनेपर ही, सर्वकर्मोंके फलत्यागरूप कल्याणसाधनका उपदेश किया गया है, सबसे पहले नहीं । इसलिये 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्' इत्यादिसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतलाकर सर्वकर्मोंके फलत्यागकी स्तुति करते हैं । क्योंकि उत्तम साधनोंका अनुष्ठान करनेमें असमर्थ होनेपर यह साधन भी अनुष्ठान करने योग्य माना गया है ।

* कर्मफलत्यागके साथ 'विशिष्यते' क्रियाका सम्बन्ध ऊपरके क्रमसे जोड़ा गया है ।

केन साधर्म्येण स्तुतिः ।

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते' (क० उ० ६ । १४) इति सर्वकामप्रहाणाद् अमृतत्वम् उक्तं तत् प्रसिद्धम् । कामाः च सर्वे श्रौतस्मार्तसर्वकर्मणां फलानि । तत्त्यागे च विदुषो ज्ञाननिष्ठस्य अनन्तरा एव शान्तिः इति ।

सर्वकामत्यागसामान्यम् अज्ञकर्मफलत्यागस्य अस्ति इति तत्सामान्यात् सर्वकर्मफलत्यागस्तुतिः इयं प्ररोचनार्था ।

यथा अगस्त्येन ब्राह्मणेन समुद्रः पीत इति इदानींतना अपि ब्राह्मणा ब्राह्मणत्वसामान्यात् स्तूयन्ते ।

एवं कर्मफलत्यागात् कर्मयोगस्य श्रेयःसाधनत्वम् अभिहितम् ॥ १२ ॥

पू०—कौन-सी समानताके कारण यह स्तुति की गयी है ?

उ०—जब (**'इसके हृदयमें स्थित) समस्त कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं'** इस श्रुतिसे समस्त कामनाओंके नाशसे अमृतत्वकी प्राप्ति बतलायी गयी है, यह प्रसिद्ध है । समस्त श्रौत-स्मार्त-कर्मोंके फलोंका नाम 'काम' है, उनके त्यागसे ज्ञाननिष्ठ विद्वान्‌को तुरंत ही शान्ति मिलती है ।

अज्ञानीके कर्मफलत्यागमे भी सर्व कामनाओंका त्याग है ही, अतः इस सर्व कामनाओंके त्यागकी समानताके कारण रुचि उत्पन्न करनेके लिये यह सर्वकर्म-फलत्यागकी स्तुति की गयी है ।

जैसे 'अगस्त्य ब्राह्मणने समुद्र पी लिया था' इसलिये आजकलके ब्राह्मणोंके भी ब्राह्मणत्वकी समानताके कारण स्तुति की जाती है ।

इस प्रकार कर्मफलके त्यागसे कर्मयोगकी कल्याणसाधनता बतलायी गयी है ॥ १२ ॥

अत्र च आत्मेश्वरभेदम् आश्रित्य विश्वरूपे ईश्वरे चेतःसमाधानलक्षणो योग उक्त ईश्वरार्थं कर्मानुष्ठानादि च ।

'अथैतदप्यशक्तोऽसि' इति अज्ञानकार्यसूचनाद् न अभेददर्शिनः अक्षरोपासकस्य कर्मयोग उपपद्यते इति दर्शयति । तथा कर्मयोगिनः अक्षरोपासनानुपपत्तिं दर्शयति भगवान् ।

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' इति अक्षरोपासकानां कैवल्यप्राप्तौ स्वातन्त्र्यम् उक्त्वा इतरेषां पारतन्त्र्यम् ईश्वराधीनतां दर्शितवान् *'तेषामहं समुद्धर्ता'* इति ।

यहाँ आत्मा और ईश्वरके भेदको स्वीकार करके विश्वरूप ईश्वरमे चित्तका समाधान करनारूप योग कहा है और ईश्वरके लिये कर्म करने आदिका भी उपदेश किया है ।

परन्तु **'अथैतदप्यशक्तोऽसि'** इस कथनके द्वारा (कर्मयोगको) अज्ञानका कार्य सूचित करते हुए भगवान् यह दिखलाते है कि जो अव्यक्त अक्षरकी उपासना करनेवाले अभेददर्शी है उनके लिये कर्मयोग सम्भव नहीं है । साथ ही कर्मयोगियोंके लिये अक्षरकी उपासना असम्भव दिखलाते हैं ।

इसके सिवाय (उन्होने) **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** इस कथनसे अक्षरकी उपासना करनेवालोंके लिये मोक्षप्राप्तिमे स्वतन्त्रता बतलाकर **'तेषामहं समुद्धर्ता'** इस कथनसे दूसरोंके लिये परतन्त्रता अर्थात् ईश्वराधीनता दिखलायी है ।

यदि हि ईश्वरस्य आत्मभूताः ते मता अभेददर्शित्वाद् अक्षररूपा एव ते इति समुद्धरणकर्मवचनं तान् प्रति अपेशलं स्यात् ।

क्योंकि यदि वे (कर्मयोगी भी) ईश्वरके स्वरूप ही माने गये है तब तो अभेददर्शी होनेके कारण वे अक्षरस्वरूप ही हुए, फिर उनके लिये उद्धार करनेका कथन असंगत होगा ।

यस्मात् च अर्जुनस्य अत्यन्तम् एव हितैषी भगवान् तस्य सम्यग्दर्शनानन्वितं कर्मयोगं भेददृष्टिमन्तम् एव उपदिशति ।

भगवान् अर्जुनके अत्यन्त ही हितैषी हैं, इसलिये उसको सम्यक्ज्ञानसे जो मिश्रित नहीं है, ऐसे भेद-दृष्टियुक्त केवल कर्मयोगका ही उपदेश करते हैं । (ज्ञानकर्मके समुच्चयका नहीं) ।

न च आत्मानम् ईश्वरं प्रमाणतो बुद्ध्वा कस्यचिद् गुणभावं जिगमिषति कश्चिद् विरोधात् ।

तथा (यह भी युक्तिसिद्ध है कि) ईश्वरभाव और सेवकभाव परस्परविरुद्ध है इस कारण प्रमाणद्वारा आत्माको साक्षात् ईश्वररूप जान लेनेके बाद, कोई भी, किसीका सेवक बनना नहीं चाहता ।

तस्माद् अक्षरोपासकानां सम्यग्दर्शन-निष्ठानां संन्यासिनां त्यक्तसर्वैषणानाम् *'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'* इत्यादिधर्मपूगं साक्षाद् अमृतत्व-कारणं वक्ष्यामि इति प्रवर्तते—

इसलिये जिन्होने समस्त इच्छाओंका त्याग कर दिया है, ऐसे अक्षरोपासक यथार्थ ज्ञाननिष्ठ संन्यासियोंका जो साक्षात् मोक्षका कारणरूप **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'** इत्यादि धर्मसमूह है उसका वर्णन करूँगा, इस उद्देश्यसे भगवान् कहना आरम्भ करते है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां न द्वेष्टा आत्मनो दुःखहेतुम् अपि न किंचिद् द्वेष्टि सर्वाणि भूतानि आत्मत्वेन हि पश्यति ।

जो सब भूतोमे द्वेषभावसे रहित है अर्थात् अपने लिये दुःख देनेवाले भी किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, समस्त भूतोंको आत्मारूपसे ही देखता है ।

मैत्रो मित्रभावो मैत्री मित्रतया वर्तते इति मैत्रः । करुण एव च करुणा कृपा दुःखितेषु दया तद्वान् करुणः सर्वभूताभयप्रदः संन्यासी इत्यर्थः ।

तथा जो मित्रतासे युक्त है अर्थात् सबके साथ मित्र-भावसे बर्तता है और करुणामय है—दीन-दुखियोपर दया करना करुणा है, उससे युक्त है अभिप्राय यह कि जो सब भूतोंको अभय देनेवाला संन्यासी है ।

निर्ममो ममप्रत्ययवर्जितो निरहंकारो निर्गताहंप्रत्ययः समदुःखसुखः समे दुःखसुखे द्वेषरागयोः अप्रवर्तके यस्य स समदुःखसुखः ।

तथा जो ममतासे रहित और अहंकारसे रहित है, एवं सुख-दुःखमे सम है अर्थात् सुख और दुःख जिसके अन्तःकरणमे राग-द्वेष उत्पन्न नहीं कर सकते ।

क्षमी क्षमावान् आक्रुष्टः अभिहतो वा अविक्रिय एव आस्ते ॥ १३ ॥

जो क्षमावान् है अर्थात् किसीके द्वारा गाली दी जानेपर या पीटे जानेपर भी जो विकार-रहित ही रहता है ॥ १३ ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

संतुष्टः सततं नित्यं देहस्थितिकारणस्य-लाभे अलाभे च उत्पन्नालंप्रत्ययः, तथा गुणवल्लाभे विपर्यये च संतुष्टः सततम्, योगी समाहितचित्तो यतात्मा संयतस्वभावो दृढ-निश्चयो दृढः स्थिरो निश्चयः अध्यवसायो यस्य आत्मतत्त्वविषये स दृढनिश्चयः ।

तथा जो सदा ही सन्तुष्ट है अर्थात् देह-स्थिति-के कारणरूप पदार्थोंकी लाभ-हानिमे जिसके 'जो कुछ होता है वही ठीक है' ऐसा 'अलम्' भाव हो गया है, इस प्रकार जो गुणयुक्त वस्तुके लाभमे और उसकी हानिमे सदा ही सन्तुष्ट रहता है । तथा जो समाहितचित्त, जीते हुए स्वभाववाला और दृढ निश्चयवाला है अर्थात् आत्मतत्त्वके विषयमे जिसका निश्चय स्थिर हो चुका है ।

मयि अर्पितमनोबुद्धिः संकल्पात्मकं मनः अध्यवसायलक्षणा बुद्धिः ते मयि एव अर्पिते स्थापिते यस्य संन्यासिनः स मयि अर्पित-मनोबुद्धिः । य ईदृशो मद्भक्तः स मे प्रियः ।

तथा जो मुझमे अर्पण किये हुए मन-बुद्धि-वाला है अर्थात् जिस सन्यासीका संकल्प-विकल्पात्मक मन और निश्चयात्मिका बुद्धि ये दोनों मुझमे समर्पित हैं—स्थापित है । जो ऐसा मेरा भक्त है वह मेरा प्यारा है ।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इति सप्तमेऽध्याये सूचितं तद् इह प्रपञ्च्यते ॥ १४ ॥

'ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्यारा हूँ और वह मुझे प्रिय है' इस प्रकार जो सप्तम अध्यायमे सूचित किया गया था उसीका यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

यस्मात् संन्यासिनो न उद्विजते न उद्वेगं गच्छति न संतप्यते न संक्षुभ्यते लोकः । तथा लोकाद् न उद्विजते च यः ।

जिस संन्यासीसे संसार उद्वेगको प्राप्त नहीं होता अर्थात् संतप्त—क्षुब्ध नहीं होता और जो स्वयं भी संसारसे उद्वेगयुक्त नहीं होता ।

हर्षामर्षभयोद्वेगैः हर्षः च अमर्षः च भयं च उद्वेगः च तैः हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः ।

जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगसे रहित है—प्रिय वस्तुके लाभसे अन्तःकरणमें जो उत्साह होता है,

हर्षः प्रियलाभे अन्तःकरणस्य उत्कर्षो रोमाञ्चनाश्रुपातादिलिङ्गः अमर्षः असहिष्णुता भयं त्रास उद्वेग उद्विग्नता तैः मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

रोमाञ्च और अश्रुपात आदि जिसके चिह्न हैं उसका नाम 'हर्ष' है, असहिष्णुताको 'अमर्ष' कहते है, त्रासका नाम 'भय' है और उद्विग्नता ही 'उद्वेग' है इन सबसे जो मुक्त है वह मेरा प्यारा है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

देहेन्द्रियविषयसम्बन्धादिषु अपेक्षाविषयेषु अनपेक्षो निःस्पृहः, शुचिः बाह्येन आभ्यन्तरेण च शौचेन सम्पन्नः, दक्षः प्रत्युत्पन्नेषु कार्येषु सद्यो यथावत् प्रतिपत्तुं समर्थः ।

उदासीनो न कस्यचिद् मित्रादेः पक्षं भजते यः स उदासीनो यतिः, गतव्यथो गतभयः ।

सर्वारम्भपरित्यागी, आरभ्यन्ते इति आरम्भा इहामुत्रफलभोगार्थानि कामहेतूनि कर्माणि सर्वारम्भाः तान् परित्यक्तुं शीलम् अस्य इति सर्वारम्भपरित्यागी, यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

जो शरीर, इन्द्रिय, विषय और उनके सम्बन्ध आदि स्पृहाके विषयोमे अपेक्षारहित—निःस्पृह है, बाहर-भीतरकी शुद्धिसे सम्पन्न है, और चतुर अर्थात् अनेक कर्त्तव्योके प्राप्त होनेपर उनमेसे तुरंत ही यथार्थ कर्त्तव्यको निश्चित करनेमे समर्थ है ।

तथा जो उदासीन अर्थात् किसी मित्र आदिका पक्षपात न करनेवाला संन्यासी है और गतव्यथ यानी निर्भय है ।

तथा जो समस्त आरम्भोंका त्याग करनेवाला है—जो आरम्भ किये जायँ उनका नाम आरम्भ है, इसके अनुसार इस लोक और परलोकके फलभोगके लिये किये जानेवाले समस्त कामनाहेतुक कर्मोंका नाम सर्वारम्भ है, उन्हे त्यागनेका जिसका स्वभाव है ऐसा जो मेरा भक्त है वह मेरा प्यारा है ॥ १६ ॥

किं च—

तथा—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

यो न हृष्यति इष्टप्राप्तौ, न द्वेष्टि अनिष्टप्राप्तौ, न शोचति प्रियवियोगे, न च अप्राप्तं काङ्क्षति । शुभाशुभे कर्मणी परित्यक्तुं शीलम् अस्य इति शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान् यः स मे प्रिय.॥१७॥

जो इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमे हर्ष नहीं मानता, अनिष्टकी प्राप्तिमे द्वेष नहीं करता, प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर शोक नहीं करता और अप्राप्त वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं करता, ऐसा जो शुभ और अशुभ कर्मोंका त्याग कर देनेवाला भक्तिमान् पुरुष है वह मेरा प्यारा है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः पूजापरिभवयोः शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सर्वत्र च सङ्गवर्जितः ॥ १८ ॥

जो शत्रु-मित्रमे और मानापमानमे अर्थात् सत्कार और तिरस्कारमे समान रहता है एवं शीत-उष्ण और सुख-दुःखमे भी समभाववाला है तथा सर्वत्र आसक्तिसे रहित हो चुका है ॥ १८ ॥

किं च—

तथा—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिः निन्दा च स्तुतिः च निन्दास्तुती ते तुल्ये यस्य स तुल्यनिन्दास्तुतिः, मौनी मौनवान् संयतवाक्, संतुष्टो येन केनचित् शरीरस्थितिमात्रेण ।

तथा च उक्तम्—

'येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचनशायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥'

(महा० शान्ति० २४५ । १२) इति । किं च अनिकेतो निकेत आश्रयो निवासो नियतो न विद्यते यस्य सः अनिकेतः *'अनागारः'* इत्यादिस्मृत्यन्तरात् । स्थिरमतिः स्थिरा परमार्थवस्तुविषया मतिः यस्य स स्थिरमतिः भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

जिसके लिये निन्दा और स्तुति दोनों बराबर हो गयी है, जो मुनि संयतवाक् है अर्थात् वाणी जिसके वशमे है । तथा जो जिस किसी प्रकारसे भी शरीरस्थितिमात्रसे सन्तुष्ट है ।

कहा भी है कि **'जो जिस किसी (अन्य) मनुष्यद्वारा ही वस्त्रादिसे ढका जाता है, एवं जिस किसी (दूसरे) के द्वारा ही जिसको भोजन कराया जाता है और जो जहाँ कहीं भी सोनेवाला होता है उसको देवता लोग ब्राह्मण समझते हैं ।'**

तथा जो स्थानसे रहित है अर्थात् जिसका कोई नियत निवासस्थान नहीं है, अन्य स्मृतियोमे भी **'अनागारः'** इत्यादि वचनोंसे यही कहा है, तथा जो स्थिरबुद्धि है—जिसकी परमार्थविषयक बुद्धि स्थिर हो चुकी है, ऐसा भक्तिमान् पुरुष मेरा प्यारा है ॥ १९ ॥

'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादिना अक्षरस्य उपासकानां निवृत्तसर्वैषणानां संन्यासिनां परमार्थज्ञाननिष्ठानां धर्मजातं प्रक्रान्तम् उपसंह्रियते—

समस्त तृष्णासे निवृत्त हुए, परमार्थज्ञाननिष्ठ अक्षरोपासक संन्यासियोंके **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'** इस श्लोकद्वारा प्रारम्भ किये हुए धर्मसमूहका उपसंहार किया जाता है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

ये तु संन्यासिनो धर्म्यामृतं धर्माद् अनपेतं धर्म्यं च तद् अमृतं च तद् अमृतत्वहेतुत्वाद् इदं यथोक्तम् *'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'* इत्यादिना पर्युपासते अनुतिष्ठन्ति श्रद्दधानाः सन्तः मत्परमा यथोक्तः अहम् अक्षरात्मा परमो निरतिशया गतिः येषां ते मत्परमा मद् भक्ताः च उत्तमां परमार्थज्ञानलक्षणां भक्तिम् आश्रिताः ते अतीव मे प्रियाः ।

जो संन्यासी इस धर्ममय अमृतको अर्थात् जो धर्मसे ओतप्रोत है और अमृतत्वका हेतु होनेसे अमृत भी है ऐसे इस **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'** इत्यादि श्लोकोंद्वारा ऊपर कहे हुए (उपदेश) का श्रद्धालु होकर सेवन करते हैं—उसका अनुष्ठान करते हैं, वे मेरे परायण अर्थात् 'मैं अक्षर-स्वरूप परमात्मा ही जिनकी निरतिशय गति हूँ' ऐसे, यथार्थ ज्ञानरूप उत्तम भक्तिका अवलम्बन करनेवाले मेरे भक्त, मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्' इति यत् सूचितं तद् व्याख्याय इह उपसंहृतं भक्ताः ते अतीव मे प्रिया इति ।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्' इस प्रकार जो विषय सूत्ररूपसे कहा गया था यहाँ उसकी व्याख्या करके 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' इस वचनसे उसका उपसंहार किया गया है ।

यस्माद् धर्म्यामृतम् इदं यथोक्तम् अनुतिष्ठन् भगवतो विष्णोः परमेश्वरस्य अतीव मे प्रियो भवति तस्माद् इदं धर्म्यामृतं मुमुक्षुणा यत्नतः अनुष्ठेयं विष्णोः प्रियं परं धाम जिगमिषुणा इति वाक्यार्थः ॥ २० ॥

कहनेका अभिप्राय यह है कि इस यथोक्त धर्मयुक्त अमृतरूप उपदेशका अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य मुझ साक्षात् परमेश्वर विष्णुभगवान्‌का अत्यन्त प्रिय हो जाता है, इसलिये विष्णुके प्यारे परमधामको प्राप्त करनेकी इच्छावाले मुमुक्षु पुरुषको इस धर्मयुक्त अमृतका यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकर-भगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

ॐ

त्रयोदशोऽध्यायः

सप्तमे अध्याये सूचिते द्वे प्रकृती ईश्वरस्य । त्रिगुणात्मिका अष्टधा भिन्ना अपरा संसारहेतुत्वात् परा च अन्या जीवभूता क्षेत्रज्ञलक्षणा ईश्वरात्मिका ।

सातवें अध्यायमें ईश्वरकी दो प्रकृतियाँ बतलायी गयी हैं—पहली आठ प्रकारसे विभक्त त्रिगुणात्मिक प्रकृति जो संसारका कारण होनेसे 'अपरा' है। और दूसरी 'परा' प्रकृति जो कि जीवभूत, क्षेत्रज्ञरूपा, ईश्वरात्मिका है।

याभ्यां प्रकृतिभ्याम् ईश्वरो जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुत्वं प्रतिपद्यते । तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणप्रकृतिद्वयनिरूपणद्वारेण तद्वद् ईश्वरस्य तत्त्वनिर्धारणार्थं क्षेत्राध्याय आरभ्यते ।

जिन दोनों प्रकृतियोंसे युक्त हुआ ईश्वर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण होता है, उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप दोनों प्रकृतियोंके निरूपणद्वारा उन प्रकृतियोंवाले ईश्वरका तत्त्व निश्चित करनेके लिये यह 'क्षेत्रविषयक' अध्याय आरम्भ किया जाता है।

अतीतानन्तराध्याये च *'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'* इत्यादिना यावद् अध्यायपरिसमाप्तिः तावत् तत्त्वज्ञानिनां संन्यासिनां निष्ठा यथा ते वर्तन्ते इति एतद् उक्तम्, केन पुनः ते तत्त्वज्ञानेन युक्ता यथोक्तधर्माचरणाद् भगवतः प्रिया भवन्ति इति एवमर्थः च अयम् अध्याय आरभ्यते ।

इसके पहले बारहवें अध्यायमें **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'** से लेकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त तत्त्वज्ञानी संन्यासियोंकी निष्ठा अर्थात् वे जिस प्रकार बर्ताव करते हैं, सो कहा गया। उपर्युक्त धर्मका आचरण करनेसे फिर वे कौन-से तत्त्व-ज्ञानसे युक्त होकर भगवान्के प्यारे हो जाते हैं, इस आशयको समझानेके लिये भी यह तेरहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है।

प्रकृतिः च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरणविषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थकर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते सः अयं संघात इदं शरीरं तद् एतत्—

समस्त कार्य, करण और विषयोंके आकारमें परिणत हुई त्रिगुणात्मिका प्रकृति पुरुषके लिये भोग और अपवर्गका सम्पादन करनेके निमित्त देह-इन्द्रियादिके आकारसे संहत (मूर्तिमान्) होती है, वह संघात ही यह शरीर है, उसका वर्णन करनेके लिये श्रीभगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

इदम् इति सर्वनाम्ना उक्तं विशिनष्टि शरीरम् इति ।

हे कौन्तेय क्षतत्राणात् क्षयात् क्षरणात् क्षेत्रवद् वा अस्मिन् कर्मफलनिर्वृत्तेः क्षेत्रम् इति । इतिशब्द एवंशब्दपदार्थकः क्षेत्रम् इति एवम् अभिधीयते कथ्यते ।

एतत् शरीरं क्षेत्रम् यो वेत्ति विजानाति आपादतलमस्तकं ज्ञानेन विषयीकरोति स्वाभाविकेन औपदेशिकेन वा वेदनेन विषयीकरोति विभागशः तं वेदितारं प्राहुः कथयन्ति क्षेत्रज्ञ इति ।

इतिशब्द एवंशब्दपदार्थक एव पूर्ववत् क्षेत्रज्ञ इति एवम् आहुः । के, तद्विदः तौ क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ ये विदन्ति ते तद्विदः ॥ १ ॥

'इदम्' इस सर्वनामसे कही हुई वस्तुको 'शरीरम्' इस विशेषणसे स्पष्ट करते है ।

हे कुन्तीपुत्र ! शरीरको चोट आदिसे बचाया जाता है इसलिये, या यह शनैः-शनैः क्षीण-नष्ट होता रहता है इसलिये, अथवा क्षेत्रके समान इसमें कर्मफल प्राप्त होते हैं इसलिये, यह शरीर 'क्षेत्र' है इस प्रकार कहा जाता है । यहाँ 'इति' शब्द 'एवम्' शब्दके अर्थमे है ।

इस शरीररूप क्षेत्रको जो जानता है—चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त (इस शरीरको) जो ज्ञानसे प्रत्यक्ष करता है अर्थात् स्वाभाविक या उपदेश-द्वारा प्राप्त अनुभवसे विभागपूर्वक स्पष्ट जानता है उस जाननेवालेको 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं ।

यहाँ भी 'इति' शब्द पहलेकी भाँति 'एवम्' शब्दके अर्थमे ही है अतः 'क्षेत्रज्ञ' ऐसा कहते हैं । कौन कहते हैं ? उनको जाननेवाले अर्थात् उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोको जो जानते हैं वे ज्ञानी पुरुष (कहते है) ॥ १ ॥

एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ उक्तौ किम् एतावन्मात्रेण ज्ञानेन ज्ञातव्यौ इति न इति उच्यते—

इस प्रकार कहे हुए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ क्या इतने ज्ञानसे ही जाने जा सकते हैं ? इसपर कहते है कि नहीं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

क्षेत्रज्ञं यथोक्तलक्षणं च अपि मा परमेश्वरम् असंसारिणं विद्धि जानीहि सर्वक्षेत्रेषु यः क्षेत्रज्ञो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानेकक्षेत्रोपाधिप्रविभक्तः तं निरस्तसर्वोपाधिभेदं सदसदादिशब्दप्रत्ययागोचरं विद्धि इति अभिप्रायः ।

तू समस्त क्षेत्रोमे उपर्युक्त लक्षणोसे युक्त क्षेत्रज्ञ भी, मुझ असंसारी परमेश्वरको ही जान । अर्थात् समस्त शरीरोमे जो ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त अनेक शरीररूप उपाधियोंसे विभक्त हुआ क्षेत्रज्ञ है, उसको समस्त उपाधि-भेदसे रहित एवं सत् और असत् आदि शब्द-प्रतीतिसे जाननेमें न आनेवाला ही समझ ।

हे भारत यस्मात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञेश्वरयाथात्म्यव्यतिरेकेण न ज्ञानगोचरम् अन्यद् अवशिष्टम् अस्ति तस्मात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ज्ञेयभूतयोः यद् ज्ञानं क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ येन ज्ञानेन विषयीक्रियेते तद् ज्ञानं सम्यग् ज्ञानम् इति मतम् अभिप्रायो मम ईश्वरस्य विष्णोः ।

हे भारत ! जब कि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और ईश्वर—इनके यथार्थ स्वरूपसे अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञानका विषय शेष नहीं रहता, इसलिये ज्ञेयस्वरूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है—जिस ज्ञानसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ प्रत्यक्ष किये जाते हैं, वही ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। मुझ ईश्वर—विष्णुका यही मत—अभिप्राय है।

ननु सर्वक्षेत्रेषु एक एव ईश्वरो न अन्यः तद्व्यतिरिक्तो भोक्ता विद्यते चेत् तत ईश्वरस्य संसारित्वं प्राप्तम् ईश्वरव्यतिरेकेण वा संसारिणः अन्यस्य अभावात् संसाराभावप्रसङ्गः तत् च उभयम् अनिष्टं बन्धमोक्षतद्धेतुशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात् प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात् च ।

पू०—यदि समस्त शरीरोंमें एक ही ईश्वर है, उससे अतिरिक्त अन्य कोई भोक्ता नहीं है, ऐसा मानें, तो ईश्वरको संसारी मानना हुआ नहीं तो ईश्वरसे अतिरिक्त अन्य संसारीका अभाव होनेसे संसारके अभावका प्रसङ्ग आ जाता है। यह दोनों ही अनिष्ट हैं, क्योंकि ऐसा मान लेनेपर बन्ध, मोक्ष और उनके कारणका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी इस मान्यताका विरोध है।

प्रत्यक्षेण तावत् सुखदुःखतद्धेतुलक्षणः संसार उपलभ्यते। जगद्वैचित्र्योपलब्धेः च धर्माधर्मनिमित्तः संसारः अनुमीयते। सर्वम् एतद् अनुपपन्नम् आत्मेश्वरैकत्वे ।

प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो सुख-दुःख और उनका कारणरूप यह संसार दीख ही रहा है। इसके सिवा जगत्‌की विचित्रताको देखकर पुण्य-पापहेतुक संसारका होना अनुमानसे भी सिद्ध होता है, परन्तु आत्मा और ईश्वरकी एकता मान लेनेपर ये सब-के-सब अयुक्त ठहरते हैं।

न, ज्ञानाज्ञानयोः अन्यत्वेन उपपत्तेः ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान और अज्ञानका भेद होनेसे यह सब सम्भव है।

'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।' *(क० उ० १ । २ । ४)* तथा च तयोः विद्याविद्याविषययोः फलभेदः अपि विरुद्धो निर्दिष्टः श्रेयः च प्रेयः च इति। विद्याविषयः श्रेयः प्रेयः तु अविद्याकार्यम् इति ।

(श्रुतिमें भी कहा है कि) **'प्रसिद्ध जो अविद्या और विद्या हैं वे अत्यन्त विपरीत और भिन्न समझी गयी हैं'** तथा (उसी जगह) उन विद्या और अविद्याका फल भी श्रेय और प्रेय इस प्रकार परस्परविरुद्ध दिखलाया गया है, इनमें विद्याका फल श्रेय (मोक्ष) और अविद्याका प्रेय (इष्ट भोगोंकी प्राप्ति) है।

तथा च व्यासः—*'द्वाविमावथ पन्थानौ'* *(महा० शान्ति० २४१ । ६)* इत्यादि, *'इमौ द्वावेव पन्थानौ'* इत्यादि च। इह च द्वे निष्ठे उक्ते।

वैसे ही श्रीव्यासजीने भी कहा है कि **'यह दोनों ही मार्ग हैं'** इत्यादि तथा **'यह दो ही मार्ग हैं'** इत्यादि और यहाँ गीताशास्त्रमें भी दो निष्ठाएँ बतलायी गयी हैं।

अविद्या च सह कार्येण विद्यया हातव्या इति श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः अवगम्यते ।

श्रुतयः तावत्—*'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'* (के० उ० २ । ५) *'तमेवं विद्वानमृत इह भवति'* (नृ०पू०उ० ६) *'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'* (श्वे०उ० ३।८) *'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन'* (तै० उ० २।४) अविदुषस्तु—*'अथ तस्य भयं भवति'* (तै०उ० २।७) *'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः'* (क० उ० १ । २ । ५) *'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'* (मु० उ० ३ । २ । ९) *'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्'* आत्मविदः—*'स इदं सर्वं भवति'* (बृह० उ० १।४।१०) *'यदा चर्मवत्'* (श्वे० उ० ६ । २०) इत्याद्याः सहस्रशः ।

स्मृतयः च—*'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'* *'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः'* *'समं पश्यन्हि सर्वत्र'* इत्याद्याः ।

न्यायतः च—*'सर्पान्कुशाग्राणि तथोदपान ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति । अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचिज्ज्ञाने फलं पश्य तथा विशिष्टम् ॥'* (महा० शा० २०१ । १६)

तथा च देहादिषु आत्मबुद्धिः अविद्वान् रागद्वेषादिप्रयुक्तो धर्माधर्मानुष्ठानकृद् जायते म्रियते च इति अवगम्यते, देहादिव्यतिरिक्तात्मदर्शिनो रागद्वेषादिप्रहाणापेक्षधर्माधर्मप्रवृत्त्युपशमाद् मुच्यन्ते इति न केनचित् प्रत्याख्यातुं शक्यं न्यायतः ।

इसके सिवा श्रुति, स्मृति और न्यायसे भी यही सिद्ध होता है कि विद्याके द्वारा कार्यसहित अविद्याका नाश करना चाहिये ।

इस विषयमे ये श्रुतियाँ 'यहाँ यदि जान लिया तो बहुत ठीक है और यदि यहाँ नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है' 'उसको इस प्रकार जाननेवाला यहाँ अमृत हो जाता है' 'परमपदकी प्राप्तिके लिये (विद्याके सिवा) अन्य मार्ग नहीं है' 'विद्वान् किसीसे भी भयभीत नहीं होता ।' किन्तु अज्ञानीके विषयमे (कहा है कि) 'उसको भय होता है' 'जो कि अविद्याके बीचमें ही पड़े हुए हैं' 'जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है' 'यह देव अन्य है और मैं अन्य हूँ इस प्रकार जो समझता है वह आत्मतत्त्वको नहीं जानता जैसे (मनुष्योंका) पशु होता है वैसे ही वह देवताओंका पशु है' किन्तु जो आत्मज्ञानी है (उसके विषयमे) 'वह यह सब कुछ हो जाता है' 'यदि आकाशको चर्मके समान लपेटा जा सके' इत्यादि सहस्रो श्रुतियॉ हैं ।

तथा ये स्मृतियॉ भी है–'ज्ञान अज्ञानसे ढँका हुआ है, इसलिये जीव मोहित हो रहे हैं' 'जिनका चित्त समतामें स्थित है उन्होंने यहीं संसारको जीत लिया है' 'सर्वत्र समानभावसे देखता हुआ' इत्यादि ।

युक्तिसे भी यह बात सिद्ध है । जैसे कहा है कि 'सर्प, कुश-कण्टक और तालावको जान लेनेपर मनुष्य उनसे बच जाते हैं; किन्तु विना जाने कई एक उनमे गिर जाते है, इस न्यायसे ज्ञानका जो विशेष फल है उसको समझ ।'

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणोसे यह ज्ञात होता है कि देहादिमे आत्मबुद्धि करनेवाला अज्ञानी राग-द्वेषादि दोषोसे प्रेरित होकर धर्म-अधर्मरूप कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ जन्मता और मरता रहता है, किन्तु देहादिसे अतिरिक्त आत्माका साक्षात् करनेवाले पुरुषोके राग-द्वेषादि दोष निवृत्त हो जाते हैं, इससे उनकी धर्माधर्मविषयक प्रवृत्ति शान्त हो जानेसे वे मुक्त हो जाते हैं । इस बातका कोई भी न्यायानुसार विरोध नहीं कर सकता ।

तत्र एवं सति क्षेत्रज्ञस्य ईश्वरस्य एव सतः अविद्याकृतोपाधिभेदतः संसारित्वम् इव भवति। यथा देहाद्यात्मत्वम् आत्मनः। सर्वजन्तूनां हि प्रसिद्धो देहादिषु अनात्मसु आत्मभावो निश्चितः अविद्याकृतः।

यथा स्थाणौ पुरुषनिश्चयो न च एतावता पुरुषधर्मः स्थाणोः भवति स्थाणुधर्मो वा पुरुषस्य तथा न चैतन्यधर्मो देहस्य देहधर्मो वा चेतनस्य।

सुखदुःखमोहात्मकत्वादिः आत्मनो न युक्तः अविद्याकृतत्वाविशेषाद् जरामृत्युवत्।

न अतुल्यत्वाद् इति चेत्, स्थाणुपुरुषौ ज्ञेयौ एव सन्तौ ज्ञात्रा अन्योन्यस्मिन् अध्यस्तौ अविद्यया देहात्मनोः तु ज्ञेयज्ञात्रोः एव इतरेतराध्यास इति न समो दृष्टान्तः अतो देहधर्मो ज्ञेयः अपि ज्ञातुः आत्मनो भवति इति चेत्।

न अचैतन्यादिप्रसङ्गात्। यदि हि ज्ञेयस्य देहादेः क्षेत्रस्य धर्माः सुखदुःखमोहेच्छादयो ज्ञातुः भवन्ति तर्हि ज्ञेयस्य क्षेत्रस्य धर्माः केचन आत्मनो भवन्ति अविद्याध्यारोपिता जरामरणादयः तु न भवन्ति इति विशेषहेतुः वक्तव्यः।

न भवन्ति इति अस्ति अनुमानम् अविद्याध्यारोपितत्वाद् जरादिवद् इति हेयत्वाद् उपादेयत्वात् च इत्यादि।

अतः यह सिद्ध हुआ कि जो वास्तवमे ईश्वर ही है उस क्षेत्रज्ञको अविद्याद्वारा आरोपित उपाधिके भेदसे संसारित्व प्राप्त-सा हो जाता है, जैसे कि जीवको देहादिमे आत्मबुद्धि हो जाती है; क्योंकि समस्त जीवोंका जो देहादि अनात्म-पदार्थोंमें आत्म-भाव प्रसिद्ध है, वह निःसन्देह अविद्याकृत ही है।

जैसे स्तम्भमे मनुष्यबुद्धि हो जाती है, परन्तु इतनेहीसे मनुष्यके धर्म स्तम्भमे और स्तम्भके धर्म मनुष्यमें नहीं आ जाते, वैसे ही चेतनके धर्म देहमे और देहके धर्म चेतनमे नहीं आ सकते।

जरा और मृत्युके समान ही अविद्याके कार्य होनेसे सुख-दुःख और अज्ञान आदि भी उन्हींकी भाँति आत्माके धर्म नहीं हो सकते।

पू०—यदि ऐसा मानें कि विषम होनेके कारण यह दृष्टान्त ठीक नहीं है अर्थात् स्तम्भ और पुरुष दोनों ज्ञेय वस्तु हैं, उनमे अविद्यावश ज्ञाताद्वारा एकमे एकका अध्यास किया गया है; परन्तु देह और आत्मामे तो ज्ञेय और ज्ञाताका ही एक दूसरेमे अध्यास होता है, इसलिये यह दृष्टान्त सम नहीं है, अतः यह सिद्ध होता है कि देहका ज्ञेयरूप (सुख-दुःखादि) धर्म भी ज्ञाता—आत्मामे होता है।

उ०—इसमे आत्माको जड मानने आदिका प्रसङ्ग आ जाता है, इसलिये ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञेयरूप शरीरादि—क्षेत्रके सुख, दुःख, मोह और इच्छादि धर्म ज्ञाता (आत्मा) के भी होते हैं, तो यह बतलाना चाहिये कि ज्ञेयरूप क्षेत्रके अविद्याद्वारा आरोपित कुछ धर्म तो आत्मामे होते हैं और कुछ—'जरा-मरणादि' नहीं होते, इस विशेषताका कारण क्या है?

बल्कि, ऐसा अनुमान तो किया जा सकता है कि जरा आदिके समान अविद्याद्वारा आरोपित और त्याज्य तथा ग्राह्य होनेके कारण ये सुख-दुःखादि (आत्माके धर्म) नहीं हैं।

तत्र एवं सति कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारो ज्ञेयस्थो ज्ञातरि अविद्यया अध्यारोपित इति न तेन ज्ञातुः किंचिद् दुष्यति । यथा बालैः अध्यारोपितेन आकाशस्य तलमलवत्त्वादिना ।

ऐसा होनेसे यह सिद्ध हुआ कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रूप यह संसार ज्ञेय वस्तुमे स्थित हुआ ही अविद्याद्वारा ज्ञातामे अध्यारोपित है, अतः उससे ज्ञाताका कुछ भी नहीं बिगड़ता, जैसे कि मूर्खोंद्वारा अध्यारोपित तल-मलिनतादिसे आकाशका (कुछ भी नहीं बिगड़ता) ।

एवं च सति सर्वक्षेत्रेषु अपि सतो भगवतः क्षेत्रज्ञस्य ईश्वरस्य संसारित्वगन्धमात्रम् अपि न आशङ्क्यम् । न हि क्वचिद् अपि लोके अविद्याध्यस्तेन धर्मेण कस्यचिद् उपकारो अपकारो वा दृष्टः ।

अतः सब शरीरोमे रहते हुए भी भगवान् क्षेत्रज्ञ ईश्वरमें संसारीपनके गन्धमात्रकी भी शंका नहीं करनी चाहिये । क्योकि संसारमे कहीं भी अविद्या-द्वारा आरोपित धर्मसे किसीका भी उपकार या अपकार होता नहीं देखा जाता ।

यत् तु उक्तं न समो दृष्टान्त इति तद् असत् ।

तुमने जो यह कहा था कि (स्तम्भमें मनुष्यके भ्रमका) दृष्टान्त सम नहीं है सो (यह कहना) भूल है ।

कथम्—

पू०—कैसे ?

अविद्याध्यासमात्रं हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं विवक्षितम् । तद् न व्यभिचरति यत् तु ज्ञातरि व्यभिचरति इति मन्यसे तस्य अपि अनैकान्तिकत्वम् दर्शितं जरादिभिः ।

उ०—अविद्याजन्य अध्यासमात्रमें ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्तकी समानता विवक्षित है । उसमें कोई दोष नहीं आता । परन्तु तुम जो यह मानते हो कि, ज्ञातामे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तकी विषमताका दोष आता है, तो उसका भी अपवाद, जरा-मृत्यु आदिके दृष्टान्तसे दिखला दिया गया है ।

अविद्यावत्त्वात् क्षेत्रज्ञस्य संसारित्वम् इति चेत् ।

पू०—यदि ऐसा कहे कि अविद्या-युक्त होनेसे क्षेत्रज्ञको ही संसारित्व प्राप्त हुआ, तो ?

न, अविद्यायाः तामसत्वात् । तामसो हि प्रत्यय आवरणात्मकत्वाद् अविद्या, विपरीत-ग्राहकः संशयोपस्थापको वा अग्रहणात्मको वा । विवेकप्रकाशभावे तदभावात् । तामसे च आवरणात्मके तिमिरादिदोषे सति अग्रहणादेः अविद्यात्रयस्य उपलब्धेः ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अविद्या तामस प्रत्यय है । तामस प्रत्यय, चाहे विपरीत ग्रहण करनेवाला (विपर्यय) हो, चाहे संशय उत्पन्न करनेवाला (संशय) हो और चाहे कुछ भी ग्रहण न करनेवाला हो, आवरणरूप होनेके कारण वह अविद्या ही है; क्योंकि विवेकरूप प्रकाशके होनेपर वह दूर हो जाता है, तथा आवरण-रूप तमोमय तिमिरादि दोषोंके रहते हुए ही अग्रहण आदिरूप तीन प्रकारकी अविद्याका अस्तित्व उपलब्ध होता है ।

अत्र आह एवं तर्हि ज्ञातृधर्मः अविद्या ।

पू०—यदि यह बात है तब तो अविद्या ज्ञाताका धर्म हुआ ?

न करणे चक्षुषि तैमिरिकत्वादिदोषोपलब्धेः यत् तु मन्यसे ज्ञातृधर्मः अविद्या तद् एव च अविद्याधर्मवत्त्वं क्षेत्रज्ञस्य संसारित्वम् । तत्र यद् उक्तम् ईश्वर एव क्षेत्रज्ञो न संसारी इति एतद् अयुक्तम् इति । तद् न, यथा करणे चक्षुषि विपरीतग्राहकादिदोषस्य दर्शनाद् न विपरीतादिग्रहणं तन्निमित्तो वा तैमिरिकत्वादिदोषो ग्रहीतुः ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि तिमिर-रोगादिजन्य दोष चक्षु आदि करणोंमें ही देखे जाते हैं (ज्ञाता आत्मामें नहीं) । जो तुम ऐसा मानते हो कि 'अविद्या ज्ञाताका धर्म है और अविद्यारूप धर्मसे युक्त होना ही उसका संसारित्व है इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि ईश्वर ही क्षेत्रज्ञ है और वह संसारी नहीं है' सो तुम्हारा ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि नेत्ररूप करणमें विपरीत ग्राहकता आदि दोष देखे जाते हैं तो भी वे विपरीतादि-ग्रहण या उनके कारणरूप तिमिरादि दोष ज्ञाताके नहीं हो जाते (उसी प्रकार देहके धर्म भी आत्माके नहीं हो सकते) ।

चक्षुषः संस्कारेण तिमिरे अपनीते ग्रहीतुः अदर्शनाद् न ग्रहीतुः धर्मो यथा तथा सर्वत्र एव अग्रहणविपरीतसंशयप्रत्ययाः तन्निमित्ताः करणस्य एव कस्यचिद् भवितुम् अर्हन्ति न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य ।

तथा जैसे आँखका संस्कार करके तिमिरादि प्रतिबन्धको हटा देनेपर ग्रहीता पुरुषमें वे दोष नहीं देखे जाते, इसलिये वे ग्रहीता पुरुषके धर्म नहीं हैं, वैसे ही अग्रहण, विपरीत-ग्रहण और संशय आदि प्रत्यय तथा उनके कारणरूप तिमिरादि दोष भी सर्वत्र किसी-न-किसी करणके ही हो सकते हैं—ज्ञाता पुरुषके अर्थात् क्षेत्रज्ञके नहीं ।

संवेद्यत्वात् च तेषां प्रदीपप्रकाशवद् न ज्ञातृधर्मत्वम् । संवेद्यत्वाद् एव स्वात्मव्यतिरिक्तसंवेद्यत्वम् ।

इसके सिवा वे जाननेमें आनेवाले (ज्ञानके विषय) होनेसे भी दीपकके प्रकाशकी भाँति ज्ञाताके धर्म नहीं हो सकते । क्योंकि वे ज्ञेय हैं इसलिये अपनेसे अतिरिक्त किसी अन्यद्वारा जाननेमें आनेवाले है ।

सर्वकरणवियोगे च कैवल्ये सर्ववादिभिः अविद्यादिदोषवत्त्वानभ्युपगमात् । आत्मनो यदि क्षेत्रज्ञस्य अग्न्युष्णवद् स्वो धर्मः ततो न कदाचिद् अपि तेन वियोगः स्यात् ।

सभी आत्मवादी समस्त करणोंसे आत्माका वियोग होनेके उपरान्त कैवल्य-अवस्थामें आत्माको अविद्यादि दोषोंसे रहित मानते है, इससे भी (उपर्युक्त सिद्धान्त ही सिद्ध होता है) क्योंकि यदि अग्निकी उष्णताके समान ये (सुख-दुःखादि दोष) क्षेत्रज्ञ आत्माके अपने धर्म हों तो उनसे उसका कभी वियोग नहीं हो सकेगा ।

अविक्रियस्य च व्योमवत् सर्वगतस्य अमूर्तस्य आत्मनः केनचित् संयोगवियोगानुपपत्तेः । सिद्धं क्षेत्रज्ञस्य नित्यम् एव ईश्वरत्वम् ।

इसके सिवा आकाशकी भाँति सर्वव्यापक, मूर्तिरहित, निर्विकार आत्माका किसीके साथ संयोग-वियोग होना सम्भव नहीं है, इससे भी क्षेत्रज्ञकी नित्य ईश्वरता ही सिद्ध होती है ।

'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' इत्यादि ईश्वर-वचनात् च ।

ननु एवं सति संसारसंसारित्वाभावे शास्त्रानर्थक्यादिदोषः स्याद् इति ।

न, सर्वैः अभ्युपगतत्वात् । सर्वैः हि आत्मवादिभिः अभ्युपगतो दोषो न एकेन परिहर्तव्यो भवति ।

कथम् अभ्युपगत इति ।

मुक्तात्मनां संसारसंसारित्वव्यवहाराभावः सर्वैः एव आत्मवादिभिः इष्यते । न च तेषां शास्त्रानर्थक्यादिदोषप्राप्तिः अभ्युपगता ।

तथा नः क्षेत्रज्ञानाम् ईश्वरैकत्वे सति शास्त्रानर्थक्यं भवतु । अविद्याविषये च अर्थवत्त्वम् । यथा द्वैतिनां सर्वेषां बन्धावस्थायाम् एव शास्त्राद्यर्थवत्त्वं न मुक्तावस्थायाम् एवम् ।

ननु आत्मनो बन्धमुक्तावस्थे परमार्थत एव वस्तुभूते द्वैतिनां नः सर्वेषाम्, अतो हेयोपादेयतत्साधनसद्भावे शास्त्राद्यर्थवत्त्वं स्यात्, अद्वैतिनां पुनः द्वैतस्य अपरमार्थत्वाद् अविद्याकृतत्वाद् बन्धावस्थायाः च आत्मनः अपरमार्थत्वे निर्विषयत्वात् शास्त्राद्यानर्थक्यम् इति चेत् ।

न, आत्मनः अवस्थाभेदानुपपत्तेः । यदि तावद् आत्मनो बन्धमुक्तावस्थे युगपत् स्यातां क्रमेण वा ।

तथा 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' इत्यादि भगवान्‌के वचनोंसे भी क्षेत्रज्ञका नित्य ईश्वरत्व ही सिद्ध होता है ।

पू०—ऐसा मान लेनेपर तो संसार और संसारित्वका अभाव हो जानेके कारण शास्त्रकी व्यर्थता आदि दोष उपस्थित होंगे ?

उ०—नहीं, क्योंकि यह दोष तो सभीने स्वीकार किया है । सभी आत्मवादियोंद्वारा स्वीकार किये हुए दोषका किसी एकके लिये ही परिहार करना आवश्यक नहीं है ।

पू०—इसे सबने कैसे स्वीकार किया है ?

उ०—सभी आत्मवादियोंने मुक्त आत्मामें संसार और संसारीपनके व्यवहारका अभाव माना है, परन्तु (इससे) उनके मतमें शास्त्रकी अनर्थकता आदि दोषोंकी प्राप्ति नहीं मानी गयी ।

जैसे समस्त द्वैतवादियोंके मतसे बन्धावस्थामें ही शास्त्र आदिकी सार्थकता है मुक्त-अवस्थामें नहीं, वैसे ही हमारे मतमें भी जीवोंकी ईश्वरके साथ एकता हो जानेपर यदि शास्त्रकी व्यर्थता होती हो तो हो, अविद्यावस्थामें तो उसकी सार्थकता है ही ।

पू०—हम सब द्वैतवादियोंके सिद्धान्तसे तो आत्माकी बन्धावस्था और मुक्तावस्था वास्तवमें ही सच्ची है । अत वे हेय, उपादेय हैं और उनके सब साधन भी सत्य हैं इस कारण शास्त्रकी सार्थकता हो सकती है । परन्तु अद्वैतवादियोंके सिद्धान्तसे तो द्वैतभाव अविद्या-जन्य और मिथ्या है, अतः आत्मामें बन्धावस्था भी वास्तवमें नहीं है, इसलिये शास्त्रका कोई विषय न रहनेके कारण शास्त्र आदि-की व्यर्थताका दोष आता है ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्माके अवस्थाभेद सिद्ध नहीं हो सकते, यदि (आत्मामें इनका होना) मान भी लें तो आत्माकी ये बन्ध और मुक्त दोनों अवस्थाएँ एक साथ होनी चाहिये या क्रमसे ?

युगपत् तावद् विरोधाद् न संभवतः स्थितिगती इव एकस्मिन् । क्रमभावित्वे च निर्निमित्तत्वे अनिर्मोक्षप्रसङ्गः अन्यनिमित्तत्वे च स्वतः अभावाद् अपरमार्थत्वप्रसङ्गः । तथा च सति अभ्युपगमहानिः ।

स्थिति और गतिकी भाँति परस्परविरोध होनेके कारण दोनो अवस्थाएँ एक साथ तो एकमे हो नहीं सकतीं । यदि क्रमसे होना माने तो बिना निमित्तके बन्धावस्थाका होना माननेसे तो उससे कभी छुटकारा न होनेका प्रसङ्ग आ जायगा और किसी निमित्तसे उसका होना मानें तो स्वतः न होनेके कारण वह मिथ्या ठहरती है । ऐसा होनेपर स्वीकार किया हुआ सिद्धान्त कट जाता है ।

किं च बन्धमुक्तावस्थयोः पौर्वापर्यनिरूपणायां बन्धावस्था पूर्वं प्रकल्प्या अनादिमती अन्तवती च तत् च प्रमाणविरुद्धं तथा मोक्षावस्था आदिमती अनन्ता च प्रमाणविरुद्धा एव अभ्युपगम्यते ।

इसके सिवा बन्धावस्था और मुक्तावस्थाका आगा-पीछा निरूपण किया जानेपर पहले बन्धावस्थाका होना माना जायगा तथा उसे आदिरहित और अन्तयुक्त मानना पड़ेगा; सो यह प्रमाणविरुद्ध है, ऐसे ही मुक्तावस्थाको भी आदियुक्त और अन्तरहित प्रमाणविरुद्ध ही मानना पड़ेगा ।

न च अवस्थावतः अवस्थान्तरं गच्छतो नित्यत्वम् उपपादयितुं शक्यम् ।

तथा आत्माको अवस्थावाला और एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामे जानेवाला मानकर उसका नित्यत्व सिद्ध करना भी सम्भव नहीं है ।

अथ अनित्यत्वदोषपरिहाराय बन्धमुक्तावस्थाभेदो न कल्प्यते अतो द्वैतिनाम् अपि शास्त्रानर्थक्यादिदोषः अपरिहार्य एव इति समानत्वाद् न अद्वैतवादिना परिहर्तव्यो दोषः ।

जब कि आत्मामे अनित्यत्वके दोषका परिहार करनेके लिये बन्धावस्था और मुक्तावस्थाके भेदकी कल्पना नहीं की जा सकती । इसलिये द्वैतवादियोके मतसे भी शास्त्रकी व्यर्थता आदि दोष अबाध्य ही है । इस प्रकार दोनोके लिये समान होनेके कारण इस दोषका परिहार केवल अद्वैतवादियोद्वारा ही किया जाना आवश्यक नहीं है ।

न च शास्त्रानर्थक्यं यथाप्रसिद्धाविद्वत्पुरुषविषयत्वात् शास्त्रस्य । अविदुषां हि फलहेत्वोः अनात्मनोः आत्मदर्शनम्, न विदुषाम् ।

(हमारे मतानुसार तो वास्तवमे) शास्त्रकी व्यर्थता है भी नहीं, क्योकि शास्त्र लोकप्रसिद्ध अज्ञानीका ही विषय है । अज्ञानियोका ही फल और हेतुरूप* अनात्मवस्तुओमे आत्मभाव होता है, विद्वानोका नहीं ।

विदुषां हि फलहेतुभ्याम् आत्मनः अन्यत्वदर्शने सति तयोः अहम् इति आत्मदर्शनानुपपत्तेः ।

क्योंकि विद्वान्‌की बुद्धिमे फल और हेतुसे आत्माका पृथक्त्व प्रत्यक्ष है, इसलिये उसका उन-(अनात्म-पदार्थों) मे 'यह मै हूँ' ऐसा आत्मभाव नहीं हो सकता ।

* जाति, आयु और भोगरूप फल है, और शुभाशुभ कर्म उसके हेतु यानी कारण है ।

न हि अत्यन्तमूढ उन्मत्तादिः अपि जलाग्न्योः छायाप्रकाशयोः वा ऐकात्म्यं पश्यति किमुत विवेकी ।

अत्यन्त मूढ और उन्मत्त आदि भी जल और अग्निकी, या छाया और प्रकाशकी एकता नहीं मानते, फिर विवेकीकी तो बात ही क्या है ?

तस्माद् न विधिप्रतिषेधशास्त्रं तावत् फलहेतुभ्याम् आत्मनः अन्यत्वदर्शिनो भवति ।

सुतरां फल और हेतुसे आत्माको भिन्न समझ लेनेवाले ज्ञानीके लिये विधि-निषेध-विषयक शास्त्र नहीं है ।

न हि देवदत्त त्वम् इदं कुरु इति कस्मिंश्चित् कर्मणि नियुक्ते विष्णुमित्रः अहं नियुक्त इति तत्रस्थो नियोगं शृण्वन् अपि प्रतिपद्यते । नियोगविषयविवेकाग्रहणात् तु उपपद्यते प्रतिपत्तिः तथा फलहेत्वोः अपि ।

जैसे 'हे देवदत्त ! तू अमुक कार्य कर' इस प्रकार किसी कर्ममे (देवदत्तके) नियुक्त किये जानेपर वहीं खड़ा हुआ विष्णुमित्र उस नियुक्तिको सुनकर भी, यह नहीं समझता कि मै नियुक्त किया गया हूँ । हॉ, नियुक्तिविषयक विवेकका स्पष्ट ग्रहण न होनेसे तो ऐसा समझना ठीक हो सकता है, इसी प्रकार फल और हेतुमे भी (अज्ञानियोंकी आत्मबुद्धि हो सकती है) ।

ननु प्राकृतसंबन्धापेक्षया युक्ता एव प्रतिपत्तिः शास्त्रार्थविषया फलहेतुभ्याम् अन्यात्मत्वदर्शने अपि सति इष्टफलहेतौ प्रवर्तितः अस्मि अनिष्टफलहेतोः च निवर्तितः अस्मि इति । यथा पितृपुत्रादीनाम् इतरेतरात्मान्यत्वदर्शने सति अपि अन्योन्यनियोगप्रतिषेधार्थप्रतिपत्तिः ।

पू०—फल और हेतुसे आत्माके पृथक्त्वका ज्ञान हो जानेपर भी, स्वाभाविक सम्बन्धकी अपेक्षासे शास्त्रविषयक इतना बोध होना तो युक्तियुक्त ही है कि, 'मै शास्त्रद्वारा अनुकूल फल और उसके हेतुमे तो प्रवृत्त किया गया हूँ और प्रतिकूल फल और उसके हेतुसे निवृत्त किया गया हूँ', जैसे कि पिता-पुत्र आदिका आपसमे एक दूसरेको भिन्न समझते हुए भी एक दूसरेके लिये किये हुए नियोग और प्रतिषेधको अपने लिये समझना देखा जाता है ।

न, व्यतिरिक्तात्मदर्शनप्रतिपत्तेः प्राग् एव फलहेत्वोः आत्माभिमानस्य सिद्धत्वात् । प्रतिपन्ननियोगप्रतिषेधार्थो हि फलहेतुभ्याम् आत्मनः अन्यत्वं प्रतिपद्यते न पूर्वम्, तस्माद् विधिप्रतिषेधशास्त्रम् अविद्वद्विषयम् इति सिद्धम् ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्माके पृथक्त्वका ज्ञान होनेसे पहले-पहले ही फल और हेतुमे आत्माभिमान होना सिद्ध है । नियोग और प्रतिषेधके अभिप्रायको भली प्रकार जानकर ही मनुष्य फल और हेतुसे आत्माके पृथक्त्वको जान सकता है, उससे पहले नहीं । इससे सिद्ध हुआ कि विधि-निषेधरूप शास्त्र केवल अज्ञानीके लिये ही है ।

ननु *'स्वर्गकामो यजेत'* *'कलञ्जं न भक्षयेत्'* इत्यादौ आत्मव्यतिरेकदर्शिनाम् अप्रवृत्तौ

पू०—(इस सिद्धान्तके अनुसार) **'स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे' 'मांस भक्षण न करे'** इत्यादि विधि-निषेध-बोधक शास्त्र-वचनोंमे आत्माका पृथक्त्व जाननेवालोंकी और केवल देहात्मवादियोंकी

केवलदेहाद्यात्मदृष्टीनां च, अतः कर्तुः अभावात् शास्त्रानर्थक्यम् इति चेत् ।

भी प्रवृत्ति न होनेसे कर्ताका अभाव हो जानेके कारण शास्त्रके व्यर्थ होनेका प्रसङ्ग आ जायगा ?

न, यथाप्रसिद्धित एव प्रवृत्तिनिवृत्त्युपपत्तेः ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्तिका होना लोकप्रसिद्धिसे ही प्रत्यक्ष है ।

ईश्वरक्षेत्रज्ञैकत्वदर्शी ब्रह्मवित् तावद् न प्रवर्तते । तथा नैरात्म्यवादी अपि न अस्ति परलोक इति न प्रवर्तते । यथाप्रसिद्धितः तु विधिप्रतिषेधशास्त्रश्रवणान्यथानुपपत्त्या अनुमितात्मास्तित्व आत्मविशेषानभिज्ञः कर्मफलसंजाततृष्णः श्रद्दधानतया च प्रवर्तत इति सर्वेषां नः प्रत्यक्षम्, अतो न शास्त्रानर्थक्यम् ।

ईश्वर- और जीवात्माकी एकता देखनेवाला ब्रह्मवेत्ता कर्मोंमे प्रवृत्त नहीं होता तथा आत्मसत्ताको न माननेवाला देहात्मवादी भी 'परलोक नहीं है' ऐसा समझकर शास्त्रानुसार नहीं बर्तता यह ठीक है; परन्तु लोकप्रसिद्धिसे यह तो हम सबको प्रत्यक्ष है ही कि विधि-निषेध-बोधक शास्त्र-श्रवणकी दूसरी तरह उपपत्ति न होनेके कारण जिसने आत्माके अस्तित्वका अनुमान कर लिया है, एवं जो आत्माके असली तत्त्वका ज्ञाता नहीं है; जिसकी कर्मोंके फलमे तृष्णा है, ऐसा मनुष्य श्रद्धालुताके कारण (शास्त्रानुसार कर्मोंमे) प्रवृत्त होता है । अतः शास्त्रकी व्यर्थता नहीं है ।

विवेकिनाम् अप्रवृत्तिदर्शनात् तदनुगामिनाम् अप्रवृत्तौ शास्त्रानर्थक्यम् इति चेत् ।

पू०—विवेकशील पुरुषोकी प्रवृत्ति न देखनेसे उनका अनुकरण करनेवालोकी भी (शास्त्रविहित कर्मोंमे) प्रवृत्ति नहीं होगी अतः शास्त्र व्यर्थ हो जायगा ।

न, कस्यचिद् एव विवेकोपपत्तेः । अनेकेषु हि प्राणिषु कश्चिद् एव विवेकी स्याद् यथा इदानीम् ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योकि किसी एकको ही विवेक—ज्ञान प्राप्त होता है । अर्थात् अनेक प्राणियोमेसे कोई एक ही विवेकी होता है जैसा कि आजकल (देखा जाता है) ।

न च विवेकिनम् अनुवर्तन्ते मूढा रागादिदोषतन्त्रत्वात् प्रवृत्तेः । अभिचरणादौ च प्रवृत्तिदर्शनात् । स्वाभाव्यात् च प्रवृत्तेः । '*स्वभावः तु प्रवर्तते*' इति हि उक्तम् ।

इसके सिवा मूढलोग विवेकियोका अनुकरण भी नहीं करते, क्योंकि प्रवृत्ति रागादि दोषोके अधीन हुआ करती है । (प्रतिहिंसाके उद्देश्यसे किये जानेवाले जारण-मारण आदि) अभिचारोंमे भी लोगोकी प्रवृत्ति देखी जाती है, तथा प्रवृत्ति स्वाभाविक है । यह कहा भी है कि **'स्वभाव ही बर्तता है।'**

तस्माद् अविद्यामात्रं संसारो यथादृष्टविषय एव । न क्षेत्रज्ञस्य केवलस्य अविद्या तत्कार्यं च ।

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि ससार अविद्यामात्र ही है और वह अज्ञानियोका ही विषय है । केवल—शुद्ध क्षेत्रज्ञमे अविद्या और उसके कार्य दोनों ही नहीं हैं ।

न च मिथ्याज्ञानं परमार्थवस्तु दूषयितुं समर्थम् । न हि ऊषरदेशं स्नेहेन पङ्कीकर्तुं शक्नोति मरीच्युदकं तथा अविद्या क्षेत्रज्ञस्य न किंचित् कर्तुं शक्नोति । अतः च इदम् उक्तम् *'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि', 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्'* इति च ।

तथा मिथ्याज्ञान परमार्थवस्तुको दूषित करनेमे समर्थ भी नहीं है। क्योंकि जैसे ऊसर भूमिको मृगतृष्णिकाका जल अपनी आर्द्रतासे कीचड़युक्त नहीं कर सकता, वैसे ही अविद्या भी क्षेत्रज्ञका कुछ भी (उपकार या अपकार) करनेमे समर्थ नहीं है, इसीलिये **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'** और **'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्'** यह कहा है।

अथ किम् इदम् संसारिणाम् इव अहम् एवं मम एव इदम् इति पण्डितानाम् अपि ।

पू०—तो फिर यह क्या बात है कि संसारी पुरुषोंकी भाँति पण्डितोंको भी 'मै ऐसा हूँ' 'यह वस्तु मेरी ही है' ऐसी प्रतीति होती है।

शृणु इदं तत् पाण्डित्यं यत् क्षेत्रे एव आत्मदर्शनम् । यदि पुनः क्षेत्रज्ञम् अविक्रियं पश्येयुः ततो न भोगं कर्म वा आकाङ्क्षेयुः मम स्याद् इति । विक्रिया एव भोगकर्मणी ।

उ०—सुनो, यह पाण्डित्य बस इतना ही है जो कि क्षेत्रमे ही आत्माको देखना है परन्तु यदि मनुष्य क्षेत्रज्ञको निर्विकारी समझ ले तो फिर 'मुझे अमुक भोग मिले' या 'मै अमुक कर्म करूँ' ऐसी आकांक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि भोग और कर्म दोनो विकार ही तो हैं।

अथ एवं सति फलार्थित्वाद् अविद्वान् प्रवर्तते । विदुषः पुनः अविक्रियात्मदर्शिनः फलार्थित्वाभावात् प्रवृत्त्यनुपपत्तौ कार्यकरणसंघातव्यापारोपरमे निवृत्तिः उपचर्यते ।

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि फलेच्छुक होनेके कारण अज्ञानी कर्मोंमे प्रवृत्त होता है; परन्तु विकाररहित आत्माका साक्षात् कर लेनेवाले ज्ञानीमे फलेच्छाका अभाव होनेके कारण, उसकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं, अतः कार्य-करण-संघातके व्यापारकी निवृत्ति होनेपर उस (ज्ञानी) मे निवृत्तिका उपचार किया जाता है।

इदं च अन्यत् पाण्डित्यं कस्यचिद् अस्तु क्षेत्रज्ञ ईश्वर एवं क्षेत्रं च अन्यत् क्षेत्रज्ञस्य विषयः । अहं तु संसारी सुखी दुःखी च । संसारोपरमः च मम कर्तव्यः क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञानेन ध्यानेन च ईश्वरं क्षेत्रज्ञं साक्षात् कृत्वा तत्स्वरूपावस्थानेन इति ।

किसी-किसीके मतमे यह एक प्रकारकी विद्वत्ता और भी हो सकती है कि, क्षेत्रज्ञ तो ईश्वर ही है और उस क्षेत्रज्ञके ज्ञानका विषय क्षेत्र उससे अलग है तथा मै तो (उन दोनोंसे भिन्न) संसारी और सुखी-दुःखी भी हूँ। मुझे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञान और ध्यानद्वारा ईश्वररूप क्षेत्रज्ञका साक्षात् करके उसके स्वरूपमे स्थित होनारूप साधनसे संसारकी निवृत्ति करनी चाहिये।

यः च एवं बुध्यते यः च बोधयति न असौ क्षेत्रज्ञ इति । एवं मन्वानो यः स पण्डितापसदः संसारमोक्षयोः शास्त्रस्य च अर्थवत्त्वं करोमि इति ।

जो ऐसा समझता है या दूसरेको ऐसा समझाता है कि 'वह (जीव) क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म) नहीं है' तथा जो यह मानता है कि मै (इस प्रकारके सिद्धान्तसे) संसार, मोक्ष और शास्त्रकी सार्थकता सिद्ध करूँगा, वह पण्डितोंमे अधम है।

आत्महा स्वयं मूढः अन्यान् च व्यामोहयति शास्त्रार्थसंप्रदायरहितत्वात् श्रुतहानिम् अश्रुतकल्पनां च कुर्वन् ।

तस्माद् असंप्रदायवित् सर्वशास्त्रविद् अपि मूर्खवद् एव उपेक्षणीयः ।

यत् तु उक्तम् ईश्वरस्य क्षेत्रज्ञैकत्वे संसारित्वं प्राप्नोति क्षेत्रज्ञानां च ईश्वरैकत्वे संसारिणः अभावात् संसाराभावप्रसङ्ग इति । एतौ दोषौ प्रत्युक्तौ विद्याविद्ययोः वैलक्षण्याभ्युपगमाद् इति ।

कथम् ?

अविद्यापरिकल्पितदोषेण तद्विषयं वस्तु पारमार्थिकं न दुष्यति इति । तथा च दृष्टान्तो दर्शितो मरीच्यम्भसा उषरदेशो न पङ्कीक्रियते इति । संसारिणः अभावात् संसाराभावप्रसङ्गदोषः अपि संसारसंसारिणोः अविद्याकल्पितत्वोपपत्त्या प्रत्युक्तः ।

ननु अविद्यावत्त्वम् एव क्षेत्रज्ञस्य संसारित्वदोषः तत्कृतं च दुःखित्वादि प्रत्यक्षम् उपलभ्यते ।

न, ज्ञेयस्य क्षेत्रधर्मत्वाद् ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य तत्कृतदोषानुपपत्तेः ।

तथा वह आत्महत्यारा, शास्त्रके अर्थकी सम्प्रदाय-परम्परासे रहित होनेके कारण, श्रुतिविहित अर्थका त्याग और वेद-विरुद्ध अर्थकी कल्पना करके स्वयं मोहित हो रहा है और दूसरोंको भी मोहित करता है ।

सुतरां जो शास्त्रार्थकी परम्पराको जाननेवाला नहीं है, वह समस्त शास्त्रोंका ज्ञाता भी हो तो भी मूर्खोंके समान उपेक्षणीय ही है ।

और जो यह कहा था कि ईश्वरकी क्षेत्रज्ञके साथ एकता माननेसे तो ईश्वरमे संसारीपन आ जाता है और क्षेत्रज्ञोंकी ईश्वरके साथ एकता माननेसे कोई संसारी न रहनेके कारण संसारके अभावका प्रसङ्ग आ जाता है, सो विद्या और अविद्याकी विलक्षणताके प्रतिपादनसे इन दोनो दोषोंका ही परिहार कर दिया गया ।

पू०—कैसे ?

उ०—'अविद्याद्वारा कल्पित किये हुए दोषसे तद्विषयक पारमार्थिक (असली) वस्तु दूषित नहीं होती' इस कथनसे पहली शङ्काका निराकरण किया गया और वैसे ही यह दृष्टान्त भी दिखलाया कि मृगतृष्णिकाके जलसे ऊसर भूमि पङ्कयुक्त नहीं की जा सकती । तथा संसारीका अभाव होनेसे संसारके अभावके प्रसङ्गका जो दोष बतलाया था, उसका भी संसार संसारित्वकी अविद्याकल्पित उपपत्तिको स्वीकार करके निराकरण कर दिया गया ।

पू०—क्षेत्रज्ञका अविद्यायुक्त होना ही तो संसारित्वरूप दोष है, क्योंकि उससे होनेवाले दुःखित्व आदि दोष प्रत्यक्ष देखे जाते है ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जो कुछ ज्ञेय है—जाननेमे आता है, वह सब क्षेत्रका ही धर्म है, इसलिये उसके किये हुए दोष ज्ञाता क्षेत्रज्ञके नहीं हो सकते ।

यावत्किंचित् क्षेत्रज्ञस्य दोषजातम् अविद्यमानम् आसञ्जयसि तस्य ज्ञेयत्वोपपत्तेः क्षेत्रधर्मत्वम् एव न क्षेत्रज्ञधर्मत्वम् । न च तेन क्षेत्रज्ञो दुष्यति ज्ञेयेन ज्ञातुः संसर्गानुपपत्तेः । यदि हि संसर्गः स्यात् ज्ञेयत्वम् एव न उपपद्येत ।

तू क्षेत्रज्ञपर वास्तवमें बिना हुए ही जो कुछ भी दोष लाद रहा है, वे सब ज्ञेय होनेके कारण क्षेत्रके ही धर्म हैं, क्षेत्रज्ञके नहीं। उनसे क्षेत्रज्ञ (आत्मा) दूषित नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञेयके साथ ज्ञाताका संसर्ग नहीं हो सकता। यदि उनका संसर्ग मान लिया जाय तो (ज्ञेयका) ज्ञेयत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि आत्मनो धर्मः अविद्यावत्त्वं दुःखित्वादि च कथं भोः प्रत्यक्षम् उपलभ्यते । कथं वा क्षेत्रज्ञधर्मः । ज्ञेयं च सर्वं क्षेत्रं ज्ञाता एव क्षेत्रज्ञ इति अवधारिते अविद्यादुःखित्वादेः क्षेत्रज्ञधर्मत्वं तस्य च प्रत्यक्षोपलभ्यत्वम् इति विरुद्धम् उच्यते अविद्यामात्रावष्टम्भात् केवलम् ।

अभिप्राय यह है कि यदि अविद्यायुक्त होना और दुखी होना आदि आत्माके धर्म है तो वे प्रत्यक्ष कैसे दीखते है ? और वे क्षेत्रज्ञके धर्म हो भी कैसे सकते है ? क्योकि जो कुछ भी ज्ञेय वस्तु है वह सब क्षेत्र है और क्षेत्रज्ञ ज्ञाता है, ऐसा सिद्धान्त स्थापित किये जानेपर फिर अविद्यायुक्त होना और दुखी होना आदि दोषोंको क्षेत्रज्ञके धर्म बतलाना और उनकी प्रत्यक्ष उपलब्धि भी मानना, यह सब अज्ञानमात्रके आश्रयसे केवल विरुद्ध प्रलाप करना है।

अत्र आह सा अविद्या कस्य इति ।

पू०—वह अविद्या किसमे है ?

यस्य दृश्यते तस्य एव ।

उ०—जिसमे दीखती है उसीमे ।

कस्य दृश्यते इति ।

पू०—किसमे दीखती है ?

अत्र उच्यते अविद्या कस्य दृश्यते इति प्रश्नो निरर्थकः ।

उ०—'अविद्या किसमे दीखती है'—यह प्रश्न ही निरर्थक है।

कथम् ?

पू०—किस प्रकार ?

दृश्यते चेद् अविद्या तद्वन्तम् अपि पश्यसि । न च तद्वति उपलभ्यमाने सा कस्य इति प्रश्नो युक्तः । न हि गोमति उपलभ्यमाने गावः कस्य इति प्रश्नः अर्थवान् भवेत् ।

उ०—यदि अविद्या दीखती है तो उससे जो युक्त है उसको भी तू अवश्य देखता ही होगा ? फिर अविद्यावान्‌की उपलब्धि हो जानेपर वह अविद्या किसमे है, यह पूछना ठीक नहीं है। क्योंकि गौवालेको देख लेनेपर 'यह गौ किसकी है ?' यह पूछना सार्थक नहीं हो सकता।

ननु विषमो दृष्टान्तो गवां तद्वतः च प्रत्यक्षत्वात् संबन्धः अपि प्रत्यक्ष इति प्रश्नो निरर्थकः, न तथा अविद्या तद्वान् च प्रत्यक्षौ यतः प्रश्नो निरर्थकः स्यात् ।

पू०—तुम्हारा यह दृष्टान्त विषम है। गौ और उसका स्वामी तो प्रत्यक्ष होनेके कारण उनका सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष है इसलिये (उनके सम्बन्धके विषयमे) प्रश्न निरर्थक है, परन्तु उनकी भाँति अविद्यावान् और अविद्या तो प्रत्यक्ष नहीं हैं, जिससे कि यह प्रश्न निरर्थक माना जाय ?

अप्रत्यक्षेण अविद्यावता अविद्यासंबन्धे ज्ञाते किं तव स्यात् ।

अविद्याया अनर्थहेतुत्वात् परिहर्तव्या स्यात् ।

यस्य अविद्या स तां परिहरिष्यति ।

ननु मम एव अविद्या ।

जानासि तर्हि अविद्यां तद्वन्तं च आत्मानम् ।

जानामि न तु प्रत्यक्षेण ।

अनुमानेन चेद् जानासि कथं संबन्धग्रहणम् । न हि तव ज्ञातुः ज्ञेयभूतया अविद्यया तत्काले संबन्धो ग्रहीतुं शक्यते । अविद्याया विषयत्वेन एव ज्ञातुः उपयुक्तत्वात् ।

न च ज्ञातुः अविद्यायाः च संबन्धस्य यो ग्रहीता ज्ञानं च अन्यत् तद्विषयं संभवति अनवस्थाप्राप्तेः । यदि ज्ञाता अपि ज्ञेयसंबन्धो ज्ञायेत अन्यो ज्ञाता कल्प्यः स्यात् तस्य अपि अन्यः तस्य अपि अन्य इति अनवस्था अपरिहार्या ।

यदि पुनः अविद्या ज्ञेया अन्यद् वा ज्ञेयं ज्ञेयम् एव तथा ज्ञाता अपि ज्ञाता एव न ज्ञेयं भवति । यदा च एवम् अविद्यादुःखित्वाद्यैः न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य किंचिद् दुष्यति ।

ननु अयम् एव दोषो यद् दोषवत्क्षेत्र-

उ०—अप्रत्यक्ष अविद्यावान्के साथ अविद्याका सम्बन्ध जान लेनेसे तुम्हे क्या मिलेगा ?

पू०—अविद्या अनर्थकी हेतु है, इसलिये उसका त्याग किया जा सकेगा ।

उ०—जिसमे अविद्या है, वह उसका स्वयं त्याग कर देगा ।

पू०—मुझमें ही तो अविद्या है ।

उ०—तब तो तू अविद्या और उससे युक्त अपने आपको जानता है ।

पू०—जानता तो हूँ परन्तु प्रत्यक्षरूपसे नहीं ।

उ०—यदि अनुमानसे जानता है तो (तुझ ज्ञाता और अविद्याके) सम्बन्धका ग्रहण कैसे हुआ ? क्योंकि उस समय (अविद्याको अनुमानसे जाननेके कालमे) तुझ ज्ञाताका ज्ञेयरूप अविद्याके साथ सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया जा सकता, कारण यह है कि ज्ञाताका विषय मानकर ही अविद्याका उपयोग किया गया है ।

तथा ज्ञाता और अविद्याके सम्बन्धको जो ग्रहण करनेवाला है वह तथा उस (अविद्या और ज्ञाताके सम्बन्ध) को विषय करनेवाला कोई दूसरा ज्ञान ये दोनों ही सम्भव नहीं है । क्योंकि ऐसा होनेसे अनवस्थादोष प्राप्त होता है अर्थात् यदि ज्ञाता और ज्ञेय-ज्ञाताका सम्बन्ध ये भी (किसीके द्वारा) जाने जाते है, ऐसा माना जाय तो उसका ज्ञाता किसी औरको मानना होगा । फिर उसका भी दूसरा और उसका भी दूसरा ज्ञाता मानना होगा, इस प्रकार यह अनवस्था अनिवार्य हो जायगी ।

परन्तु ज्ञेय चाहे अविद्या हो अथवा और कुछ हो, ज्ञेय ज्ञेय ही रहेगा (ज्ञाता नहीं हो सकता) वैसे ही ज्ञाता भी ज्ञाता ही रहेगा, ज्ञेय नहीं हो सकता, जब कि ऐसा है तो अविद्या या दुःखित्व आदि दोषोसे ज्ञाता—क्षेत्रज्ञका कुछ भी दूषित नहीं हो सकता ।

पू०—यही उसका दोष है जो कि वह दोषयुक्त

न, विज्ञानस्वरूपस्य एव अविक्रियस्य विज्ञातृत्वोपचारात् । यथा उष्णतामात्रेण अग्नेः तप्तिक्रियोपचारः तद्वत् ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि आत्मा विज्ञानस्वरूप और अविक्रिय है, उसमे (इस) ज्ञातापन-का उपचारमात्र किया जाता है, जैसे कि उष्णता-मात्र स्वभाव होनेसे अग्निमे तपानेकी क्रियाका उपचार किया जाता है ।

यथा अत्र भगवता क्रियाकारकफलात्मत्वाभाव आत्मनि स्वत एव दर्शितः अविद्याध्यारोपितैः एव क्रियाकारकादि आत्मनि उपचर्यते तथा तत्र तत्र *'य एनं वेत्ति हन्तारम्' 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' 'नादत्ते कस्यचित्पापम्'* इत्यादिप्रकरणेषु दर्शितः तथा एव च व्याख्यातम् अस्माभिः उत्तरेषु च प्रकरणेषु दर्शयिष्यामः ।

जैसे भगवान्‌ने यहाँ (इस प्रकरणमे) यह दिखाया है कि आत्मामे स्वभावसे ही क्रिया, कारक और फलात्मत्वका अभाव है, केवल अविद्याद्वारा अध्यारोपित होनेके कारण क्रिया, कारक आदि आत्मामे उपचरित होते है, वैसे ही, **'जो इसे मारनेवाला जानता है' 'प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही सब कर्म किये जाते है' '(वह विभु)किसीके पाप-पुण्यको ग्रहण नहीं करता'** इत्यादि प्रकरणोमे जगह-जगह दिखाया गया है और इसी प्रकार हमने व्याख्या भी की है, तथा आगेके प्रकरणोमे भी हम दिखलायेगे ।

हन्त तर्हि आत्मनि क्रियाकारकफलात्मतायाः स्वतः अभावे अविद्यया च अध्यारोपितत्वे कर्माणि अविद्वत्कर्तव्यानि एव न विदुषाम् इति प्राप्तम् ।

पू०—तब तो आत्मामे स्वभावसे क्रिया, कारक और फलात्मत्वका अभाव सिद्ध होनेसे तथा ये सब अविद्याद्वारा अध्यारोपित सिद्ध होनेसे यही निश्चय हुआ कि कर्म अविद्वान्‌को ही कर्तव्य है, विद्वान्‌को नहीं ।

सत्यम् एवं प्राप्तम्, एतद् एव च *'न हि देहभृता शक्यम्'* इति अत्र दर्शयिष्यामः । सर्वशास्त्रार्थोपसंहारप्रकरणे च *'समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा'* इति अत्र विशेषतो दर्शयिष्यामः । अलम् इह बहुप्रपञ्चेन इति उपसंह्रियते ॥ २ ॥

उ०—ठीक यही सिद्ध हुआ । इसी बातको हम **'न हि देहभृता शक्यम्'** इस प्रकरणमे और सारे गीता-शास्त्रके उपसंहार-प्रकरणमे दिखलायेगे । तथा **'समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा'** इस श्लोकके अर्थमे विशेषरूपसे दिखायेगे । बस, यहाँ अब और अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं है, इसलिये उपसंहार किया जाता है ॥ २ ॥

'इदं शरीरम्' इत्यादि श्लोकोपदिष्टस्य क्षेत्राध्यायार्थस्य संग्रहश्लोकः अयम् उपन्यस्यते तत् क्षेत्रं यत् च इत्यादि व्याचिख्यासितस्य हि अर्थस्य संग्रहोपन्यासो न्याय्य इति—

'इदं शरीरम्' इत्यादि श्लोकोंद्वारा उपदेश किये हुए क्षेत्राध्यायके अर्थका संक्षेपरूप यह 'तत्क्षेत्रं यच्च' इत्यादि श्लोक कहा जाता है, क्योंकि जिस अर्थका विस्तारपूर्वक वर्णन करना हो, उसका संक्षेप पहले कह देना उचित ही है—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

यद् निर्दिष्टम् इदं शरीरम् इति तत् तच्छब्देन परामृशति ।

जिसका पहले 'इदं शरीरम्' इत्यादि (वाक्य) से वर्णन किया गया है, यहाँ 'तत्' शब्दसे उसीका संकेत करते है ।

यत् च इदं निर्दिष्टं क्षेत्रं तद् यादृग् यादृशं स्वकीयैः धर्मैः । च शब्दः समुच्चयार्थो यद्विकारि यो विकारः अस्य तद् यद्विकारि यतो यस्मात् च यत् कार्यम् उत्पद्यते इति वाक्यशेषः ।

यह जो पूर्वोक्त क्षेत्र है वह जैसा है अर्थात् अपने धर्मोंके कारण वह जिस प्रकारका है तथा जैसे विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो कार्य उत्पन्न होता है—यहाँ 'च' शब्द समुच्चयके लिये है; और 'कार्य उत्पन्न होता है' यह वाक्यशेष है ।

स च यः क्षेत्रज्ञो निर्दिष्टः स यत्प्रभावो ये प्रभावा उपाधिकृताः शक्तयो यस्य स यत्प्रभावः च । तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः याथात्म्यं यथाविशेषितं समासेन संक्षेपेण मे मम वाक्यतः शृणु श्रुत्वा अवधारय इत्यर्थः ॥ ३ ॥

तथा जिसे क्षेत्रज्ञ कहा गया है वह भी जिस प्रभाववाला अर्थात् जिन-जिन उपाधिकृत शक्तियोंवाला है, उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त यथार्थ स्वरूप तू मुझसे संक्षेपसे सुन अर्थात् सुनकर निश्चय कर ॥ ३ ॥

तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः याथात्म्यं विवक्षितं स्तौति श्रोतृबुद्धिप्ररोचनार्थम् ।

श्रोताकी बुद्धिमे रुचि उत्पन्न करनेके लिये, उस कहे जानेवाले क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके यथार्थ स्वरूपकी स्तुति करते है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

ऋषिभिः वसिष्ठादिभिः बहुधा बहुप्रकारं गीतं कथितम्, छन्दोभिः छन्दांसि ऋगादीनि तैः छन्दोभिः विविधैः नानाप्रकारैः पृथग् विवेकतो गीतम् ।

(यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व) वसिष्ठादि ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और ऋग्वेदादि नाना प्रकारके श्रुतिवाक्योंद्वारा भी पृथक्-पृथक्—विवेचनपूर्वक कहा गया है ।

किं च ब्रह्मसूत्रपदैः च एव, ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि तैः पद्यते गम्यते ज्ञायते ब्रह्म इति तानि पदानि उच्यन्ते । तैः एव च क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः याथात्म्यं गीतम् इति अनुवर्तते । *'आत्मेत्येवोपासीत' (बृह० उ० १।४।७)* इत्यादिभिः हि ब्रह्मसूत्रपदैः आत्मा ज्ञायते । हेतुमद्भिः युक्तियुक्तैः विनिश्चितैः न संशयरूपैः निश्चितप्रत्ययोत्पादकैः इत्यर्थः ॥ ४ ॥

तथा संशयरहित निश्चित ज्ञान उत्पन्न करनेवाले; विनिश्चित और युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंसे भी कहा गया है । जो वाक्य ब्रह्मके सूचक है उसका नाम 'ब्रह्मसूत्र' है, उनके द्वारा ब्रह्म पाया जाता है—जाना जाता है, इसलिये उनको 'पद' कहते हैं, उनसे भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व कहा गया है । क्योंकि **'केवल आत्मा ही सब कुछ है, ऐसी उपासना करनी चाहिये'** इत्यादि ब्रह्मसूचक पदोंसे ही आत्मा जाना जाता है ॥ ४ ॥

स्तुत्या अभिमुखीभूताय अर्जुनाय आह—

इस प्रकार स्तुति सुनकर सम्मुख हुए अर्जुनसे भगवान् कहते हैं—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

महाभूतानि महान्ति च तानि सर्वविकारव्यापकत्वाद् भूतानि च सूक्ष्माणि । स्थूलानि तु इन्द्रियगोचरशब्देन अभिधायिष्यन्ते ।

अहंकारो महाभूतकारणम् अहंप्रत्ययलक्षणः । अहंकारकारणं बुद्धिः अध्यवसायलक्षणा । तत्कारणम् अव्यक्तम् एव च न व्यक्तम् अव्यक्तम् अव्याकृतम् ईश्वरशक्तिः *'मम माया दुरत्यया'* इति उक्तम् ।

एवशब्दः प्रकृत्यवधारणार्थ एतावती एव अष्टधा भिन्ना प्रकृतिः । च शब्दो भेदसमुच्चयार्थः ।

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रादीनि पञ्च बुद्ध्युत्पादकत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि पञ्च कर्मनिर्वर्तकत्वात् कर्मेन्द्रियाणि तानि दश । एकं च किं तद् मन एकादशं संकल्पाद्यात्मकम् । पञ्च च इन्द्रियगोचराः शब्दादयो विषयाः । तानि एतानि सांख्याः चतुर्विंशतितत्त्वानि आचक्षते ॥ ५ ॥

महाभूत यानी सूक्ष्मभूत, वे सब विकारोंमें व्यापक होनेके कारण महान् भी हैं और भूत भी हैं इसलिये वे महाभूत कहे जाते हैं । स्थूल पञ्चभूत तो इन्द्रियगोचर-शब्दसे कहे जायँगे, इसलिये यहाँ महाभूत-शब्दसे सूक्ष्म पञ्चमहाभूतोंका ग्रहण है ।

महाभूतोंका कारण अहं-प्रत्ययरूप अहंकार तथा अहंकारकी कारणरूपा निश्चयात्मिका बुद्धि और उसकी भी कारणरूपा अव्यक्त प्रकृति; अर्थात् जो व्यक्त नहीं है ऐसी अव्यक्त नामक अव्याकृत-ईश्वर-शक्ति जो कि **'मम माया दुरत्यया'** इत्यादि वचनोंसे कही गयी है ।

यहाँ 'एव' शब्द प्रकृतिको विशेषरूपसे बतलानेके लिये है और 'च' शब्द सारे भेदका समुच्चय करनेके लिये है । अभिप्राय यह कि यही आठ प्रकारसे विभक्त हुई अपरा प्रकृति है ।

तथा दश इन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्रादि पाँच ज्ञान उत्पन्न करनेवाली होनेके कारण ज्ञानेन्द्रियाँ और वाणी आदि पाँच कर्म सम्पादन करनेवाली होनेसे कर्मेन्द्रियाँ और एक ग्यारहवाँ संकल्प-विकल्पात्मक मन तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच इन्द्रियोंके विषय । इन सबको ही साख्य-मतावलम्बी चौबीस तत्त्व कहते है ॥ ५ ॥

अथ इदानीम् आत्मगुणा इति यान् आचक्षते वैशेषिकाः ते अपि क्षेत्रधर्मा एव न तु क्षेत्रज्ञस्य इति आह भगवान्—

अब 'जिन इच्छा आदिको वैशेषिक-मतावलम्वी आत्माके धर्म मानते हैं वे भी क्षेत्रके ही धर्म है आत्माके नहीं' यह वात भगवान् कहते हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छा यज्जातीयं सुखहेतुम् अर्थम् उपलब्धवान् पूर्व पुनः तज्जातीयम् उपलभमानः तम् आदातुम् इच्छति सुखहेतुः इति सा इयम् इच्छा अन्तःकरणधर्मो ज्ञेयत्वात् क्षेत्रम् ।

तथा द्वेषो यज्जातीयम् अर्थं दुःखहेतुत्वेन अनुभूतवान् पुनः तज्जातीयम् उपलभमानः तं द्वेष्टि सः अयं द्वेषो ज्ञेयत्वात् क्षेत्रम् एव ।

तथा सुखम् अनुकूलं प्रसन्नं सत्त्वात्मकं ज्ञेयत्वात् क्षेत्रम् एव । दुःखं प्रतिकूलात्मकं ज्ञेयत्वात् तद् अपि क्षेत्रम् ।

संघातो देहेन्द्रियाणां संहतिः तस्याम् अभिव्यक्ता अन्तःकरणवृत्तिः तप्ते इव लोहपिण्डे अग्निः आत्मचैतन्याभासरसविद्धा चेतना सा च क्षेत्रं ज्ञेयत्वात् ।

धृतिः यया अवसादप्राप्तानि देहेन्द्रियाणि ध्रियन्ते सा च ज्ञेयत्वात् क्षेत्रम् ।

सर्वान्तःकरणधर्मोपलक्षणार्थम् इच्छादिग्रहणम्, यत उक्तं तद् उपसंहरति—

एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारं सह विकारेण महदादिना उदाहृतम् उक्तम् । यस्य क्षेत्रभेदजातस्य संहतिः इदं शरीरं क्षेत्रम् इति उक्तं तत् क्षेत्रं व्याख्यातं महाभूतादिभेदभिन्नं धृत्यन्तम् ॥ ६ ॥

इच्छा—जिस प्रकारके सुखदायक विषयका पहले उपभोग किया हो, फिर वैसे ही पदार्थके प्राप्त होनेपर उसको सुखका कारण समझकर मनुष्य उसे लेना चाहता है, उस चाहका नाम 'इच्छा' है, वह अन्तःकरणका धर्म है और ज्ञेय होनेके कारण क्षेत्र है।

तथा द्वेष—जिस प्रकारके पदार्थको दुःखका कारण समझकर पहले अनुभव किया हो, फिर उसी जातिके पदार्थके प्राप्त होनेपर जो उससे मनुष्य द्वेष करता है, उस भावका नाम 'द्वेष' है, वह भी ज्ञेय होनेके कारण क्षेत्र ही है ।

उसी प्रकार सुख, जो कि अनुकूल, प्रसन्नतारूप और सात्त्विक है, ज्ञेय होनेके कारण क्षेत्र ही है तथा प्रतिकूलतारूप दुःख भी ज्ञेय होनेके कारण क्षेत्र ही है ।

देह और इन्द्रियोंका समूह संघात कहलाता है । उसमे प्रकाशित हुई जो अन्तःकरणकी वृत्ति है जो कि 'अग्निसे प्रज्वलित लोहपिण्डकी भाँति' आत्मचैतन्यके आभासरूप रससे व्याप्त है, वह चेतना भी ज्ञेय होनेके कारण क्षेत्र ही है ।

व्याकुल हुए शरीर और इन्द्रियादि जिससे धारण किये जाते है, वह धृति भी ज्ञेय होनेसे क्षेत्र ही है ।

अन्तःकरणके समस्त धर्मोंका सकेत करनेके लिये यहाँ इच्छादि धर्मोंका ग्रहण किया गया है । जो कुछ कहा गया है, उसका उपसंहार करते है—

महत्तत्त्वादि विकारोके सहित क्षेत्रका यह स्वरूप संक्षेपसे कहा गया । अर्थात् जिन समस्त क्षेत्रभेदोंका समूह 'यह शरीर क्षेत्र है' ऐसे कहा गया है, महाभूतोसे लेकर धृतिपर्यन्त भेदोंसे विभिन्न हुए उस क्षेत्रकी व्याख्या कर दी गयी ॥ ६ ॥

क्षेत्रज्ञो वक्ष्यमाणविशेषणो यस्य सप्रभावस्य क्षेत्रज्ञस्य परिज्ञानाद् अमृतत्वं भवति तं *'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि'* इत्यादिना सविशेषणं स्वयम् एव वक्ष्यति भगवान् ।

जो आगे कहे जानेवाले विशेषणोंसे युक्त क्षेत्रज्ञ है, जिस क्षेत्रज्ञको प्रभावसहित जान लेनेसे (मनुष्य) अमृतरूप हो जाता है, उसको भगवान् स्वयं आगे चलकर **'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि'** इत्यादि वचनोंसे विशेषणोंके सहित कहेंगे ।

अधुना तु तज्ज्ञानसाधनगणम् अमानित्वादिलक्षणं यस्मिन् सति तज्ज्ञेयविज्ञाने योग्यः अधिकृतो भवति यत्परः संन्यासी ज्ञाननिष्ठ उच्यते, तम्, अमानित्वादिगणं ज्ञानसाधनत्वाद् ज्ञानशब्दवाच्यं विदधाति भगवान्—

यहाँ पहले उस (क्षेत्रज्ञ) के जाननेका उपायरूप जो अमानित्व आदि साधन-समुदाय है, जिसके होनेसे उस ज्ञेयको जाननेके लिये मनुष्य योग्य अधिकारी बन जाता है, जिसके परायण हुआ संन्यासी ज्ञाननिष्ठ कहा जाता है और जो ज्ञानका साधन होनेके कारण ज्ञान नामसे पुकारा जाता है, उस अमानित्वादि गुणसमुदायका भगवान् विधान करते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अमानित्वं मानिनो भावो मानित्वम् आत्मनः श्लाघनं तदभावः अमानित्वम् ।

अमानित्व—मानीका भाव अर्थात् अपना बड़प्पन प्रकट करना जो मानित्व है, उसका अभाव अमानित्व कहलाता है ।

अदम्भित्वं स्वधर्मप्रकटीकरणं दम्भित्वं तदभावः अदम्भित्वम् ।

अदम्भित्व—अपने धर्मको प्रकट करना दम्भित्व है; उसका अभाव अदम्भित्व कहा जाता है ।

अहिंसा अहिंसनं प्राणिनाम् अपीडनम् । क्षान्तिः परापराधप्राप्तौ अविक्रिया । आर्जवम् ऋजुभावो अवक्रत्वम् ।

अहिंसा—हिंसा न करना अर्थात् प्राणियोंको कष्ट न देना । क्षमा—दूसरोंका अपने प्रति अपराध देखकर भी विकाररहित रहना । आर्जव—सरलता, अकुटिलता ।

आचार्योपासनं मोक्षसाधनोपदेष्टुः आचार्यस्य शुश्रूषादिप्रयोगेण सेवनम् ।

आचार्यकी उपासना—मोक्षसाधनका उपदेश करनेवाले गुरुका शुश्रूषा आदि प्रयोगोंसे सेवन करना ।

शौचं कायमलानां मृज्जलाभ्यां प्रक्षालनम् अन्तः च मनसः प्रतिपक्षभावनया रागादिमलानाम् अपनयनं शौचम् ।

शौच—शारीरिक मलोंको मिट्टी और जल आदिसे साफ करना और अन्तःकरणके राग-द्वेष आदि मलोंको प्रतिपक्ष-भावनासे* दूर करना ।

* जिस दोषको दूर करना हो उसके विरोधी गुणकी भावना करनेका नाम 'प्रतिपक्ष-भावना' है ।

स्थैर्यं स्थिरभावो मोक्षमार्गे एव कृताध्यवसायत्वम् ।

स्थिरता—स्थिरभाव, मोक्ष-मार्गमें ही निश्चित निष्ठा कर लेना ।

आत्मविनिग्रह आत्मनः अपकारकस्य आत्मशब्दवाच्यस्य कार्यकरणसंघातस्य विनिग्रहः स्वभावेन सर्वतः प्रवृत्तस्य सन्मार्गे एव निरोध आत्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

आत्मविनिग्रह—आत्माका अपकार करनेवाला और आत्मा शब्दसे कहे जानेवाला, जो कार्य-करणका संघातरूप यह शरीर है, इसका निग्रह अर्थात् इसे स्वाभाविक प्रवृत्तिसे हटाकर सन्मार्गमें ही नियुक्त कर रखना ॥ ७ ॥

किं च—

तथा—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु विरागभावो वैराग्यम् । अनहंकारः अहंकाराभाव एव च ।

इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें वैराग्य अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अनहंकार—अहंकारका अभाव ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं जन्म च मृत्युः च जरा च व्याधयः च दुःखानि च तेषु जन्मादिदुःखान्तेषु प्रत्येकं दोषानुदर्शनम् ।

तथा जन्म, मृत्यु, जरा, रोग और दुःखोंमें अर्थात् जन्मसे लेकर दुःखपर्यन्त प्रत्येकमें अलग-अलग दोषोंका देखना ।

जन्मनि गर्भवासयोनिद्वारा निःसरणं दोषः तस्य अनुदर्शनम् आलोचनम्, तथा मृत्यौ दोषानुदर्शनम्, तथा जरायां प्रज्ञाशक्तितेजोनिरोधदोषानुदर्शनं परिभूतता च इति । तथा व्याधिषु शिरोरोगादिषु दोषानुदर्शनम्, तथा दुःखेषु अध्यात्माधिभूताधिदैवनिमित्तेषु ।

जन्ममें गर्भवास और योनिद्वारा बाहर निकलना-रूप जो दोष है उसको देखना—उसपर विचार करना । वैसे ही मृत्युमें दोष देखना, एवं बुढ़ापेमें प्रज्ञा-शक्ति और तेजका तिरोभाव और तिरस्काररूप दोष देखना, तथा शिर-पीड़ादि रोगरूप व्याधियोंमें दोषोंका देखना, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवके निमित्तसे होनेवाले तीनों प्रकारके दुःखोंमें दोष देखना ।

अथवा दुःखानि एव दोषो दुःखदोषः तस्य जन्मादिषु पूर्ववद् अनुदर्शनम् । दुःखं जन्म दुःखं मृत्युः दुःखं जरा दुःखं व्याधयः । दुःखनिमित्तत्वाद् जन्मादयो दुःखं न पुनः स्वरूपेण एव दुःखम् इति ।

अथवा (यह भी अर्थ किया जा सकता है कि) दुःख ही दोष है, इस दुःखरूप दोषको पहले कहे हुए प्रकारसे जन्मादिमें देखना अर्थात् जन्म दुःखमय है, मरना दुःख है, बुढ़ापा दुःख है और सब रोग दुःख हैं—इस प्रकार देखना, परन्तु (यह ध्यान रहे कि) ये जन्मादि दुःखके कारण होनेसे ही दुःख है, स्वरूपसे दुःख नहीं है ।

एवं जन्मादिषु दुःखदोषानुदर्शनाद् देहेन्द्रियविषयभोगेषु वैराग्यम् उपजायते। ततः प्रत्यगात्मनि प्रवृत्तिः करणानाम् आत्म-दर्शनाय। एवं ज्ञानहेतुत्वाद् ज्ञानम् उच्यते जन्मादिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार जन्मादिमे दुःखरूप दोपको वारंवार देखनेसे शरीर, इन्द्रिय और विषयभोगोंमे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उससे मन-इन्द्रियादि करणों-की आत्मसाक्षात्कार करनेके लिये अन्तरात्मामे प्रवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार ज्ञानका कारण होनेसे जन्मादिमे दुःखरूप दोषकी वारंवार आलोचना करना 'ज्ञान' कहा जाता है ॥ ८ ॥

किं च—

तथा—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

असक्तिः सक्तिः सङ्गनिमित्तेषु विषयेषु प्रीतिमात्रं तदभावः असक्तिः।

अनभिष्वङ्गः अभिष्वङ्गाभावः। अभिष्वङ्गः नाम सक्तिविशेष एव अनन्यात्मभावनालक्षणः। यथा अन्यस्मिन् सुखिनि दुःखिनि वा अहम् एव सुखी दुःखी च जीवति मृते वा अहम् एव जीवामि मरिष्यामि च इति।

क, इति आह, पुत्रदारगृहादिषु, पुत्रेषु दारेषु गृहेषु, आदिग्रहणाद् अन्येषु अपि अत्यन्तेष्टेषु दासवर्गादिषु। तत् च उभयं ज्ञानार्थत्वाद् ज्ञानम् उच्यते।

असक्ति—आसक्ति-निमित्तक विषयोमे प्रीति-मात्रका नाम सक्ति है, उसका अभाव।

अनभिष्वंग—अभिष्वंगका अभाव। मोहपूर्वक अनन्य आत्मभावनारूप जो विशेष आसक्ति है उसका नाम अभिष्वंग है। जैसे दूसरेके सुखी या दुःखी होनेपर यह मानना कि मै ही सुखी-दुःखी हूँ। अथवा किसी अन्यके जीने-मरनेपर मै ही जीता हूँ या मर जाऊँगा, ऐसा मानना।

(ऐसा अभिष्वंग) कहाँ होता है? (सो कहते है—) पुत्र, स्त्री और घर आदिमे अर्थात् पुत्रमे, स्त्रीमे, घरमे तथा आदि शब्दका ग्रहण होनेसे अन्य जो कोई दासवर्ग आदि अत्यन्त प्रिय होते है उनमे भी। असक्ति और अनभिष्वंग ये दोनों ही ज्ञानके साधन है इसलिये इनको भी ज्ञान कहते हैं।

नित्यं च समचित्तत्वं तुल्यचित्तता, क, इष्टानिष्टोपपत्तिषु, इष्टानाम् अनिष्टानां च उपपत्तयः संप्राप्तयः तासु इष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यम् एव तुल्यचित्तता, इष्टोपपत्तिषु न हृष्यति न कुप्यति च अनिष्टोपपत्तिषु। तत् च एतद् नित्यं समचित्तत्वं ज्ञानम् ॥ ९ ॥

तथा नित्य समचित्तता अर्थात् निरन्तर चित्तकी समानता—किसमे? इष्ट अथवा अनिष्टकी प्राप्तिमे, अर्थात् प्रिय और अप्रियकी जो वारंवार प्राप्ति होती रहती है उसमे सदा ही चित्तका सम रहना। इस साधनवाला प्रियकी प्राप्तिमे हर्षित नहीं होता और अप्रियकी प्राप्तिमे क्रोधयुक्त नहीं होता। इस प्रकारकी जो चित्तकी नित्य समता है वह भी 'ज्ञान' है ॥९॥

किं च—

तथा—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मयि च ईश्वरे अनन्ययोगेन अपृथक्समाधिना न अन्यो भगवतो वासुदेवात् परः अस्ति अतः स एव नो गतिः इति एवं निश्चिता अव्यभिचारिणी बुद्धिः अनन्ययोगः तेन भजनं भक्तिः न व्यभिचरणशीला अव्यभिचारिणी । सा च ज्ञानम् ।

विविक्तदेशसेवित्वं विविक्तः स्वभावतः संस्कारेण वा अशुच्यादिभिः सर्पव्याघ्रादिभिः च रहितः अरण्यनदीपुलिनदेवगृहादिभिः विविक्तो देशः तं सेवितुं शीलम् यस्य इति विविक्तदेशसेवी तद्भावो विविक्तदेशसेवित्वम् ।

विविक्तेषु हि देशेषु चित्तं प्रसीदति यतः तत आत्मादिभावना विविक्ते उपजायते अतो विविक्तदेशसेवित्वं ज्ञानम् उच्यते ।

अरतिः अरमणं जनसंसदि जनानां प्राकृतानां संस्कारशून्यानाम् अविनीतानां संसत् समवायो जनसंसत् न संस्कारवतां विनीतानां संसत्, तस्या ज्ञानोपकारकत्वात्, अतः प्राकृतजनसंसदि अरतिः ज्ञानार्थत्वाद् ज्ञानम् ॥ १० ॥

मुझ ईश्वरमे अनन्य योगसे—एकत्वरूप समाधियोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति । भगवान् वासुदेवसे पर अन्य कोई भी नहीं है, अतः वही हमारी परमगति है, इस प्रकारकी जो निश्चित अविचल बुद्धि है वही अनन्य योग है, उससे युक्त होकर भजन करना ही 'कभी विचलित न होनेवाली अव्यभिचारिणी भक्ति' है, वह भी ज्ञान है ।

विविक्तदेशसेवित्व—एकान्त पवित्रदेश-सेवनका स्वभाव । जो देश स्वभावसे पवित्र हो या झाड़ने-बुहारने आदि संस्कारोंसे शुद्ध किया गया हो तथा सर्प-व्याघ्र आदि जन्तुओंसे रहित हो, ऐसे वन, नदी-तीर या देवालय आदि विविक्त (एकान्त-पवित्र) देशको सेवन करनेका जिसका स्वभाव है, वह विविक्तदेशसेवी कहलाता है, उसका भाव विविक्तदेशसेवित्व है ।

क्योंकि निर्जन-पवित्र देशमे ही चित्त प्रसन्न और स्वच्छ होता है, इसलिये विविक्तदेशमे आत्मादिकी भावना प्रकट होती है, अतः विविक्तदेश सेवन करनेके स्वभावको 'ज्ञान' कहा जाता है ।

तथा जनसमुदायमे अप्रीति । यहाँ विनय-भाव-रहित संस्कार-शून्य प्राकृत पुरुषोंके समुदायका नाम ही जनसमुदाय है । विनययुक्त संस्कारसम्पन्न मनुष्योंका समुदाय जनसमुदाय नहीं है, क्योंकि वह तो ज्ञानमे सहायक है । सुतरां प्राकृत-जनसमुदायमे प्रीतिका अभाव ज्ञानका साधन होनेके कारण 'ज्ञान' है ॥ १० ॥

किं च—

तथा—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् आत्मादिविषयं ज्ञानम् अध्यात्मज्ञानं तस्मिन् नित्यभावो नित्यत्वम् ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्व—आत्मादिविषयक ज्ञानका नाम अध्यात्मज्ञान है, उसमें नित्यस्थिति ।

अमानित्वादीनां ज्ञानसाधनानां भावनापरिपाकनिमित्तं तत्त्वज्ञानं तस्य अर्थो मोक्षः संसारोपरमः तस्य आलोचनं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्, तत्त्वज्ञानफलालोचने हि तत्साधनानुष्ठाने प्रवृत्तिः स्याद् इति ।

तत्त्वज्ञानके अर्थकी आलोचना अर्थात् अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंकी परिपक्व भावनासे उत्पन्न होनेवाला जो तत्त्वज्ञान है उसका अर्थ जो संसारकी उपरतिरूप मोक्ष है, उसकी आलोचना। क्योंकि तत्त्वज्ञानके फलकी आलोचना करनेसे ही उसके साधनोंमें प्रवृत्ति होगी ।

एतद् अमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तम् उक्तं ज्ञानम् इति प्रोक्तं ज्ञानार्थत्वात् ।

'अमानित्व' से लेकर तत्त्वज्ञानके अर्थकी आलोचनापर्यन्त कहा हुआ समस्त साधनसमुदाय ज्ञानका साधन होनेके कारण 'ज्ञान' इस नामसे कहा गया है ।

अज्ञानं यद् अतः अस्माद् यथोक्ताद् अन्यथा विपर्ययेण मानित्वं दम्भित्वं हिंसा अक्षान्तिः अनार्जवम् इत्यादि अज्ञानं विज्ञेयं परिहरणाय संसारप्रवृत्तिकारणत्वाद् इति ॥ ११ ॥

इससे अर्थात् उपर्युक्त ज्ञानसाधनोंके समुदायसे विपरीत जो मानित्व, दम्भित्व, हिंसा, क्षमाका अभाव, कुटिलता इत्यादि अवगुणसमुदाय है वह संसारमें प्रवृत्त करनेका हेतु होनेसे उसे त्याग करनेके लिये अज्ञान समझना चाहिये ॥ ११ ॥

यथोक्तेन ज्ञानेन ज्ञातव्यं किम् इति आकाङ्क्षायाम् आह ज्ञेयं यत् तद् इत्यादि ।

उपर्युक्त ज्ञानद्वारा जाननेयोग्य क्या है ? इस आकांक्षापर 'ज्ञेयं यत्तत्' इत्यादि श्लोक कहते हैं—

ननु यमा नियमाः च अमानित्वादयो न तैः ज्ञेयं ज्ञायते । न हि अमानित्वादि कस्यचिद् वस्तुनः परिच्छेदकं दृष्टम् । सर्वत्र एव च यद्विषयं ज्ञानं तद् एव तस्य ज्ञेयस्य परिच्छेदकं दृश्यते । न हि अन्यविषयेण ज्ञानेन अन्यद् उपलभ्यते । यथा घटविषयेण ज्ञानेन अग्निः ।

पू०—अमानित्व आदि गुण तो यम और नियम हैं, उनसे ज्ञेय वस्तु नहीं जानी जा सकती । क्योंकि अमानित्वादि सद्गुण किसी वस्तुके ज्ञापक नहीं देखे गये हैं । सभी जगह यह देखा जाता है कि जो ज्ञान जिस वस्तुको विषय करनेवाला होता है वही उसका ज्ञापक होता है, अन्य वस्तुविषयक ज्ञानसे अन्य वस्तु नहीं जानी जाती । जैसे घटविषयक ज्ञानसे अग्नि नहीं जाना जाता ।

न एष दोषो ज्ञाननिमित्तत्वाद् ज्ञानम् उच्यते इति हि अवोचाम । ज्ञानसहकारिकारणत्वात् च—

उ०—यह दोष नहीं है । क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि यह अमानित्वादि सद्गुण ज्ञानके साधन होनेसे और उसके सहकारी कारण होनेसे 'ज्ञान' नामसे कहे गये हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

ज्ञेयं ज्ञातव्यं यत् तत् प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण यथावद् वक्ष्यामि ।

जो जाननेयोग्य है उसको भली प्रकार यथार्थ-रूपसे कहूँगा ।

किं फलं तद् इति प्ररोचनेन श्रोतुः अभिमुखीकरणाय आह—

वह ज्ञेय कैसे फलवाला है? यह बात, श्रोतामे रुचि उत्पन्न करके उसे सम्मुख करनेके लिये कहते हैं—

यद् ज्ञेयं ज्ञात्वा अमृतम् अमृतत्वम् अश्नुते न पुनः म्रियते इत्यर्थः ।

जिस जाननेयोग्य (परमात्माके स्वरूप) को जानकर (मनुष्य) अमृतको अर्थात् अमरभावको लाभ कर लेता है, फिर नहीं मरता ।

अनादिमद् आदिः अस्य अस्ति इति आदिमद् न आदिमद् अनादिमत् । किं तत्, परं निरतिशयं ब्रह्म ज्ञेयम् इति प्रकृतम् ।

वह ज्ञेय अनादिमत् है । जिसकी आदि हो वह आदिमत् और जो आदिमत् न हो वह अनादिमत् कहलाता है । वह कौन है? वही परम—निरतिशय ब्रह्म जो कि इस प्रकरणमे ज्ञेयरूपसे वर्णित है ।

अत्र केचिद् अनादि मत्परम् इति पदं छिन्दन्ति बहुव्रीहिणा उक्ते अर्थे मतुप आनर्थक्यम् अनिष्टं स्याद् इति ।

यहाँ कई एक टीकाकार 'अनादि' 'मत्परम्' इस प्रकार पदच्छेद करते हैं । (कारण यह बतलाते हैं कि) बहुव्रीहि समासद्वारा बतलाये हुए अर्थमे 'मतुप्' प्रत्ययके प्रयोगकी निरर्थकता है, अतः वह अनिष्ट है ।

अर्थविशेषं च दर्शयन्ति अहं वासुदेवाख्या परा शक्तिः यस्य तद् मत्परम् इति ।

वे (टीकाकार ऐसा पदच्छेद करके) अलग अर्थ भी दिखाते हैं कि 'मैं वासुदेव कृष्ण ही जिसकी परम शक्ति हूँ वह ज्ञेय मत्पर है ।'

सत्यम् एवम् अपुनरुक्तं स्याद् अर्थः चेत् संभवति न तु अर्थः संभवति, ब्रह्मणः सर्वविशेषप्रतिषेधेन एव विजिज्ञापयिषितत्वाद् न सत् तद् न असद् उच्यते इति ।

ठीक है, यदि उपर्युक्त अर्थ सम्भव होता तो ऐसा पदच्छेद करनेसे पुनरुक्तिके दोषका निवारण हो सकता था, परन्तु यह अर्थ ही सम्भव नहीं है, क्योंकि यहाँ ब्रह्मका स्वरूप 'न सत्तन्नासदुच्यते' आदि वचनोंसे सर्व विशेषणोके प्रतिषेधद्वारा ही बतलाना इष्ट है ।

विशिष्टशक्तिमत्त्वप्रदर्शनं विशेषप्रतिषेधः च इति विप्रतिषिद्धम् । तस्माद् मतुपो बहुव्रीहिणा समानार्थत्वे अपि प्रयोगः श्लोकपूरणार्थः ।

ज्ञेयको किसी विशेष शक्तिवाला बतलाना और विशेषणोंका प्रतिषेध भी करते जाना यह परस्परविरुद्ध है । सुतरां (यही समझना चाहिये कि) मतुप् प्रत्ययका और बहुव्रीहि समासका समान अर्थ होनेपर भी यहाँ श्लोकपूर्तिके लिये यह प्रयोग किया गया है ।

अमृतत्वफलं ज्ञेयं मया उच्यते इति प्ररोचनेन अभिमुखीकृत्य आह—

'जिसका फल अमृतत्व है ऐसा ज्ञेय मेरेद्वारा कहा जाता है' इस कथनसे रुचि उत्पन्न कर (अर्जुनको) सम्मुख करके कहते हैं—

न सत् तद् ज्ञेयम् उच्यते इति न अपि असत् तद् उच्यते ।

उस ज्ञेयको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है ।

ननु महता परिकरबन्धेन कण्ठरवेण उद्घुष्य ज्ञेयं प्रवक्ष्यामि इति अननुरूपम् उक्तं न सत् तद् न असद् उच्यते इति ।

पू०—कटिबद्ध होकर बड़े गम्भीर स्वरसे यह घोषणा करके कि 'मैं ज्ञेय वस्तुको भली प्रकार बतलाऊँगा' फिर यह कहना कि 'वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही' उस घोषणाके अनुरूप नहीं है ।

न, अनुरूपम् एव उक्तम् । कथं सर्वासु हि उपनिषत्सु ज्ञेयं ब्रह्म *'नेति नेति'* (बृह० उ० ४।४।२२) *'अस्थूलमनणु'* (बृह० उ० ३।८।८) इत्यादिविशेषप्रतिषेधेन एव निर्दिश्यते न इदं तद् इति वाचः अगोचरत्वात् ।

उ०—यह नहीं, भगवान्‌का कहना तो प्रतिज्ञाके अनुरूप ही है, क्योंकि वाणीका विषय न होनेके कारण सब उपनिषदोंमें भी ज्ञेय ब्रह्म **'ऐसा नहीं, ऐसा नहीं' 'स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं'** इस प्रकार विशेषोंके प्रतिषेधद्वारा ही लक्ष्य कराया गया है, ऐसा नहीं कहा गया कि वह ज्ञेय अमुक है ।

ननु न तद् अस्ति यद् वस्तु अस्तिशब्देन न उच्यते । अथ अस्तिशब्देन न उच्यते न अस्ति तद् ज्ञेयम् । विप्रतिषिद्धं च ज्ञेयं तद् अस्तिशब्देन न उच्यते इति च ।

पू०—जो वस्तु 'अस्ति' शब्दसे नहीं कही जा सकती, वह है भी नहीं । यदि ज्ञेय 'अस्ति' शब्दसे नहीं कहा जा सकता तो वह भी वास्तवमें नहीं है । फिर यह कहना अति विरुद्ध है कि वह 'ज्ञेय' है और 'अस्ति' शब्दसे नहीं कहा जा सकता ।

न तावद् न अस्ति नास्तिबुद्ध्यविषयत्वात् ।

उ०—वह (ब्रह्म) नहीं है, सो नहीं क्योंकि वह 'नहीं है' इस ज्ञानका भी विषय नहीं है ।

ननु सर्वा बुद्धयः अस्तिनास्तिबुद्ध्यनुगता एव तत्र एवं सति ज्ञेयम् अपि अस्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्याद् नास्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्यात् ।

पू०—सभी ज्ञान 'अस्ति' या 'नास्ति' इन बुद्धियोंमेंसे ही किसी एकके अनुगत होते हैं । इसलिये ज्ञेय भी या तो 'अस्ति' ज्ञानसे अनुगत प्रतीतिका विषय होगा या 'नास्ति' ज्ञानसे अनुगत प्रतीतिका विषय होगा ।

न, अतीन्द्रियत्वेन उभयबुद्ध्यनुगतप्रत्ययाविषयत्वात् ।

उ०—यह बात नहीं है । क्योंकि वह ब्रह्म इन्द्रियोंसे अगोचर होनेके कारण दोनों प्रकारके ही ज्ञानियोंसे अनुगत प्रतीतिका विषय नहीं है ।

यद् हि इन्द्रियगम्यं वस्तु घटादिकं तद् अस्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्याद् नास्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्यात् ।

इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें आनेवाले जो कोई घट आदि पदार्थ होते हैं, वे ही या तो 'अस्ति' इस ज्ञानसे अनुगत प्रतीतिके या 'नास्ति' इस ज्ञानसे अनुगत प्रतीतिके विषय होते हैं ।

इदं तु ज्ञेयम् अतीन्द्रियत्वेन शब्दैकप्रमाणगम्यत्वाद् न घटादिवद् उभयबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयम् इति अतो न सत् तद् न असद् इति उच्यते ।

परन्तु यह ज्ञेय (ब्रह्म) इन्द्रियातीत होनेके कारण, केवल एक शब्दप्रमाणसे ही प्रमाणित हो सकता है, इसलिये घट आदि पदार्थोंकी भाँति यह 'है' 'नहीं है' इन दोनो प्रकारके ही ज्ञानोके अनुगत प्रतीतिका विषय नहीं है, सुतरां वह न तो सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है ।

यत् तु उक्तं विरुद्धम् उच्यते ज्ञेयं तद् न सत् तद् न असद् उच्यते इति । न विरुद्धम् । *'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'* (के० उ० १ । ३) इति श्रुतेः ।

तथा तुमने जो यह कहा कि ज्ञेय है किन्तु वह न सत् कहा जाता है और न असत् कहा जाता है, यह कहना विरुद्ध है, सो विरुद्ध नहीं है । क्योंकि **'वह ब्रह्म जाने हुएसे और न जाने हुएसे भी अन्य है'** इस श्रुतिप्रमाणसे यह बात सिद्ध है ।

श्रुति अपि विरुद्धार्था इति चेद् यथा यज्ञाय शालाम् आरभ्य *'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वेति'* (तै० सं० ६ । १ । १) एवम् इति चेत् ।

पू०—यदि यह श्रुति भी विरुद्ध अर्थवाली हो तो ? अर्थात् जैसे यज्ञके लिये यज्ञशाला बनानेका विधान करके वहाँ कहा है कि **'उस बातको कौन जानता है कि परलोकमें यह सब है या नहीं'** इस श्रुतिके समान यह श्रुति भी विरुद्धार्थयुक्त हो तो ?

न, विदिताविदिताभ्याम् अन्यत्वश्रुतेः अवश्यविज्ञेयार्थप्रतिपादनपरत्वात् । *'यद्यमुष्मिन्'* इत्यादि तु विधिशेषः अर्थवादः ।

उ०—यह बात नहीं है । क्योंकि यह जाने हुएसे और न जाने हुएसे विलक्षणत्व प्रतिपादन करनेवाली श्रुति निस्सन्देह अवश्य ही ज्ञेय पदार्थका होना प्रतिपादन करनेवाली है और **'यह सब परलोकमें है या नहीं'** इत्यादि श्रुति-वाक्य विधिके अन्तका अर्थवाद है (अतः उसके साथ इसकी समानता नहीं हो सकती) ।

उपपत्तेः च सदसदादिशब्दैः ब्रह्म न उच्यते इति । सर्वो हि शब्दः अर्थप्रकाशनाय प्रयुक्तः श्रूयमाणः च श्रोतृभिः जातिक्रियागुणसंबन्धद्वारेण संकेतग्रहणसव्यपेक्षः अर्थं प्रत्याययति । न अन्यथा अदृष्टत्वात् ।

युक्तिसे भी यह बात सिद्ध है कि ब्रह्म सत्-असत् आदि शब्दोंद्वारा नहीं कहा जा सकता । क्योंकि अर्थका प्रकाश करनेके लिये वक्ताद्वारा बोले जानेवाले और श्रोताद्वारा सुने जानेवाले सभी शब्द जाति, क्रिया, गुण और सम्बन्धद्वारा संकेत ग्रहण करवाकर ही अर्थकी प्रतीति कराते है, अन्य प्रकारसे नहीं । कारण, अन्य प्रकारसे प्रतीति होती नहीं देखी जाती ।

तद् यथा गौः अश्व इति वा जातितः, पचति पठति इति वा क्रियातः, शुक्लः कृष्ण इति वा गुणतः, धनी गोमान् इति वा संबन्धतः ।

जैसे गौ या घोड़ा यह जातिसे, पकाना या पढ़ना यह क्रियासे, सफेद या काला यह गुणसे और धनवान् या गौओंवाला यह सम्बन्धसे (जाने जाते है । इसी तरह सबका ज्ञान होता है) ।

न तु ब्रह्म जातिमद् अतो न सदादिशब्दवाच्यं न अपि गुणवद् येन गुणशब्देन उच्येत निर्गुणत्वाद् न अपि क्रियाशब्दवाच्यं निष्क्रियत्वात् । *'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्'* (श्वे० उ० ६ । १९) इति श्रुतेः ।

न च संबन्धि एकत्वाद् अद्वयत्वाद् अविषयत्वाद् आत्मत्वात् च न केनचित् शब्देन उच्यते इति युक्तम् *'यतो वाचो निवर्तन्ते'* (तै० उ० २ । ४ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः च ॥ १२ ॥

परन्तु ब्रह्म जातिवाला नहीं है,इसलिये सत् आदि शब्दोंद्वारा नहीं कहा जा सकता; निर्गुण होनेके कारण वह गुणवान् भी नहीं है, जिससे कि गुणवाचक शब्दोंसे कहा जा सके और क्रियारहित होनेके कारण क्रियावाचक शब्दोंसे भी नहीं कहा जा सकता । **'ब्रह्म कलारहित, क्रियारहित और शान्त है'** इस श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है ।

तथा एक, अद्वितीय, इन्द्रियोंका अविषय और आत्मरूप होनेके कारण (वह ब्रह्म) किसीका सम्बन्धी भी नहीं है । अतः यह कहना उचित ही है कि ब्रह्म किसी भी शब्दसे नहीं कहा जा सकता । **'जहाँसे वाणी निवृत्त हो जाती है'** इत्यादि श्रुतिप्रमाणोंसे भी यही बात सिद्ध होती है ॥ १२ ॥

सच्छब्दप्रत्ययाविषयत्वाद् असत्त्वाशङ्कायां ज्ञेयस्य सर्वप्राणिकरणोपाधिद्वारेण तदस्तित्वं प्रतिपादयन् तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थम् आह—

वह 'ज्ञेय' सत् शब्दद्वारा होनेवाली प्रतीतिका विषय नहीं है, इससे उसके न होनेकी आशंका होनेपर उस आशंकाकी निवृत्तिके लिये, समस्त प्राणियोंकी इन्द्रियादि उपाधियोंद्वारा उस ज्ञेयके अस्तित्वका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वतःपाणिपादं सर्वतः पाणयः पादाः च अस्य इति सर्वतःपाणिपादं तद् ज्ञेयम् ।

सर्वप्राणिकरणोपाधिभिः क्षेत्रज्ञास्तित्वं विभाव्यते । क्षेत्रज्ञः च क्षेत्रोपाधित उच्यते । क्षेत्रं च पाणिपादादिभिः अनेकधा भिन्नम् ।

क्षेत्रोपाधिभेदकृतं विशेषजातं मिथ्या एव क्षेत्रज्ञस्य इति तदपनयनेन ज्ञेयत्वम् उक्तम् *'न सत्तन्नासदुच्यते'* इति ।

वह ज्ञेय सब ओर हाथ-पैरवाला है अर्थात् उसके हाथ-पैर सर्वत्र फैले हुए हैं ।

सब प्राणियोंकी इन्द्रियरूप उपाधियोंद्वारा क्षेत्रज्ञका अस्तित्व प्रकट होता है । क्षेत्ररूप उपाधिके कारण ही वह ज्ञेय क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । क्षेत्ररूप उपाधि, हाथ, पैर आदि भेदसे अनेक प्रकार विभक्त है ।

वास्तवमें, क्षेत्रकी उपाधियोंके भेदसे किये हुए समस्त भेद क्षेत्रज्ञमें मिथ्या ही हैं, अतः उनको हटाकर ज्ञेयका स्वरूप 'वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है' ऐसे बतलाया गया है ।

उपाधिकृतं मिथ्यारूपम् अपि अस्तित्वाधिगमाय ज्ञेयधर्मवद् परिकल्प्य उच्यते सर्वतःपाणिपादम् इत्यादि ।

तथा हि सम्प्रदायविदां वचनम्—'*अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते*' इति ।

सर्वत्र सर्वदेहावयवत्वेन गम्यमानाः पाणिपादादयो ज्ञेयशक्तिसद्भावनिमित्तस्वकार्या इति ज्ञेयसद्भावे लिङ्गानि ज्ञेयस्य इति उपचारत उच्यन्ते । तथा व्याख्येयम् अन्यत् ।

सर्वतःपाणिपादं तद् ज्ञेयम् । सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं सर्वत्र अक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतःश्रुतिमत् श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं तद् यस्य तत् श्रुतिमद् लोके प्राणिनिकाये सर्वम् आवृत्य संव्याप्य तिष्ठति स्थितिं लभते ॥ १३ ॥

तथा ज्ञेयका अस्तित्व समझानेके लिये उपाधिकृत मिथ्यारूपको भी उसके धर्मकी भाँति कल्पना करके उसको 'सब ओरसे हाथ-पैरवाला' है, इत्यादि प्रकारसे बतलाया जाता है ।

सम्प्रदाय-परम्पराको जाननेवालोंका भी यही कहना है कि **'अध्यारोप और अपवादद्वारा प्रपञ्चरहित परमात्माकी व्याख्या की जाती है ।'**

सर्वत्र अर्थात् सब शरीरोंके अंगरूपसे स्थित हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ, ज्ञेय शक्तिकी सत्तासे ही स्वकार्यमें समर्थ हो रही हैं, अतः ये सब ज्ञेयकी सत्ताके चिह्न होनेके कारण उपचारसे ज्ञेयके (धर्म) कहे जाते हैं । ऐसे ही और सबकी भी व्याख्या कर लेनी चाहिये ।

वह ज्ञेय-सब ओर हाथ-पैरवाला है, तथा सब ओर नेत्र, शिर और मुखवाला है–जिसके आँख, शिर और मुख सर्वत्र हों, वह सर्वतोऽक्षिशिरोमुख कहलाता है तथा वह सब ओर कानवाला है–जिसके श्रुति अर्थात् श्रवणेन्द्रिय हो वह श्रुतिमत् (कानवाला) कहा जाता है । इस लोकमें–समस्त प्राणिसमुदायमें वह सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ १३ ॥

उपाधिभूतपाणिपादादीन्द्रियाध्यारोपणाद् ज्ञेयस्य तद्वत्ताशङ्का मा भूद् इति एवमर्थः श्लोकारम्भः—

उपाधिरूप हाथ, पैर आदि इन्द्रियोंके अध्यारोपसे किसीको ऐसी शंका न हो कि ज्ञेय उन उपाधियोंवाला है, इस अभिप्रायसे यह श्लोक कहते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाख्यानि अन्तःकरणे च बुद्धिमनसी ज्ञेयोपाधित्वस्य तुल्यत्वात् सर्वेन्द्रियग्रहणेन गृह्यन्ते । अपि च अन्तःकरणोपाधिद्वारेण एव श्रोत्रादीनाम् अपि उपाधित्वम् इति ।

वह ज्ञेय समस्त इन्द्रियोंके गुणोंसे अवभासित (प्रतीत) होनेवाला है । यहाँ श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि ये दोनों अन्तःकरण—इन सबका सर्व इन्द्रियोंके नामसे ग्रहण है । क्योंकि अन्तःकरण भी ज्ञेयकी उपाधिके रूपमें अन्य इन्द्रियोंके समान ही है, वल्कि श्रोत्रादिका भी उपाधित्व अन्तःकरणरूप उपाधिके द्वारा ही है ।

अतः अन्तःकरणबहिष्करणोपाधिभूतैः सर्वेन्द्रियगुणैः अध्यवसायसंकल्पश्रवणवचनादिभिः अवभासते इति सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियव्यापारैः व्यापृतम् इव तद् ज्ञेयम् इत्यर्थः।

'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृह० उ० ४। ३।७) इति श्रुतेः।

इसलिये यह अभिप्राय है कि उपाधिरूप अन्तःकरण और बाह्यकरण, इन सभी इन्द्रियोंके गुण जो निश्चय, संकल्प, श्रवण और भाषण आदि हैं, उनके द्वारा वह ज्ञेय प्रतिभासित होता है अर्थात् उन इन्द्रियोंकी क्रियासे वह क्रियावान्-सा दिखलायी देता है।

'ध्यान करता हुआ-सा, चेष्टा करता हुआ-सा' इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है।

कस्मात् पुनः कारणाद् न व्यापृतम् एव इति गृह्यते इति अत आह—

तो फिर उस ज्ञेयको स्वयं क्रिया करनेवाला ही क्यों नहीं मान लिया जाता ? इसपर कहते हैं—

सर्वेन्द्रियविवर्जितं सर्वकरणरहितम् इत्यर्थः। अतो न करणव्यापारैः व्यापृतं तद् ज्ञेयम्।

वह ज्ञेय समस्त इन्द्रियोंसे रहित है अर्थात् सब करणोंसे रहित है। इसलिये वह इन्द्रियोंके व्यापारसे (वास्तवमें) व्यापारवाला नहीं होता।

यः तु अयं मन्त्रः—*'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'* (श्वे० उ० ३। १९) इत्यादिः स सर्वेन्द्रियोपाधिगुणानुगुण्यभजनशक्तिमत् तद् ज्ञेयम् इति एवं प्रदर्शनार्थो न तु साक्षाद् एव जवनादिक्रियावत्त्वप्रदर्शनार्थः।

यह जो मन्त्र है कि **'वह (ईश्वर) विना पैर और हाथके चलता और ग्रहण करता है, विना चक्षुके देखता और विना कानोंके सुनता है'** सो इस अभिप्रायको दिखानेके लिये है कि वह ज्ञेय समस्त इन्द्रियरूप उपाधियोंके गुणोंकी अनुरूपता प्राप्त करनेमें समर्थ है, उसे साक्षात् गमनादि क्रियाओंसे युक्त बतलानेके लिये यह मन्त्र नहीं है।

'अन्धो मणिमविन्दत' (तै० आ० १। ११) इत्यादिमन्त्रार्थवत् तस्य मन्त्रस्य अर्थः।

'अन्धेने मणि प्राप्त की' इत्यादि मन्त्रोंके अर्थकी भाँति उस मन्त्रका अर्थ है।

यस्मात् सर्वकरणवर्जितं ज्ञेयं यस्माद् असक्तं सर्वसंश्लेषवर्जितम्।

वह ज्ञेय समस्त इन्द्रियोंसे रहित है, इसलिये संगरहित है अर्थात् सब प्रकारके सम्बन्धोंसे रहित है।

यद्यपि एवं तथापि सर्वभृत् च एव। सदास्पदं हि सर्वं सर्वत्र सद्बुद्ध्यनुगमात्। न हि मृगतृष्णिकादयः अपि निरास्पदा भवन्ति। अतः सर्वभृत् सर्वं बिभर्ति इति।

यद्यपि यह बात है तो भी वह ज्ञेय सबको धारण करनेवाला है। सत्-बुद्धि सर्वत्र व्याप्त है, अतः सत् ही सबका अधिष्ठान है। मृगतृष्णिकादि मिथ्या पदार्थ भी विना अधिष्ठानके नहीं होते, इसलिये वह ज्ञेय सबका धारण करनेवाला है।

स्याद् इदं च अन्यद् ज्ञेयस्य सत्त्वाधिगमद्वारं निर्गुणं सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः तैः वर्जितं तद् ज्ञेयं तथापि गुणभोक्तृ च गुणानां सत्त्वरजस्तमसां शब्दादिद्वारेण सुखदुःखमोहाकारपरिणतानां भोक्तृ च उपलब्धृ तद् ज्ञेयम् इत्यर्थः ॥ १४ ॥

उस ज्ञेयकी सत्ताको बतलानेवाला यह दूसरा साधन भी है। वह ज्ञेय निर्गुण यानी सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोसे अतीत है तो भी गुणोका भोक्ता है अर्थात् वह ज्ञेय सुख-दुःख और मोहके रूपमे परिणत हुए तीनों गुणोंका शब्दादिद्वारा भोग करनेवाला— उन्हे उपलब्ध करनेवाला है ॥ १४ ॥

किं च—

तथा—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

बहिः त्वक्पर्यन्तं देहम् आत्मत्वेन अविद्याकल्पितम् अपेक्ष्य तम् एव अवधिं कृत्वा बहिः उच्यते। तथा प्रत्यगात्मानम् अपेक्ष्य देहम् एव अवधिं कृत्वा अन्तः उच्यते।

अविद्याद्वारा आत्मभावसे कल्पित शरीरको त्वचापर्यन्त अवधि मानकर उसीकी अपेक्षासे ज्ञेयको उसके बाहर बतलाते है। वैसे ही अन्तरात्माको लक्ष्य करके तथा शरीरको ही अवधि मानकर ज्ञेयको उसके भीतर (व्याप्त) बतलाया जाता है।

बहिः अन्तः च इति उक्ते मध्ये अभावे प्राप्ते इदम् उच्यते—

बाहर और भीतर व्याप्त है—ऐसा कहनेसे मध्यमे उसका अभाव प्राप्त हुआ, इसलिये कहते है—

अचरं चरम् एव च यत् चराचरं देहाभासम् अपि तद् एव ज्ञेयं यथा रज्जुसर्पाभासः।

चर और अचररूप भी वही है अर्थात् रज्जुमे सर्पकी भाँति प्रतीत होनेवाले जो चर-अचररूप शरीरके आभास है, वह भी उस ज्ञेयका ही स्वरूप है।

यदि अचरं चरम् एव च व्यवहारविषयं सर्वं ज्ञेयं किमर्थम् इदम् इति सर्वैः न विज्ञेयम्, इति उच्यते—

यदि चर और अचररूप समस्त व्यवहारका विषय वह ज्ञेय (परमात्मा) ही है, तो फिर वह 'यह है' इस प्रकार सबसे क्यो नहीं जाना जा सकता ? इसपर कहते है—

सत्यम्, सर्वाभासं तत् तथापि व्योमवत् सूक्ष्मम् अतः सूक्ष्मत्वात् स्वेन रूपेण तद् ज्ञेयम् अपि अविज्ञेयम् अविदुषाम्।

ठीक है, सारा दृश्य उसीका स्वरूप है, तो भी वह ज्ञेय आकाशकी भाँति अति सूक्ष्म है। अतः यद्यपि वह आत्मरूपसे ज्ञेय है, तो भी सूक्ष्म होनेके कारण अज्ञानियोंके लिये अविज्ञेय ही है।

विदुषां तु *'आत्मैवेदं सर्वम्'* (छा० उ० ७। २५। २) *'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'* (बृह० उ० २। ५। १) इत्यादिप्रमाणतो नित्यं विज्ञातम्—

ज्ञानी पुरुषोंके लिये तो, 'यह सब कुछ आत्मा ही है' 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है' इत्यादि प्रमाणोंसे वह सदा ही प्रत्यक्ष रहता है।

अविज्ञाततया दूरस्थं **वर्षसहस्रकोटयापि अविदुषाम् अप्राप्यत्वाद्** अन्तिके **च** तद् **आत्मत्वाद् विदुषाम्** ॥ १५ ॥

वह ज्ञेय अज्ञात होनेके कारण और हजारों-करोड़ों वर्षोंतक भी प्राप्त न हो सकनेके कारण अज्ञानियोके लिये बहुत दूर है, किन्तु ज्ञानियोंका तो वह आत्मा ही है, अतः उनके निकट ही है ॥१५॥

किं च—

तथा—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

अविभक्तं च **प्रतिदेहं व्योमवत् तद् एकं** भूतेषु **सर्वप्राणिषु** विभक्तम् इव च स्थितं **देहेषु एव विभाव्यमानत्वात्** ।

भूतभर्तृ च **भूतानि बिभर्ति इति** तद् ज्ञेयं **भूतभर्तृ च स्थितिकाले । प्रलयकाले** ग्रसिष्णु **ग्रसनशीलम् । उत्पत्तिकाले** प्रभविष्णु च **प्रभवनशीलम् । यथा रज्ज्वादिः सर्पादेः मिथ्याकल्पितस्य** ॥ १६ ॥

वह ज्ञेय प्रत्येक शरीरमे आकाशके समान अविभक्त और एक है । तो भी समस्त प्राणियोंमे विभक्त हुआ-सा स्थित है, क्योंकि उसकी प्रतीति शरीरोमे ही हो रही है ।

तथा वह ज्ञेय स्थितिकालमे भूतभर्तृ—भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला, प्रलयकालमे ग्रसिष्णु—सबका संहार करनेवाला और उत्पत्तिके समय प्रभविष्णु—सबको उत्पन्न करनेवाला है, जैसे कि मिथ्याकल्पित सर्पादिके (उत्पत्ति, स्थिति और नाशके कारण) रज्जु आदि होते है ॥ १६ ॥

किं च सर्वत्र विद्यमानं सद् न उपलभ्यते चेद् ज्ञेयं तमः तर्हि । न किं तर्हि—

यदि सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी ज्ञेय प्रत्यक्ष नहीं होता, तो क्या वह अन्धकार है ? नहीं । तो क्या है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

ज्योतिषाम् **आदित्यानाम्** अपि तद् **ज्ञेयं** ज्योतिः । **आत्मचैतन्यज्योतिषा इद्धानि हि आदित्यादीनि ज्योतींषि दीप्यन्ते** ।

'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (श्वे० उ० ६ । १४) **इत्यादिश्रुतिभ्यः । स्मृतेः च इह एव** *'यदादित्यगतं तेजः'* **इत्यादेः** ।

वह ज्ञेय (परमात्मा) समस्त सूर्यादि ज्योतियोका भी परम ज्योति है, क्योकि आत्मचैतन्यके प्रकाशसे देदीप्यमान होकर ही ये सूर्य आदि समस्त ज्योतियाँ प्रकाशित हो रही है ।

'जिस तेजसे प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है' 'उसीके प्रकाशसे यह सब कुछ प्रकाशित है' इत्यादि श्रुतिप्रमाणोसे और यहीं कहे हुए **'यदादित्यगतं तेजः'** इत्यादि स्मृतिवाक्योंसे भी उपर्युक्त बात ही सिद्ध होती है ।

तमसः अज्ञानात् परम् अस्पृष्टम् उच्यते ।

ज्ञानादेः दुःसंपादनबुद्धया प्राप्तावसादस्य उत्तम्भनार्थम् आह—

ज्ञानम् अमानित्वादि । ज्ञेयम् 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' इत्यादिना उक्तम् ज्ञानगम्यं ज्ञेयम् एव ज्ञातं सद् ज्ञानफलम् इति ज्ञानगम्यम् उच्यते ।

ज्ञायमानं तु ज्ञेयम् ।

तद् एतत् त्रयम् अपि हृदि बुद्धौ सर्वस्य प्राणिजातस्य विष्ठितं विशेषेण स्थितम् । तत्र एव हि त्रयं विभाव्यते ॥ १७ ॥

तथा वह ज्ञेय अन्धकारसे—अज्ञानसे परे अर्थात् अस्पृष्ट बतलाया जाता है ।

ज्ञान आदिका सम्पादन करना बहुत दुर्घट है-ऐसी बुद्धिसे उत्साहरहित—खिन्न-चित्त हुए साधकको उत्साहित करनेके लिये कहते हैं—

ज्ञान अर्थात् अमानित्व आदि ज्ञानके साधन, ज्ञेय अर्थात् 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' इत्यादि वाक्योंसे बतलाया हुआ परमात्माका स्वरूप और ज्ञानगम्य—ज्ञेय ही जान लिया जानेपर ज्ञानका फल होनेके कारण (पहले) ज्ञानगम्य कहा जाता है और जब जान लिया जाता है उस अवस्थामें ज्ञेय कहलाता है ।

ये तीनों ही समस्त प्राणिमात्रके अन्तःकरणमें विशेषरूपसे स्थित हैं । क्योंकि ये तीनों वहीं प्रकाशित होते हैं ॥ १७ ॥

यथोक्तार्थोपसंहारार्थः अयं श्लोक आरभ्यते—

उपर्युक्त समस्त अर्थका उपसंहार करनेके लिये यह श्लोक आरम्भ किया जाता है—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इति एवं क्षेत्रं महाभूतादि धृत्यन्तं तथा ज्ञानम् अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्तं ज्ञेयं च 'ज्ञेयं यत्तत्' इत्यादि 'तमसः परमुच्यते' इत्येवमन्तम् उक्तं समासतः संक्षेपतः ।

एतावान् सर्वो हि वेदार्थो गीतार्थः च उपसंहृत्य उक्तः । अस्मिन् सम्यग्दर्शने कः अधिक्रियते इति उच्यते—

मद्भक्तो मयि ईश्वरे सर्वज्ञे परमगुरौ वासुदेवे समर्पितसर्वात्मभावो यत् पश्यति शृणोति स्पृशति वा सर्वम् एव भगवान् वासुदेव इति एवंग्रहाविष्टबुद्धिः मद्भक्तः ।

इस प्रकार यह महाभूतोंसे लेकर धृतिपर्यन्त क्षेत्रका स्वरूप, 'अमानित्व' आदिसे लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शन' पर्यन्त ज्ञानका स्वरूप और 'ज्ञेयं यत्तत्' यहाँसे लेकर 'तमसः परमुच्यते' यहाँतक ज्ञेयका स्वरूप, संक्षेपसे कह दिया गया ।

यह सब वेदोंका और गीताका अर्थ इकट्ठा करके कहा गया है । इस यथार्थ ज्ञानका अधिकारी कौन है, सो कहा जाता है—

मेरा भक्त अर्थात् मुझ सर्वज्ञ, परमगुरु, वासुदेव परमेश्वरमें अपने सारे भावोंको जिसने अर्पण कर दिया है । जिस किसी भी वस्तुको देखता, सुनता और स्पर्श करता है, उस सबमें 'सब कुछ भगवान् वासुदेव ही है' ऐसी निश्चित बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है ।

स एतद् यथोक्तं सम्यग्दर्शनं विज्ञाय मद्भावाय मम भावो मद्भावः परमात्मभावः तस्मै मद्भावाय उपपद्यते मोक्षं गच्छति ॥१८॥

वह उपर्युक्त यथार्थ ज्ञानको समझकर मेरे भावको अर्थात् मेरा जो परमात्मभाव है, उसको प्राप्त करनेमे समर्थ होता है, अर्थात् मोक्ष-लाभ कर लेता है ॥१८॥

तत्र सप्तमे ईश्वरस्य द्वे प्रकृती उपन्यस्ते परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे। एतद्योनीनि भूतानि इति च उक्तम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिद्वय-योनित्वं कथं भूतानाम् इति अयम् अर्थः अधुना उच्यते—

सातवे अध्यायमे ईश्वरकी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप अपरा और परा दो प्रकृतियाँ बतलायी गयी हैं, तथा यह भी कहा गया है कि ये दोनो प्रकृतियॉ समस्त प्राणियोकी योनि (कारण) हैं। अब यह बात बतलायी जाती है कि वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप दोनों प्रकृतियॉ सब भूतोकी योनि किस प्रकार है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

प्रकृतिं पुरुषं च एव ईश्वरस्य प्रकृती तौ प्रकृतिपुरुषौ उभौ अपि अनादी विद्धि। न विद्यते आदिः ययोः तौ अनादी।

प्रकृति और पुरुष जो कि ईश्वरकी प्रकृतियॉ हैं, उन दोनोंको ही तू अनादि जान। जिनका आदि न हो उनका नाम अनादि है।

नित्येश्वरत्वाद् ईश्वरस्य तत्प्रकृत्योः अपि युक्तं नित्यत्वेन भवितुम्। प्रकृतिद्वयवत्त्वम् एव हि ईश्वरस्य ईश्वरत्वम्।

ईश्वरका ईश्वरत्व-नित्य होनेके कारण उसकी दोनों प्रकृतियोका भी नित्य होना उचित ही है, क्योंकि इन दोनो प्रकृतियोसे युक्त होना ही ईश्वरकी ईश्वरता है।

याभ्यां प्रकृतिभ्याम् ईश्वरो जगदुत्पत्ति-स्थितिप्रलयहेतुः ते द्वे अनादी सत्यौ संसारस्य कारणम्।

जिन दोनो प्रकृतियोद्वारा ईश्वर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण है, वे दोनो अनादि-सिद्ध ही संसारकी कारण हैं।

न आदी अनादी इति तत्पुरुषसमासं केचिद् वर्णयन्ति। तेन हि किल ईश्वरस्य कारणत्वं सिध्यति। यदि पुनः प्रकृतिपुरुषौ एव नित्यौ स्याताम् तत्कृतम् एव जगद् न ईश्वरस्य जगतः कर्तृत्वम्।

कोई-कोई टीकाकार 'जो आदि (कारण) नहीं है वे अनादि कहे जाते है, इस प्रकार यहॉ तत्पुरुष-समासका वर्णन करते है (और कहते हैं कि) इससे केवल ईश्वर ही जगत्का कारण है, यह बात सिद्ध होती है। यदि प्रकृति और पुरुषको नित्य माना जाय तो संसार उन्हींका रचा हुआ माना जायगा, ईश्वर जगत्का कर्ता सिद्ध न होगा।'

तद् असत्, प्राक् प्रकृतिपुरुषयोः उत्पत्तेः ईशितव्याभावाद् ईश्वरस्य अनीश्वरत्वप्रसङ्गात्।

किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि (यदि प्रकृति और पुरुषको नित्य न माने तो) प्रकृति और पुरुषकी उत्पत्तिसे पूर्व शासन करने योग्य वस्तुका अभाव होनेसे ईश्वरमें अनीश्वरताका प्रसङ्ग आ जाता है।

संसारस्य निर्निमित्तत्वे अनिर्मोक्षत्वप्रसङ्गात् शास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गाद् बन्धमोक्षाभावप्रसङ्गात् च ।

नित्यत्वे पुनः ईश्वरस्य प्रकृत्योः सर्वम् एतद् उपपन्नं भवेत् ।

कथम्—

विकारान् च गुणान् च एव वक्ष्यमाणान् विकारान् बुद्ध्यादिदेहेन्द्रियान् तान् गुणान् च सुखदुःखमोहप्रत्ययाकारपरिणतान् विद्धि जानीहि प्रकृतिसंभवान् ।

प्रकृतिः ईश्वरस्य विकारकारणशक्तिः त्रिगुणात्मिका माया सा संभवो येषां विकाराणां गुणानां च तान् विकारान् गुणान् च विद्धि प्रकृतिसंभवान् प्रकृतिपरिणामान् ॥ १९ ॥

तथा संसारको बिना निमित्तके उत्पन्न हुआ माननेसे उसके अन्तके अभावका प्रसङ्ग, शास्त्रकी व्यर्थताका प्रसङ्ग और बन्ध-मोक्षके अभावका प्रसङ्ग प्राप्त होता है, (इसलिये भी उपर्युक्त अर्थ ठीक नहीं है ।)

परन्तु ईश्वरकी इन दोनों प्रकृतियोंको नित्य मान लेनेसे यह सब व्यवस्था ठीक हो जाती है ।

कैसे ? (सो कहते हैं—)

विकारोंको और गुणोंको तू प्रकृतिसे उत्पन्न जान अर्थात् बुद्धिसे लेकर शरीर और इन्द्रियोंतक अगले श्लोकमे बतलाये हुए विकारोंको तथा सुख-दुःख और मोह आदि वृत्तियोंके रूपमें परिणत हुए तीनों गुणोको तू प्रकृतिसे उत्पन्न हुए जान ।

अभिप्राय यह है कि विकारोंकी कारणरूपा जो ईश्वरकी त्रिगुणमयी माया शक्ति है उसका नाम प्रकृति है । वह जिन विकारो और गुणोंको उत्पन्न करनेवाली है, उन विकारों और गुणोंको तू प्रकृति-जनित—प्रकृतिके ही परिणाम समझ ॥ १९ ॥

के पुनः ते विकारा गुणाः च प्रकृतिसंभवाः—

प्रकृतिसे उत्पन्न हुए वे विकार और गुण कौन-से हैं ?—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे कार्यं शरीरं करणानि तत्स्थानि त्रयोदश ।

देहस्य आरम्भकाणि भूतानि विषयाः च प्रकृतिसंभवा विकाराः पूर्वोक्ता इह कार्यग्रहणेन गृह्यन्ते, गुणाः च प्रकृतिसंभवाः सुखदुःखमोहात्मकाः करणाश्रयत्वात् करणग्रहणेन गृह्यन्ते ।

कार्य शरीरको कहते हैं, और उसमे स्थित (मन, बुद्धि, अहंकार तथा दश इन्द्रियाँ—ये) तेरह करण है । इनके कर्त्तापनमे (हेतु प्रकृति है) ।

शरीरको उत्पन्न करनेवाले पाँच भूत और शब्द आदि पाँच विषय ये पहले कहे हुए प्रकृतिजन्य दश विकार तो यहाँ कार्यके ग्रहणसे ग्रहण किये जाते हैं और सुख-दु.ख, मोह आदिके रूपमें परिणत हुए प्रकृतिजन्य समस्त गुण बुद्धि आदि करणोके आश्रित होनेके कारण करणोंके ग्रहणसे ग्रहण किये जाते है ।

तेषां कार्यकरणानां कर्तृत्वम् उत्पादकत्वं यत् तत् कार्यकरणकर्तृत्वं तस्मिन् कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः कारणम् आरम्भकत्वेन प्रकृतिः उच्यते । एवं कार्यकरणकर्तृत्वेन संसारस्य कारणं प्रकृतिः ।

कार्यकारणकर्तृत्वे इति अस्मिन् अपि पाठे कार्यं यद् यस्य विपरिणामः तत् तस्य कार्यं विकारो विकारि कारणं तयोः विकारविकारिणोः कार्यकारणयोः कर्तृत्वे इति ।

अथवा षोडश विकाराः कार्यम्, सप्त प्रकृतिविकृतयः कारणम्, तानि एव कार्यकारणानि उच्यन्ते । तेषां कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः उच्यते आरम्भकत्वेन एव ।

पुरुषः च संसारस्य कारणं यथा स्यात् तद् उच्यते—

पुरुषो जीवः क्षेत्रज्ञो भोक्ता इति पर्यायः सुखदुःखानां भोग्यानां भोक्तृत्वे उपलब्धृत्वे हेतुः उच्यते ।

कथं पुनः अनेन कार्यकरणकर्तृत्वेन सुखदुःखभोक्तृत्वेन च प्रकृतिपुरुषयोः संसारकारणत्वम् उच्यते इति ।

अत्र उच्यते । कार्यकरणसुखदुःखरूपेण हेतुफलात्मना प्रकृतेः परिणामाभावे पुरुषस्य चेतनस्य असति तदुपलब्धृत्वे कुतः संसारः स्यात् । यदा पुनः कार्यकरणरूपेण हेतुफलात्मना परिणतया प्रकृत्या भोग्यया पुरुषस्य तद्विपरीतस्य भोक्तृत्वेन अविद्यारूपः संयोगः स्यात् तदा संसारः स्याद् इति ।

'उन कार्य और करणोंका जो कर्तापन अर्थात् उनको उत्पन्न करनेका भाव है उसका नाम कार्य-करण-कर्तृत्व है, उन कार्य-करणोंके कर्तृत्वमें आरम्भ करनेवाली होनेसे प्रकृति कारण कही जाती है। इस प्रकार कार्य-करणोंको उत्पन्न करनेवाली होनेसे प्रकृति संसारकी कारण है।

'कार्यकारणकर्तृत्वे' ऐसा पाठ माननेसे भी यही अर्थ होगा कि जो जिसका परिणाम है, वह उसका कार्य अर्थात् विकार है, और कारण विकारी— विकृत होनेवाला—है। उन विकारी और विकाररूप कारण और कार्योंके उत्पन्न करनेमें (प्रकृति हेतु है)।

अथवा सोलह विकार तो कार्य और सात प्रकृति-विकृति कारण है, इस प्रकार ये (तेईस तत्त्व) ही कार्यकारणके नामसे कहे जाते हैं। इनके कर्तापनमें प्रारम्भकत्वसे ही प्रकृति हेतु कही जाती है।

पुरुष भी जिस प्रकार संसारका कारण होता है, सो कहा जाता है—

पुरुष अर्थात् जीव, क्षेत्रज्ञ, भोक्ता इत्यादि जिसके पर्याय शब्द हैं, वह सुख-दुःख आदि भोगोंके भोक्तापनमें अर्थात् उनका उपभोग करनेमें हेतु कहा जाता है।

पू०—परन्तु इस कार्य-करणके कर्तापनसे और सुख-दुःखके भोक्तापनसे प्रकृति और पुरुष दोनोंको संसारका कारण कैसे बतलाया जाता है ?

उ०—कार्य-करण और सुख-दुःखादिरूप हेतु और फलके आकारमें प्रकृतिका परिणाम न होनेपर तथा चेतन पुरुषमें उन सबका भोक्तापन न होनेसे संसार कैसे सिद्ध होगा। जब कार्य-करणरूप हेतु और फलके आकारमें परिणत हुई भोग्यरूपा प्रकृतिके साथ उससे विपरीत धर्मवाले पुरुषका, भोक्ता-भावसे अविद्यारूप संयोग होगा, तभी संसार (प्रतीत) होगा।

अतो यत् प्रकृतिपुरुषयोः कार्यकरणकर्तृत्वेन सुखदुःखभोक्तृत्वेन च संसारकारणत्वम् उक्तं तद् युक्तम् ।

कः पुनः अयं संसारो नाम,

सुखदुःखसंभोगः संसारः पुरुषस्य च सुखदुःखानां संभोक्तृत्वं संसारित्वम् इति ॥ २० ॥

इसलिये प्रकृतिके कार्य-करण-विषयक कर्तापन और पुरुषके सुख-दुःख-विषयक भोक्तापनको लेकर जो उन दोनोंका संसार-कारणत्व प्रतिपादन किया गया, वह उचित ही है ।

पू०—तो यह संसारनामक वस्तु क्या है ?

उ०—सुख-दुःखोंका भोग ही संसार है और पुरुषमें जो सुख-दुःखोंका भोक्तृत्व है, यही उसका संसारित्व है ॥ २० ॥

यत् पुरुषस्य सुखदुःखानां भोक्तृत्वं संसारित्वम् इति उक्तं तस्य तत् किंनिमित्तम् इति उच्यते—

यह जो कहा कि सुख-दुःखोंका भोक्तृत्व ही पुरुषका संसारित्व है, सो वह उसमें किस कारणसे है ? यह बतलाते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

पुरुषो भोक्ता प्रकृतिस्थः प्रकृतौ अविद्यालक्षणायां कार्यकरणरूपेण परिणतायां स्थितः प्रकृतिस्थः प्रकृतिम् आत्मत्वेन गत इति एतद् हि यस्मात् तस्माद् भुङ्क्ते उपलभते इत्यर्थः । प्रकृतिजान् प्रकृतितो जातान् सुखदुःखमोहाकाराभिव्यक्तान् गुणान् सुखी दुःखी मूढः पण्डितः अहम् इति एवम् ।

क्योंकि पुरुष—जीवात्मा प्रकृतिमें स्थित है अर्थात् कार्य और करणके रूपमें परिणत हुई अविद्यारूपा प्रकृतिमें स्थित है—प्रकृतिको अपना स्वरूप मानता है, इसलिये वह प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सुख दुःख और मोहरूपसे प्रकट गुणोंको 'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मूढ़ हूँ, पण्डित हूँ' इस प्रकार मानता हुआ भोगता है अर्थात् उनका उपभोग करता है ।

सत्याम् अपि अविद्यायां सुखदुःखमोहेषु गुणेषु भुज्यमानेषु यः सङ्ग आत्मभावः संसारस्य स प्रधानं कारणं जन्मनः *'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति'* (बृह० उ० ४।४।५) इत्यादिश्रुतेः ।

यद्यपि जन्मका कारण अविद्या है तो भी भोगे जाते हुए सुख-दुःख और मोहरूप गुणोंमें जो आसक्त हो जाना है—तद्रूप हो जाना है, वह जन्मरूप संसारका प्रधान कारण है । **'वह जैसी कामनावाला होता है वैसा ही कर्म करता है'** इस श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है ।

तद् एतद् आह कारणं हेतुः गुणसङ्गो गुणेषु सङ्गः अस्य पुरुषस्य भोक्तुः सदसद्योनिजन्मसु ।

इसी बातको भगवान् कहते हैं कि गुणोंका सङ्ग ही अर्थात् गुणोंमें जो आसक्ति है वही इस भोक्ता पुरुषके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है ।

सत्यः च असत्यः च योनयः सदसद्योनयः तासु सदसद्योनिषु जन्मानि सदसद्योनिजन्मानि तेषु सदसद्योनिजन्मसु विषयभूतेषु कारणं गुणसङ्गः ।

अच्छी और बुरी योनियोका नाम सदसत् योनि है, उनमे जन्मोका होना सदसद्योनिजन्म है, इन भोग्यरूप सदसद्योनि-जन्मोका कारण गुणोंका सङ्ग ही है ।

अथवा सदसद्योनिजन्मसु अस्य संसारस्य कारणं गुणसङ्ग इति संसारपदम् अध्याहार्यम् ।

अथवा संसार-पदका अध्याहार करके यह अर्थ कर लेना चाहिये कि अच्छी और बुरी योनियोमे जन्म लेकर गुणोंका सङ्ग करना ही इस संसारका कारण है ।

सद्योनयो देवादियोनयः असद्योनयः पश्वादियोनयः । सामर्थ्यात् सदसद्योनयो मनुष्ययोनयः अपि अविरुद्धा द्रष्टव्याः ।

देवादि योनियाँ सत् योनि है और पशु आदि योनियाँ असत् योनि है । प्रकरणकी सामर्थ्यसे मनुष्य-योनियोको भी सत्-असत् योनियाँ माननेमें (किसी प्रकारका) विरोध नहीं समझना चाहिये ।

एतद् उक्तं भवति प्रकृतिस्थत्वाख्या अविद्या गुणेषु स सङ्गः कामः संसारस्य कारणम् इति । तत् च परिवर्जनाय उच्यते ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिमे स्थित होनारूप अविद्या और गुणोका सङ्ग—आसक्ति ये ही दोनो ससारके कारण हैं, और वे छोड़नेके लिये ही बतलाये गये है ।

अस्य च निवृत्तिकारणं ज्ञानवैराग्ये स संन्यासे गीताशास्त्रे प्रसिद्धम् ।

गीताशास्त्रमे इनकी निवृत्तिके साधन संन्यासके सहित ज्ञान और वैराग्य प्रसिद्ध हैं ।

तत् च ज्ञानं पुरस्ताद् उपन्यस्तं क्षेत्रक्षेत्रज्ञविषयम् । '*यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते*' इति उक्तं च अन्यापोहेन अतद्धर्माध्यारोपेण च ॥ २१ ॥

वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विषयक ज्ञान पहले बतलाया ही गया है । साथ ही ('न सत्तन्नासदुच्यते' इत्यादि कथनसे) अन्यो (धर्मों) का निषेध करके और ('सर्वत. पाणिपादम्' इत्यादि कथनसे) अनात्म धर्मोंका अध्यारोप करके ज्ञेयके स्वरूपका भी '**यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते**' आदि वचनोसे प्रतिपादन किया गया है ॥२१॥

तस्य एव पुनः साक्षाद् निर्देशः क्रियते— ।

उसीका फिर साक्षात् निर्देश किया जाता है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

उपद्रष्टा समीपस्थः सन् द्रष्टा स्वयम् अव्यापृतो यथा ऋत्विग्यजमानेषु यज्ञकर्मव्यापृतेषु तटस्थः अन्यः अव्यापृतो यज्ञविद्याकुशल

(यह आत्मा) उपद्रष्टा है अर्थात् स्वयं क्रिया न करता हुआ पासमें स्थित होकर देखनेवाला है । जैसे कोई यज्ञविद्यामे कुशल अन्य पुरुष स्वयं यज्ञ न करता हुआ, यज्ञकर्ममे लगे हुए पुरोहित

ऋत्विग्यजमानव्यापारगुणदोषाणाम् ईक्षिता तद्वत् कार्यकरणव्यापारेषु अव्यापृतः अन्यो विलक्षणः तेषां कार्यकरणानां सव्यापाराणां सामीप्येन द्रष्टा उपद्रष्टा ।

अथवा देहचक्षुर्मनोबुद्ध्यात्मानो द्रष्टारः, तेषां बाह्यो द्रष्टा देहः, तत आरभ्य अन्तरतमः च प्रत्यक्समीप आत्मा द्रष्टा यतः परो अन्तरो न अस्ति द्रष्टा स अतिशयसामीप्येन द्रष्टृत्वाद् उपद्रष्टा स्यात् ।

यज्ञोपद्रष्टृवद् वा सर्वविषयीकरणाद् उपद्रष्टा ।

अनुमन्ता च अनुमोदनम् अनुमननं कुर्वत्सु तत्क्रियासु परितोषः तत्कर्ता अनुमन्ता च ।

अथवा अनुमन्ता कार्यकरणप्रवृत्तिषु स्वयम् अप्रवृत्तः अपि प्रवृत्त इव तदनुकूलो विभाव्यते तेन अनुमन्ता ।

अथवा प्रवृत्तान् स्वव्यापारेषु तत्साक्षिभूतः कदाचिद् अपि न निवारयति इति अनुमन्ता ।

भर्ता भरणं नाम देहेन्द्रियमनोबुद्धीनां संहतानां चैतन्यात्मपारार्थ्येन निमित्तभूतेन चैतन्याभासानां यत् स्वरूपधारणं तत् चैतन्यात्मकृतम् एव इति भर्ता आत्मा इति उच्यते ।

भोक्ता अग्न्युष्णवद् नित्यचैतन्यस्वरूपेण बुद्धेः सुखदुःखमोहात्मकाः प्रत्ययाः सर्वविषयविषयाः चैतन्यात्मग्रस्ता इव जायमाना विभक्ता विभाव्यन्ते इति भोक्ता आत्मा उच्यते ।

और यजमानोंद्वारा किये हुए कर्मसम्बन्धी गुण-दोषोंको तटस्थ-भावसे देखता है, उसी प्रकार कार्य और करणोंके व्यापारमें स्वयं न लगा हुआ उनसे अन्य-विलक्षण आत्मा उन व्यापारयुक्त कार्य और करणोंको समीपस्थ भावसे देखनेवाला है ।

अथवा देह, चक्षु, मन, बुद्धि और आत्मा—ये सभी द्रष्टा हैं, उनमें बाह्य द्रष्टा शरीर है, और उससे लेकर उन सबकी अपेक्षा अन्तरतम—समीपस्थ द्रष्टा अन्तरात्मा है । जिसकी अपेक्षा और कोई आन्तरिक द्रष्टा न हो, वह अतिशय सामीप्य भावसे देखनेवाला होनेके कारण उपद्रष्टा होता है (अतः आत्मा उपद्रष्टा है) ।

अथवा (यों समझो कि) यज्ञके उपद्रष्टाकी भाँति सबका अनुभव करनेवाला होनेसे आत्मा उपद्रष्टा है ।

तथा यह अनुमन्ता है—क्रिया करनेमें लगे हुए अन्तःकरण और इन्द्रियादिकी क्रियाओंमें सन्तोषरूप अनुमोदनका नाम अनुमनन है, उसका करनेवाला है ।

अथवा यह इसलिये अनुमन्ता है कि कार्यकरणकी प्रवृत्तिमें स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ भी उनके अनुकूल प्रवृत्त हुआ-सा दीखता है ।

अथवा अपने व्यापारमें लगे हुए अन्तःकरण और इन्द्रियादिको उनका साक्षी होकर भी कभी निवारण नहीं करता, इसलिये अनुमन्ता है ।

तथा यह भर्ता है, चैतन्यस्वरूप आत्माके भोग और अपवर्गकी सिद्धिके निमित्तसे संहत हुए चैतन्यके आभासरूप शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका स्वरूप धारण करना ही भरण है और वह चैतन्यरूप आत्माका ही किया हुआ है, इसलिये आत्माको भर्ता कहते हैं ।

आत्मा भोक्ता है । अग्निके उष्णत्वकी भाँति नित्य-चैतन्य आत्मसत्तासे समस्त विषयोंमें पृथक्-पृथक् होनेवाली जो बुद्धिकी सुख-दुःख और मोहरूप प्रतीतियाँ हैं, वे सब चैतन्य आत्माद्वारा ग्रस्त की हुई-सी दीखती हैं, अतः आत्माको भोक्ता कहा जाता है ।

महेश्वरः **सर्वात्मत्वात् स्वतन्त्रत्वात् च महान् ईश्वरः च इति महेश्वरः ।**

आत्मा महेश्वर है । वह सबका आत्मा होनेके कारण और स्वतन्त्र होनेके कारण महान् ईश्वर है, इसलिये महेश्वर है ।

परमात्मा **देहादीनां बुद्ध्यन्तानां प्रत्यगात्मत्वेन कल्पितानाम् अविद्यया परम उपद्रष्टृत्वादिलक्षण आत्मा इति परमात्मा ।**

वह परमात्मा है । अविद्याद्वारा प्रत्यक् आत्मारूप माने हुए जो शरीरसे लेकर बुद्धिपर्यन्त (आत्मशब्दवाच्य पदार्थ) हैं । उन सबसे उपद्रष्टा आदि लक्षणोंवाला आत्मा परम (श्रेष्ठ) है—इसलिये वह परमात्मा है ।

'सोऽन्तः परमात्मा' इति **अनेन शब्देन** च अपि उक्तः **कथितः श्रुतौ ।**

श्रुतिमें भी **'वह भीतर व्यापक परमात्मा है'** इन शब्दोंसे उसका वर्णन किया गया है ।

क्व असौ, अस्मिन् देहे पुरुषः परः **अव्यक्तात् ।** *'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'* **इति यो वक्ष्यमाणः** *'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'* **इति उपन्यस्तो व्याख्याय उपसंहृतः च ॥ २२ ॥**

ऐसा आत्मा कहाँ है; वह अव्यक्तसे पर पुरुष इसी शरीरमें है जो कि **'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'** इस प्रकार आगे कहा जायगा और जो **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'** इस प्रकार पहले कहा जा चुका है तथा जिसकी व्याख्या करके उपसंहार किया गया है ॥ २२ ॥

तम् एवं यथोक्तलक्षणम् आत्मानम्—

इस प्रकार उस उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त आत्माको—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

य एवं **यथोक्तप्रकारेण** वेत्ति पुरुषं **साक्षाद् अहम् इति** प्रकृतिं च **यथोक्ताम् अविद्यालक्षणां** गुणैः **स्वविकारैः** सह **निवर्तिताम् अभावम् आपादितां विद्या ।**

उस पुरुषको जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे अर्थात् साक्षात् आत्मभावसे कि 'यही मैं हूँ' इस प्रकार जानता है और उपर्युक्त अविद्यारूप प्रकृतिको भी, अपने विकाररूप गुणोंके सहित, विद्याद्वारा निवृत्त की हुई—अभावको प्राप्त की हुई जानता है ।

सर्वथा **सर्वप्रकारेण** वर्तमानः अपि स भूयः **पुनः पतिते अस्मिन् विद्वच्छरीरे देहान्तराय** न अभिजायते **न उत्पद्यते देहान्तरं न गृह्णाति इत्यर्थः ।**

वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी, इस विद्वत्-शरीरके नाश होनेपर फिर दूसरे शरीरमें जन्म नहीं लेता अर्थात् दूसरे शरीरको ग्रहण नहीं करता ।

अपिशब्दात् किमु वक्तव्यं स्ववृत्तस्थो न जायते इति अभिप्रायः ।

ननु यद्यपि ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं पुनर्जन्माभाव उक्तः तथापि प्राग् ज्ञानोत्पत्तेः कृतानां कर्मणाम् उत्तरकालभाविनां च यानि च अतिक्रान्तानेकजन्मकृतानि तेषां फलम् अदत्त्वा नाशो न युक्त इति स्युः त्रीणि जन्मानि ।

कृतविप्रणाशो हि न युक्त इति यथा फले प्रवृत्तानाम् आरब्धजन्मनां कर्मणाम् । न च कर्मणां विशेषः अवगम्यते । तस्मात् त्रिप्रकाराणि अपि कर्माणि त्रीणि जन्मानि आरभेरन् संहतानि वा सर्वाणि एकं जन्म आरभेरन् ।

अन्यथा कृतविनाशे सति सर्वत्र अनाश्वासप्रसङ्गः शास्त्रानर्थक्यं च स्याद् इति अत इदम् अयुक्तम् उक्तं न स भूयः अभिजायते इति ।

न, *'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'* (मु० उ० २।२।८) *'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'* (मु० उ० ३ । २ । ९) *'तस्य तावदेव चिरम्'* (छा० उ० ६।१४।२) *'इषीकातूलवत् सर्वाणि कर्माणि प्रदूयन्ते'* (छा० उ० ५ । २४ । ३) इत्यादिश्रुतिशतेभ्य उक्तो विदुषः सर्वकर्मदाहः ।

इह अपि च उक्तः *'यथैधांसि'* इत्यादिना सर्वकर्मदाहो वक्ष्यति च ।

उपपत्तेः च । अविद्याकामक्लेशबीजनिमित्तानि हि कर्माणि जन्मान्तराङ्कुरम् आरभन्ते ।

'अपि' शब्दसे यह अभिप्राय है कि अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुकूल बर्तनेवाला पुनः उत्पन्न नहीं होता, इसमें तो कहना ही क्या है ?

पू०—यद्यपि ज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् पुनर्जन्मका अभाव बतलाया गया है, तथापि ज्ञान उत्पन्न होनेसे पहले किये हुए, ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् किये जानेवाले और अनेक भूतपूर्व जन्मोंमें किये हुए जो कर्म है, फल प्रदान किये बिना उनका नाश मानना युक्तियुक्त नहीं है, अतः (ज्ञान प्राप्त होनेके बाद भी) तीन जन्म और होने चाहिये ।

अभिप्राय यह है कि सभी कर्म समान है, उनमे कोई भेद प्रतीत नहीं होता, अतः फल देनेके लिये प्रवृत्त हुए जन्मारम्भ करनेवाले प्रारब्ध कर्मोंके समान ही किये हुए अन्य कर्मोंका भी (बिना फल दिये) नाश (मानना) उचित नहीं, सुतरां तीनों प्रकारके कर्म तीन जन्मोंका आरम्भ करेंगे अथवा सब मिलकर एक जन्मका ही आरम्भ करेंगे (ऐसा मानना चाहिये) ।

नहीं तो किये हुए कर्मोंका (बिना फल दिये) नाश माननेसे, सर्वत्र अविश्वासका प्रसंग आ जायगा और शास्त्रकी व्यर्थता सिद्ध हो जायगी । अतः यह कहना कि 'वह फिर जन्म नहीं लेता' ठीक नहीं है ।

उ०—यह बात नहीं । क्योंकि **'इसके समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं' 'ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' 'उसके (मोक्षमें) तभीतककी देर है' 'अग्निमे तृणके अग्रभागकी भाँति उसके समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं'** इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंद्वारा विद्वान्‌के सब कर्मोंका दाह होना कहा गया है ।

यहाँ गीताशास्त्रमें भी **'यथैधांसि'** इत्यादि श्लोकमें समस्त कर्मोंका दाह कहा गया है और आगे भी कहेंगे ।

युक्तिसे भी यही बात सिद्ध होती है, क्योंकि अविद्या, कामना आदि क्लेशरूप बीजोंसे युक्त हुए ही कारणरूप कर्म अन्य जन्मरूप अंकुरका आरम्भ किया करते हैं ।

इह अपि च साहंकाराभिसंधीनि कर्माणि फलारम्भकाणि न इतराणि इति तत्र तत्र भगवता उक्तम् ।

यहाँ गीताशास्त्रमें भी भगवान्ने जगह-जगह कहा है कि अहंकार और फलाकांक्षायुक्त कर्म ही फलका आरम्भ करनेवाले होते हैं, अन्य नहीं ।

'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।

ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः'—इति च ।

तथा **'जैसे अग्निमें दग्ध हुए बीज फिर नहीं उगते, वैसे ही ज्ञानसे दग्ध हुए क्लेशोंद्वारा आत्मा पुनः शरीर ग्रहण नहीं करता'** ऐसा भी (शास्त्रोंका वचन है) ।

अस्तु तावद् ज्ञानोत्पत्त्युत्तरकालकृतानां कर्मणां ज्ञानेन दाहो ज्ञानसहभावित्वात् । न तु इह जन्मनि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक्कृतानाम् अतीतानेकजन्मान्तरकृतानां च दाहो युक्तः ।

पू०—ज्ञान होनेके पश्चात् किये हुए कर्मोंका ज्ञानद्वारा दाह हो सकता है, क्योंकि वे ज्ञानके साथ होते हैं । परन्तु इस जन्ममें ज्ञान उत्पन्न होनेसे पहले किये हुए और भूतपूर्व अनेक जन्मोंमें किये हुए कर्मोंका, ज्ञानद्वारा नाश मानना उचित नहीं ।

न, *'सर्वकर्माणि'* इति विशेषणात् ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि **'सारे कर्म (दग्ध हो जाते हैं)'** ऐसा विशेषण दिया गया है ।

ज्ञानोत्तरकालभाविनाम् एव सर्वकर्मणाम् इति चेत् ।

पू०—यदि ऐसा मानें कि, ज्ञानके पश्चात् होनेवाले सब कर्मोंका ही (ज्ञानद्वारा दाह होता है तो ?)

न, संकोचे कारणानुपपत्तेः । यत् तु उक्तं यथा वर्तमानजन्मारम्भकाणि कर्माणि न क्षीयन्ते फलदानाय प्रवृत्तानि एव सति अपि ज्ञाने, तथा अनारब्धफलानाम् अपि कर्मणां क्षयो न युक्त इति । तद् असत् ।

उ०—यह बात नहीं है । क्योंकि (इस प्रकारके) संकोचका (कोई) कारण नहीं सिद्ध होता । और तुमने जो कहा कि जैसे ज्ञान हो जानेपर भी, वर्तमान जन्मका आरम्भ करनेवाले, फल देनेके लिये प्रवृत्त हुए प्रारब्धकर्म नष्ट नहीं होते, वैसे ही जिनका फल आरम्भ नहीं हुआ है, उन कर्मोंका भी नाश (मानना) युक्तियुक्त नहीं है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं ।

कथम्, तेषां मुक्तेषुवत् प्रवृत्तफलत्वात् । यथा पूर्वं लक्ष्यवेधाय मुक्त इषुः धनुषो लक्ष्यवेधोत्तरकालम् अपि आरब्धवेगक्षयात् पतनेन एव निवर्तते एवं शरीरारम्भकं कर्म शरीरस्थितिप्रयोजने निवृत्ते अपि आसंस्कारवेगक्षयात् पूर्ववद् वर्तते एव ।

क्योंकि वे प्रारब्ध कर्म छोड़े हुए बाणकी भाँति फल देनेके लिये प्रवृत्त हो चुके हैं, इसलिये (उनका फल अवश्य होता है, पर अन्यका नहीं) । जैसे पहले लक्ष्यका वेध करनेके लिये धनुषसे छोड़ा हुआ बाण, लक्ष्य-वेध हो जानेके पश्चात् भी आरम्भ हुए वेगका नाश होनेपर गिरकर ही शान्त होता है, वैसे ही शरीरका आरम्भ करनेवाले प्रारब्ध कर्म भी, शरीर-स्थितिरूप प्रयोजनके निवृत्त हो जानेपर भी, जबतक संस्कारोंका वेग क्षय नहीं हो जाता, तबतक पहलेकी भाँति वर्तते ही रहते हैं ।

स एव इषुः प्रवृत्तिनिमित्तानारब्धवेगः तु अमुक्तो धनुषि प्रयुक्तः अपि उपसंह्रियते तथा अनारब्धफलानि कर्माणि स्वाश्रयस्थानि एव ज्ञानेन निर्वीजीक्रियन्ते ।

वही बाण, जिसका प्रवृत्तिके लिये वेग आरम्भ नहीं हुआ है—जो छोड़ा नहीं गया है, यदि धनुषपर चढ़ा भी लिया गया हो तो भी उसको रोका जा सकता है, वैसे ही जिन कर्मोंके फलका आरम्भ नहीं हुआ है, वे अपने आश्रयमें स्थित हुए ही ज्ञानद्वारा निर्बीज किये जा सकते हैं ।

इति पतिते अस्मिन् विद्वच्छरीरे 'न स भूयोऽभिजायते' इति युक्तम् एव उक्तम् इति सिद्धम् ॥ २३ ॥

अतः इस विद्वत्-शरीरके गिरनेके पीछे 'वह फिर उत्पन्न नहीं होता' यह कहना उचित ही है, यह बात सिद्ध हुई ॥ २३ ॥

अत्र आत्मदर्शने उपायविकल्पा इमे ध्यानादय उच्यन्ते—

यहाँ आत्मदर्शनके विषयमे ये ध्यान आदि भिन्न-भिन्न साधन विकल्पसे कहे जाते हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

ध्यानेन ध्यानं नाम शब्दादिभ्यो विषयेभ्यः श्रोत्रादीनि करणानि मनसि उपसंहृत्य मनः च प्रत्यक् चेतयितरि एकाग्रतया यत् चिन्तनं तद् ध्यानम् । तथा *'ध्यायतीव बकः' 'ध्यायतीव पृथिवी ध्यायन्तीव पर्वताः'* (छा० उ० ७ । ६ । १) इति उपमोपादानात् तैलधारावत् संततः अविच्छिन्नप्रत्ययो ध्यानं तेन ध्यानेन आत्मनि बुद्धौ पश्यन्ति आत्मानं प्रत्यक् चेतनम् आत्मना ध्यानसंस्कृतेन अन्तःकरणेन केचिद् योगिनः ।

शब्दादि विषयोंसे श्रोत्रादि इन्द्रियोंको हटाकर उनका मनमे निरोध करके और मनको अन्तरात्मामे (निरोध करके) जो एकाग्र-भावसे चिन्तन करते रहना है, उसका नाम ध्यान है । तथा **'जैसे बगुला ध्यान करता है' 'जैसे पृथिवी ध्यान करती है, जैसे पर्वत ध्यान करते हैं'** इत्यादि उपमा दी जानेके कारण तैलधाराकी भाँति निरन्तर अविच्छिन्न-भावसे चिन्तन करनेका नाम ध्यान है, उस ध्यानद्वारा कितने ही योगी लोग आत्मामे—बुद्धिमे, आत्माको यानी प्रत्यक्चेतनको आत्मासे—ध्यानाभ्यासद्वारा शुद्ध हुए अन्त.करणसे—देखते हैं ।

अन्ये साङ्ख्येन योगेन सांख्यं नाम—इमे सत्त्वरजस्तमांसि गुणा मया दृश्या अहं तेभ्यः अन्यः तद्व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षण आत्मा इति चिन्तनम् एष सांख्यो योगः तेन पश्यन्ति आत्मानम् आत्मना इति वर्तते ।

अन्य कई योगीजन साङ्ख्ययोगके द्वारा (देखते है)—'सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण मुझसे देखे जानेवाले है और मै उनसे भिन्न उनके व्यापारका साक्षी, उन गुणोंसे विलक्षण और नित्य (चेतन) आत्मा हूँ' इस प्रकारके चिन्तनका नाम साङ्ख्य है, यही योग है, ऐसे सांख्ययोगके द्वारा—'आत्मामे आत्माको देखते हैं' ।

कर्मयोगेन **कर्म एव योग ईश्वरार्पणबुद्ध्या अनुष्ठीयमानं घटनरूपं योगार्थत्वाद् योग उच्यते गुणतः तेन सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण** च अपरे ॥ २४ ॥

तथा अपर योगीजन कर्मयोगके द्वारा—ईश्वरार्पण-बुद्धिसे अनुष्ठान की हुई चेष्टाका नाम कर्म है, वही योगका साधन होनेके कारण गौणरूपसे योग कहा जाता है, उस कर्मयोगके द्वारा—अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानप्राप्तिके क्रमसे, (आत्मामें आत्माको देखते है) ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्ये तु **एषु विकल्पेषु अन्यतरेण अपि** एवं **यथोक्तम् आत्मानम्** अजानन्तः अन्येभ्य **आचार्येभ्यः** श्रुत्वा **इदम् एव चिन्तयत इति उक्ता** उपासते **श्रद्दधानाः सन्तः चिन्तयन्ति ।**

ते अपि च अतितरन्ति एव **अतिक्रामन्ति एव** मृत्युं **मृत्युयुक्तं संसारम् इति एतत् ।** श्रुतिपरायणाः **श्रुतिः श्रवणं परम् अयनं गमनं मोक्षमार्गप्रवृत्तौ परं साधनं येषां ते श्रुतिपरायणाः केवलपरोपदेशप्रमाणाः स्वयं विवेकरहिता इति अभिप्रायः ।**

किमु वक्तव्यं प्रमाणं प्रति स्वतन्त्रा विवेकिनो मृत्युम् अतितरन्ति इति अभिप्रायः ॥२५॥

अन्य कई एक साधकजन उपर्युक्त विकल्पोमेसे किसी एकके भी द्वारा पूर्वोक्त आत्मतत्त्वको न जानते हुए अन्य आचार्योंसे सुनकर—उनकी ऐसी आज्ञा पाकर कि 'तुम इसीका चिन्तन किया करो' उपासना करते है—श्रद्धापूर्वक चिन्तन करते है ।

वे केवल सुननेके परायण हुए पुरुष भी अर्थात् जिनके मतमे श्रवण करना ही मोक्षमार्गसम्बन्धी प्रवृत्तिमे परम आश्रय–गति, परम साधन है, ऐसे केवल अन्य आचार्योंके उपदेशको ही प्रमाण मानने वाले, स्वयं विवेकहीन श्रुतिपरायण पुरुष भी, मृत्युको यानी मृत्युयुक्त संसारको निःसन्देह पार कर जाते है ।

फिर प्रमाण करनेमे जो स्वतन्त्र है वे विवेकी पुरुष मृत्युयुक्त ससारसे तर जाते है, इसमे तो कहना ही क्या है ? यह अभिप्राय है ॥ २५ ॥

क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्वविषयं ज्ञानं मोक्षसाधनं *'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'* **इति उक्तम् तत् कस्माद् हेतोः इति तद्धेतुप्रदर्शनार्थं श्लोक आरभ्यते—**

क्षेत्रज्ञ और ईश्वरकी एकताविषयक ज्ञान मोक्षका साधन है, यह बात **'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'** इस वाक्यसे कही, परन्तु वह ज्ञान किस कारणसे मोक्षका सावन है ? उस कारणको दिखानेके लिये यह श्लोक आरम्भ किया जाता है—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

यावद् यत् किंचित् संजायते समुत्पद्यते सत्त्वं वस्तु किम् अविशेषेण इति आह स्थावरजङ्गमं स्थावरं जङ्गमं च क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् जायते इति एवं विद्धि जानीहि हे भरतर्षभ ।

कः पुनः अयं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संयोगः अभिप्रेतः। न तावद् रज्ज्वा इव घटस्य अवयवसंश्लेषद्वारकः संबन्धविशेषः संयोगः क्षेत्रेण क्षेत्रज्ञस्य संभवति आकाशवद् निरवयवत्वात् । न अपि समवायलक्षणः तन्तुपटयोः इव क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः इतरेतरकार्यकारणभावानभ्युपगमाद् इति ।

उच्यते, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विषयविषयिणोः भिन्नस्वभावयोः इतरेतरतद्धर्माध्यासलक्षणः संयोगः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपविवेकाभावनिबन्धनः। रज्जुशुक्तिकादीनां तद्विवेकज्ञानाभावाद् अध्यारोपितसर्परजतादिसंयोगवत् ।

सः अयम् अध्यासस्वरूपः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगो मिथ्याज्ञानलक्षणः।

यथाशास्त्रं क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणभेदपरिज्ञानपूर्वकं प्राग्दर्शितरूपात् क्षेत्राद् मुञ्जाद् इव इषीकां यथोक्तलक्षणं क्षेत्रज्ञं प्रविभज्य *'न सत्तन्नासदुच्यते'* इत्यनेन निरस्तसर्वोपाधिविशेषं ज्ञेयं ब्रह्मस्वरूपेण यः पश्यति ।

क्षेत्रं च मायानिर्मितहस्तिस्वप्नदृष्टवस्तु-

गन्धर्वनगरादिवद् असद् एव सद् इव

हे भरतश्रेष्ठ ! जो कुछ भी वस्तु उत्पन्न होती है, क्या यहाँ समानभावसे वस्तुमात्रका ग्रहण है ? इसपर कहते है कि जो कुछ स्थावर-जंगम यानी चर और अचर वस्तु उत्पन्न होती है, वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न होती है, इस प्रकार तू जान ।

पू०—इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे क्या अभिप्राय है ? क्योंकि क्षेत्रज्ञ, आकाशके समान अवयवरहित है इसलिये उसका क्षेत्रके साथ रस्सीसे घड़ेके सम्बन्धकी भाँति, अवयवोंके संसर्गसे होनेवाला सम्बन्धरूप संयोग नहीं हो सकता । वैसे ही आपसमे एक-दूसरेका कार्य-कारण-भाव न होनेसे सूत और कपड़ेकी भाँति, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका समवाय-सम्बन्धरूप संयोग भी नहीं बन सकता ।

उ०—बताया जाता है, (सुनो) । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, जो कि विषय और विषयी तथा भिन्न स्वभाववाले है, उनका, अन्यमे अन्यके धर्मोंका अध्यासरूप संयोग है, यह संयोग रज्जु और सीप आदिमें उनके स्वरूपसम्बन्धी ज्ञानके अभावसे अध्यारोपित सर्प और चाँदी आदिके संयोगकी भाँति, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके वास्तविक स्वरूपको न जाननेके कारण है ।

ऐसा यह अध्यासस्वरूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग मिथ्या ज्ञान है ।

जो पुरुष, शास्त्रोक्त रीतिसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके लक्षण और भेदको जानकर, पहले जिसका स्वरूप दिखलाया गया है, उस क्षेत्रसे मूँजमेसे सींक अलग करनेकी भाँति पूर्वोक्त लक्षणोसे युक्त क्षेत्रज्ञको अलग करके देखता है अर्थात् उस ज्ञेयस्वरूप क्षेत्रज्ञको **'न सत्तन्नासदुच्यते'** इस वाक्यानुसार समस्त उपाधिरूप विशेषताओसे अतीत ब्रह्मस्वरूपसे देख लेता है ।

तथा जो क्षेत्रको मायासे रचे हुए हाथी, स्वप्नमे देखी हुई वस्तु या गन्धर्वनगर आदिकी भाँति 'यह वास्तवमें नहीं है तो भी सत्‌की भाँति प्रतीत होता है', ऐसे

अवभासते इति एवं निश्चितविज्ञानो यः तस्य यथोक्तसम्यग्दर्शनविरोधाद् अपगच्छति मिथ्याज्ञानम् ।

तस्य जन्महेतोः अपगमात्; *'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह'* इत्यनेन विद्वान् भूयो न अभिजायते इति यद् उक्तं तद् उपपन्नम् उक्तम् ॥ २६ ॥

निश्चयपूर्वक जान लेता है उसका मिथ्याज्ञान उपर्युक्त यथार्थ ज्ञानसे विरुद्ध होनेके कारण नष्ट हो जाता है ।

पुनर्जन्मके कारणरूप उस मिथ्याज्ञानका अभाव हो जानेपर **'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह'** इस श्लोकसे जो यह कहा गया है कि 'विद्वान् पुनः उत्पन्न नहीं होता' सो युक्तियुक्त ही है ॥ २६ ॥

'न स भूयोऽभिजायते' इति सम्यग्दर्शनफलम् अविद्यादिसंसारबीजनिवृत्तिद्वारेण जन्माभाव उक्तः । जन्मकारणं च अविद्यानिमित्तकः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोग उक्तः । अतः तस्या अविद्याया निवर्तकं सम्यग्दर्शनम् उक्तम् अपि पुनः शब्दान्तरेण उच्यते—

'न स भूयोऽभिजायते' इस कथनसे पूर्णज्ञानका फल, अविद्या आदि संसारके बीजोंकी निवृत्तिद्वारा पुनर्जन्मका अभाव बतलाया गया, तथा अविद्याजनित क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगको जन्मका कारण बतलाया गया। इसलिये उस अविद्याको निवृत्ति करनेवाला पूर्ण ज्ञान, यद्यपि पहले कहा जा चुका है तो भी दूसरे शब्दोंमे फिर कहा जाता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

समं निर्विशेषं तिष्ठन्तं स्थितिं कुर्वन्तं क सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु प्राणिषु कं परमेश्वरं देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यव्यक्तात्मनः अपेक्ष्य परमेश्वरः तं सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तम् ।

तानि विशिनष्टि विनश्यत्सु इति । तं च परमेश्वरम् अविनश्यन्तम् इति भूतानां परमेश्वरस्य च अत्यन्तवैलक्षण्यप्रदर्शनार्थम् ।

कथम्—

सर्वेषां हि भावविकाराणां जनिलक्षणो भावविकारो मूलम्, जन्मोत्तरभाविनः अन्ये सर्वे भावविकारा विनाशान्ताः । विनाशात्परो न कश्चिद् अस्ति भावविकारो भावाभावात् । सति हि धर्मिणि धर्मा भवन्ति ।

(जो पुरुष) ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त प्राणियोंमे समभावसे स्थित—(व्याप्त) हुए परमेश्वरको अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अव्यक्त और आत्माकी अपेक्षा जो परम ईश्वर है, उस परमेश्वरको सब भूतोंमे समभावसे स्थित देखता है ।

यहाँ भूतोंसे परमेश्वरकी अत्यन्त विलक्षणता दिखलानेके निमित्त भूतोंके लिये विनाशशील और परमेश्वरके लिये अविनाशी विशेषण देते हैं ।

पू०—इससे परमेश्वरकी विलक्षणता कैसे सिद्ध होती है ।

उ०—सभी भाव-विकारोंका जन्मरूप, भाव-विकार मूल है । अन्य सब भाव-विकार जन्मके पीछे होनेवाले और विनाशमे समाप्त होनेवाले है । भावका अभाव हो जानेके कारण विनाशके पश्चात् कोई भी भाव-विकार नहीं रहता, क्योंकि धर्मीके रहते ही धर्म रहते हैं ।

अतः अन्त्यभावविकाराभावानुवादेन पूर्वभाविनः सर्वे भावविकाराः प्रतिषिद्धा भवन्ति सह कार्यैः।

इसलिये अन्तिम भाव-विकारके अभावका ('अविनश्यन्तम्' इस पदके द्वारा) अनुवाद करनेसे पहले होनेवाले, सभी भाव-विकारोंका कार्यके सहित, प्रतिषेध हो जाता है।

तस्मात् सर्वभूतैः वैलक्षण्यम् अत्यन्तम् एव परमेश्वरस्य सिद्धं निर्विशेषत्वम् एकत्वं च। य एवं यथोक्तम् परमेश्वरं पश्यति स पश्यति।

सुतरां (उपर्युक्त वर्णनसे) परमेश्वरकी सब भूतोंसे अत्यन्त ही विलक्षणता तथा निर्विशेषता और एकता भी सिद्ध होती है। अतः जो इस प्रकार उपर्युक्त भावसे परमेश्वरको देखता है वही देखता है।

ननु सर्वः अपि लोकः पश्यति किं विशेषणेन इति।

पू०—सभी लोग देखते है फिर 'वही देखता है' इस विशेषणसे क्या प्रयोजन है ?

सत्यं पश्यति किं तु विपरीतं पश्यति अतो विशिनष्टि स एव पश्यति इति।

उ०—ठीक है, (अन्य सब भी) देखते है परन्तु विपरीत देखते हैं, इसलिये यह विशेषण दिया गया है कि वही देखता है।

यथा तिमिरदृष्टिःअनेकं चन्द्रं पश्यति तम् अपेक्ष्य एकचन्द्रदर्शी विशिष्यते स एव पश्यति इति, तथा एव इह अपि एकम् अविभक्तं यथोक्तम् आत्मानं यः पश्यति स विभक्तानेकात्मविपरीतदर्शिभ्यो विशिष्यते, स एव पश्यति इति।

जैसे कोई तिमिर-रोगसे दूषित हुई दृष्टिवाला अनेक चन्द्रमाओंको देखता है, उसकी अपेक्षा एक चन्द्र देखनेवालेकी यह विशेषता बतलायी जाती है कि वही ठीक देखता है। वैसे ही यहाँ भी जो आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे विभागरहित एक देखता है, उसकी अलग-अलग अनेक आत्मा देखनेवाले विपरीतदर्शियोंकी अपेक्षा यह विशेषता बतलायी जाती है कि वही ठीक-ठीक देखता है।

इतरे पश्यन्तः अपि न पश्यन्ति विपरीतदर्शित्वाद् अनेकचन्द्रदर्शिवद् इत्यर्थः ॥२७॥

अभिप्राय यह है कि दूसरे सब अनेक चन्द्र देखनेवालेकी भाँति विपरीत भावसे देखनेवाले होनेके कारण, देखते हुए भी वास्तवमे नहीं देखते ॥ २७ ॥

यथोक्तस्य सम्यग्दर्शनस्य फलवचनेन स्तुतिः कर्तव्या इति श्लोक आरभ्यते—

उपर्युक्त यथार्थ ज्ञानका फल बतलाकर उसकी स्तुति करनी चाहिये। इसलिये यह श्लोक आरम्भ किया जाता है—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

समं पश्यन् उपलभमानो हि यस्मात् सर्वत्र सर्वभूतेषु समवस्थितं तुल्यतया अवस्थितम् ईश्वरम् अतीतानन्तरश्लोकोक्तलक्षणम् इत्यर्थः । समं पश्यन् किं न हिनस्ति हिंसां न करोति आत्मना स्वेन एव स्वम् आत्मानं ततः तद् अहिंसनाद् याति परां प्रकृष्टां गतिं मोक्षाख्याम् ।

ननु न एव कश्चित् प्राणी स्वयं स्वम् आत्मानं हिनस्ति कथम् उच्यते अप्राप्तं न हिनस्ति इति । यथा न पृथिव्याम् अग्निः चेतव्यो न अन्तरिक्षे इत्यादि ।

न एष दोषः अज्ञानाम् आत्मतिरस्करणोपपत्तेः । सर्वो हि अज्ञः अत्यन्तप्रसिद्धं साक्षाद् अपरोक्षाद् आत्मानं तिरस्कृत्य अनात्मानम् आत्मत्वेन परिगृह्य तम् अपि धर्माधर्मौ कृत्वा उपात्तम् आत्मानं हत्वा, अन्यम् आत्मानम् उपादत्ते नवम्, तं च एवं हत्वा अन्यम्, एवं तम् अपि हत्वा अन्यम् इति एवम् उपात्तम् उपात्तम् आत्मानं हन्ति इति आत्महा सर्वः अज्ञः ।

यः तु परमार्थात्मा असौ अपि सर्वदा अविद्यया हत इव विद्यमानफलाभावाद् इति सर्वे आत्महन एव अविद्वांसः ।

यः तु इतरो यथोक्तात्मदर्शी स उभयथा अपि आत्मना आत्मानं न हिनस्ति ततो याति परां गतिं यथोक्तं फलं तस्य भवति इत्यर्थः ॥ २८ ॥

क्योंकि सर्वत्र— सब भूतोंमें समभावसे स्थित हुए ईश्वरको अर्थात् ऊपरके श्लोकमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उस (परमेश्वर) को सर्वत्र समान भावसे देखनेवाला पुरुष स्वयं—अपने आप अपनी हिंसा नहीं करता, इसलिये अर्थात् अपनी हिंसा न करनेके कारण वह मोक्षरूप परम उत्तम गतिको प्राप्त होता है ।

पू०—कोई भी प्राणी स्वयं अपनी हिंसा नहीं करता फिर यह अप्राप्तका निषेध क्यों किया जाता है कि 'वह अपनी हिंसा नहीं करता; जैसे कोई कहे कि 'पृथ्वीपर और अन्तरिक्षमें अग्नि नहीं जलानी चाहिये * ।'

उ०—यह दोष नहीं है । क्योंकि अज्ञानियोंसे स्वयं अपना तिरस्कार करना बन सकता है । सभी अज्ञानी अत्यन्त प्रसिद्ध साक्षात्—प्रत्यक्ष आत्माका तिरस्कार करके अनात्मा शरीरादिको आत्मा मानकर, फिर धर्म और अधर्मका आचरण कर, उस प्राप्त किये हुए (शरीररूप) आत्माका नाश करके दूसरे नये (शरीररूप) आत्माको प्राप्त करते हैं । फिर उसका भी इसी प्रकार नाश करके अन्यको और उसका भी वैसे ही नाश करके (पुनः) अन्यको पाते रहते हैं । इस प्रकार बारबार शरीररूप आत्माको प्राप्त करके उसकी हिंसा करते जाते हैं, अतः सभी अज्ञानी आत्महत्यारे हैं ।

जो वास्तवमें आत्मा है वह भी अविद्याद्वारा (अज्ञात होनेके कारण) सदा मारा हुआ-सा ही रहता है, क्योंकि उनके लिये उसका विद्यमान फल भी नहीं होता । सुतरां सभी अविद्वान् आत्माकी हिंसा करनेवाले ही हैं ।

परन्तु जो इनसे अन्य उपर्युक्त आत्मस्वरूपको जाननेवाला है, वह दोनों प्रकारसे ही अपनेद्वारा अपना नाश नहीं करता है । इसलिये वह परमगति प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसे पहले बताया हुआ (परम गतिरूप) फल प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

* यहाँ पृथ्वीपर अग्नि जलानेका निषेध करना तो इसलिये अयुक्त है कि यदि पृथ्वीपर अग्नि न जलायी जाय तो कहाँ जलायी जाय ? और अन्तरिक्षमें जलानेका निषेध इसलिये ठीक नहीं कि वहाँ तो वह जलायी ही नहीं जा सकती ।

सर्वभूतस्थम् ईशं समं पश्यन् न हिनस्ति आत्मना आत्मानम् इति उक्तं तद् अनुपपन्नं स्वगुणकर्मवैलक्षण्यभेदभिन्नेषु आत्मसु इति एतद् आशङ्क्य आह—

यह जो कहा कि, ईश्वरको सब भूतोंमें सम भावसे स्थित देखता हुआ पुरुष, आत्माद्वारा आत्माका नाश नहीं करता, यह युक्ति सङ्गत नहीं है; क्योंकि अपने गुण और कर्मोंकी विलक्षणतासे विभिन्न हुए जीवोंमें इस प्रकार देखना नहीं बन सकता, ऐसी शंका करके कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

प्रकृत्या प्रकृतिः भगवतो माया त्रिगुणात्मिका, *'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'* (श्वे० उ० ४ । १०) इति मन्त्रवर्णात् तया प्रकृत्या एव च न अन्येन महदादिकार्यकरणाकारपरिणतया कर्माणि वाङ्मनःकायारभ्याणि क्रियमाणानि निर्वर्त्यमानानि सर्वशः सर्वप्रकारैः यः पश्यति उपलभते ।

तथा आत्मानं क्षेत्रज्ञम् अकर्तारं सर्वोपाधिविवर्जितं पश्यति स परमार्थदर्शी इति अभिप्रायः । निर्गुणस्य अकर्तुः निर्विशेषस्य आकाशस्य इव भेदे प्रमाणानुपपत्तिः इत्यर्थः ॥ २९ ॥

'मायाको प्रकृति समझना चाहिये' इत्यादि मन्त्रोंके अनुसार भगवान्‌की त्रिगुणात्मिका मायाका नाम प्रकृति है, जो कि महत्तत्त्व आदि कार्य-करणके आकारमें परिणत है; उस प्रकृतिद्वारा ही मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले सारे कर्म, सब प्रकारसे सम्पादन किये जाते हैं; अन्य किसीसे नहीं, इस प्रकार जो देखता है ।

तथा आत्माको—क्षेत्रज्ञको जो समस्त उपाधियोंसे रहित अकर्ता देखता है, वही देखता है अर्थात् वही परमार्थदर्शी है, क्योंकि आकाशकी भाँति निर्गुण और विशेषतारहित अकर्ता आत्मामें, भेदभावका होना प्रमाणित नहीं हो सकता । यह अभिप्राय है ॥ २९ ॥

पुनरपि तद् एव सम्यग्दर्शनं शब्दान्तरेण प्रपञ्चयति—

फिर भी, उसी यथार्थ ज्ञानकी दूसरे शब्दोंसे व्याख्या करते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

यदा यस्मिन् काले भूतपृथग्भावं भूतानां पृथग्भावं पृथक्त्वम् एकस्थम् एकस्मिन् आत्मनि स्थितम् एकस्थम् अनुपश्यति शास्त्राचार्योपदेशतो मत्वा आत्मप्रत्यक्षत्वेन पश्यति *'आत्मैवेदं सर्वम्'* (छा० उ० ७ । २५ । २) इति ।

जिस समय (यह विद्वान्) भूतोंके अलग-अलग भावोंको—भूतोंकी पृथक्ताको, एक आत्मामें ही स्थित देखता है अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे मनन करके आत्माको इस प्रकार प्रत्यक्षभावसे देखता है कि **'यह सब कुछ आत्मा ही है ।'**

तत एव च **तस्माद् एव च** विस्तारम् **उत्पत्तिं विकासम्** *'आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नम्'* *(छा० उ० ७ । २६ । १)* **इति एवम् आदिप्रकारैः विस्तारं यदा पश्यति** ब्रह्म संपद्यते **ब्रह्म एव भवति** तदा **तस्मिन् काले इत्यर्थः** ।। ३० ।।

तथा उस आत्मासे ही सारा विस्तार—सबकी उत्पत्ति–विकास देखता है अर्थात् जिस समय **'आत्मासे ही प्राण, आत्मासे ही आशा, आत्मासे ही संकल्प, आत्मासे ही आकाश, आत्मासे ही तेज, आत्मासे ही जल, आत्मासे ही अन्न, आत्मासे ही सबका प्रकट और लीन होना'** इत्यादि प्रकारसे सारा विस्तार आत्मासे ही हुआ देखने लगता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—ब्रह्मरूप ही हो जाता है ।। ३० ।।

एकस्य आत्मनः सर्वदेहात्मत्वे तद्दोषसंबन्धे प्राप्ते इदम् उच्यते—

एक ही आत्मा सब शरीरोंका आत्मा माना जानेसे, उसका उन सबके दोषोंसे सम्बन्ध होगा, ऐसी शंका होनेपर यह कहा जाता है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।। ३१ ।।

अनादित्वाद् **अनादेः भावः अनादित्वम् आदिः कारणं तद् यस्य न अस्ति तद् अनादि । यद् हि आदिमत् तत् स्वेन आत्मना व्येति अयं तु अनादित्वाद् निरवयव इति कृत्वा न व्येति ।**

तथा निर्गुणत्वात् **सगुणो हि गुणव्ययाद् व्येति अयं तु निर्गुणत्वाद् न व्येति इति** परमात्मा अयम् अव्ययो **न अस्य व्ययो विद्यते इति अव्ययः ।**

यत एवम् अतः शरीरस्थः अपि **शरीरेषु आत्मन उपलब्धिः भवति इति शरीरस्थ उच्यते तथा** न करोति । **तदकरणाद् एव तत्फलेन** न लिप्यते ।

आदि कारणको कहते हैं, जिसका कोई कारण न हो, उसका नाम अनादि है और अनादिके भावका नाम अनादित्व है, यह परमात्मा अनादि होनेके कारण अव्यय है; क्योंकि जो वस्तु आदिमान् होती है, वही अपने स्वरूपसे क्षीण होती है । किन्तु यह परमात्मा अनादि है, इसलिये अवयवरहित है । अतः इसका क्षय नहीं होता ।

तथा निर्गुण होनेके कारण भी यह अव्यय है; क्योंकि जो वस्तु गुणयुक्त होती है, उसका गुणोंके क्षयसे क्षय होता है । परन्तु यह (आत्मा) गुणरहित है, अतः इसका क्षय नहीं होता । सुतरां यह परमात्मा अव्यय है, अर्थात् इसका व्यय नहीं होता ।

ऐसा होनेके कारण यह आत्मा शरीरमें स्थित हुआ भी—शरीरमे रहता हुआ भी कुछ नहीं करता है, तथा कुछ न करनेके कारण ही उसके फलसे भी लिप्त नहीं होता है । आत्माकी शरीरमे प्रतीति होती है, इसलिये शरीरमे स्थित कहा जाता है ।

यो हि कर्ता स कर्मफलेन लिप्यते अयं तु अकर्ता अतो न फलेन लिप्यते इत्यर्थः ।

कः पुनः देहेषु करोति लिप्यते च, यदि तावद् अन्यः परमात्मनो देही करोति लिप्यते च तत इदम् अनुपपन्नम् उक्तं क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्वम् *'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'* इत्यादि ।

अथ न अस्ति ईश्वराद् अन्यो देही कः करोति लिप्यते च इति वाच्यं परो वा नास्ति इति ।

सर्वथा दुर्विज्ञेयं दुर्वाच्यं च इति भगवत्-प्रोक्तम् औपनिषदं दर्शनं परित्यक्तं वैशेषिकैः सांख्यार्हतबौद्धैः च ।

तत्र अयं परिहारो भगवता स्वेन एव उक्तः *स्वभावस्तु प्रवर्तते* इति । अविद्यामात्रस्वभावो हि करोति लिप्यते इति व्यवहारो भवति न तु परमार्थत एकस्मिन् परमात्मनि तद् अस्ति ।

अत एतस्मिन् परमार्थसांख्यदर्शने स्थितानां ज्ञाननिष्ठानां परमहंसपरिव्राजकानां तिरस्कृताविद्याव्यवहाराणां कर्माधिकारो न अस्ति इति तत्र तत्र दर्शितं भगवता ॥ ३१ ॥

क्योंकि जो कर्ता होता है वही कर्मोंके फलसे लिप्त होता है । परन्तु यह अकर्ता है, इसलिये फलसे लिप्त नहीं होता, यह अभिप्राय है ।

पू०—तो फिर शरीरोंमें ऐसा कौन है जो कर्म करता है और उसके फलसे लिप्त होता है ? यदि यह मान लिया जाय कि, परमात्मासे भिन्न कोई शरीरी कर्म करता है और उसके फलसे लिप्त होता है तब तो **'क्षेत्रज्ञ भी तू मुझे ही जान'** इस प्रकार जो क्षेत्रज्ञ और ईश्वरकी एकता कही है, वह अयुक्त ठहरेगी ।

यदि यह माना जाय कि ईश्वरसे पृथक् अन्य कोई शरीरी नहीं है तो यह बतलाना चाहिये फिर कौन करता और लिप्त होता है ? अथवा यह कह देना चाहिये कि (इन सबसे) पर कोई ईश्वर ही नहीं है ।

(बात तो यह है कि) भगवान्‌द्वारा कहा हुआ यह उपनिषद् रूप दर्शन सर्वथा दुर्विज्ञेय और दुर्वाच्य है, इसीलिये वैशेषिक, सांख्य, जैन और बौद्ध-मतावलम्बियोंद्वारा यह छोड़ दिया गया है ।

उ०—इसका उत्तर **'स्वभाव ही बर्तता है'** ऐसा कहकर भगवान्‌ने स्वयं ही दे दिया है; क्योंकि अविद्यामात्र स्वभाववाला ही करता है, और लिप्त होता है, इसीसे यह व्यवहार चल रहा है । वास्तवमें अद्वितीय परमात्मामें वे ('कर्तापन' और 'लिप्त होना' आदि) नहीं हैं ।

सुतरां इस वास्तविक ज्ञानदर्शनमें स्थित हुए ज्ञाननिष्ठ, परमहंस परिव्राजक संन्यासियोंका जिन्होंने अविद्याकृत समस्त व्यवहारका तिरस्कार कर दिया है, कर्मोंमें अधिकार नहीं है—यह बात जगह-जगह भगवान्‌द्वारा दिखलायी गयी है ॥ ३१ ॥

किम् इव न करोति न लिप्यते इति अत्र दृष्टान्तम् आह—

परमात्मा किसकी भाँति न करता है और न लिप्त होता है ? इसपर यहाँ दृष्टान्त कहते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा सर्वगतं **व्यापि अपि सत्** सौक्ष्म्यात् **सूक्ष्मभावाद्** आकाशं **खं न** उपलिप्यते **न संबध्यते** सर्वत्र अवस्थितो देहे तथा आत्मा न उपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जैसे आकाश, सर्वत्र व्याप्त हुआ भी सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता—सम्बन्धयुक्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी शरीरमें सर्वत्र स्थित रहता हुआ भी (उसके गुण-दोषोंसे) लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

किं च—

तथा—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

यथा प्रकाशयति **अवभासयति** एकः कृत्स्नं लोकम् इमं रवि. **सविता आदित्यः** तथा **तद्वद् महाभूतादिधृत्यन्तं** क्षेत्रम् **एकः सन्** प्रकाशयति **कः** क्षेत्री **परमात्मा इत्यर्थः** ।

रविदृष्टान्तः अत्र आत्मन उभयार्थः अपि भवति रविवत् सर्वक्षेत्रेषु एक आत्मा अलेपकः च इति ॥ ३३ ॥

जैसे एक ही सूर्य इस समस्त लोकको प्रकाशित करता है, वैसे ही, महाभूतोंसे लेकर धृति-पर्यन्त बतलाये हुए समस्त क्षेत्रको वह एक होते हुए भी प्रकाशित करता है । कौन करता है ? क्षेत्रज्ञ—परमात्मा ।

यहाँ आत्मामें सूर्यका दृष्टान्त दोनों प्रकारसे ही घटता है, आत्मा सूर्यकी भाँति समस्त शरीरोंमें एक है और अलिप्त भी है ॥ ३३ ॥

समस्ताध्यायार्थोपसंहारार्थः अयं श्लोकः—

सारे अध्यायके अर्थका उपसंहार करनेके लिये यह श्लोक (कहा जाता है)—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो. **यथाव्याख्यातयोः** एवं **यथा-प्रदर्शितप्रकारेण** अन्तरम् **इतरेतरवैलक्षण्यविशेषं** ज्ञानचक्षुषा **शास्त्राचार्योपदेशजनितम् आत्म-प्रत्ययिकज्ञानं चक्षुः तेन ज्ञानचक्षुषा** भूतप्रकृति-मोक्षं च **भूतानां प्रकृतिः अविद्यालक्षणा अव्यक्ताख्या तस्या भूतप्रकृतेः मोक्षणम् अभावगमनं च** ये विदु **विजानन्ति** यान्ति **गच्छन्ति** ते परं **परमार्थतत्त्वं ब्रह्म न पुनः देहम् आददते इत्यर्थः** ॥ ३४ ॥

जो पुरुष शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञाननेत्रोंद्वारा, पहले बतलाये हुए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तरको,—उनकी पारस्परिक विलक्षणताको, इस पूर्वदर्शित प्रकारसे जान लेते हैं, और वैसे ही अव्यक्त नामक अविद्यारूप भूतोंकी प्रकृतिके मोक्षको, यानी उसका अभाव कर देनेको भी जानते हैं, वे परमार्थतत्त्वस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं, पुनर्जन्म नहीं पाते ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

ॐ

चतुर्दशोऽध्यायः

सर्वम् उत्पद्यमानं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगाद् उत्पद्यते इति उक्तं तत् कथम् इति तत्प्रदर्शनार्थं 'परं भूयः' इत्यादिः अध्याय आरभ्यते ।

अथवा ईश्वरपरतन्त्रयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः जगत्कारणत्वं न तु सांख्यानाम् इव स्वतन्त्रयोः इति एवम् अर्थम् ।

प्रकृतिस्थत्वं गुणेषु च सङ्गः संसारकारणम् इति उक्तं कस्मिन् गुणे कथं सङ्गः के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्ति इति गुणेभ्यः च मोक्षणं कथं स्याद् मुक्तस्य च लक्षणं वक्तव्यम् इति एवम् अर्थं च—

उत्पन्न होनेवाली सभी वस्तुएँ, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होती है, यह बात कही गयी । सो वह किस प्रकारसे (उत्पन्न होती हैं ?) यह दिखलानेके लिये 'परं भूयः' इत्यादि श्लोकोंवाले चतुर्दश अध्यायका आरम्भ किया जाता है ।

अथवा ईश्वरके अधीन रहकर ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जगत्के कारण हैं, सांख्यवादियोंके मतानुसार स्वतन्त्रतासे नहीं । यह बात दिखलानेके लिये (यह अध्याय आरम्भ किया जाता है) ।

तथा जो यह कहा कि प्रकृतिमें स्थित होना और गुणविषयक आसक्ति—यही संसारका कारण है, सो किस गुणमें किस प्रकारसे आसक्ति होती है ? गुण कौन-से है ? वे कैसे बाँधते हैं ? गुणोंसे छुटकारा कैसे होता है ? तथा मुक्तका लक्षण क्या है ? यह सब बातें बतलानेके लिये भी इस अध्यायका आरम्भ किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

परं ज्ञानम् इति व्यवहितेन सम्बन्धः ।

भूयः पुनः पूर्वेषु सर्वेषु अध्यायेषु असकृद् उक्तम् अपि प्रवक्ष्यामि । तत् च परं परवस्तुविषयत्वात्, किं तत्, ज्ञानं सर्वेषां ज्ञानानाम् उत्तमम् उत्तमफलत्वात् ।

'परम्' इस पदका दूरस्थ 'ज्ञानम्' पदके साथ सम्बन्ध है ।

समस्त ज्ञानोंमें उत्तम परम ज्ञानको अर्थात् जो पर-वस्तुविषयक होनेसे परम है और उत्तम फलयुक्त होनेके कारण समस्त ज्ञानोंमें उत्तम है, उस परम उत्तम ज्ञानको, यद्यपि पहलेके सब अध्यायोंमें बार-बार कह आया हूँ, तो भी फिर भली प्रकार कहूँगा ।

ज्ञानानाम् इति न अमानित्वादीनां किं तर्हि यज्ञादिज्ञेयवस्तुविषयाणाम् इति ।

यहाँ 'ज्ञानोमेसे' इस शब्दसे अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंका ग्रहण नहीं है। किन्तु यज्ञादि ज्ञेय-वस्तुविषयक ज्ञानोका ग्रहण है ।

तानि न मोक्षाय इदं तु मोक्षाय इति परोत्तमशब्दाभ्यां स्तौति श्रोतृबुद्धिरुच्युत्पादनार्थम् ।

वे यज्ञादि विषयक ज्ञान मोक्षके लिये उपयुक्त नहीं है और यह (जो इस अध्यायमे बतलाया जाता है वह) मोक्षके लिये उपयुक्त है, इसलिये 'परम' और 'उत्तम' इन दोनो शब्दोसे श्रोताकी बुद्धिमे रुचि उत्पन्न करनेके लिये इसकी स्तुति करते हैं।

यद् ज्ञात्वा यद् ज्ञानम् ज्ञात्वा प्राप्य मुनयः संन्यासिनो मननशीलाः सर्वे परां सिद्धिं मोक्षाख्याम् इतः अस्माद् देहबन्धनाद् ऊर्ध्वं गताः प्राप्ताः ॥ १ ॥

जिस ज्ञानको जानकर–पाकर सब मननशील संन्यासीजन इस देहबन्धनसे मुक्त होनेके बाद मोक्षरूप परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, (ऐसा परम ज्ञान कहूँगा) ॥ १ ॥

अस्याः च सिद्धेः ऐकान्तिकत्वं दर्शयति—

इस (ज्ञानद्वारा प्राप्त हुई) सिद्धिकी अव्यभिचारिता–नित्यता दिखलाते हैं—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इदं ज्ञानं यथोक्तम् उपाश्रित्य ज्ञानसाधनम् अनुष्ठाय इति एतत् । मम परमेश्वरस्य साधर्म्यं मत्स्वरूपताम् आगताः प्राप्ता इत्यर्थो न तु समानधर्मतां साधर्म्यं क्षेत्रज्ञेश्वरयोः भेदानभ्युपगमाद् गीताशास्त्रे । फलवादः च अयं स्तुत्यर्थम् उच्यते । सर्गे अपि सृष्टिकाले अपि न उपजायन्ते न उत्पद्यन्ते प्रलये ब्रह्मणः अपि विनाशकाले न व्यथन्ति च व्यथां न आपद्यन्ते न च्यवन्ति इत्यर्थः ॥ २ ॥

इस उपर्युक्त ज्ञानका भलीभाँति आश्रय लेकर, अर्थात् ज्ञानके साधनोंका अनुष्ठान करके, मुझ परमेश्वरकी समानताको–मेरे साथ एकरूपताको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके उत्पत्तिकालमे भी, फिर उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें–ब्रह्माके विनाशकालमे भी व्यथाको प्राप्त नहीं होते, अर्थात् गिरते नहीं । यह फलका वर्णन ज्ञानकी स्तुतिके लिये किया गया है। यहाँ 'साधर्म्य' का अर्थ 'समानधर्मता' नहीं है, क्योंकि गीताशास्त्रमें क्षेत्रज्ञ और ईश्वरका भेद स्वीकार नहीं किया गया ॥ २ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोग ईदृशो भूतकारणम् इति आह—

अब यह बतलाते हैं कि इस प्रकारका क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग भूतोंका कारण है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

मम स्वभूता मदीया माया त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः योनिः सर्वभूतानां सर्वकार्येभ्यो महत्त्वाद् भरणात् च स्वविकाराणां महद् ब्रह्म इति योनिः एव विशिष्यते ।

तस्मिन् महति ब्रह्मणि योनौ गर्भं हिरण्यगर्भस्य जन्मनो बीजं सर्वभूतजन्मकारणं बीजं दधामि निक्षिपामि क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिद्वयशक्तिमान् ईश्वरः अहम् अविद्याकामकर्मोपाधिस्वरूपानुविधायिनं क्षेत्रज्ञं क्षेत्रेण संयोजयामि इत्यर्थः ।

संभव उत्पत्तिः सर्वभूतानां हिरण्यगर्भोत्पत्तिद्वारेण ततः तस्माद् गर्भाधानाद् भवति हे भारत ॥ ३ ॥

मुझ ईश्वरकी माया—त्रिगुणमयी प्रकृति, समस्त भूतोकी योनि अर्थात् कारण है। समस्त कार्योंसे यानी उत्पत्तिशील वस्तुओसे बड़ी होनेके कारण और अपने विकारोको धारण करनेवाली होनेसे प्रकृति ही 'महत् ब्रह्म' इस विशेषणसे विशेषित की गयी है ।

उस महत् ब्रह्मरूप योनिमे, मै–क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ इन दो प्रकृतिरूप शक्तियोंवाला ईश्वर, हिरण्यगर्भके जन्मके बीजरूप गर्भको, यानी सब भूतोकी उत्पत्तिके कारणरूप बीजको, स्थापित किया करता हूँ । अर्थात् अविद्या,कामना,कर्म और उपाधिके स्वरूपका अनुवर्तन करनेवाले क्षेत्रज्ञको क्षेत्रसे सयुक्त किया करता हूँ ।

हे भारत ! उस गर्भाधानसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिद्वारा समस्त भूतोकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

देवपितृमनुष्यपशुमृगादिसर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयो देहसंस्थानलक्षणा मूर्छिताङ्गावयवा मूर्तयः संभवन्ति याः तासा मूर्तीनां ब्रह्म महत् सर्वावस्थं योनिः कारणम् अहम् ईशो बीजप्रदो गर्भाधानस्य कर्ता पिता ॥ ४ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! देव, पितृ, मनुष्य, पशु और मृग आदि समस्त योनियोमे जो मूर्तियाँ, अर्थात् शरीराकार अलग-अलग अङ्गोंके अवयवोकी रचनायुक्त व्यक्तियाँ उत्पन्न होती है, उन सब मूर्तियोकी सब प्रकारसे स्थित महत् ब्रह्मरूप मेरी माया तो, गर्भ धारण करनेवाली योनि है, और मै ईश्वर बीज प्रदान करनेवाला अर्थात् गर्भाधान करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

के गुणाः कथं बध्नन्ति इति उच्यते—

वे गुण कौन-कौन-से है और कैसे बाँधते हैं ? सो कहते है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सत्त्वं रजः तम इति एवं नामानः, गुणा इति पारिभाषिकः शब्दो न रूपादिवद् द्रव्याश्रिताः । न च गुणगुणिनोः अन्यत्वम् अत्र विवक्षितम् ।

सत्त्व, रज और तम–ऐसे नामोवाले ये तीन गुण है । 'गुण' शब्द पारिभाषिक है । यहाँ रूप, रस आदिकी भाँति किसी द्रव्यके आश्रित गुणोंका ग्रहण नहीं है, तथा 'गुण' और 'गुणवान्' (प्रकृति) का भेद भी यहाँ विवक्षित नहीं है ।

तस्माद् गुणा इव नित्यपरतन्त्राः क्षेत्रज्ञं प्रति अविद्यात्मकत्वात् क्षेत्रज्ञं निबध्नन्ति इव तम् आस्पदीकृत्य आत्मानं प्रतिलभन्ते इति निबध्नन्ति इति उच्यते ।

जैसे रूपादि गुण द्रव्यके अधीन होते हैं वैसे ही ये सत्त्वादि गुण सदा क्षेत्रज्ञके अधीन हुए ही अविद्यात्मक होनेके कारण मानो क्षेत्रज्ञको बाँध लेते है । उस (क्षेत्रज्ञ) को आश्रय बनाकर ही (ये गुण) अपना स्वरूप प्रकट करनेमे समर्थ होते हैं, अतः 'बाँधते है' ऐसा कहा जाता है ।

ते च प्रकृतिसंभवा भगवन्मायासंभवा निबध्नन्ति इव हे महाबाहो महान्तौ समर्थतरौ आजानुप्रलम्बौ बाहू यस्य स महाबाहुः हे महाबाहो देहे शरीरे देहिनं देहवन्तम् अव्ययम् अव्ययत्वं च उक्तम् *'अनादित्वात्'* इत्यादिश्लोके ।

जिसकी भुजाएँ अतिशय सामर्थ्ययुक्त और जानु (घुटनो) तक लंबी हो, उसका नाम महाबाहु है । हे महाबाहो ! भगवान्‌की मायासे उत्पन्न ये तीनो गुण इस शरीरमे शरीरधारी अविनाशी क्षेत्रज्ञको मानो बाँध लेते हैं । क्षेत्रज्ञका 'अविनाशित्व' 'अनादित्वात्' इत्यादि श्लोकमे कहा ही है ।

ननु देही न लिप्यते इति उक्तं तत् कथम् इह निबध्नन्ति इति अन्यथा उच्यते,

पू०—पहले यह कहा है कि देही—आत्मा लिप्त नहीं होता, फिर यहाँ यह विपरीत बात कैसे कही जाती है कि उसको गुण बाँधते हैं ।

परिहृतम् अस्माभिः इवशब्देन निबध्नन्ति इव इति ॥ ५ ॥

उ०—'इव' शब्दका अध्याहार करके हमने इस शंकाका परिहार कर दिया है । अर्थात् वास्तवमे नहीं बाँधते, बाँधते हुए-से प्रतीत होते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

तत्र सत्त्वादीनां सत्त्वस्य एव तावद् लक्षणम् उच्यते—

उन सत्त्व आदि तीन गुणोंमेसे पहले, सत्त्वगुणका लक्षण बतलाया जाता है—

निर्मलत्वात् स्फटिकमणिः इव प्रकाशकम् अनामयं निरुपद्रवं सत्त्वं तद् निबध्नाति ।

सत्त्वगुण स्फटिक-मणिकी भाँति निर्मल होनेके कारण, प्रकाशशील और उपद्रवरहित है (तो भी) वह बाँधता है ।

कथम्, सुखसङ्गेन सुखी अहम् इति विषयभूतस्य सुखस्य विषयिणि आत्मनि संश्लेषापादनं मृषा एव सुखे सञ्जनम् इति । सा एषा अविद्या ।

कैसे बाँधता है ? सुखकी आसक्तिसे । (वास्तवमे) विषयरूप सुखका विषयी आत्माके साथ 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार सम्बन्ध जोड़ देना यह आत्माको मिथ्या ही सुखमे नियुक्त कर देना है । यही अविद्या है ।

न हि विषयधर्मो विषयिणो भवति । इच्छादि च धृत्यन्तं क्षेत्रस्य एव विषयस्य धर्म इति उक्तं भगवता ।

क्योंकि विषयके धर्म विषयीके (कभी) नहीं होते और इच्छासे लेकर धृतिपर्यन्त सब धर्म विषयरूप क्षेत्रके ही हैं—ऐसा भगवान्‌ने कहा है ।

अतः अविद्यया एव स्वकीयधर्मभूतया विषयविषय्यविवेकलक्षणया अस्वात्मभूते सुखे सञ्जयति इव सक्तम् इव करोति असुखिनं सुखिनम् इव । तथा ज्ञानसङ्गेन च ।

ज्ञानम् इति सुखसाहचर्यात् क्षेत्रस्य एव अन्तःकरणस्य धर्मो न आत्मनः आत्मधर्मत्वे सङ्गानुपपत्तेः बन्धानुपपत्तेः च । सुखे इव ज्ञानादौ सङ्गो मन्तव्यो हे अनघ अव्यसन ॥ ६ ॥

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि जो आरोपितभावसे आत्माकी स्वकीय धर्मरूपा हो रही है और विषय-विषयीका अज्ञान ही जिसका स्वरूप है, ऐसी अविद्या-द्वारा ही सत्त्वगुण अनात्मस्वरूप सुखमे (आत्माको) मानो नियुक्त—आसक्त कर देता है, यानी जो (वास्तवमे) सुखके सम्बन्धसे रहित है, उसे सुखी-सा कर देता है । इसी प्रकार (यह सत्त्वगुण उसे) ज्ञानके सङ्गसे भी (बाँधता है) ।

ज्ञान भी सुखका साथी होनेके कारण, क्षेत्र अर्थात् अन्तःकरणका ही धर्म है, आत्माका नहीं, क्योंकि आत्माका धर्म मान लेनेपर उसमे आसक्त होना और उसका बाँधना नहीं बन सकता । इसलिये हे निष्पाप ! अर्थात् व्यसन-दोष-रहित अर्जुन ! सुखकी भाँति ही ज्ञान आदिके 'सङ्ग' को भी (बन्धन करनेवाला) समझना चाहिये ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

रजो रागात्मकं रञ्जनाद् रागो गैरिकादिवद् रागात्मकं विद्धि जानीहि तृष्णासङ्गसमुद्भवं तृष्णा अप्राप्ताभिलाष आसङ्गः प्राप्ते विषये मनसः प्रीतिलक्षणः संश्लेषः, तृष्णासङ्गयोः समुद्भवं तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।

तद् निबध्नाति तद् रजः कौन्तेय कर्मसङ्गेन दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सञ्जनं तत्परता कर्मसङ्गः तेन निबध्नाति रजो देहिनम् ॥ ७ ॥

अप्राप्त वस्तुकी अभिलाषाका नाम 'तृष्णा' है और प्राप्त विषयोमे मनकी प्रीतिरूप स्नेहका नाम 'आसक्ति' है, इन तृष्णा और आसक्तिकी उत्पत्तिके कारणरूप रजोगुणको रागात्मक जान । अर्थात् गेरू आदि रंगोकी भाँति (पुरुषको विषयोंके साथ) उनमे आसक्त करके तद्रूप करनेवाला होनेसे, इसको तू रागरूप समझ ।

हे कुन्तीपुत्र ! वह रजोगुण, इस शरीरधारी क्षेत्रज्ञको कर्मासक्तिसे बाँधता है । दृष्ट और अदृष्ट फल देनेवाले जो कर्म हैं उनमे आसक्ति—तत्परताका नाम कर्मासक्ति है, उसके द्वारा बाँधता है ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
... भारत ॥ ८ ॥

तमः तृतीयो गुणः अज्ञानजम् अज्ञानाद् जातम् अज्ञानजं विद्धि मोहनं मोहकरम् अविवेककरं सर्वदेहिनां सर्वेषां देहवतां प्रमादालस्यनिद्राभिः प्रमादः च आलस्यं च निद्रा च प्रमादालस्यनिद्राः ताभिः तत् तमो निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

और समस्त देहधारियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको, यानी जीवोंके अन्तःकरणमें मोह—अविवेक उत्पन्न करनेवाले तम नामक तीसरे गुणको, तू अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जान । हे भारत ! वह तमोगुण, (जीवोंको) प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधा करता है ॥ ८ ॥

पुनः गुणानां व्यापारः संक्षेपत उच्यते—

फिर भी उन गुणोंका व्यापार संक्षेपसे बतलाया जाता है—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति संश्लेषयति रजः कर्मणि हे भारत संजयति इति वर्तते* । ज्ञानं सत्त्वकृतं विवेकम् आवृत्य आच्छाद्य तु तमः स्वेन आवरणात्मना प्रमादे संजयति उत प्रमादो नाम प्राप्तकर्तव्याकरणम् ॥ ९ ॥

हे भारत ! सत्त्वगुण सुखमें नियुक्त करता है और रजोगुण कर्मोंमें नियुक्त किया करता है तथा तमोगुण, सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुए विवेक-ज्ञानको, अपने आवरणात्मक स्वभावसे आच्छादित करके फिर प्रमादमें नियुक्त किया करता है । प्राप्त कर्तव्यको न करनेका नाम प्रमाद है ॥ ९ ॥

उक्तं कार्यं कदा कुर्वन्ति गुणा इति उच्यते—

ये तीनों गुण उपर्युक्त कार्य कब करते हैं ? सो कहते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

रजः तमः च उभौ अपि अभिभूय सत्त्वं भवति उद्भवति वर्धते यदा तदा लब्धात्मकं सत्त्वं स्वकार्यम् ज्ञानसुखादि आरभते हे भारत ।

तथा रजोगुणः सत्त्वं तमः च एव उभौ अपि अभिभूय वर्धते यदा तदा कर्मतृष्णादि स्वकार्यम् आरभते ।

तम आख्यो गुणः सत्त्वं रजः च उभौ अपि अभिभूय तथा एव वर्धते यदा तदा ज्ञानावरणादि स्वकार्यम् आरभते ॥ १० ॥

हे भारत ! रजोगुण और तमोगुण–इन दोनोंको दबाकर जब सत्त्वगुण उन्नत होता है–बढ़ता है, तब वह अपने स्वरूपको प्राप्त हुआ सत्त्वगुण अपने कार्य-ज्ञान और सुखादिका आरम्भ किया करता है ।

तथा सत्त्वगुण और तमोगुण–इन दोनोंको ही दबाकर जब रजोगुण बढ़ता है तब वह 'कर्मोंमें तृष्णा आदि' अपने कार्यका आरम्भ किया करता है ।

वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुण इन दोनोंको दबाकर जब तम नामक गुण बढ़ता है तब वह 'ज्ञानको आच्छादित करना आदि' अपना कार्य आरम्भ किया करता है ।

* इस वाक्यमें 'संजयति' (नियुक्त करता है) क्रियाकी पूर्ववाक्यसे अनुवृत्ति की गयी है ।

यदा यो गुणः उद्भूतो भवति तदा तस्य किं लिङ्गम् इति उच्यते—

जिस समय जो गुण बढ़ा हुआ रहता है, उस समय उसके क्या चिह्न होते हैं सो बतलाते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सर्वद्वारेषु आत्मन उपलब्धिद्वाराणि श्रोत्रादीनि सर्वाणि करणानि तेषु सर्वद्वारेषु अन्तःकरणस्य बुद्धेः वृत्तिः प्रकाशो देहे अस्मिन् उपजायते । तद् एव ज्ञानं यदा एवंप्रकाशो ज्ञानाख्य उपजायते तदा ज्ञानप्रकाशेन लिङ्गेन विद्याद् विवृद्धम् उद्भूतं सत्त्वम् इति उत अपि ॥ ११ ॥

जब इस शरीरके समस्त द्वारोंमें, यानी आत्माकी उपलब्धिके द्वारभूत जो श्रोत्रादि सब इन्द्रियाँ हैं उनमें, प्रकाश उत्पन्न हो — अन्तःकरण यानी बुद्धिकी वृत्तिका नाम 'प्रकाश' है और यही 'ज्ञान' है । यह ज्ञान नामक प्रकाश जब शरीरके समस्त द्वारोंमें उत्पन्न हो—तब इस ज्ञानके प्रकाशरूप चिह्नसे ही समझना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

रजस उद्भूतस्य इदं चिह्नम्—

उत्पन्न हुए रजोगुणके चिह्न ये होते हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

लोभः परद्रव्यादित्सा, प्रवृत्तिः प्रवर्तनं सामान्यचेष्टा, आरम्भः, कस्य, कर्मणाम् । अशमः अनुपशमः, हर्षरागादिप्रवृत्तिः, स्पृहा सर्वसामान्यवस्तुविषया तृष्णा, रजसि गुणे विवृद्धे एतानि लिङ्गानि जायन्ते हे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ! लोभ—परद्रव्यको प्राप्त करनेकी इच्छा, प्रवृत्ति—सामान्यभावसे सांसारिक चेष्टा और कर्मोंका आरम्भ तथा अशान्ति—उपरामताका अभाव, हर्ष और रागादिका प्रवृत्त होना तथा लालसा अर्थात् सामान्यभावसे समस्त वस्तुओंमें तृष्णा—ये सब चिह्न रजोगुणके बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अप्रकाशः अविवेकः अत्यन्तम् अप्रवृत्तिः च प्रवृत्त्यभावः तत्कार्यं प्रमादो मोह एव च अविवेको मूढता इत्यर्थः । तमसि गुणे विवृद्धे एतानि लिङ्गानि जायन्ते हे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे कुरुनन्दन ! अप्रकाश अर्थात् अत्यन्त अविवेक प्रवृत्तिका अभाव, उसका कार्य प्रमाद और मोह अर्थात् अविवेकरूप मूढ़ता—ये सब चिह्न तमोगुणकी वृद्धि होनेपर उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

मरणद्वारेण अपि यत्फलं प्राप्यते तद् अपि सङ्गरागहेतुकं सर्वं गौणम् एव इति दर्शयन् आह—

मरण-समयकी अवस्थाके द्वारा जो फल मिलता है, वह सब भी आसक्ति और रागसे ही होनेवाला तथा गुणजन्य ही होता है, यह दिखानेके लिये कहते हैं—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे **उद्भूते** तु प्रलयं **मरणं** याति **प्रतिपद्यते** देहभृद् **आत्मा** तदा उत्तमविदां **महदादितत्त्वविदाम् इति एतत्** । लोकान् अमलान् **मलरहितान्** प्रतिपद्यते **प्राप्नोति इति एतत्** ॥१४॥

जब यह शरीरधारी जीव, सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब उत्तम तत्त्वको जाननेवालोंके अर्थात् महत्तत्त्वादिको जाननेवालोंके निर्मल—मलरहित लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजसि **गुणे विवृद्धे** प्रलयं **मरणं** गत्वा **प्राप्य** कर्मसङ्गिषु **कर्मासक्तियुक्तेषु मनुष्येषु** जायते तथा **तद्वद् एव** प्रलीनो **मृतः** तमसि **विवृद्धे** मूढयोनिषु **पश्वादियोनिषु** जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणकी वृद्धिके समय मरनेपर कर्मसंगियोंमें अर्थात् कर्मोंमें आसक्त हुए मनुष्योंमें उत्पन्न होता है और वैसे ही तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य मूढ़योनियोंमें अर्थात् पशु आदि योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

अतीतश्लोकार्थस्य एव संक्षेप उच्यते—

पहले कहे हुए श्लोकोंके अर्थका ही सार कहा जाता है—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

कर्मणः सुकृतस्य **सात्त्विकस्य इत्यर्थः** । आहुः **शिष्टाः** सात्त्विकम् एव निर्मलं फलम् इति । रजसः तु फलं दुःखं **राजसस्य कर्मण इत्यर्थः । कर्माधिकारात् फलम् अपि दुःखम् एव कारणानुरूप्याद् राजसम् एव । तथा** अज्ञानं तमसः **तामसस्य कर्मणः अधर्मस्य पूर्ववत्** ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंने शुभ कर्मका, अर्थात् सात्त्विक कर्मका फल सात्त्विक और निर्मल ही बतलाया है, तथा राजस कर्मका फल दुःख बतलाया है अर्थात् कर्माधिकारसे राजस कर्मका, फल भी अपने कारणके अनुसार दुःखरूप राजस ही होता है (ऐसा कहा है) और वैसे ही, तामसरूप अधर्मका—पापकर्मका फल अज्ञान बतलाया है ॥ १६ ॥

किं च गुणेभ्यो भवति—

गुणोंसे क्या उत्पन्न होता है? (सो कहते हैं—)

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वाद् **लब्धात्मकात्** संजायते **समुत्पद्यते** ज्ञानम्, रजसो लोभ एव च प्रमादमोहौ **च उभौ** तमसो भवतः अज्ञानम् एव च **भवति** ॥ १७ ॥

उत्कर्षको प्राप्त हुए सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, और रजोगुणसे लोभ होता है तथा तमोगुणसे प्रमाद और मोह—ये दोनो होते है और अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

किं च—

तथा—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति **देवलोकादिषु उत्पद्यन्ते** सत्त्वस्थाः **सत्त्वगुणवृत्तस्थाः** । मध्ये तिष्ठन्ति **मनुष्येषु उत्पद्यन्ते** राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तस्था **जघन्यः च असौ गुणः च जघन्यगुणः तमः तस्य वृत्तं निद्रालस्यादि तस्मिन् स्थिता जघन्यगुणवृत्तस्था मूढा** अधो गच्छन्ति **पश्वादिषु उत्पद्यन्ते** तामसाः ॥ १८ ॥

सत्त्वगुणमे यानी सात्त्विक भावोंमे स्थित पुरुष उच्च स्थानको जाते है अर्थात् देवलोक आदि उच्च लोकोमे उत्पन्न होते है । और राजस पुरुष बीचमे रहते हैं अर्थात् मनुष्य-योनियोंमे उत्पन्न होते है ।

तथा जघन्य गुणके आचरणोंमे स्थित हुए अर्थात् जो जघन्य—निन्दनीय गुण है, उस तमोगुणके कार्य—निद्रा और आलस्य आदिमे स्थित हुए मूढ—तामसी पुरुष नीचे गिरते है—वे पशु, पक्षी आदि योनियोंमे उत्पन्न होते है ॥ १८ ॥

पुरुषस्य प्रकृतिस्थत्वरूपेण मिथ्याज्ञानेन युक्तस्य भोग्येषु गुणेषु सुखदुःखमोहात्मकेषु सुखी दुःखी मूढः अहम् अस्मि इति एवंरूपो यः सङ्गः तत् कारणं पुरुषस्य सदसद्योनिजन्मप्राप्तिलक्षणस्य संसारस्य, इति समासेन पूर्वाध्याये यद् उक्तं तद् इह *'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः'* **इत्यत आरभ्य गुणस्वरूपं गुणवृत्तं स्ववृत्तेन च गुणानां बन्धकत्वं गुण-**

प्रकृतिमे स्थित होनारूप मिथ्याज्ञानसे युक्त पुरुषका सुख-दुःख-मोहात्मक भोगरूप गुणोमे 'मैं सुखी, दुखी अथवा मूढ हूँ' इस प्रकारका जो सङ्ग है, वह सङ्ग ही इस पुरुषकी अच्छी-बुरी योनियोमे जन्म-प्राप्तिरूप संसारका कारण है । यह बात जो पहले तेरहवे अध्यायमें संक्षेपसे कही थी, उसीको यहाँ **'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः'** इस श्लोकसे लेकर (उपर्युक्त श्लोकतक) गुणोंका स्वरूप, गुणोंका कार्य, अपने कार्यद्वारा गुणोंका बन्धकत्व तथा गुणोंके कार्यद्वारा बँधे हुए

वृत्तनिबद्धस्य च पुरुषस्य या गतिः इति एतत्सर्वं मिथ्याज्ञानम् अज्ञानमूलं बन्धकारणं विस्तरेण उक्त्वा अधुना सम्यग्दर्शनाद् मोक्षो वक्तव्य इति आह भगवान्—

पुरुषकी जो गति होती है, इन सब मिथ्याज्ञानरूप अज्ञानमूलक बन्धनके कारणोंको, विस्तारपूर्वक बतलाकर, अब यथार्थ ज्ञानसे मोक्ष (कैसे होता है सो) बतलाना चाहिये इसलिये भगवान् बोले—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

नान्यं **कार्यकरणविषयाकारपरिणतेभ्यो** गुणेभ्यः कर्तारम् **अन्यं** यदा द्रष्टा **विद्वान् सन् न** अनुपश्यति । **गुणा एव सर्वावस्थाः सर्वकर्मणां कर्तार इति एवं पश्यति** । गुणेभ्यः च परं **गुणव्यापारसाक्षिभूतं** वेत्ति मद्भावं **मम भावं स द्रष्टा** अधिगच्छति ॥ १९ ॥

जिस समय द्रष्टा पुरुष ज्ञानी होकर, कार्य, करण और विषयोंके आकारमे परिणत हुए गुणोसे अतिरिक्त अन्य किसीको (भी) कर्ता नहीं देखता है, अर्थात् यही देखता है कि समस्त अवस्थाओंमे स्थित हुए गुण ही समस्त कर्मोंके कर्ता हैं तथा गुणोके व्यापारके साक्षीरूप आत्माको गुणोंसे पर जानता है, तब वह द्रष्टा मेरे भावको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कथम् अधिगच्छति इति उच्यते—

कैसे प्राप्त होता है ? सो बतलाते है—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

गुणान् एतान् **यथोक्तान्** अतीत्य **जीवन् एव अतिक्रम्य मायोपाधिभूतान्**, त्रीन् देही देहसमुद्भवान् **देहोत्पत्तिबीजभूतान्**, जन्ममृत्युजरादुःखैः, **जन्म च मृत्युः च जरा च दुःखानि च तैः जीवन् एव** विमुक्तः **सन् विद्वान्** अमृतम् अश्नुते । **एवं मद्भावम् अधिगच्छति इत्यर्थः** ॥ २० ॥

देहोत्पत्तिके बीजभूत, इन मायोपाधिक पूर्वोक्त तीनो गुणोका उल्लंघन कर, अर्थात् जीवितावस्थामे ही इनका अतिक्रम करके, यह देहधारी विद्वान् जीता हुआ ही जन्म, मृत्यु, बुढ़ापे और दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतका अनुभव करता है । अभिप्राय यह कि इस प्रकार वह मेरे भावको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

जीवन् एव गुणान् अतीत्य अमृतम् अश्नुते इति प्रश्नबीजं प्रतिलभ्य—

अर्जुन उवाच—

(शरीरधारी जीव) 'जीता हुआ ही गुणोंको अतिक्रम करके अमृतका अनुभव करता है' इस प्रश्न-बीजको पाकर अर्जुन बोला—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

कैः लिङ्गैः चिह्नैः त्रीन् एतान् व्याख्यातान् गुणान् अतीतः अतिक्रान्तो भवति प्रभो । किमाचारः कः अस्य आचार इति किमाचारः । कथं केन च प्रकारेण एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ॥२१॥

हे प्रभो ! इन पूर्ववर्णित तीनों गुणोंसे अतीत—पार हुआ पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है ? और वह कैसे आचरणवाला होता है अर्थात् उसके आचरण कैसे होते हैं ? तथा किस प्रकारसे (किस उपायसे) मनुष्य इन तीनों गुणोसे अतीत हो सकता है ? ॥ २१ ॥

गुणातीतस्य लक्षणं गुणातीतत्वोपायं च अर्जुनेन पृष्टः अस्मिन् श्लोके प्रश्नद्वयार्थं प्रतिवचनम्—श्रीभगवान् उवाच—यत् तावत् कैः लिङ्गैः युक्तो गुणातीतो भवति इति तत् शृणु—

इस (उपर्युक्त) श्लोकमे अर्जुनने गुणातीतके लक्षण और गुणातीत होनेका उपाय पूछा है, उन दोनों प्रश्नोका उत्तर देनेके लिये श्रीभगवान् बोले कि पहले गुणातीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है उसे सुन—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

प्रकाशं च सत्त्वकार्यं प्रवृत्तिं च रजःकार्यं मोहम् एव च तमःकार्यम् इति एतानि न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि सम्यग्विषयभावेन उद्भूतानि ।

मम तामसः प्रत्ययो जातः तेन अहं मूढः तथा राजसी प्रवृत्तिः मम उत्पन्ना दुःखात्मिका तेन अहं रजसा प्रवर्तितः प्रचलितः स्वरूपात् कष्टं मम वर्तते यः अयं मत्स्वरूपावस्थानाद् भ्रंशः तथा सात्त्विको गुणः प्रकाशात्मा मां विवेकित्वम् आपादयन् सुखे च संजयन् बध्नाति इति तानि द्वेष्टि असम्यग्दर्शित्वेन । तद् एवं गुणातीतो न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि ।

यथा च सात्त्विकादिपुरुषः सात्त्विकादिकार्याणि आत्मानं प्रति प्रकाश्य निवृत्तानि काङ्क्षति न तथा गुणातीतो निवृत्तानि काङ्क्षति इत्यर्थः ।

सत्त्वगुणका कार्य प्रकाश, रजोगुणका कार्य प्रवृत्ति और तमोगुणका कार्य मोह, ये जब प्राप्त होते हैं अर्थात् भली प्रकार विषयभावसे उपलब्ध होते हैं, तब वह इनसे द्वेष नहीं किया करता ।

अभिप्राय यह कि 'मुझमे तामसभाव उत्पन्न हो गया, उससे मैं मोहित हो गया और दुःखरूप राजसी प्रवृत्ति मुझमे उत्पन्न हुई, उस राजसभावने मुझे प्रवृत्त कर दिया, इसने मुझे स्वरूपसे विचलित कर दिया, यह जो अपनी स्वरूप-स्थितिसे विचलित होना है, वह मेरे लिये बड़ा भारी दुःख है तथा प्रकाशमय सात्त्विक गुण, मुझे विवेकित्व प्रदान करके और सुखमे नियुक्त करके बाँधता है, इस प्रकार साधारण मनुष्य अयथार्थदर्शी होनेके कारण उन गुणोंसे द्वेष किया करते हैं, परन्तु गुणातीत पुरुष उनकी प्राप्ति होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता ।

तथा जैसे सात्त्विक, राजस और तामस पुरुष, जब सात्त्विक आदि भाव अपना स्वरूप प्रत्यक्ष कराकर निवृत्त हो जाते हैं, तब (पुनः) उनको चाहते हैं । वैसे गुणातीत उन निवृत्त हुए गुणोंके कार्योंको नहीं चाहता यह अभिप्राय है ।

एतद् न परप्रत्यक्षं लिङ्गं किं तर्हि स्वात्मप्रत्यक्षत्वाद् आत्मविषयम् एव एतद् लक्षणम्। न हि स्वात्मविषयं द्वेषम् आकाङ्क्षां वा परः पश्यति ॥ २२ ॥

(परन्तु) ये सब लक्षण दूसरोंको प्रत्यक्ष होनेवाले नहीं-हैं। तो कैसे है? अपने आपको ही प्रत्यक्ष होनेके कारण ये स्वसंवेद्य ही है, क्योंकि अपने आपमे होनेवाले द्वेष या आकांक्षाको दूसरा नहीं देख सकता ॥ २२ ॥

अथ इदानीं गुणातीतः किमाचार इति प्रश्नस्य प्रतिवचनम् आह—

अब, गुणातीत पुरुष किस प्रकारके आचरणवाला होता है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

उदासीनवद् यथा उदासीनो न कस्यचित् पक्षं भजते तथा अयं गुणातीतत्वोपायमार्गे अवस्थित आसीन आत्मविद् गुणैः यः संन्यासी न विचाल्यते विवेकदर्शनावस्थातः।

तद् एतत् स्फुटीकरोति गुणाः कार्यकरणविषयाकारपरिणता अन्योन्यस्मिन् वर्तन्ते इति यः अवतिष्ठति। छन्दोभङ्गभयात् परस्मैपदप्रयोगः। यः अनुतिष्ठति इति वा पाठान्तरम्। न इङ्गते न चलति स्वरूपावस्थ एव भवति इत्यर्थः ॥ २३ ॥

उदासीनकी भाँति स्थित हुआ, अर्थात् जैसे उदासीन पुरुष किसीका पक्ष नहीं लेता, उसी भावसे गुणातीत होनेके उपायरूप मार्गमे स्थित हुआ जो आत्मज्ञानी-संन्यासी, गुणोद्वारा विवेकज्ञानकी स्थितिसे विचलित नहीं किया जा सकता।

इसीको स्पष्ट करते है, कि कार्य-करण और विषयोंके आकारमे परिणत हुए गुण ही एकमे एक बर्त रहे है–जो ऐसा समझकर स्थित रहता है, चलायमान नहीं होता अर्थात् अविचलभावसे स्वरूपमे ही स्थित रहता है। यहाँ छन्दोभङ्ग होनेके भयसे 'आत्मनेपद' (अवतिष्ठते) के स्थानमे 'परस्मैपद' (अवतिष्ठति)का प्रयोग किया गया है अथवा 'योऽवतिष्ठति' के स्थानमें 'योऽनुतिष्ठति' ऐसा पाठान्तर समझना चाहिये ॥ २३ ॥

किं च—

तथा—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

समदुःखसुखः समे दुःखसुखे यस्य स समदुःखसुखः। स्वस्थः स्वे आत्मनि स्थितः प्रसन्नः। समलोष्टाश्मकाञ्चनो लोष्टं च अश्मा च काञ्चनं च समानि यस्य स समलोष्टाश्मकाञ्चनः।

जो सुख-दुःखमे समान है अर्थात् सुख और दुःख जिसको समान प्रतीत होते हैं, जो स्वस्थ अर्थात् अपने आत्म-स्वरूपमे स्थित—प्रसन्न है, जो समलोष्टाश्मकाञ्चन है अर्थात् मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण जिसके (विचारमे) समान हो गये हैं,

तुल्यप्रियाप्रियः प्रियं च अप्रियं च प्रियाप्रिये तुल्ये समे यस्य सः अयं तुल्यप्रियाप्रियः । धीरः धीमान् । तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः निन्दा च आत्मसंस्तुतिः च तुल्ये निन्दात्मसंस्तुती यस्य यतेः स तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

जो तुल्यप्रियाप्रिय है अर्थात् प्रिय और अप्रिय दोनोंहीको जो समान समझता है और जो धीर अर्थात् बुद्धिमान् है तथा जो तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति है अर्थात् जिसके विचारमे अपनी निन्दा और स्तुति समान हो गयी है, ऐसा अपनी निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला यति है ॥ २४ ॥

किं च—

तथा—

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

मानापमानयोः तुल्यः समो निर्विकारः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः, यद्यपि उदासीना भवन्ति केचित् स्वाभिप्रायेण तथापि पराभिप्रायेण मित्रारिपक्षयोः इव भवन्ति इति तुल्यो मित्रारिपक्षयोः इति आह ।

सर्वारम्भपरित्यागी दृष्टादृष्टार्थानि कर्माणि आरभ्यन्ते इति आरम्भाः सर्वान् आरम्भान् परित्यक्तुं शीलम् अस्य इति सर्वारम्भपरित्यागी देहधारणमात्रनिमित्तव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागी इत्यर्थः । गुणातीतः स उच्यते ।

'उदासीनवत्' इत्यादि 'गुणातीतः स उच्यते' इति एतद् अन्तम् उक्तं यावद् यत्नसाध्यं तावत् संन्यासिनः अनुष्ठेयं गुणातीतत्वसाधनं मुमुक्षोः स्थिरीभूतं तु स्वसंवेद्यं सद् गुणातीतस्य यतेः लक्षणं भवति इति ॥ २५ ॥

जो मान और अपमानमे समान अर्थात् निर्विकार रहता है तथा मित्र और शत्रुपक्षके लिये तुल्य है । यद्यपि कोई-कोई पुरुष अपने विचारसे तो उदासीन होते हैं परन्तु दूसरोंकी समझसे वे मित्र या शत्रुपक्षवाले-से ही होते है इसलिये कहते हैं कि जो मित्र और शत्रुपक्षके लिये तुल्य है ।

तथा जो सारे आरम्भोंका त्याग करनेवाला है । दृष्ट और अदृष्ट फलके लिये किये जानेवाले कर्मोंका नाम 'आरम्भ' है, ऐसे समस्त आरम्भोंको त्याग करनेका जिसका स्वभाव है वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' है अर्थात् जो केवल शरीरधारणके लिये आवश्यक कर्मोंके सिवा सारे कर्मोंका त्याग कर देनेवाला है, वह पुरुष 'गुणातीत' कहलाता है ।

'उदासीनवत्' यहाँसे लेकर 'गुणातीत.स उच्यते' यहाँतक जो भाव बतलाये गये है, वे सब जबतक प्रयत्नसे सम्पादन करनेयोग्य रहते हैं, तबतक तो मुमुक्षु—संन्यासीके लिये अनुष्ठान करनेयोग्य गुणातीतत्व-प्राप्तिके साधन है और जब वे स्थिर हो जाते हैं, तो गुणातीत संन्यासीके स्वसंवेद्य लक्षण बन जाते हैं ॥ २५ ॥

अधुना कथं च त्रीन् गुणान् अतिवर्तते इति प्रश्नस्य प्रतिवचनम् आह—

मनुष्य इन तीनों गुणोंसे किस प्रकार अतीत होता है ? इस प्रश्नका उत्तर अब देते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

मां च ईश्वरं नारायणं सर्वभूतहृदयाश्रितं यो यतिः कर्मी वा अव्यभिचारेण न कदाचिद् यो व्यभिचरति भक्तियोगेन भजनं भक्तिः सा एव योगः तेन भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् यथोक्तान् ब्रह्मभूयाय भवनं भूयो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय मोक्षाय कल्पते समर्थो भवति इत्यर्थः ॥ २६ ॥

जो संन्यासी या कर्मयोगी, सब भूतोंके हृदयमें स्थित मुझ परमेश्वर नारायणको, कभी व्यभिचरित (विचलित) न होनेवाले अव्यभिचारी भक्तियोगद्वारा सेवन करता है—भजनका नाम भक्ति है, वही योग है, उस भक्तियोगके द्वारा जो मेरी सेवा करता है—वह इन ऊपर कहे हुए गुणोंको अतिक्रमण करके ब्रह्मलोकको पानेके लिये, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके लिये योग्य समझा जाता है, अर्थात् (मोक्ष प्राप्त करनेमें) समर्थ होता है ॥ २६ ॥

कुत एतद् इति उच्यते—

ऐसा क्यों होता है ? सो बतलाते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

ब्रह्मणः परमात्मनो हि यस्मात् प्रतिष्ठा अहं प्रतितिष्ठति अस्मिन् इति प्रतिष्ठा अहं प्रत्यगात्मा ।

क्योंकि ब्रह्म—परमात्माकी प्रतिष्ठा मैं हूँ । जिसमें प्रतिष्ठित हो वह प्रतिष्ठा है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार मैं अन्तरात्मा (ब्रह्मकी) प्रतिष्ठा हूँ ।

कीदृशस्य ब्रह्मणः ।

कैसे ब्रह्मकी ? (सो कहते हैं—)

अमृतस्य अविनाशिनः अव्ययस्य अविकारिणः शाश्वतस्य च नित्यस्य धर्मस्य ज्ञानयोगधर्मप्राप्यस्य सुखस्य आनन्दरूपस्य ऐकान्तिकस्य अव्यभिचारिणः ।

जो अमृत—अविनाशी, अव्यय—निर्विकार, शाश्वत—नित्य, धर्मस्वरूप—ज्ञानयोगरूप धर्मद्वारा प्राप्तव्य और ऐकान्तिक सुखस्वरूप अर्थात् व्यभिचाररहित आनन्दमय है उस ब्रह्मकी मैं प्रतिष्ठा हूँ ।

अमृतादिस्वभावस्य परमात्मनः प्रत्यगात्मा प्रतिष्ठा सम्यग्ज्ञानेन परमात्मतया निश्चीयते । तद् एतत् *'ब्रह्मभूयाय कल्पते'* इति उक्तम् ।

अमृत आदि स्वभाववाले परमात्माकी प्रतिष्ठा अन्तरात्मा ही है, क्योंकि यथार्थ ज्ञानसे वही परमात्मारूपसे निश्चित होता है । यही बात 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इस पदसे कही गयी है ।

यया च ईश्वरशक्त्या भक्तानुग्रहादिप्रयोजनाय ब्रह्म प्रतिष्ठते प्रवर्तते सा शक्तिः ब्रह्म एव अहं शक्तिशक्तिमतोः अनन्यत्वाद् इति अभिप्रायः ।

अभिप्राय यह है कि जिस ईश्वरीय शक्तिसे भक्तोंपर अनुग्रह आदि करनेके लिये ब्रह्म प्रवर्तित होता है, वह शक्ति, मैं ब्रह्म ही हूँ, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्‌में भेद नहीं होता ।

अथवा ब्रह्मशब्दवाच्यत्वात् सविकल्पकं ब्रह्म तस्य ब्रह्मणो निर्विकल्पकः अहम् एव न अन्यः प्रतिष्ठा आश्रयः ।

अथवा (ऐसा समझना चाहिये कि) ब्रह्म-शब्दका वाच्य होनेके कारण यहाँ सगुण ब्रह्म-का ग्रहण है,, उस सगुण ब्रह्मका मैं निर्विकल्प—निर्गुण ब्रह्म ही प्रतिष्ठा—आश्रय हूँ, दूसरा कोई नहीं ।

किंविशिष्टस्य,

किन विशेषणोंसे युक्त सगुण ब्रह्मका ?

अमृतस्य अमरणधर्मकस्य अव्ययस्य व्ययरहितस्य ।

जो अमृत अर्थात् मरण-धर्मसे रहित है और अविनाशी अर्थात् क्षय होनेसे रहित है, उसका ।

किं च शाश्वतस्य च नित्यस्य धर्मस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणस्य सुखस्य तज्जनितस्य ऐकान्तिकस्य ऐकान्तनियतस्य च प्रतिष्ठा अहम् इति वर्तते ॥ २७ ॥

तथा ज्ञाननिष्ठारूप शाश्वत-नित्य धर्मका और उससे होनेवाले ऐकान्तिक एकमात्र निश्चित परम आनन्दका भी, मैं ही आश्रय हूँ । 'अहं प्रतिष्ठा' यह पद यहाँ अनुवृत्तिसे लिया गया है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

ॐ

पञ्चदशोऽध्यायः

यस्माद् मदधीनं कर्मिणां कर्मफलं ज्ञानिनां च ज्ञानफलम् अतो भक्तियोगेन मां ये सेवन्ते ते मत्प्रसादाद् ज्ञानप्राप्तिक्रमेण गुणातीता मोक्षं गच्छन्ति किमु वक्तव्यम् आत्मनः तत्त्वम् एव सम्यग् विजानन्त इति अतो भगवान् अर्जुनेन अपृष्टम् अपि आत्मनः तत्त्वं विवक्षुः उवाच–ऊर्ध्वमूलम् इत्यादि ।

तत्र तावद् वृक्षरूपककल्पनया वैराग्यहेतोः संसारस्वरूपं वर्णयति विरक्तस्य हि संसाराद् भगवत्तत्त्वज्ञाने अधिकारो न अन्यस्य इति—

श्रीभगवानुवाच—

क्योंकि कर्म करनेवालोंका कर्मफल और ज्ञानियोंका ज्ञानफल मेरे अधीन है । इसलिये जो भक्तियोगसे मुझे भजते हैं, वे भी मेरी कृपासे गुणातीत होकर ज्ञान-प्राप्तिके क्रमसे, मोक्षलाभ करते है; तो फिर आत्मतत्त्वको यथार्थ जाननेवालोंके लिये तो कहना ही क्या है । सुतराम् अर्जुनके न पूछनेपर भी अपना तत्त्व कहनेकी इच्छासे भगवान् 'ऊर्ध्वमूलम्' इत्यादि वचन बोले—

यहाँ पहले वैराग्यके लिये वृक्षस्वरूपकी कल्पना करके, संसारके स्वरूपका वर्णन करते है, क्योंकि संसारसे विरक्त हुए पुरुषको ही भगवान्‌का तत्त्व जाननेमे अधिकार है, अन्यको नहीं । अतः

श्रीभगवान् बोले—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूलं कालतः सूक्ष्मत्वात् कारणत्वाद् नित्यत्वाद् महत्त्वात् च ऊर्ध्वम् उच्यते ब्रह्म अव्यक्तमायाशक्तिमत् तद् मूलम् अस्य इति सः अयं संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः । श्रुतेः च–'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः' (क० उ० २ । ६ । १) इति ।

पुराणे च—

'अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः ।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः ॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा ।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः ॥

(यह संसाररूप वृक्ष) ऊर्ध्वमूलवाला है । कालकी अपेक्षा भी सूक्ष्म, सबका कारण, नित्य और महान् होनेके कारण अव्यक्त-मायाशक्तियुक्त ब्रह्म सबसे ऊँचा कहा जाता है, वही इसका मूल है, इसलिये यह संसारवृक्ष ऊपरकी ओर मूलवाला है । 'ऊपर मूल और नीचे शाखावाला' इस श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है ।

पुराणमे भी कहा है—

'अव्यक्तरूप मूलसे उत्पन्न हुआ; उसीके अनुग्रहसे बढ़ा हुआ, बुद्धिरूप प्रधान शाखासे युक्त, बीच-बीचमें इन्द्रियरूप कोटरोंवाला, महाभूतरूप शाखा-प्रतिशाखाओंवाला, विषयरूप पत्तोंवाला, धर्म और अधर्मरूप सुन्दर पुष्पोंवाला तथा जिसमें सुख-दुःखरूप फल लगे हुए हैं ऐसा

आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माचरति नित्यशः ॥
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
ततश्चात्मरतिं प्राप्य तस्मान्नावर्तते पुनः ॥'
इत्यादि ।

यह सब भूतोंका आजीव्य*सनातन ब्रह्मवृक्ष है । यही ब्रह्मवन है, इसीमें ब्रह्म सदा रहता है । ऐसे इसी ब्रह्मवृक्षका ज्ञानरूप श्रेष्ठ खड्गद्वारा छेदन-भेदन करके और आत्मामें प्रीतिलाभ करके फिर वहाँसे नहीं लौटता'इत्यादि ।

तम् ऊर्ध्वमूलं संसारमायामयं वृक्षम् अध.शाखं **महदहंकारतन्मात्रादयः शाखा इव अस्य अधो भवन्ति इति सः अयम् अधःशाखः तम् अधःशाखं न श्वः अपि स्थाता इति अश्वत्थः तं क्षणप्रध्वंसिनम्** अश्वत्थं प्राहुः **कथयन्ति** अव्ययम् ।

ऐसे ऊपर मूल और नीचे शाखावाले इस मायामय संसारवृक्षको, अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रादि, शाखाकी भाँति जिसके नीचे है, ऐसे इस नीचेकी ओर शाखावाले और कलतक भी न रहनेवाले इस क्षणभङ्गुर अश्वत्थ वृक्षको अव्यय कहते हैं ।

संसारमायामयम् अनादिकालप्रवृत्तत्वात् सः अयं संसारवृक्षः अव्ययः अनाद्यन्तदेहादि-सन्तानाश्रयो हि सुप्रसिद्धः तम् अव्ययम् ।

यह मायामय संसार, अनादि कालसे चला आ रहा है, इसीसे यह संसारवृक्ष अव्यय माना जाता है तथा यह आदि-अन्तसे रहित शरीर आदिकी परम्पराका आश्रय सुप्रसिद्ध है, अतः इसको अव्यय कहते है ।

तस्य एव संसारवृक्षस्य इदम् अन्यद् विशेषणम् ।

उस संसार-वृक्षका ही यह अन्य विशेषण (कहा जाता) है ।

छन्दांसि **छादनाद् ऋग्यजुःसामलक्षणानि** यस्य **संसारवृक्षस्य** पर्णानि **इव पर्णानि । यथा वृक्षस्य परिरक्षणार्थानि पर्णानि तथा वेदाः संसारवृक्षपरिरक्षणार्था धर्माधर्मतद्धेतुफल-प्रकाशनार्थत्वात् ।**

ऋक्, यजु और सामरूप वेद, जिस संसारवृक्षके पत्तोंकी भाँति रक्षा करनेवाले होनेसे पत्ते है । जैसे पत्ते वृक्षकी रक्षा करनेवाले होते हैं, वैसे ही वेद धर्म-अधर्म, उनके कारण और फलको प्रकाशित करने-वाले होनेसे, संसाररूप वृक्षकी रक्षा करनेवाले हैं ।

यथाव्याख्यातं संसारवृक्षं समूलं यः तं वेद स वेदवित् **वेदार्थविद् इत्यर्थः ।**

ऐसा जो यह विस्तारपूर्वक बतलाया हुआ संसारवृक्ष है, इसको जो मूलके सहित जानता है, वह वेदको जाननेवाला अर्थात् वेदके अर्थको जाननेवाला है ।

न हि संसारवृक्षाद् अस्माद् समूलाद् ज्ञेयः अन्यः अणुमात्रः अपि अवशिष्टः अस्ति अतः सर्वज्ञः स यो वेदार्थविद् इति समूलवृक्ष-ज्ञानं स्तौति ॥ १ ॥

क्योंकि इस मूलसहित संसारवृक्षसे अतिरिक्त अन्य जाननेयोग्य वस्तु अणुमात्र भी नहीं है । सुतरां जो इस प्रकार वेदार्थको जाननेवाला है वह सर्वज्ञ है । इस प्रकार मूलसहित संसारवृक्षके ज्ञानकी स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

---

* जिसके आश्रयसे जीविका निर्वाह की जाय, उसे आजीव्य कहते हैं ।

तस्य एव संसारवृक्षस्य अपरा अवयवकल्पना उच्यते—

उसी संसारवृक्षके अन्य अङ्गोकी कल्पना कही जाती है—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अधो मनुष्यादिभ्यो यावत् स्थावरम् ऊर्ध्वं च यावद् ब्रह्मा विश्वसृजो धर्म इति एतद् अन्तं यथाकर्म यथाश्रुतं ज्ञानकर्मफलानि तस्य वृक्षस्य शाखा इव शाखाः प्रसृताः प्रगता गुणप्रवृद्धा गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रवृद्धा स्थूलीकृता उपादानभूतैः विषयप्रवाला विषयाः शब्दादयः प्रवाला इव देहादिकर्मफलेभ्यः शाखाभ्यः अङ्कुरीभवन्ति इव तेन विषयप्रवालाः शाखाः।

अपने उपादान-कारणरूप सत्त्व, रज और तम—इन तीनो गुणोसे बढ़ी हुई—स्थूलभावको प्राप्त हुई और विषयरूपी कोंपलोंवाली, उस वृक्षकी बहुत-सी शाखाएँ, जो कि अपने-अपने कर्म और ज्ञानके अनुरूप—कर्म और ज्ञानकी फलस्वरूपा योनियाँ हैं, नीचेकी ओर मनुष्योसे लेकर स्थावरपर्यन्त और ऊपरकी ओर धर्म यानी विश्वकर्ता ब्रह्मापर्यन्त, वृक्षकी शाखाओके समान फैली हुई हैं । कर्मफलरूप देहादि शाखाओंसे शब्दादि विषय, कोपलोंके समान अङ्कुरित-से होते है, इसलिये वे शरीरादिरूप शाखाएँ विषयरूपी कोपलोवाली हैं ।

संसारवृक्षस्य परममूलम् उपादानं कारणं पूर्वम् उक्तम् अथ इदानीं कर्मफलजनितरागद्वेषादिवासना मूलानि इव धर्माधर्मप्रवृत्तिकारणानि अवान्तरभावीनि तानि अधः च देवाद्यपेक्षया मूलानि अनुसंततानि अनुप्रविष्टानि कर्मानुबन्धीनि कर्म धर्माधर्मलक्षणम् अनुबन्धः पश्चाद्भावी येषाम् उद्भूतिम् अनुभवति इति तानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके विशेषतः अत्र हि मनुष्याणां कर्माधिकारः प्रसिद्धः ॥२॥

संसारवृक्षका परम मूल—उपादानकारण पहले बतलाया जा चुका है । अब कर्मफलजनित राग-द्वेष आदिकी वासनाएँ जो मूलके समान धर्माधर्मविषयक प्रवृत्तिका कारण और अवान्तरसे (आगे-पीछे) होनेवाली हैं (उनको कहते हैं) । वे मनुष्यलोकमे कर्मानुबन्धिनी वासनारूप मूलें देवादिकी अपेक्षा नीचे भी, अविच्छिन्नरूपसे फैली हुई हैं । पुण्य-पापरूप कर्म जिनका अनुबन्ध यानी पीछे-पीछे होनेवाला है, अर्थात् जिनकी उत्पत्तिका अनुवर्तन करनेवाला है, वे कर्मानुबन्धी कहलाती हैं । यहाँ मनुष्योका ही विशेषरूपसे कर्ममे अधिकार प्रसिद्ध है (इसलिये वे मूलें मनुष्यलोकमे कर्मानुबन्धिनी बतलायी गयी हैं) ॥ २ ॥

यः तु अयं वर्णितः संसारवृक्षः—

यह जो वर्णन किया हुआ संसारवृक्ष है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

न रूपम् अस्य इह यथा वर्णितं तथा न एव उपलभ्यते स्वप्नमरीच्युदकमायागन्धर्वनगरसमत्वाद् दृष्टनष्टस्वरूपो हि स इति अत एव न अन्तो न पर्यन्तो निष्ठा समाप्तिः वा विद्यते तथा न च आदिः इत आरभ्य अयं प्रवृत्त इति न केनचित् गम्यते। न च संप्रतिष्ठा स्थितिः मध्यम् अस्य न केनचिद् उपलभ्यते।

अश्वत्थम् एनं यथोक्तं सुविरूढमूलं सुष्ठु विरूढानि विरोहं गतानि मूलानि यस्य तम् एनं सुविरूढमूलम् असङ्गशस्त्रेण असङ्गः पुत्रवित्तलोकैषणादिभ्यो व्युत्थानं तेन असङ्गशस्त्रेण दृढेन परमात्माभिमुख्यनिश्चयदृढीकृतेन पुनः पुनर्विवेकाभ्यासाश्मनिशितेन छित्त्वा संसारवृक्षं सबीजम् उद्धृत्य॥ ३॥

इसका स्वरूप जैसा यहाँ वर्णन किया गया है, वैसा उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि यह स्वप्नकी वस्तु, मृगतृष्णाके जल और मायारचित गन्धर्व-नगरके समान होनेसे, देखते-देखते नष्ट होनेवाला है। इसी कारण इसका अन्त अर्थात् अन्तिमावस्था—अवसान या समाप्ति भी नहीं है।

तथा इसका आदि भी नहीं है, अर्थात् यहाँसे आरम्भ होकर यह संसार चला है, ऐसा किसीसे नहीं जाना जा सकता और इसकी संप्रतिष्ठा—स्थिति भी नहीं है यानी आदि और अन्तके बीचकी अवस्था भी किसीको उपलब्ध नहीं होती।

इस उपर्युक्त सुविरूढमूल यानी जिसकी मूलें—जड़े अत्यन्त दृढ़ हो गयी हैं—भली प्रकार सङ्गठित हो चुकी है, ऐसे संसाररूप अश्वत्थको, असङ्गशस्त्रसे छेदन करके यानी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणादिसे उपराम हो जाना ही 'असङ्ग' है, ऐसे असङ्गशस्त्रसे जो कि परमात्माके सम्मुख होनारूप निश्चयसे दृढ़ किया हुआ है और बारंबार विवेकाभ्यासरूप पत्थरपर घिसकर पैना किया हुआ है, इस संसारवृक्षको बीजसहित उखाड़कर॥ ३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

ततः पश्चात् पदं वैष्णवं तत्परिमार्गितव्यं परिमार्गणम् अन्वेषणं ज्ञातव्यम् इत्यर्थः यस्मिन् पदे गताः प्रविष्टा न निवर्तन्ति न आवर्तन्ते भूयः पुनः संसाराय।

कथं परिमार्गितव्यम् इति आह—

तम् एव च यः पदशब्देन उक्त आद्यम् आदौ भवं पुरुषं प्रपद्ये इति एवं परिमार्गितव्यं

उसके पश्चात् उस परम वैष्णव-पदको खोजना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये कि जिस पदमें पहुँचे हुए पुरुष, फिर संसारमे नहीं लौटते—पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते।

(उस पदको) कैसे खोजना चाहिये? सो कहते है—

जो पदशब्दसे कहा गया है, उसी आदिपुरुषकी मैं शरण हूँ, इस भावसे अर्थात् उसके शरणागत

कः असौ पुरुष इति उच्यते—

यतो **यस्मात् पुरुषात् संसारमायावृक्ष-**प्रवृत्तिः प्रसृता **निःसृता ऐन्द्रजालिकाद् इव माया** पुराणी **चिरंतनी** ॥ ४ ॥

वह पुरुष कौन है, सो बतलाते हैं—

जिस पुरुषसे बाजीगरकी मायाके समान इस मायारचित संसारवृक्षकी सनातन प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है—प्रकट हुई है ॥ ४ ॥

कथंभूताः तत् पदं गच्छन्ति इति उच्यते—

उस परमपदको कैसे पुरुष प्राप्त करते है ? सो कहते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

निर्मानमोहा **मानः च मोहः च मानमोहौ तौ निर्गतौ येभ्यः ते निर्मानमोहा मानमोह-वर्जिताः,** जितसङ्गदोषाः **सङ्ग एव दोषः सङ्गदोषो जितः सङ्गदोषो यैः ते जितसङ्गदोषाः,** अध्यात्म-नित्याः **परमात्मस्वरूपालोचननित्याः तत्पराः,** विनिवृत्तकामा **विशेषतो निर्लेपेन निवृत्ताः कामा येषां ते विनिवृत्तकामाः, यतयः संन्यासिनो** द्वन्द्वैः **प्रियाप्रियादिभिः** विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः **परित्यक्ता** गच्छन्ति अमूढा **मोहवर्जिताः** पदम् अव्ययं तद् **यथोक्तम्** ॥ ५ ॥

जो मान-मोहसे मुक्त है—जिनका अभिमान और अज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे जो मान-मोहसे रहित है, जो जित-सङ्ग-दोष है—जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जो नित्य अध्यात्मविचारमे लगे हुए है—सदा परमात्माके स्वरूपकी आलोचना करनेमे तत्पर हैं, जो कामनासे रहित है—जिनकी समस्त कामनाएँ निर्लेपभावसे (मूलसहित) निवृत्त हो गयी है, ऐसे यति—संन्यासी जो कि सुख-दुःख नामक प्रिय और अप्रिय आदि द्वन्द्वोंसे छूटे हुए हैं, वे मोहरहित—ज्ञानी, उस उपर्युक्त अविनाशी पदको पाते है ॥ ५ ॥

तद् एव पदं पुनः विशिष्यते—

वही पद फिर अन्य विशेषणोंसे बतलाया जाता है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

तद् **धाम इति व्यवहितेन धाम्ना सम्बन्धः ।**

धाम तेजोरूपं पदं न भासयते सूर्य **आदित्यः सर्वावभासनशक्तिमत्त्वे अपि सति । तथा** न शशाङ्कः **चन्द्रो** न पावको **न अग्निः अपि ।**

'तत्' शब्दका आगेवाले—व्यवधानयुक्त 'धाम' शब्दके साथ सम्बन्ध है ।

उस तेजोमय धामको यानी परमपदको, सूर्य—आदित्य सबको प्रकाशित करनेकी शक्तिवाला होनेपर भी प्रकाशित नहीं कर सकता । वैसे ही शशाङ्क—चन्द्रमा और पावक—अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकता ।

यद् धाम वैष्णवं पदं गत्वा प्राप्य न निवर्तन्ते यत् च सूर्यादिः न भासयते तद् धाम पदं परमं मम विष्णोः ॥ ६ ॥

जिस परमधामको यानी वैष्णवपदको पाकर मनुष्य पीछे नहीं लौटते और जिसको सूर्यादि ज्योतियाँ प्रकाशित नहीं कर सकतीं, वह मुझ विष्णुका परमधाम—पद है ॥ ६ ॥

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' इति उक्तम् । ननु सर्वा हि गतिः आगत्यन्ता संयोगा विप्रयोगान्ता इति हि प्रसिद्धं कथम् उच्यते तद्धामगतानां नास्ति निवृत्तिः इति ।

शृणु तत्र कारणम्—

पू०—**'जहाँ जाकर फिर नहीं लौटते'** यह बात कही गयी । परन्तु सभी गतियाँ, अन्तमें पुनरागमनयुक्त होती हैं और सभी संयोग अन्तमे वियोगवाले होते हैं, यह बात प्रसिद्ध है । फिर यह बात कैसे कही जाती है कि उस धामको प्राप्त हुए पुरुषोंका पुनरागमन नहीं होता ?

उ०—उसमे जो कारण है वह सुन—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

मम एव परमात्मनः अंशो भागः अवयव एकदेश इति अनर्थान्तरं जीवलोके जीवानां लोके संसारे जीवभूतो भोक्ता कर्ता इति प्रसिद्धः सनातनः ।

यथा जलसूर्यकः सूर्यांशो जलनिमित्तापाये सूर्यम् एव गत्वा न निवर्तते तथा अयम् अपि अंशः तेन एव आत्मना संगच्छति एवम् एव ।

यथा वा घटाद्युपाधिपरिच्छिन्नो घटाद्याकाश आकाशांशः सन् घटादिनिमित्तापाये आकाशं प्राप्य न निवर्तते इति एवम् अत उपपन्नम् उक्तम् 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' इति ।

ननु निरवयवस्य परमात्मनः कुतः अवयव एकदेशः अंश इति । सावयवत्वे च विनाशप्रसङ्गः अवयवविभागात् ।

जीवलोकमें अर्थात् संसारमे, जो जीवरूप शक्ति, भोक्ता, कर्ता इत्यादि नामोसे प्रसिद्ध है, वह मुझ परमात्माका ही सनातन अंश है, अर्थात् अंग, भाग, एकदेश जो भी कुछ कहो, एक ही अभिप्राय है ।

जैसे जलमे प्रतीत होनेवाला सूर्यका अंश—प्रतिविम्ब, जलरूप निमित्तका नाश होनेपर, सूर्यको ही प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता, वैसे ही उस परमात्माका यह अंश भी, उस परमात्मासे ही संयुक्त हो जाता है । फिर नहीं लौटता ।

अथवा जैसे घट आदि उपाधिसे परिच्छिन्न घटादिका आकाश, आकाशका ही अंश है और वह घट आदि निमित्तके नाश होनेपर, आकाशको ही प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता, वैसे ही इसके विषयमें भी समझना चाहिये । सुतरां **'जहाँ जाकर नहीं लौटते'** यह कहना उचित ही है ।

पू०—अवयवरहित परमात्माका अवयव, एकदेश अथवा अंश, कैसे हो सकता है ? और यदि उसे अवयवयुक्त मानें, तो उन अवयवोंका विभाग होनेसे परमात्माके नाशका प्रसङ्ग आ जायगा ।

न एष दोषः अविद्याकृतोपाधिपरिच्छिन्न एकदेशः अंश इव कल्पितो यतः। दर्शितः च अयम् अर्थः क्षेत्राध्याये विस्तरशः।

स च जीवो मदंशत्वेन कल्पितः कथं संसरति उत्क्रामति च इति उच्यते—

मन.षष्ठानि इन्द्रियाणि **श्रोत्रादीनि** प्रकृतिस्थानि **स्वस्थाने कर्णशष्कुल्यादौ प्रकृतौ स्थितानि** कर्षति **आकर्षति** ॥ ७ ॥

उ०—यह दोष नहीं है। क्योंकि अविद्याकृत उपाधिसे परिच्छिन्न, एकदेश ही अंशकी भाँति माना गया है। यह बात क्षेत्राध्यायमे विस्तारपूर्वक दिखलायी गयी है।

वह मेरा अंशरूप माना हुआ जीव, संसारमे कैसे आता है और कैसे शरीर छोड़कर जाता है, सो बतलाते हैं—

(यह जीवात्मा) मन जिनमें छठा है, ऐसी कर्णछिद्रादि अपने-अपने गोलकरूप प्रकृतियोंमे स्थित हुई, श्रोत्रादि इन्द्रियोंको आकर्षित करता है ॥ ७ ॥

कस्मिन् काले—

किस कालमे (आकर्षित करता है)?

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

यत् च अपि **यदा च अपि** उत्क्रामति ईश्वरो **देहादिसंघातस्वामी जीवः तदा कर्षति इति श्लोकस्य द्वितीयपादः अर्थवशात् प्राथम्येन संबध्यते।**

यदा च पूर्वस्मात् शरीरात् शरीरान्तरम् आप्नोति **तदा** गृहीत्वा एतानि **मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि** संयाति **सम्यग् याति गच्छति।**

किम् इव इति आह वायुः **पवनो** गन्धान् इव आशयात् **पुष्पादेः** ॥ ८ ॥

जब यह देहादि-संघातका स्वामी जीवात्मा, शरीरको छोड़कर जाता है तब (इनको) आकर्षित करता है। पहले और इस श्लोकके अर्थकी संगतिके वशसे श्लोकके दूसरे पादकी व्याख्या पहले की गयी है।

तथा जब यह जीवात्मा, पहले शरीरसे (निकलकर) दूसरे शरीरको पाता है, तब मनसहित इन छः इन्द्रियोंको साथ लेकर जाता है।

कैसे लेकर जाता है? सो बतलाते हैं—जैसे वायु गन्धके स्थानोंसे यानी पुष्पादिसे गन्धको लेकर जाता है, वैसे ही ॥ ८ ॥

कानि पुनः तानि इति—

वे (मनसहित छः इन्द्रियाँ) कौन-सी हैं?

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च **त्वगिन्द्रियं** रसनं घ्राणम् एव च मनः च **षष्ठं प्रत्येकम् इन्द्रियेण सह** अधिष्ठाय **देहस्थो** विषयान् **शब्दादीन्** उपसेवते ॥ ९ ॥

यह शरीरमे स्थित (जीवात्मा) श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और नासिका इनमेसे प्रत्येक इन्द्रियको और उसके साथ छठे मनको, आश्रय बनाकर, शब्दादि विषयोंका सेवन किया करता है ॥ ९ ॥

एवं देहगतं देहात्—

इस प्रकार इस देहधारी (जीवात्मा) को शरीरसे—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

उत्क्रामन्तं परित्यजन्तं देहं पूर्वोपात्तं स्थितं वा देहे तिष्ठन्तं भुञ्जानं वा शब्दादीन् च उपलभमानं गुणान्वितं सुखदुःखमोहाख्यैः गुणैः अन्वितम् अनुगतं संयुक्तम् इत्यर्थः । एवंभूतम् अपि एनम् अत्यन्तदर्शनगोचरप्राप्तं विमूढा दृष्टादृष्टविषयभोगबलाकृष्टचेतस्तया अनेकधा मूढा न अनुपश्यन्ति अहो कष्टं वर्तते इति अनुक्रोशति च भगवान् ।

ये तु पुनः प्रमाणजनितज्ञानचक्षुषः ते एनं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषो विविक्तदृष्टय इत्यर्थः ॥१०॥

उत्क्रमण करते हुएको अर्थात् पहले प्राप्त किये शरीरको छोड़कर जाते हुएको, अथवा शरीरमें स्थित रहते हुएको, या शब्दादि विषयोंका भोग करते हुएको, या सुख-दुःख-मोह आदि गुणोंसे युक्त हुएको भी, यानी इस प्रकार अत्यन्त दर्शनगोचर होते हुए भी इस आत्माको मूढ़ लोग, जो कि दृष्ट और अदृष्ट विषयभोगोंकी लालसाके बलसे चित्त आकृष्ट हो जानेके कारण अनेक प्रकारसे मोहित हो रहे हैं, नहीं देखते, अहो ! यह बड़े दुःखकी बात है, इस प्रकार भगवान् करुणा प्रकट करते हैं ।

परन्तु जो प्रमाणजनित ज्ञाननेत्रोंसे युक्त हैं अर्थात् विवेकदृष्टिवाले हैं, वे इसे देखते हैं ॥ १० ॥

केचित् तु—

और कई एक—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यतन्तः प्रयत्नं कुर्वन्तो योगिनः च समाहितचित्ता एनं प्रकृतम् आत्मानं पश्यन्ति अयम् अहम् अस्मि इति उपलभन्ते आत्मनि स्वस्यां बुद्धौ अवस्थितम् ।

यतन्तः अपि शास्त्रादिप्रमाणैः अकृतात्मानः असंस्कृतात्मानः तपसा इन्द्रियजयेन च दुश्चरिताद् अनुपरता अशान्तदर्पात्मानः प्रयत्नं कुर्वन्तः अपि न एनं पश्यन्ति अचेतसः अविवेकिनः ॥ ११ ॥

प्रयत्न करनेवाले, समाहितचित्त योगीजन, इस आत्माको, जिसका कि प्रकरण चल रहा है, अपने अन्तःकरणमें स्थित देखते हैं अर्थात् 'यही मैं हूँ' इस प्रकार आत्मस्वरूपका साक्षात् किया करते हैं ।

परन्तु जिन्होंने तप और इन्द्रियजय आदि साधनोंद्वारा अपने अन्तःकरणका संस्कार नहीं किया है, जो बुरे आचरणोंसे उपराम नहीं हुए हैं, जो अशान्त और घमण्डी हैं, वे अविवेकी पुरुष, शास्त्रादिके प्रमाणोंसे प्रयत्न करते हुए भी, इस आत्माको नहीं देख पाते ॥ ११ ॥

यत् पदं सर्वस्य अवभासकम् अपि अग्न्यादित्यादिकं ज्योतिः न अवभासयते, यत्प्राप्ताः च मुमुक्षवः पुनः संसाराभिमुखा न निवर्तन्ते, यस्य च पदस्य उपाधिभेदम् अनुविधीयमाना जीवा घटाकाशादय इव आकाशस्य अंशाः, तस्य पदस्य सर्वात्मत्वं सर्वव्यवहारास्पदत्वं च विवक्षुः चतुर्भिः श्लोकैः विभूतिसंक्षेपम् आह भगवान्—

सबको प्रकाशित करनेवाली अग्नि, सूर्य आदि ज्योतियाँ भी जिस परमपदको प्रकाशित नहीं कर सकतीं, जिस परमपदको प्राप्त हुए मुमुक्षुजन फिर संसारकी ओर नहीं लौटते, जैसे घट आदिके आकाश महाकाशके अंश है, वैसे ही उपाधिजनित भेदसे विभिन्न हुए जीव, जिस परमपदके (कल्पित-भावसे) अंश है, उस परमपदका, सर्वात्मत्व और समस्त व्यवहारका आधारत्व, बतलानेकी इच्छासे भगवान् चार श्लोकोद्वारा संक्षेपसे विभूतियोंका वर्णन करते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

यद् आदित्यगतम् आदित्याश्रयं किं तत्, तेजो दीप्तिः प्रकाशो जगद् भासयते प्रकाशयति अखिलं समस्तम्, यत् चन्द्रमसि शशभृति तेजः अवभासकं वर्तते, यत् च अग्नौ हुतवहे तत् तेजो विद्धि विजानीहि मामकं मदीयं मम विष्णोः तद् ज्योतिः ।

जो तेज—दीप्ति—प्रकाश, सूर्यमे स्थित हुआ अर्थात् सूर्यके आश्रित हुआ समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, जो प्रकाश करनेवाला तेज शशाङ्क—चन्द्रमामे स्थित है और जो अग्निमे वर्तमान है, उस तेजको तू मुझ विष्णुकी अपनी ज्योति समझ ।

अथवा यद् आदित्यगतं तेजः चैतन्यात्मकं ज्योतिः यत् चन्द्रमसि यत् च अग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकं मदीयं मम विष्णोः तद् ज्योतिः ।

अथवा जो तेज यानी चैतन्यमय ज्योति, सूर्यमे स्थित है, तथा जो चन्द्रमा और अग्निमे स्थित है, उस तेजको तू मुझ विष्णुकी स्वकीय (चेतनमयी) ज्योति समझ ।

ननु स्थावरेषु जङ्गमेषु च तत् समानं चैतन्यात्मकं ज्योतिः तत्र कथम् इदं विशेषणं यद् आदित्यगतम् इत्यादि ।

पू०—वह चेतनमयी ज्योति तो चराचर, सभी पदार्थोंमे समानभावसे स्थित है, फिर यह विशेषता कैसे बतलायी कि 'जो तेज सूर्यमे स्थित हैं' इत्यादि ।

न एष दोषः सत्त्वाधिक्याद् आधिक्योपपत्तेः । आदित्यादिषु हि सत्त्वम् अत्यन्तप्रकाशम् अत्यन्तभास्वरम् अतः तत्र एव आविस्तरं ज्योतिः इति तद् विशिष्यते, न तु तत्र एव तद् अधिकम् इति ।

उ०—सत्त्व—स्वच्छताकी अधिकतासे उनमे अधिकता सम्भव होनेके कारण यह दोष नहीं है । क्योकि सूर्य आदिमे सत्त्व—अत्यन्त प्रकाश—अत्यन्त स्वच्छता है, अत. उनमे ही ब्रह्मज्योति अत्यन्त प्रत्यक्ष प्रतिभासित होती है, इसीसे उनकी विशेषता बतलायी गयी है । यह बात नहीं कि वहीं कुछ ब्रह्मज्योति अधिक है ।

यथा हि लोके तुल्ये अपि मुखसंस्थाने न काष्ठकुड्यादौ मुखम् आविर्भवति आदर्शादौ तु स्वच्छे स्वच्छतरे च तारतम्येन आविर्भवति तद्वत् ॥ १२ ॥

जैसे संसारमें देखा जाता है कि समान भावसे सम्मुख-सामने स्थित होनेपर भी, काष्ठ या भित्ति आदिमें मुखका प्रतिबिम्ब नहीं दीखता, पर दर्पण आदि पदार्थमें, जो जितना स्वच्छ और स्वच्छतर होता है उसमे उसी तारतम्यसे, स्वच्छ और स्वच्छतर दीखता है, वैसे ही (इस विषयमें समझो) ॥१२॥

किं च—

तथा—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

गा पृथिवीम् आविश्य प्रविश्य धारयामि भूतानि जगद् अहम् ओजसा बलेन यद् बलं कामरागविवर्जितम् ऐश्वरं जगद्विधारणाय पृथिव्यां प्रविष्टं येन गुर्वी पृथिवी न अधः पतति न विदीर्यते च ।

तथा च मन्त्रवर्णः—'*येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा*' (*तै० सं० ४ । १ । ८*) इति । '*स दाधार पृथिवीम्*' (*तै० सं० ४ । १ । ८*) इत्यादिः च । अतो गाम् आविश्य च भूतानि चराचराणि धारयामि इति युक्तम् उक्तम् ।

किं च पृथिव्यां जाता ओषधीः सर्वा व्रीहियवाद्याः पुष्णामि पुष्टिमतीः रसस्वादुमतीः च करोमि सोमो भूत्वा रसात्मकः सोमः सर्वरसात्मको रसस्वभावः सर्वरसानाम् आकरः सोमः स हि सर्वा ओषधीः स्वात्मरसानुप्रवेशेन पुष्णाति ॥ १३ ॥

मैं पृथिवीमें प्रविष्ट होकर अपने उस बलसे, जो कि कामना और आसक्तिसे रहित मेरा ऐश्वर्य-बल जगत्को धारण करनेके लिये पृथिवीमे प्रविष्ट है, जिस बलके कारण भारवती पृथिवी नीचे नहीं गिरती और फटती भी नहीं, सारे जगत्को धारण करता हूँ ।

यही बात वेदमन्त्र भी कहते हैं कि **'जिससे द्युलोक और भारवती पृथिवी दृढ़ है'** तथा **'वह पृथिवीको धारण करता है'** इत्यादि । अतः यह कहना ठीक ही है कि मै पृथिवीमे प्रविष्ट होकर, चराचर समस्त भूतप्राणियोंको धारण करता हूँ ।

तथा मै ही रसस्वरूप चन्द्रमा होकर पृथिवीमे उत्पन्न होनेवाली धान, जौ आदि समस्त ओषधियोका पोषण करता हूँ अर्थात् उनको पुष्ट और स्वादयुक्त किया करता हूँ । जो सब रसोंका आत्मा है, रस ही जिसका स्वभाव है, जो समस्त रसोंकी खानि है वह सोम है, वही अपने रसका सञ्चार करके, समस्त वनस्पतियोंका पोषण किया करता है ॥ १३ ॥

किं च—

तथा—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

अहम् एव वैश्वानर उदरस्थः अग्निः भूत्वा *'अयम् अग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते'* (बृह० उ० ५।९।१) **इत्यादिश्रुतेः वैश्वानरः सन्** प्राणिनां **प्राणवतां** देहम् आश्रितः **प्रविष्टः** प्राणापानसमायुक्तः **प्राणापानाभ्यां समायुक्तः संयुक्तः** पचामि **पक्तिं करोमि** चतुर्विधं **चतुष्प्रकारम्** अन्नम् **अशनं भोज्यं भक्ष्यं चोष्यं लेह्यं च ।**

भोक्ता वैश्वानरः अग्निः भोज्यम् अन्नं सोमः तद् एतद् उभयम् अग्नीषोमौ सर्वम् इति पश्यतः अन्नदोषलेपो न भवति ॥ १४ ॥

मैं ही, पेटमे रहनेवाला जठराग्नि होकर अर्थात् **'यह अग्नि वैश्वानर है जो कि पुरुषके भीतर स्थित है और जिससे यह (खाया हुआ) अन्न पचता है'** इत्यादि श्रुतियोंसे जिसका वर्णन किया गया है, वह वैश्वानर होकर, प्राणियोंके शरीरमे स्थित—प्रविष्ट होकर प्राण और अपानवायुसे संयुक्त हुआ भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—ऐसे चार प्रकारके अन्नोको पचाता हूँ ।

वैश्वानर अग्नि खानेवाला है और सोम खाया जानेवाला अन्न है । सुतरां यह सारा जगत् अग्नि और सोमस्वरूप है, इस प्रकार देखनेवाला मनुष्य अन्नके दोषसे लिप्त नहीं होता ॥ १४ ॥

किं च—

तथा—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

सर्वस्य **प्राणिजातस्य** अहम् **आत्मा सन्** हृदि **बुद्धौ** सन्निविष्टः **अतो** मत्त **आत्मनः सर्वप्राणिनां** स्मृतिः ज्ञानं **तदपोहनं च । येषां पुण्यकर्मिणां पुण्यकर्मानुरोधेन ज्ञानस्मृती भवतः तथा पापकर्मिणां पापकर्मानुरूपेण स्मृतिज्ञानयोः** अपोहनं च **अपायनम् अपगमनं च ।**

वेदैः च सर्वैः अहम् एव **परमात्मा** वेद्यो **वेदितव्यो** वेदान्तकृद् **वेदान्तार्थसम्प्रदायकृद् इत्यर्थः** । वेदविद् **वेदार्थविद् एव** च अहम् ॥१५॥

मै समस्त प्राणिमात्रका आत्मा होकर उनके अन्तःकरणमे स्थित हूँ । इसलिये समस्त प्राणियोके स्मृति, ज्ञान और उनका लोप भी मुझ आत्मासे ही किया जाता है, अर्थात् जिन पुण्यकर्मा प्राणियोको उनके पुण्यकर्मोंके अनुसार ज्ञान और स्मृति प्राप्त होते है तथा जिन पापाचारियोंके ज्ञान और स्मृतिका उनके पापकर्मानुसार लोप होता है (वह मुझसे ही होता है) ।

समस्त वेदोंद्वारा मै परमात्मा ही जाननेयोग्य हूँ । तथा वेदान्तका कर्ता, अर्थात् वेदान्तार्थके सम्प्रदायका कर्ता और वेदके अर्थको समझनेवाला भी मै ही हूँ ॥ १५ ॥

भगवत ईश्वरस्य नारायणाख्यस्य विभूतिसंक्षेप उक्तो विशिष्टोपाधिकृतो *'यदादित्यगतं तेजः'* **इत्यादिना ।**

'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा नारायण नामक भगवान् ईश्वरकी, विशेष-उत्तम उपाधियोंसे होनेवाली विभूतियाँ, संक्षेपसे कही गयीं ।

अथ अधुना तस्य एव क्षराक्षरोपाधिप्रविभक्ततया निरुपाधिकस्य केवलस्य स्वरूपनिर्दिधारयिषया उत्तरश्लोका आरभ्यन्ते । तत्र सर्वम् एव अतीतानागतानन्तराध्यायार्थजातं त्रिधा राशीकृत्य आह—

अब, क्षर और अक्षर—इन दोनों उपाधियोंसे अलग बतलाकर, उसी उपाधिरहित शुद्ध परमात्माके स्वरूपका निश्चय करनेकी इच्छासे, अगले श्लोकोंका आरम्भ किया जाता है । उनमे पहलेके और आगे आनेवाले सभी अध्यायोंके समस्त अभिप्रायको, तीन भेदोंमे विभक्त करके कहते है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

द्वौ इमौ पृथग् राशीकृतौ पुरुषौ इति उच्येते लोके संसारे क्षरः च क्षरति इति क्षरो विनाशी एको राशिः अपरः पुरुषः अक्षरः तद्विपरीतो भगवतो मायाशक्तिः क्षराख्यस्य पुरुषस्य उत्पत्तिबीजम् अनेकसंसारिजन्तुकामकर्मादिसंस्काराश्रयः अक्षरः पुरुष उच्यते ।

समुदायरूपसे पृथक् किये हुए ये दो भाव, संसारमे पुरुष नामसे कहे जाते है । इनमेंसे एक समुदाय क्षीण होनेवाला—नाशवान् क्षर पुरुष है और दूसरा उससे विपरीत अक्षर पुरुष है, जो कि भगवान्‌की मायाशक्ति है, क्षर पुरुषकी उत्पत्तिका बीज है, तथा अनेक संसारी जीवोंकी कामना और कर्म आदिके संस्कारोंका आश्रय है, वह अक्षर पुरुष कहलाता है ।

कौ तौ पुरुषौ इति आह स्वयम् एव भगवान्—

वे दोनों पुरुष कौन हैं ? सो भगवान् स्वयं ही बतलाते हैं—

क्षरः सर्वाणि भूतानि समस्तं विकारजातम् इत्यर्थः । कूटस्थः कूटो राशी राशिः इव स्थितः, अथवा कूटो माया वञ्चना जिह्मता कुटिलता इति पर्याया अनेकमायादिप्रकारेण स्थितः कूटस्थः संसारबीजानन्त्याद् न क्षरति इति अक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

समस्त भूत अर्थात् प्रकृतिका सारा विकार तो क्षर पुरुष है और कूटस्थ अर्थात् जो कूट—राशिकी भाँति स्थित है अथवा कूट नाम मायाका है जिसके वञ्चना, छल, कुटिलता आदि पर्याय हैं, उपर्युक्त माया आदि अनेक प्रकारसे जो स्थित है, वह कूटस्थ है । संसारका बीज, अन्तरहित होनेके कारण वह कूटस्थ नष्ट नहीं होता, अतः अक्षर कहा जाता है ॥ १६ ॥

आभ्यां क्षराक्षराभ्यां विलक्षणः क्षराक्षरोपाधिद्वयदोषेण अस्पृष्टो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः—

तथा जो क्षर और अक्षर—इन दोनोंसे विलक्षण है, और क्षर-अक्षररूप दोनों उपाधियोंके दोषसे-रहित है वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव वाला—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुषः तु अन्यः अत्यन्तविलक्षण आभ्यां परमात्मा इति परमः च असौ देहाद्यविद्याकृतात्मभ्य आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्चेतन इत्यतः परमात्मा इति उदाहृत उक्तो वेदान्तेषु ।

उत्तम–अतिशय उत्कृष्ट पुरुष तो अन्य ही है । अर्थात् इन दोनोसे अत्यन्त विलक्षण है, जो कि परमात्मा नामसे कहा गया है । वह ईश्वर अविद्याजनित शरीरादि आत्माओंकी अपेक्षा पर है और सब प्राणियोंका आत्मा यानी अन्तरात्मा है इस कारण वेदान्तवाक्योंमें वह 'परमात्मा' नामसे कहा गया है ।

स एव विशेष्यते—

उसीका विशेषरूपसे निरूपण करते हैं—

यो लोकत्रय भूर्भुवःस्वराख्यं स्वकीयया चैतन्यबलशक्त्या आविश्य प्रविश्य बिभर्ति स्वरूपसद्भावमात्रेण बिभर्ति धारयति अव्ययो न अस्य व्ययो विद्यते इति अव्यय ईश्वरः सर्वज्ञो नारायणाख्य ईशनशीलः ॥ १७ ॥

जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग—इन तीनो लोकोंको, अपने चैतन्य-बलकी शक्तिसे उनमे प्रविष्ट होकर, केवल स्वरूप सत्तामात्रसे उनको धारण करता है और जो अविनाशी ईश्वर है, अर्थात् जिसका कभी नाश न हो, ऐसा नारायण नामक सर्वज्ञ और सबका शासन करनेवाला है ॥ १७ ॥

यथा व्याख्यातस्य ईश्वरस्य पुरुषोत्तम इति एतद् नाम प्रसिद्धं तस्य नामनिर्वचनप्रसिद्ध्या अर्थवत्त्वं नाम्नो दर्शयन् निरतिशयः अहम् ईश्वर इति आत्मानं दर्शयति भगवान्—

उपर्युक्त ईश्वरका 'पुरुषोत्तम' यह नाम प्रसिद्ध है, उसका यह नाम किस कारणसे हुआ ? इसकी हेतुसहित उपपत्ति बतलाकर, नामकी सार्थकता दिखलाते हुए भगवान् अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं कि 'मै निरतिशय ईश्वर हूँ'—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

यस्मात् क्षरम् अतीतः अहं संसारमायावृक्षम् अश्वत्थाख्यम् अतिक्रान्तः अहम् अक्षराद् अपि संसारवृक्षबीजभूताद् अपि च उत्तम उत्कृष्टतम ऊर्ध्वतमो वा, अतः क्षराक्षराभ्याम् उत्तमत्वाद् अस्मि भवामि लोके वेदे च प्रथितः प्रख्यातः पुरुषोत्तम इति एवं मां भक्तजना विदुः कवयः काव्यादिषु च इदं नाम निबध्नन्ति पुरुषोत्तम इति अनेन अभिधानेन अभिगृणन्ति ॥ १८ ॥

क्योंकि मै क्षरभावसे अतीत हूँ अर्थात् अश्वत्थ नामक मायामय संसारवृक्षका अतिक्रमण किये हुए हूँ और संसारवृक्षके बीज-स्वरूप अक्षरसे (मूल प्रकृतिसे) भी उत्तम—अतिशय उत्कृष्ट अथवा अतिशय उच्च हूँ । इसीलिये अर्थात् क्षर और अक्षरसे उत्तम होनेके कारण, लोक और वेदमे, मै पुरुषोत्तम नामसे विख्यात हूँ । भक्तजन मुझे इसी प्रकार जानते हैं और कविजन भी काव्यादिमे इसी नामका प्रयोग करते है अर्थात् 'पुरुषोत्तम' इसी नामसे ही मेरा वर्णन करते है ॥ १८ ॥

अथ इदानीं यथा निरुक्तम् आत्मानं यो वेद तस्य इदं फलम् उच्यते—

अब इस प्रकार बतलाये हुए आत्मतत्त्वको जो जानता है उसके लिये यह फल बतलाया जाता है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

यो माम् **ईश्वरं यथोक्तविशेषणम्** एवं **यथोक्तेन प्रकारेण** असमूढः **संमोहवर्जितः सन्** जानाति **अयम् अहम् अस्मि इति** पुरुषोत्तमं स सर्ववित् **सर्वात्मना सर्वं वेत्ति इति सर्वज्ञः सर्वभूतस्थं** भजति मां सर्वभावेन **सर्वात्मचित्ततया** हे भारत ॥ १९ ॥

जो कोई अज्ञानसे रहित हुआ पुरुष, उपर्युक्त विशेषणोसे युक्त मुझ पुरुषोत्तम ईश्वरको, ऊपर कहे हुए प्रकारसे यह जानता है कि 'यह (पुरुषोत्तम) मै हूँ' वह सर्वज्ञ है—वह सर्वात्मभावसे सबको जानता है, अतः सर्वज्ञ है और हे भारत ! (वह) सब भूतोमे स्थित मुझ परमात्माको ही सर्वभावसे— सबका आत्मा समझकर भजता है ॥ १९ ॥

अस्मिन् अध्याये भगवत्तत्त्वज्ञानं मोक्षफलम् उक्त्वा अथ इदानीं तत् स्तौति—

इस अध्यायमे मोक्षरूप फलके देनेवाले भगवत्-तत्त्वज्ञानको कहकर अब उसकी स्तुति करते हैं—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति एतद् गुह्यतमं **गोप्यतमम् अत्यन्तरहस्यम्** इति एतत् । किं तत्, शास्त्रम् ।

यद्यपि गीताख्यं समस्तं शास्त्रम् उच्यते तथापि अयम् एव अध्याय इह शास्त्रम् इति उच्यते स्तुत्यर्थं प्रकरणात् । सर्वो हि गीताशास्त्रार्थः अस्मिन् अध्याये समासेन उक्तो न केवलं सर्वः च वेदार्थ इह परिसमाप्तो *'यस्तं वेद स वेदवित्' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'* **इति च उक्तम् ।**

इदम् उक्तं **कथितं** मया हे अनघ **अपाप** ।

एतत् **शास्त्रं यथादर्शितार्थं** बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् **भवेत् न अन्यथा** कृतकृत्यः च भारत ।

यह गुह्यतम—सबसे अधिक गोपनीय अर्थात् अत्यन्त गूढ़ रहस्य है । वह क्या है ? शास्त्र ।

यद्यपि सारी गीताका नाम ही शास्त्र कहा जाता है, परन्तु यहाँ स्तुतिके लिये प्रकरणसे यह (पंद्रहवाँ) अध्याय ही 'शास्त्र' नामसे कहा गया है । क्योंकि इस अध्यायमे केवल सारे गीताशास्त्रका अर्थ ही संक्षेपसे नहीं कहा गया है, किन्तु इसमे समस्त वेदोका अर्थ भी समाप्त हो गया है । यह कहा भी है कि **'जो उसे जानता है वही वेदको जाननेवाला है'** **'समस्त वेदोंसे मैं ही जाननेयोग्य हूँ ।'**

हे निष्पाप अर्जुन ! ऐसा यह (परम गोपनीय शास्त्र) मैंने कहा है । हे भारत ! ऊपर दिखलाये हुए अर्थसे युक्त इस शास्त्रको जानकर ही, मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है, अन्य प्रकारसे नहीं ।

कृतं कृत्यं कर्तव्यं येन स कृतकृत्यो विशिष्टजन्मप्रसूतेन ब्राह्मणेन यत् कर्तव्यं तत् सर्वं भगवत्तत्त्वे विदिते कृतं भवेद् इत्यर्थः। न च अन्यथा कर्तव्यं परिसमाप्यते कस्यचिद् इति अभिप्रायः।

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति च उक्तम्।

'एतद्धि जन्मसामग्र्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।

प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥

(*मनुस्मृति १२। ९३*) इति च मानवं वचनम्।

यत एतत् परमार्थतत्त्वं मत्तः श्रुतवान् असि ततः कृतार्थः त्वं भारत इति॥ २०॥

अभिप्राय यह है कि जिसने करनेयोग्य सब कुछ कर लिया हो, वह कृतकृत्य है, अतः श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेनेवाले ब्राह्मणद्वारा जो कुछ किया जानेयोग्य है, वह सब भगवान्‌का तत्त्व जान लेनेपर किया हुआ हो जाता है। अन्य प्रकारसे किसीके भी कर्तव्यकी समाप्ति नहीं होती।

कहा भी है कि—'हे पार्थ! समस्त कर्म-समुदाय, ज्ञानमें सर्वथा समाप्त हो जाता है।'

तथा मनुका भी वचन है कि 'विशेषरूपसे ब्राह्मणके जन्मकी यही पूर्णता है; क्योंकि इसीको प्राप्त करके द्विज कृतकृत्य होता है अन्य प्रकारसे नहीं।'

हे भारत! क्योंकि तूने मुझसे यह परमार्थतत्त्व सुना है, इसलिये तू कृतार्थ हो गया है॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकर-भगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

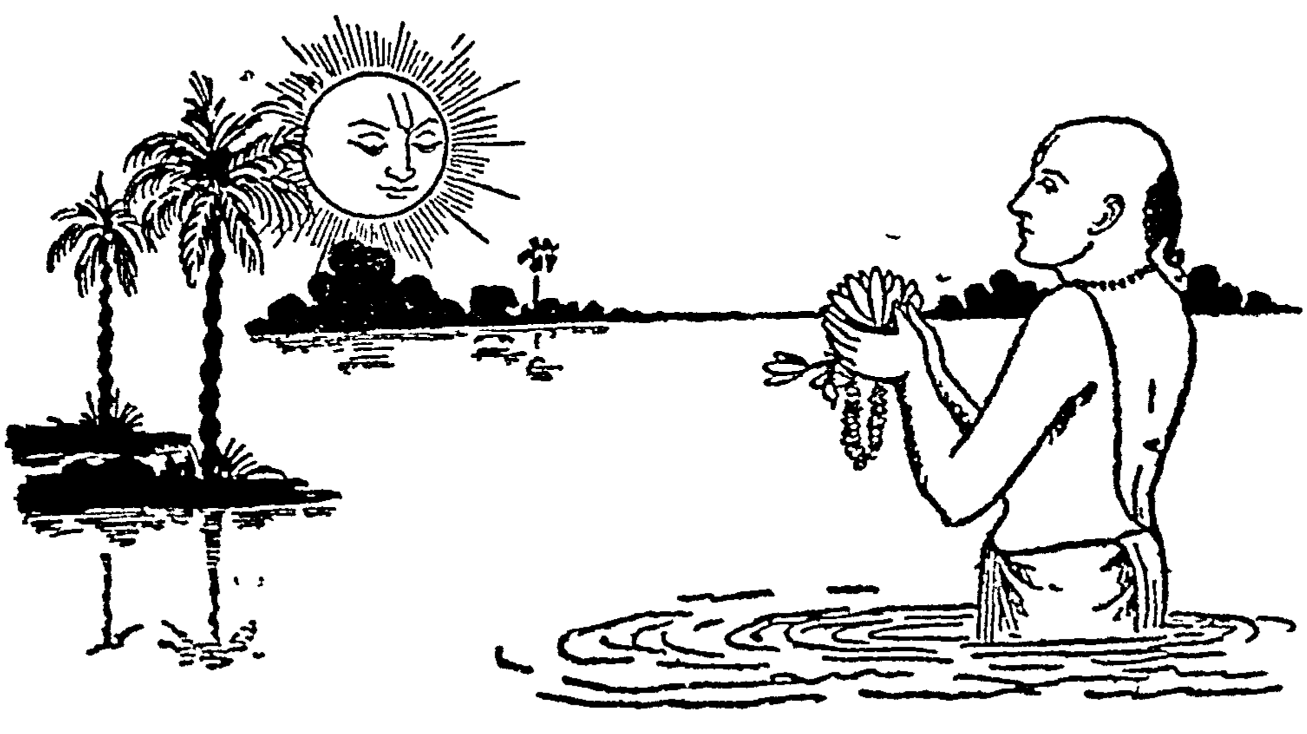

ॐ

षोडशोऽध्यायः

दैवी आसुरी राक्षसी च इति प्राणिनां प्रकृतयो नवमे अध्याये सूचिताः तासां विस्तरेण प्रदर्शनाय अभयं सत्त्वसंशुद्धिः इत्यादिः अध्याय आरभ्यते,

तत्र संसारमोक्षाय दैवी प्रकृतिः निबन्धनाय आसुरी राक्षसी च इति दैव्या आदानाय प्रदर्शनं क्रियते इतरयोः परिवर्जनाय,

श्रीभगवानुवाच—

नवे अध्यायमे प्राणियोकी दैवी, आसुरी और राक्षसी–ये तीन प्रकारकी प्रकृतियाँ बतलायी गयी हैं। उन्हे विस्तारपूर्वक दिखानेके लिये 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादि (श्लोकोंसे युक्त सोलहवाँ) अध्याय आरम्भ किया जाता है।

उन तीनोमे दैवी प्रकृति संसारसे मुक्त करनेवाली है, तथा आसुरी और राक्षसी प्रकृतियाँ बन्धन करनेवाली है, अतः यहाँ दैवी प्रकृति सम्पादन करनेके लिये और दूसरी दोनों त्यागनेके लिये दिखलायी जाती हैं—श्रीभगवान् बोले—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

अभयम् अभीरुता सत्त्वसंशुद्धिः सत्त्वस्य अन्तःकरणस्य संव्यवहारेषु परवञ्चनमायानृतादिपरिवर्जनं शुद्धभावेन व्यवहार इत्यर्थः।

ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतः च आत्मादिपदार्थानाम् अवगमः अवगतानाम् इन्द्रियाद्युपसंहारेण एकाग्रतया स्वात्मसंवेद्यतापादनं योगः तयोः ज्ञानयोगयोः व्यवस्थितिः व्यवस्थानं तन्निष्ठता एषा प्रधाना दैवी सात्त्विकी संपत्।

यत्र च येषाम् अधिकृतानां या प्रकृतिः संभवति सात्त्विकी सा उच्यते—

दानं यथाशक्ति संविभागः अन्नादीनाम्,

अभय—निर्भयता, सत्त्वसंशुद्धि—अन्तःकरणकी शुद्धि—व्यवहारमे दूसरेके साथ ठगाई, कपट और झूठ आदि अवगुणोंको छोडकर शुद्ध भावसे आचरण करना।

ज्ञान और योगमे निरन्तर स्थिति—शास्त्र और आचार्यसे आत्मादि पदार्थोंको जानना 'ज्ञान' है और उन जाने हुए पदार्थोंका इन्द्रियादिके निग्रहसे (प्राप्त) एकाग्रताद्वारा अपने आत्मामें प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना 'योग' है। उन ज्ञान और योग दोनोंमे स्थिति अर्थात् स्थिर हो जाना—तन्मय हो जाना, यही प्रधान सात्त्विकी—दैवी संपद् है।

और भी जिन अधिकारियोंकी जिस विषयमे जो सात्त्विकी प्रकृति हो सकती है वह कही जाती है—

दान—अपनी शक्तिके अनुसार अन्नादि वस्तुओंका विभाग करना।

दमः च बाह्यकरणानाम् उपशमः अन्तःकरणस्य उपशमं शान्तिं वक्ष्यति ।

यज्ञः च श्रौतः अग्निहोत्रादिः, स्मार्तः च देवयज्ञादिः ।

स्वाध्याय ऋग्वेदाद्यध्ययनम् अदृष्टार्थम् ।

तपो वक्ष्यमाणं शरीरादि, आर्जवम् ऋजुत्वं सर्वदा ॥ १ ॥

दम—बाह्य इन्द्रियोंका संयम । अन्तःकरणकी उपरामता तो शान्तिके नामसे आगे कही जायगी ।

यज्ञ—अग्निहोत्रादि श्रौतयज्ञ और देवपूजनादि स्मार्तयज्ञ ।

स्वाध्याय—अदृष्टलाभके लिये ऋक् आदि वेदोंका अध्ययन करना ।

तप—शारीरिक आदि तप जो आगे बतलाया जायगा और आर्जव अर्थात् सदा सरलता-सीधापन ।

किं च—

तथा—

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

अहिंसा अहिंसनं प्राणिनां पीडावर्जनम्, सत्यम् अप्रियानृतवर्जितं यथाभूतार्थवचनम् ।

अक्रोधः परैः आक्रुष्टस्य अभिहतस्य वा प्राप्तस्य क्रोधस्य उपशमनम्, त्यागः संन्यासः पूर्वं दानस्य उक्तत्वात् ।

शान्तिः अन्तःकरणस्य उपशमः अपैशुनम् अपिशुनता परस्मै पररन्ध्रप्रकटीकरणं पैशुनं तदभावः अपैशुनम् ।

दया कृपा भूतेषु दुःखितेषु, अलोलुप्त्वम् इन्द्रियाणां विषयसंनिधौ अविक्रिया, मार्दवं मृदुता अक्रौर्यम् ।

ह्रीः लज्जा अचापलम् असति प्रयोजने वाक्पाणिपादादीनाम् अव्यापारयितृत्वम् ॥ २ ॥

अहिंसा—किसी भी प्राणीको कष्ट न देना, सत्य—अप्रियता और असत्यसे रहित यथार्थ वचन ।

अक्रोध—दूसरोंके द्वारा गाली दी जाने या ताड़ना दी जानेपर उत्पन्न हुए क्रोधको शान्त कर लेना । त्याग—संन्यास (दान नहीं) क्योंकि दान पहले कहा जा चुका है ।

शान्ति—अन्तःकरणका संकल्परहित होना, अपैशुन—अपिशुनता, किसी दूसरेके सामने पराये छिद्रोंको प्रकट करना पिशुनता (चुगली) है, उसका न होना अपिशुनता है ।

भूतोंपर दया—दुखी प्राणियोंपर कृपा करना, अलोलुपता—विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी इन्द्रियोंमें विकार न होना, मार्दव—कोमलता अर्थात् अक्रूरता ।

ह्री—लज्जा और अचपलता—बिना प्रयोजन वाणी, हाथ, पैर आदिकी व्यर्थ क्रियाओंका न करना ॥ २ ॥

किं च—

तथा—

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेजः प्रागल्भ्यं न त्वग्गता दीप्तिः, क्षमा आक्रुष्टस्य ताडितस्य वा अन्तर्विक्रियानुत्पत्तिः उत्पन्नायां विक्रियायां प्रशमनम् अक्रोध इति अवोचाम, इत्थं क्षमाया अक्रोधस्य च विशेषः।

धृतिः देहेन्द्रियेषु अवसादं प्राप्तेषु तस्य प्रतिषेधकः अन्तःकरणवृत्तिविशेषो येन उत्तम्भितानि करणानि देहः च न अवसीदन्ति।

शौचं द्विविधं मृज्जलकृतं बाह्यम् आभ्यन्तरं च मनोबुद्ध्योः नैर्मल्यं मायारागादिकालुष्याभाव एवं द्विविधं शौचम्।

अद्रोहः परजिघांसाभावः अहिंसनम्।

नातिमानिता अत्यर्थं मानः अतिमानः स यस्य विद्यते सः अतिमानी तद्भावः अतिमानिता तदभावो नातिमानिता आत्मनः पूज्यतातिशयभावनाभाव इत्यर्थः।

भवन्ति अभयादीनि एतदन्तानि संपदम् अभिजातस्य किंविशिष्टां संपदम्, दैवीं देवानां संपदम् अभिलक्ष्य जातस्य दैवविभूत्यर्हस्य भाविकल्याणस्य इत्यर्थो हे भारत॥ ३॥

तेज—प्रागल्भ्य (तेजस्विता), चमडीकी चमक नहीं। क्षमा—गाली दी जाने या ताड़ना दी जानेपर भी अन्तःकरणमे विकार उत्पन्न न होना। उत्पन्न हुए विकारको शान्ति कर देना तो पहले अक्रोधके नामसे कह चुके है। क्षमा और अक्रोधका इतना ही भेद है।

धृति—शरीर और इन्द्रियादिमे थकावट उत्पन्न होनेपर, उस थकावटको हटानेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है, उसका नाम 'धृति' है, जिसके द्वारा उत्साहित की हुई इन्द्रियाँ और शरीर कार्यमे नहीं थकते।

शौच—दो प्रकारकी शुद्धि, अर्थात् मिट्टी और जल आदिसे बाहरकी शुद्धि, एवं कपट और रागादिकी कालिमाका अभाव होकर मन-बुद्धिकी निर्मलतारूप भीतरकी शुद्धि, इस प्रकार दो तरहकी शुद्धि।

अद्रोह—दूसरेका घात करनेकी इच्छाका अभाव, यानी हिंसा न करना।

अतिमानिताका अभाव—अत्यन्त मानका नाम अतिमान है, वह जिसमे हो वह अतिमानी है, उसका भाव अतिमानिता है, उसका जो अभाव है वह 'नातिमानिता' है, अर्थात् अपनेमे अतिशय पूज्य भावनाका न होना।

हे भारत! 'अभय' से लेकर यहाँतकके ये सब लक्षण, सम्पत्ति युक्त उत्पन्न हुए पुरुषमे होते है। कैसी सम्पत्तिसे युक्त पुरुषमे होते है? जो दैवी सम्पत्तिको साथ लेकर उत्पन्न हुआ है, अर्थात् जो देवताओकी विभूतिका योग्य पात्र है और भविष्यमें जिसका कल्याण होना निश्चित है, उस पुरुषके ये लक्षण होते है॥ ३॥

अथ इदानीम् आसुरी संपद् उच्यते—

अब आगे आसुरी सम्पत्ति कही जाती है—

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ ४॥

दम्भो धर्मध्वजित्वम्, दर्पो धनस्वजनादिनिमित्त उत्सेकः, अतिमानः पूर्वोक्तः, क्रोधः च पारुष्यम् एव च परुषवचनं यथा काणं चक्षुष्मान्, विरूपं रूपवान् हीनाभिजनम् उत्तमाभिजन इत्यादि ।

अज्ञानं च अविवेकज्ञानं मिथ्याप्रत्ययः कर्तव्याकर्तव्यादिविषयम् अभिजातस्य पार्थ । किम् अभिजातस्य इति आह—असुराणां संपद् आसुरी ताम् अभिजातस्य इत्यर्थः ॥ ४ ॥

दम्भ—धर्मध्वजीपन, दर्प—धन-परिवार आदिके निमित्तसे होनेवाला गर्व, अतिमान—पहले कही हुई अपनेमे अतिशय पूज्य भावना तथा क्रोध और पारुष्य यानी कठोर वचन जैसे (आक्षेपसे) कानेको अच्छे नेत्रोवाला, कुरूपको रूपवान् और हीन जातिवाले-को उत्तम जातिवाला बतलाना इत्यादि ।

अज्ञान अर्थात् अविवेक-कर्तव्य और अकर्तव्यादि-के विषयमे उलटा निश्चय करना । हे पार्थ ! ये सब लक्षण, आसुरी सम्पत्तिको ग्रहण करके उत्पन्न हुए मनुष्यके हैं, अर्थात् जो असुरोंकी सम्पत्ति है उससे युक्त होकर उत्पन्न हुए मनुष्यके चिह्न है ॥४॥

अनयोः संपदोः कार्यम् उच्यते—

इन दोनो सम्पत्तियोका कार्य बतलाया जाता है—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी संपद् या सा विमोक्षाय संसारबन्धनात्, निबन्धाय नियतो बन्धो निबन्धः तदर्थम् आसुरी संपद् मता अभिप्रेता तथा राक्षसी ।

तत्र एवम् उक्ते अर्जुनस्य अन्तर्गतं भावं किम् अहम् आसुरसंपद्युक्तः किं वा दैवसंपद्युक्त इति एवम् आलोचनारूपम् आलक्ष्य आह भगवान्—

मा शुचः शोकं मा कार्षीः संपदं दैवीम् अभिजातः असि अभिलक्ष्य जातः असि भाविकल्याणः त्वम् असि इत्यर्थो हे पाण्डव ॥५॥

जो दैवी सम्पत्ति है, वह तो संसार बन्धनसे मुक्त करनेके लिये है, तथा आसुरी और राक्षसी सम्पत्ति निःसन्देह बन्धनके लिये मानी गयी है । निश्चित बन्धनका नाम निबन्ध है, उसके लिये मानी गयी है ।

इतना कहनेके उपरान्त अर्जुनके अन्तःकरणमे यह संशययुक्त विचार उत्पन्न हुआ देखकर, कि 'क्या मैं आसुरी सम्पत्तिसे युक्त हूँ अथवा दैवी सम्पत्तिसे' भगवान् बोले—

हे पाण्डव ! शोक मत कर, तू दैवी सम्पत्तिको लेकर उत्पन्न हुआ है । अर्थात् भविष्यमे तेरा कल्याण होनेवाला है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

द्वौ द्विसंख्याकौ भूतसर्गौ भूतानां मनुष्याणां सर्गौ सृष्टी भूतसर्गौ सृज्येते इति सर्गौ भूतानि एव सृज्यमानानि दैवासुरसंपद्युक्तानि द्वौ भूतसर्गौ इति उच्येते ।

इस संसारमे मनुष्योंकी दो सृष्टियाँ हैं । जिसकी रचना की जाय वह सृष्टि है, अतः दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिसे युक्त रचे हुए प्राणी ही, यहाँ भूत-सृष्टिके नामसे कहे जाते हैं ।

'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' (बृह० उ० १ । ३ । १) इति श्रुतेः लोके अस्मिन् संसारे इत्यर्थः । सर्वेषां द्वैविध्योपपत्तेः ।

कौ तौ भूतसर्गौ इति, उच्येते प्रकृतौ एव दैव आसुर एव च ।

उक्तयोः एव पुनरनुवादे प्रयोजनम् आह—

दैवो भूतसर्गः *'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः'* इत्यादिना विस्तरशो विस्तरप्रकारैः प्रोक्तः कथितो न तु आसुरो विस्तरशः अतः तत्परिवर्जनार्थम् आसुरं पार्थ मे मम वचनाद् उच्यमानं विस्तरशः शृणु अवधारय ॥ ६ ॥

'प्रजापतिकी दो सन्तानें हैं देव और असुर' इस श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है । क्योंकि इस संसारमे सभी प्राणियोके दो प्रकार हो सकते है ।

प्राणियोकी वे दो प्रकारकी सृष्टियॉ कौन-सी हैं ? इसपर कहते है कि इस प्रकरणमे कही हुई दैवी और आसुरी ।

कही हुई दोनो सृष्टियोका पुन. अनुवाद करनेका कारण बतलाते है—

दैवी सृष्टिका वर्णन तो 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादि श्लोकोंद्वारा, विस्तारपूर्वक किया गया । परन्तु आसुरी सृष्टिका वर्णन, विस्तारसे नहीं हुआ । अत: हे पार्थ ! उसका त्याग करनेके लिये, उस आसुरी सृष्टिको, तू मुझसे—मेरे वचनोसे, विस्तारपूर्वक सुन, यानी सुनकर निश्चय कर ॥ ६ ॥

आ अध्यायपरिसमाप्तेः आसुरी संपत् प्राणिविशेषणत्वेन प्रदर्श्यते प्रत्यक्षीकरणेन च शक्यते अस्याः परिवर्जनं कर्तुम् इति—

इस अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त प्राणियोके विशेषणोद्वारा आसुरी सम्पत्ति दिखलायी जाती है, क्योकि प्रत्यक्ष कर लेनेसे ही उसका त्याग करना बन सकता है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिं च प्रवर्तनं यस्मिन् पुरुषार्थसाधने कर्तव्ये प्रवृत्तिः तां निवृत्तिं च तद्विपरीतां यस्माद् अनर्थहेतोः निवर्तितव्यं सा निवृत्तिः तां च जना आसुरा न विदुः न जानन्ति ।

न केवलं प्रवृत्तिनिवृत्ती एव न विदुः न शौचं न अपि च आचारो न सत्यं तेषु विद्यते । अशौचा अनाचारा मायाविनः अनृतवादिनो हि आसुराः ॥ ७ ॥

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य, प्रवृत्तिको अर्थात् जिस किसी पुरुषार्थके साधनरूप कर्तव्यकार्यमे प्रवृत्त होना उचित है, उसमे प्रवृत्त होनेको, और निवृत्तिको, अर्थात् उससे विपरीत जिस किसी अनर्थकारक कर्मसे निवृत्त होना उचित है, उससे निवृत्त होनेको भी, नहीं जानते ।

केवल प्रवृत्ति-निवृत्तिको नहीं जानते, इतना ही नहीं, उनमे न शुद्धि होती है, न सदाचार होता है, और न सत्य ही होता है । यानी आसुरी प्रकृतिके मनुष्य अशुद्ध, दुराचारी, कपटी और मिथ्यावादी ही होते हैं ॥ ७ ॥

किं च—

तथा—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

असत्यं यथा वयम् अनृतप्रायाः तथा इदं जगत् सर्वम् असत्यम् अप्रतिष्ठं च न अस्य धर्माधर्मौ प्रतिष्ठा अतः अप्रतिष्ठं च इति ते आसुरा जना जगद् आहुः अनीश्वरं न च धर्माधर्मसव्यपेक्षकः अस्य शासिता ईश्वरो विद्यते इति अतः अनीश्वरं जगद् आहुः ।

किं च अपरस्परसंभूतं कामप्रयुक्तयोः स्त्रीपुरुषयोः अन्योन्यसंयोगाद् जगत् सर्वं संभूतम् । किम् अन्यत् कामहैतुकं कामहेतुकम् एव कामहैतुकं किम् अन्यद् जगतः कारणं न किञ्चिद् अदृष्टं धर्माधर्मादि कारणान्तरं विद्यते जगतः काम एव प्राणिनां कारणम् इति लोकायतिकदृष्टिः इयम् ॥ ८ ॥

वे आसुर स्वभाववाले मनुष्य कहा करते हैं कि, जैसे हम झूठसे भरे हुए हैं, वैसे ही यह सारा संसार भी झूठा और प्रतिष्ठारहित है, अर्थात् धर्म-अधर्म आदि इसका कोई आधार नहीं है, अतः निराधार है, तथा अनीश्वर है, अर्थात् पुण्य-पापकी अपेक्षासे इसका शासन करनेवाला कोई स्वामी नहीं है, अतः यह जगत् बिना ईश्वरका है ।

तथा कामसे प्रेरित हुए स्त्री-पुरुषोंका आपसमें संयोग हो जानेसे ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, अतः इस जगत्का कारण काम ही है, दूसरा और क्या हो सकता है ? अर्थात् (इसका) धर्म-अधर्मादि कोई दूसरा अदृष्ट कारण नहीं है, केवल काम ही प्राणियोंका कारण है । यह लोकायतिकों*की दृष्टि है ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य आश्रित्य नष्टात्मानो नष्टस्वभावा विभ्रष्टपरलोकसाधना अल्पबुद्धयो विषयविषया अल्पा एव बुद्धिः येषां ते अल्पबुद्धयः प्रभवन्ति उद्भवन्ति उग्रकर्माणः क्रूरकर्माणो हिंसात्मकाः क्षयाय जगतः प्रभवन्ति इति सम्बन्धः । जगतः अहिताः शत्रव इत्यर्थः ॥ ९ ॥

इस दृष्टिका अवलम्बन—आश्रय लेकर जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है, जो परलोकसाधनसे भ्रष्ट हो गये हैं, जो अल्पबुद्धि हैं—जिनकी बुद्धि केवल भोगोंको ही विषय करनेवाली है, ऐसे वे अल्पबुद्धि, उग्रकर्मा—क्रूर कर्म करनेवाले, हिंसापरायण संसारके शत्रु, संसारका नाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

ते च—

तथा वे—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

* शरीरको ही आत्मा माननेवाले एक सम्प्रदायविशेषका नाम 'लोकायतिक' है ।

कामम् इच्छाविशेषम् आश्रित्य अवष्टभ्य दुष्पूरम् अशक्यपूरणं दम्भमानमदान्विता दम्भः च मानः च मदः च दम्भमानमदाः तैः अन्विता दम्भमानमदान्विता मोहाद् अविवेकतो गृहीत्वा उपादाय असद्ग्राहान् अशुभनिश्चयान् प्रवर्तन्ते लोके अशुचिव्रता अशुचीनि व्रतानि येषां ते अशुचिव्रताः ॥ १० ॥

कभी पूर्ण न की जा सकनेवाली दुष्पूर कामनाका—इच्छाविशेषका आश्रय—अवलम्बन कर, पाखण्ड, मान और मदसे युक्त हुए, अशुद्धाचारी—जिनके आचरण बहुत ही बुरे हैं ऐसे मनुष्य, मोहसे—अज्ञानसे मिथ्या आग्रहोंको, अर्थात् अशुभ सिद्धान्तोंको ग्रहण करके—स्वीकार करके संसारमे बर्तते हैं ॥ १० ॥

किं च—

तथा—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

चिन्ताम् अपरिमेयां च न परिमातुं शक्यते यस्याः चिन्ताया इयत्ता सा अपरिमेया ताम् अपरिमेयां प्रलयान्तां मरणान्ताम् उपाश्रिताः सदा चिन्तापरा इत्यर्थः कामोपभोगपरमाः काम्यन्ते इति कामाः शब्दादयः तदुपभोगपरमाः, अयम् एव परमः पुरुषार्थो यः कामोपभोग इति एवं निश्चितात्मान एतावद् इति निश्चिताः ॥ ११ ॥

जिसकी इयत्ता न जानी जा सके, ऐसी अपरिमेय—अपार, प्रलयतक—मरणपर्यन्त रहनेवाली चिन्ताके आश्रित हुए, अर्थात् सदा चिन्ताग्रस्त हुए, तथा कामोपभोगके परायण—जिनकी कामना की जाय वे शब्दादि विषय काम है, उनके उपभोगमे तत्पर हुए—तथा विषयोका उपभोग करना, बस यही परम पुरुषार्थ है, ऐसा निश्चय रखनेवाले ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

आशापाशशतैः आशा एव पाशाः तच्छतैः आशापाशशतैः बद्धा नियन्त्रिता सन्तः सर्वत आकृष्यमाणाः कामक्रोधपरायणाः कामक्रोधौ परम् अयनं पर आश्रयो येषां ते कामक्रोधपरायणाः, ईहन्ते चेष्टन्ते कामभोगार्थं कामभोगप्रयोजनाय न धर्मार्थम् अन्यायेन अर्थसञ्चयान् अर्थप्रचयान् अन्यायेन परस्वापहरणादिना इत्यर्थः ॥ १२ ॥

तथा सैकड़ों आशारूप पाशोसे बँधे हुए—जकड़े हुए, सब ओरसे खींचे जाते हुए, काम-क्रोधके परायण हुए, अर्थात् काम-क्रोध ही जिनका परम अयन—आश्रय है, ऐसे काम-क्रोधपरायण पुरुष, धर्मके लिये नहीं, बल्कि भोग्य वस्तुओंका भोग करनेके लिये, अन्यायपूर्वक अर्थात् दूसरेका सत्व हरण करना आदि अनेक पापमय युक्तियोंद्वारा धन-समुदायको इकट्ठा करनेकी चेष्टा किया करते हैं ॥ १२ ॥

ईदृशः च तेषाम् अभिप्रायः—

तथा उनका अभिप्राय ऐसा होता है कि—

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

इदं **द्रव्यम्** अद्य **इदानीं** मया लब्धम् इदम् **अन्यत्** प्राप्स्ये मनोरथं **मनस्तुष्टिकरम्** इदं **च** अस्ति इदम् अपि मे भविष्यति **आगामिनि संवत्सरे** पुनः धनं **तेन अहं धनी विख्यातो भविष्यामि** ॥ १३ ॥

आज इस समय तो मैंने यह द्रव्य प्राप्त किया है तथा अमुक मनोरथ—मनको सन्तुष्ट करनेवाला पदार्थ और प्राप्त करूँगा । इतना धन तो मेरे पास है और यह इतना धन मेरे पास अगले वर्षमे फिर हो जायगा, उससे मै धनवान् विख्यात हो जाऊँगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

असौ **देवदत्तनामा** मया हतो **दुर्जयः** शत्रुः, हनिष्ये च **अन्यान् वराकान्** अपरान् अपि **किम् एते करिष्यन्ति तपस्विनः सर्वथा अपि न अस्ति मत्तुल्य** ईश्वरः अहम् अहं भोगी **सर्वप्रकारेण च** सिद्धः अहं **सम्पन्नः पुत्रैः पौत्रैः नप्तृभिः न केवलं मानुषः अहं** बलवान् सुखी **च अहम् एव अन्ये तु भूमिभाराय अवतीर्णाः** ॥ १४ ॥

अमुक देवदत्त नामक दुर्जय शत्रु तो मेरेद्वारा मारा जा चुका, अब दूसरे पामर निर्बल शत्रुओंको भी मै मार डालूँगा, यह बेचारे गरीब मेरा क्या करेंगे जो किसी तरह भी मेरे समान नहीं हैं । मै ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, सब प्रकारसे सिद्ध हूँ तथा पुत्र-पौत्र और नातियोंसे सम्पन्न हूँ । मै केवल साधारण मनुष्य ही नहीं हूँ, बल्कि बड़ा बलवान् और सुखी भी मै ही हूँ, दूसरे सब तो भूमिपर भाररूप ही उत्पन्न हुए हैं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

आढ्यो **धनेन अभिजनेन** अभिजनवान् सप्त-**पुरुषं श्रोत्रियत्वादिसम्पन्नः तेन अपि न मम तुल्यः अस्ति कश्चित्** कः अन्यः अस्ति सदृशः **तुल्यो** मया **किं च** यक्ष्ये **यागेन अपि अन्यान् अभिभविष्यामि** दास्यामि **नटादिभ्यो** मोदिष्ये **हर्षं च अतिशयं प्राप्स्यामि** इति **एवम् अज्ञानेन विमोहिता** अज्ञानविमोहिता **विविधम् अविवेकभावम्** आपन्नाः ॥ १५ ॥

मै धनसे सम्पन्न हूँ और वंशकी अपेक्षासे अत्यन्त कुलीन हूँ, अर्थात् सात पीढ़ियोंसे श्रोत्रिय आदि गुणोंसे सम्पन्न हूँ । सुतरा धन और कुलमे भी मेरे समान दूसरा कौन है । अर्थात् कोई नहीं है । मैं यज्ञ करूँगा अर्थात् यज्ञद्वारा भी दूसरोंका अपमान करूँगा, नट आदिको धन दूँगा और मोद—अतिशय हर्षको प्राप्त होऊँगा; इस प्रकार वे मनुष्य अज्ञानसे मोहित अर्थात् नाना प्रकारकी अविवेकभावनासे युक्त होते हैं ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता उक्तप्रकारैः अनेकैः चित्तैः विविधं भ्रान्ता अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृता मोहः अविवेकः अज्ञानं तद् एव जालम् इव आवरणात्मकत्वात् तेन समावृताः प्रसक्ताः कामभोगेषु तत्र एव निषण्णाः सन्तः तेन उपचितकल्मषाः पतन्ति नरके अशुचौ वैतरण्यादौ ॥ १६ ॥

उपर्युक्त अनेक प्रकारके विचारोंसे भ्रान्तचित्त हुए और मोहरूप जालमे फँसे हुए, अर्थात् अविवेक ही मोह है, वह जालकी भाँति फँसानेवाला होनेसे जाल है, उसमे फँसे हुए, तथा विषय-भोगोमे अत्यन्त आसक्त हुए—उन्हींमे गहरे डूबे हुए मनुष्य, उन भोगोंके द्वारा पापोंका सञ्चय करके, वैतरणी आदि अशुद्ध नरकोंमे गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

आत्मसंभाविताः सर्वगुणविशिष्टतया आत्मना एव संभाविता आत्मसंभाविता न साधुभिः, स्तब्धा अप्रणतात्मानो धनमानमदान्विता धननिमित्तो मानो मदः च ताभ्यां धनमानमदाभ्याम् अन्विता यजन्ते नामयज्ञैः नाममात्रैः यज्ञैः ते दम्भेन धर्मध्वजितया अविधिपूर्वकं विहिताङ्गेतिकर्तव्यतारहितैः ॥ १७ ॥

और वे अपने आपको सर्वगुणसम्पन्न मानकर, आप ही अपनेको बड़ा माननेवाले, साधु पुरुषोंद्वारा श्रेष्ठ न माने हुए, स्तब्ध—विनयरहित, धनमानमदान्वित—धनहेतुक मान और मदसे युक्त पुरुष, पाखण्डसे, अर्थात् धर्मध्वजीपनसे, अविधिपूर्वक—विहित अंगकी कर्तव्यताके ज्ञानसे रहित केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पूजन किया करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहंकारम् अहंकरणम् अहंकारो विद्यमानैः अविद्यमानैः च गुणैः आत्मनि अध्यारोपितैः विशिष्टम् आत्मानम् अहम् इति मन्यते सः अहंकारः अविद्याख्यः कष्टतमः सर्वदोषाणां मूलं सर्वानर्थप्रवृत्तीनां च तथा बलं पराभिभवनिमित्तं कामरागान्वितं दर्पं दर्पो नाम यस्य उद्भवे धर्मम् अतिक्रामति सः अयम् अन्तःकरणधर्मो दोषविशेषः ।

अहंकार—'हम-हम' करनेका नाम अहंकार है, जिसके द्वारा अपनेमे आरोपित किये हुए विद्यमान और अविद्यमान गुणोंसे अपनेको युक्त मानकर मनुष्य 'हम हैं' ऐसा मानता है, उसे अहंकार कहते हैं । यह अविद्या नामका बड़ा कठिन दोष, समस्त दोषोंका और समस्त अनर्थमय प्रवृत्तियोंका मूल कारण है । कामना और आसक्तिसे युक्त, दूसरेका पराभव करनेके लिये होनेवाला बल, दर्प—जिसके उत्पन्न होनेपर मनुष्य धर्मको अतिक्रमण कर जाता है, अन्तःकरणके आश्रित उस दोषविशेषका नाम दर्प है ।

कामं स्त्र्यादिविषयम् क्रोधम् अनिष्टविषयम् एतान् अन्यान् च महतो दोषान् संश्रिताः ।

किं च ते माम् ईश्वरम् आत्मपरदेहेषु स्वदेहे परदेहेषु च तद्बुद्धिकर्मसाक्षिभूतं मां प्रद्विषन्तो मच्छासनातिवर्तित्वं प्रद्वेषः तं कुर्वन्तः अभ्यसूयकाः सन्मार्गस्थानां गुणेषु असहमानाः ॥ १८ ॥

तथा स्त्री आदिके विषयमें होनेवाला काम और किसी प्रकारका अनिष्ट होनेसे होनेवाला क्रोध, इन सब दोषोंको तथा अन्यान्य महान् दोषोंको भी अवलम्बन करनेवाले होते हैं ।

इसके सिवा वे अपने और दूसरोंके शरीरमे स्थित, उनकी बुद्धि और कर्मके साक्षी, मुझ ईश्वरसे द्वेष करनेवाले होते हैं—मेरी आज्ञाको उल्लङ्घन करके चलना ही मुझसे द्वेष करना है, वे वैसा करनेवाले हैं और सन्मार्गमे स्थित पुरुषोंके गुणोको सहन न करके, उनकी निन्दा करनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

तान् अहं सर्वान् सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान् साधुद्वेषिणो द्विषतः च मां क्रूरान् संसारेषु एव नरकसंसरणमार्गेषु नराधमान् अधर्मदोषवत्त्वात् क्षिपामि प्रक्षिपामि अजस्रं संततम् अशुभान् अशुभकर्मकारिण आसुरीषु एव क्रूरकर्मप्रायासु व्याघ्रसिंहादियोनिषु क्षिपामि इति अनेन सम्बन्धः ।१९।

सन्मार्गके प्रतिपक्षी और मेरे तथा साधुपुरुषोंके साथ द्वेष करनेवाले उन सब अशुभकर्मकारी क्रूर नराधमोंको, मै बारंबार संसारमे—नरक-प्राप्तिके मार्गमे जो प्रायः क्रूर कर्म करनेवाली व्याघ्र-सिंह आदि आसुरी योनियाँ है उनमें ही सदा गिराता हूँ क्योकि वे पापादि दोषोसे युक्त है । 'क्षिपामि' इस क्रियापदका, 'योनिषु' के साथ सम्बन्ध है ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

आसुरीं योनिम् आपन्ना· प्रतिपन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि अविवेकिनः प्रतिजन्म तमोबहुलासु एव योनिषु जायमाना अधो गच्छन्तो मूढा माम् ईश्वरम् अप्राप्य अनासाद्य एव हे कौन्तेय ततः तस्मात् अपि यान्ति अधमा निकृष्टतमां गतिम् ।

माम् अप्राप्य एव इति न मत्प्राप्तौ काचिद् अपि आशङ्का अस्ति अतो मच्छिष्टसाधुमार्गम् अप्राप्य इत्यर्थः ॥ २० ॥

वे मूढ—अविवेकीजन, जन्म-जन्ममे यानी प्रत्येक जन्ममे आसुरी योनिको पाते हुए अर्थात् जिनमे तमोगुणकी बहुलता है, ऐसी योनियोमे जन्मते हुए, नीचे गिरते-गिरते मुझ ईश्वरको न पाकर, उन पूर्वप्राप्त योनियोकी अपेक्षा भी अधिक अधम-गतिको प्राप्त होते हैं ।

'मुझे प्राप्त न होकर' ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि मेरे द्वारा कहे हुए श्रेष्ठ मार्गको भी न पाकर, क्योकि मेरी प्राप्तिकी तो उनके लिये कोई आशङ्का ही नहीं है ॥ २० ॥

सर्वस्या आसुर्याः संपदः संक्षेपः अयम् उच्यते, यस्मिन् त्रिविधे सर्व आसुरसंपद्भेदः अनन्तः अपि अन्तर्भवति यत्परिहारेण परिहृतः च भवति, यद् मूलं सर्वस्य अनर्थस्य तद् एतद् उच्यते—

अब यह समस्त आसुरी सम्पत्तिका संक्षेप कहा जाता है। जिन (कामादि) तीन भेदोंमें, आसुरी सम्पत्तिके अनन्त भेद होनेपर भी सबका अन्तर्भाव हो जाता है, जिन तीनोंका नाश करनेसे सब दोषोंका नाश करना हो जाता है और जो सब अनर्थोंके मूल कारण है, उनका वर्णन किया जाता है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य प्राप्तौ इदं द्वारं नाशनम् आत्मनो यद् द्वारं प्रविशन् एव नश्यति आत्मा कस्मैचित् पुरुषार्थाय योग्यो न भवति इति एतद् अत उच्यते द्वारं नाशनम् आत्मनः इति।

किं तत्, कामः क्रोधः तथा लोभः तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत्। यत एतद् द्वारं नाशनम् आत्मनः तस्मात् कामादित्रयम् एतत् त्यजेत् त्यागस्तुतिः इयम्॥ २१॥

आत्माका नाश करनेवाले, ये तीन प्रकारके दोष, नरकप्राप्तिके द्वार हैं। इनमें प्रवेश करनेमात्रसे ही आत्मा नष्ट हो जाता है, अर्थात् किसी पुरुषार्थके योग्य नहीं रहता। इसलिये ये तीनो आत्माका नाश करनेवाले द्वार कहलाते है।

वे कौन है? काम, क्रोध और लोभ। सुतरां इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये। क्योकि ये काम आदि तीनो नरकद्वार आत्माका नाश करनेवाले है, इसलिये इनका त्याग कर देना चाहिये। यह त्यागकी स्तुति है॥ २१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

एतैः विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैः तमसो नरकस्य दुःखमोहात्मकस्य द्वाराणि कामादयः तैः एतैः त्रिभिः विमुक्तो नर आचरति अनुतिष्ठति। किम्, आत्मनः श्रेयो यत्प्रतिबद्धः पूर्वं नाचरति तदपगमाद् आचरति ततः तदाचरणाद् याति परां गतिं मोक्षम् अपि इति॥ २२॥

हे कुन्तीपुत्र! ये काम आदि दुःख और मोहरूप अन्धकारमय नरकके द्वार हैं इन तीनो अवगुणोसे छूटा हुआ मनुष्य आचरण करता है—साधन करता है। क्या साधन करता है? आत्मकल्याणका साधन, पहले जिन कामादिके वशमें होनेसे नहीं करता था, अब उनका नाश हो जानेसे करता है, और उस साधनसे (वह) परमगतिको, अर्थात् मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है॥ २२॥

सर्वस्य एतस्य आसुरसंपत्परिवर्जनस्य श्रेयआचरणस्य च शास्त्रं कारणम्, शास्त्रप्रमाणाद् उभयं शक्यं कर्तुं न अन्यथा अतः—

इस समस्त आसुरी सम्पत्तिके त्यागका और कल्याणमय आचरणोंका, मूल कारण शास्त्र है, शास्त्रप्रमाणसे ही दोनों किये जा सकते है, अन्यथा नहीं, अतः—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

यः शास्त्रविधिं **कर्तव्याकर्तव्यज्ञानकारणं विधिप्रतिषेधाख्यम्** उत्सृज्य **त्यक्त्वा** वर्तते कामकारतः **कामप्रयुक्तः सन्** न स सिद्धिं **पुरुषार्थयोग्यताम्** अवाप्नोति । न **अपि अस्मिन् लोके** सुखम्, न **अपि** परां **प्रकृष्टां** गतिं **स्वर्गं मोक्षं वा** ॥ २३ ॥

जो मनुष्य शास्त्रके विधानको, अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानका कारण जो विधि-निषेध-बोधक आदेश है उसको, छोड़कर कामनासे प्रयुक्त हुआ बर्तता है, वह न तो सिद्धिको—पुरुषार्थकी योग्यताको पाता है, न इस लोकमे सुख पाता है और न परम-गतिको अर्थात् स्वर्ग या मोक्षको ही पाता है ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं **ज्ञानसाधनं** ते **तव** कार्याकार्यव्यवस्थितौ **कर्तव्याकर्तव्यव्यवस्थायाम्** **अतो** ज्ञात्वा **बुद्ध्वा** शास्त्रविधानोक्तं **विधिः विधानं शास्त्रेण विधानं शास्त्रविधानं कुर्याद् न कुर्याद् इति एवं लक्षणं तेन उक्तं स्व** कर्म **यत् तत्** कर्तुम् इह अर्हसि । **इह इति कर्माधिकारभूमिप्रदर्शनार्थम् इति** ॥ २४ ॥

सुतरां कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामे तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त करनेका साधन है । अतः शास्त्र-विधानसे कही हुई बातको समझकर यानी आज्ञाका नाम विधान है । शास्त्र-द्वारा जो ऐसी आज्ञा दी जाय कि 'यह कार्य कर, यह मत कर' वह शास्त्र-विधान है, उससे बताये हुए स्वकर्मको जानकर तुझे इस कर्म-क्षेत्रमे कार्य करना उचित है । 'इह' शब्द जिस भूमिमे कर्मोंका अधिकार है उसका लक्ष्य करवानेवाला है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्कर-भगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये संपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

ॐ

सप्तदशोऽध्यायः

'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' इति भगवद्वाक्याद् लब्धप्रश्नबीजः—

अर्जुन उवाच—

'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' इस भगवद्वाक्यसे जिसको प्रश्नका बीज मिला है वह अर्जुन बोला—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १ ॥

ये केचिद् अविशेषिता शास्त्रविधिं शास्त्रविधानं श्रुतिस्मृतिशास्त्रचोदनाम् उत्सृज्य परित्यज्य यजन्ते देवादीन् पूजयन्ति श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या अन्विताः संयुक्ताः सन्तः।

श्रुतिलक्षणं स्मृतिलक्षणं वा कञ्चित् शास्त्रविधिम् अपश्यन्तो वृद्धव्यवहारदर्शनाद् एव श्रद्धानतया ये देवादीन् पूजयन्ति ते इह 'ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य यजन्ते श्रद्धया अन्विताः' इति एवं गृह्यन्ते। ये पुनः कञ्चित् शास्त्रविधिम् उपलभमाना एव तम् उत्सृज्य अयथाविधि देवादीन् पूजयन्ति ते इह 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते' इति न परिगृह्यन्ते।

कस्मात्,

श्रद्धया अन्वितत्वविशेषणात्। देवादिपूजाविधिपरं किंचित् शास्त्रं पश्यन्त एव तद् उत्सृज्य अश्रद्धानतया तद्विहितायां देवादिपूजायां श्रद्धया अन्विताः प्रवर्तन्ते इति न शक्यं कल्पयितुं यस्मात् तस्मात् पूर्वोक्ता एव 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः' इति अत्र गृह्यन्ते।

जो कोई साधारण मनुष्य, शास्त्र-विधिको—शास्त्रकी आज्ञाको अर्थात् श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंके विधानको छोड़कर श्रद्धासे अर्थात् आस्तिकबुद्धिसे युक्त यानी सम्पन्न होकर देवादिका पूजन करते हैं।

यहाँ 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः' इस कथनसे श्रुतिरूप या स्मृतिरूप किसी भी शास्त्रके विधानको न जानकर, केवल वृद्ध व्यवहारको आदर्श मानकर, जो श्रद्धापूर्वक देवादिका पूजन करते हैं, वे ही मनुष्य ग्रहण किये गये हैं। किन्तु जो मनुष्य कुछ शास्त्रविधिको जानते हुए भी, उसको छोड़कर अविधिपूर्वक देवादिका पूजन करते है, वे 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते' इस कथनसे ग्रहण नहीं किये जा सकते।

पू०—किसलिये (ग्रहण नहीं किये जा सकते)?

उ०—श्रद्धासे युक्त हुए (पूजन करते है) ऐसा विशेषण दिया गया है इसलिये। क्योंकि देवादिके पूजाविषयक किसी भी शास्त्रको जानते हुए ही उसे अश्रद्धापूर्वक छोड़कर, उस शास्त्रद्वारा विधान की हुई देवादिकी पूजामे श्रद्धासे युक्त हुए वर्तते है, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः पहले बतलाये हुए मनुष्य ही 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः' इस कथनसे ग्रहण किये जाते हैं।

तेषाम् **एवंभूतानां** निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वम् आहो रजः तमः **किं सत्त्वं निष्ठा अवस्थानम् आहोस्विद् रजः अथवा तमः । एतद् उक्तं भवति या तेषां देवादिविषया पूजा सा किं सात्त्विकी आहोस्विद् राजसी उत तामसी इति ॥ १ ॥**

हे कृष्ण ! इस प्रकारके उन मनुष्योंकी निष्ठा कौन-सी है ? सात्त्विक है ? राजस है अथवा तामस है ? यानी उनकी स्थिति सात्त्विकी है या राजसी या तामसी है ? कहनेका अभिप्राय यह है कि उनकी जो देवादिविषयक पूजा है, वह सात्त्विकी है ? राजसी है ? अथवा तामसी है ? ॥ १ ॥

सामान्यविषयः अयं प्रश्नो न अप्रविभज्य प्रतिवचनम् अर्हति इति—

श्रीभगवानुवाच—

यह प्रश्न साधारण मनुष्योंके विषयमें है अतः इसका उत्तर बिना विभाग किये देना उचित नहीं, इस अभिप्रायसे श्रीभगवान् बोले—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

त्रिविधा **त्रिप्रकारा** भवति श्रद्धा । **यस्यां निष्ठायां त्वं पृच्छसि** देहिनां सा स्वभावजा **जन्मान्तरकृतो धर्मादिसंस्कारो मरणकाले अभिव्यक्तः स्वभाव उच्यते ततो जाता स्वभावजा** । सात्त्विकी **सत्त्वनिर्वृता देवपूजादिविषया,** राजसी **रजोनिर्वृता यक्षरक्षःपूजादिविषया,** तामसी **तमोनिर्वृता प्रेतपिशाचादिपूजाविषया एवं त्रिविधा** ताम् **उच्यमानां श्रद्धां** शृणु ॥ २ ॥

जिस निष्ठाके विषयमें तू पूछता है, मनुष्योंकी वह स्वभावजन्य श्रद्धा अर्थात् जन्मान्तरमें किये हुए धर्म-अधर्म आदिके जो संस्कार मृत्युके समय प्रकट हुआ करते हैं उनके समुदायका नाम स्वभाव है, उससे उत्पन्न हुई श्रद्धा—तीन प्रकारकी होती है । सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुई देवपूजादिविषयक श्रद्धा सात्त्विकी है, रजोगुणसे उत्पन्न हुई यक्षराक्षसादिकी पूजाविषयक श्रद्धा राजसी है और तमोगुणसे उत्पन्न हुई प्रेत-पिशाच आदिकी पूजाविषयक श्रद्धा तामसी है । ऐसे तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है । उस आगे कही जानेवाली (तीन प्रकारकी) श्रद्धाको तू सुन ॥ २ ॥

सा एवं त्रिविधा भवति—

वह श्रद्धा इस तरह तीन प्रकारकी होती है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

सत्त्वानुरूपा **विशिष्टसंस्कारोपेतान्तःकरणानुरूपा** सर्वस्य **प्राणिजातस्य** श्रद्धा भवति भारत ।

यदि एवं ततः किं स्याद् इति उच्यते—

हे भारत ! सभी प्राणियोंकी श्रद्धा (उनके) भिन्न-भिन्न संस्कारोंसे युक्त अन्तःकरणके अनुरूप होती है ।

यदि ऐसा है तो उससे क्या होगा ? इसपर कहते हैं—

श्रद्धामय. श्रद्धाप्रायः अयं पुरुषः संसारी जीवः । कथं यो यच्छ्रद्धो या श्रद्धा यस्य जीवस्य स यच्छ्रद्धः स एव तच्छ्रद्धानुरूप एव स जीवः ॥ ३ ॥

यह पुरुष अर्थात् संसारी जीव श्रद्धामय है क्योंकि जो जिस श्रद्धावाला है अर्थात् जिस जीवकी जैसी श्रद्धा है, वह स्वयं भी वही है, अर्थात् उस श्रद्धाके अनुरूप ही है ॥ ३ ॥

ततः च कार्येण लिङ्गेन देवादिपूजया सत्त्वादिनिष्ठा अनुमेया इति आह—

इसलिये कार्यरूप चिह्नसे अर्थात् (उन श्रद्धाओंके कारण होनेवाली) देवादिकी पूजासे, सात्त्विक आदि निष्ठाओंका अनुमान कर लेना चाहिये, यह कहते है—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

यजन्ते पूजयन्ति सात्त्विकाः सत्त्वनिष्ठा देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः, प्रेतान् भूतगणान् च सप्तमातृकादीन् च अन्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक निष्ठावाले पुरुष, देवोंका पूजन करते हैं, राजसी पुरुष यक्ष और राक्षसोंका तथा अन्य जो तामसी मनुष्य है, वे प्रेतों और सप्तमातृकादि भूत-गणोंका पूजन किया करते है ॥ ४ ॥

एवं कार्यतो निर्णीताः सत्त्वादिनिष्ठाः शास्त्रविध्युत्सर्गे तत्र कश्चिद् एव सहस्रेषु देवपूजादितत्परः सत्त्वनिष्ठो भवति बाहुल्येन तु रजोनिष्ठाः तमोनिष्ठाः च एव प्राणिनो भवन्ति, कथम्—

इस प्रकार कार्यसे जिनकी सात्त्विकादि निष्ठाओंका निर्णय किया गया है उन (स्वाभाविक श्रद्धावाले) हजारों मनुष्योंमें कोई एक ही शास्त्रविधिका त्याग होनेपर देवपूजादिके परायण, सात्त्विक निष्ठायुक्त होता है । अधिकांश मनुष्य तो राजसी और तामसी निष्ठावाले ही होते हैं । कैसे ? (सो कहा जाता है—)

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

अशास्त्रविहितं न शास्त्रविहितम् अशास्त्रविहितं घोरं पीडाकरं प्राणिनाम् आत्मनः च तपः तप्यन्ते निर्वर्तयन्ति ये तपो जनाः ते च दम्भाहंकारसंयुक्ता दम्भः च अहंकारः च दम्भाहंकारौ ताभ्यां संयुक्ता दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः कामः च रागः च कामरागौ तत्कृतं बलं कामरागबलं तेन अन्विताः कामरागबलैः वा अन्विताः ॥ ५ ॥

जो मनुष्य, शास्त्रमें जिसका विधान नहीं है ऐसा, अशास्त्रविहित और घोर अर्थात् अन्य प्राणियोंको और अपने शरीरको भी पीड़ा पहुँचानेवाला, तप, दम्भ और अहंकार—इन दोनोंसे युक्त होकर तथा कामना और आसक्ति-जनित बलसे युक्त होकर, अथवा कामना, आसक्ति और बलसे युक्त होकर तपते हैं ॥ ५ ॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

कर्शयन्तः **कृशीकुर्वन्तः** शरीरस्थं भूतग्रामं **करणसमुदायम्** अचेतसः **अविवेकिनो** मा च एव **तत्कर्मबुद्धिसाक्षिभूतम्** अन्तःशरीरस्थं **कर्शयन्तो मदनुशासनाकरणम् एव मत्कर्शनं** तान् विद्धि आसुरनिश्चयान् **आसुरो निश्चयो येषां ते आसुरनिश्चयाः तान् परिहरणार्थं विद्धि इति उपदेशः** ॥ ६ ॥

वे अविवेकी मनुष्य, शरीरमें स्थित इन्द्रियादि करणोंके रूपमें परिणत भूतसमुदायको और शरीरके भीतर अन्तरात्मारूपसे स्थित, उनके कर्म और बुद्धिके साक्षी, मुझ ईश्वरको भी, कृश (तंग) करते हुए— मेरी आज्ञाको न मानना ही मुझे कृश करना है, इस प्रकार मुझे कृश करते हुए (घोर तप करते हैं) उनको तू आसुरी निश्चयवाले जान । जिनका असुरोंका-सा निश्चय हो, वे आसुरी निश्चयवाले कहलाते हैं । उनका सङ्ग त्याग करनेके लिये तू उनको जान, यह उपदेश है ॥ ६ ॥

आहाराणां च रस्यस्निग्धादिवर्गत्रयरूपेण भिन्नानां यथाक्रमं सात्त्विकराजसतामसपुरुषप्रियत्वदर्शनम् इह क्रियते । रस्यस्निग्धादिषु आहारविशेषेषु आत्मनः प्रीत्यतिरेकेण लिङ्गेन सात्त्विकत्वं राजसत्वं तामसत्वं च बुद्ध्वा रजस्तमोलिङ्गानाम् आहाराणां परिवर्जनार्थं सत्त्वलिङ्गानां च उपादानार्थम्, तथा यज्ञादीनाम् अपि सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिविधत्वप्रतिपादनम् इह राजसतामसान् बुद्ध्वा कथं नु नाम परित्यजेत् सात्त्विकान् एव अनुतिष्ठेद् इति एवम् अर्थम्—

रसयुक्त और स्निग्ध आदि भोजनोंमें, अपनी रुचिकी अधिकता रूप लक्षणसे अपना सात्त्विकत्व, राजसत्व और तामसत्व जानकर, राजस और तामस चिह्नोंवाले आहारका त्याग और सात्त्विक चिह्नयुक्त आहारका ग्रहण करनेके लिये, यहाँ रस्य-स्निग्ध आदि (वाक्योंद्वारा वर्णित) तीन वर्गोंमें विभक्त हुए आहारमें, क्रमसे सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषोंकी (पृथक्-पृथक्) रुचि दिखलायी जाती है । वैसे ही सात्त्विक आदि गुणोंके भेदसे यज्ञादिके भेदोंका प्रतिपादन भी यहाँ इसीलिये किया जाता है कि राजस और तामस यज्ञादिको जानकर किसी प्रकार लोग उनका त्याग कर दें और सात्त्विक यज्ञादिका अनुष्ठान किया करें—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहारः तु अपि सर्वस्य **भोक्तुः** त्रिविधो भवति प्रियः **इष्टः तथा** यज्ञः **तथा** तपः तथा दानं तेषाम् **आहारादीनां** भेदम् इमं **वक्ष्यमाणं** शृणु ॥ ७ ॥

भोजन करनेवाले सभी मनुष्योंको तीन प्रकारके आहार प्रिय—रुचिकर होते हैं । वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी (तीन-तीन प्रकारके होते हैं) उन आहारादिका यह आगे कहा जानेवाला भेद सुन ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयुः च सत्त्वं च बलं च आरोग्यं च सुखं च प्रीतिः च तासां विवर्धना आयुः-सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ते च रस्या रसोपेताः स्निग्धाः स्नेहवन्तः स्थिराः चिरकाल-स्थायिनो देहे, हृद्या हृदयप्रिया आहाराः सात्त्विकप्रिया· सात्त्विकस्य इष्टाः ॥ ८ ॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति, इन सबको बढ़ानेवाले तथा रस्य—रसयुक्त, स्निग्ध—चिकने, स्थिर—शरीरमे बहुत कालतक (साररूपसे) रहनेवाले और हृद्य—हृदयको प्रिय लगनेवाले ऐसे आहार (भोजन करनेके पदार्थ) सात्त्विक पुरुषको प्रिय—इष्ट होते हैं ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कटुः अम्लो लवणः अत्युष्णः अतिशब्दः कट्वादिषु सर्वत्र योज्यः अतिकटुः अतितीक्ष्ण इति एवं कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन आहारा राजसस्य इष्टा दुःखशोकामयप्रदा दुःखं च शोकं च आमयं च प्रयच्छन्ति इति दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक, एवं दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले अर्थात् जो दुःख, शोक और रोगोंको उत्पन्न करते हो, ऐसे आहार राजस पुरुषको प्रिय होते हैं। यहाँ अति शब्द सबके साथ जोड़ना चाहिये, जैसे अति कड़वे, अत्यन्त खट्टे, अति तीक्ष्ण इत्यादि ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

यातयामं मन्दपक्वं निर्वीर्यस्य गतरसेन उक्तत्वाद् गतरसं रसवियुक्तं पूति दुर्गन्धं पर्युषितं च पक्वं सद् राज्यन्तरितं च यद् उच्छिष्टम् अपि च भुक्तशिष्टम् अपि अमेध्यम् अयज्ञार्हं भोजनम् ईदृशं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

यातयाम—अधपका, गतरस—रसरहित, पूति—दुर्गन्धयुक्त और बासी अर्थात् जिसको पके हुए एक रात बीत गयी हो, तथा उच्छिष्ट—खानेके पश्चात् बचा हुआ और अमेध्य—जो यज्ञके योग्य न हो, ऐसा भोजन तामसी मनुष्योंको प्रिय होता है। यहाँ, यातयामका अर्थ अधपका किया गया है, क्योंकि निर्वीर्य (सारहीन) भोजनको 'गतरस' शब्दसे कहा गया है ॥ १० ॥

अथ इदानीं यज्ञः त्रिविध उच्यते—

अब तीन प्रकारके यज्ञ बतलाये जाते हैं—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

अफलाकाङ्क्षिभिः **अफलार्थिभिः** यज्ञो विधिदृष्टः **शास्त्रचोदनादृष्टो** यो **यज्ञ** इज्यते **निर्वर्त्यते** यष्टव्यम् एव इति **यज्ञस्वरूपनिर्वर्तनम् एव कार्यम् इति** मनः समाधाय **न अनेन पुरुषार्थो मम कर्तव्य इति एवं निश्चित्य** स सात्त्विको **यज्ञ उच्यते** ॥ ११ ॥

फलकी इच्छा न करनेवाले पुरुषोंद्वारा,शास्त्रविधिसे नियत किये हुए जिस यज्ञका अनुष्ठान किया जाता है, तथा 'यज्ञ करना ही यानी यज्ञके स्वरूपका सम्पादन करना ही कर्तव्य है' इस प्रकार मनका समाधान करके अर्थात् 'इससे मुझे कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं करना है' ऐसा निश्चय करके जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

अभिसंधाय **उद्दिश्य** फलं दम्भार्थम् अपि च एव यद् इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञ फलके उद्देश्यसे और पाखण्ड करनेके लिये किया जाता है, उस यज्ञको तू राजसी समझ ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

विधिहीनं **यथाचोदितविपरीतम्,** असृष्टान्नं **ब्राह्मणेभ्यो न सृष्टं न दत्तम् अन्नं यस्मिन् यज्ञे स असृष्टान्नः तम् असृष्टान्नम्,** मन्त्रहीनं **मन्त्रतः स्वरतो वर्णतः च वियुक्तं मन्त्रहीनम्,** अदक्षिणम् **उक्तदक्षिणारहितं** श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते **तमोनिर्वृत्तं कथयन्ति** ॥ १३ ॥

जो यज्ञ शास्त्र-विधिसे रहित—शास्त्रोक्त प्रकारसे विपरीत और असृष्टान्न होता है अर्थात् जिस यज्ञमें ब्राह्मणोंको अन्न नहीं दिया जाता तथा जो मन्त्रहीन—मन्त्र, स्वर और वर्णसे रहित, एवं बतलायी हुई दक्षिणा और श्रद्धासे भी रहित होता है, उस यज्ञको (श्रेष्ठ पुरुष) तामसी—तमोगुणसे किया हुआ बतलाते हैं ॥ १३ ॥

अथ इदानीं तपः त्रिविधम् उच्यते—

अब तीन प्रकारका तप कहा जाता है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देवाः च द्विजाः च गुरवः च प्राज्ञाः च देवद्विजगुरुप्राज्ञाः तेषां पूजनं देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचम् आर्जवम् **ऋजुत्वं** ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च **शरीरनिर्वर्त्यं** शारीरं **शरीरप्रधानैः**

देव, ब्राह्मण, गुरु और बुद्धिमान्—ज्ञानी इन सबका पूजन, शौच—पवित्रता, आर्जव—सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह सब शरीरसम्बन्धी—शरीरद्वारा किये जानेवाले, तप कहे जाते हैं; अर्थात् शरीर जिनमें प्रधान है, ऐसे समस्त कार्य और

सर्वैः एव कार्यकरणैः कर्त्रादिभिः साध्यं शारीरं तप उच्यते । 'पञ्चैते तस्य हेतवः' इति हि वक्ष्यति ॥ १४ ॥

करणोंसे जो कर्ताद्वारा किये जायँ वे शरीरसम्बन्धी तप कहलाते हैं। आगे यह कहेंगे भी कि 'उन (सब कर्मों) के ये पाँच कारण हैं' इत्यादि ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

अनुद्वेगकरं प्राणिनाम् अदुःखकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् प्रियहिते दृष्टादृष्टार्थे । अनुद्वेगकरत्वादिभिः धर्मैः वाक्यं विशेष्यते । विशेषणधर्मसमुच्चयार्थः चशब्दः । परप्रत्यायनार्थं प्रयुक्तस्य वाक्यस्य सत्यप्रियहितानुद्वेगकरत्वानाम् अन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिः वा हीनता स्याद् यदि न तद् वाङ्मयं तपः ।

यथा सत्यवाक्यस्य इतरेषाम् अन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिः वा हीनतायां न वाङ्मयतपस्त्वम् । तथा प्रियवाक्यस्य अपि इतरेषाम् अन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिः वा हीनस्य न वाङ्मयतपस्त्वम् । तथा हितवाक्यस्य अपि इतरेषाम् अन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिः वा वियुक्तस्य न वाङ्मयतपस्त्वम् ।

किं पुनः तत् तपः,

यत् सत्यं वाक्यम् अनुद्वेगकरं प्रियहितं च यत् तत् परमं तपो वाङ्मयम् । यथा शान्तो भव वत्स स्वाध्यायं योगं च अनुतिष्ठ तथा ते श्रेयो भविष्यति । स्वाध्यायाभ्यसनं च एव यथाविधि वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

जो वचन किसी प्राणीके अन्तःकरणमे उद्वेग-दुःख उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं, तथा जो सत्य, प्रिय और हितकारक हैं; अर्थात् इस लोक और परलोकमे सर्वत्र हित करनेवाले है। यहाँ 'उद्वेग न करनेवाले' इत्यादि लक्षणोसे वाक्यको विशेषित किया गया है और 'च' शब्द सब लक्षणोका समुच्चय बतलानेके लिये है (अतः समझना चाहिये कि) दूसरेको किसी बातका बोध करानेके लिये कहे हुए वाक्यमें यदि सत्यता, प्रियता, हितकारिता और अनुद्विग्नता—इन सबका अथवा इनमेसे किसी एक, दो या तीनका अभाव हो तो वह वाणीसम्बन्धी तप नहीं है।

जैसे सत्य वाक्य यदि अन्य एक, दो या तीन गुणोंसे हीन हो तो वह वाणीका तप नहीं है, वैसे, ही प्रिय वचन भी यदि अन्य एक, दो या तीन गुणोसे हीन हो तो वह वाणीसम्बन्धी तप नहीं है, तथा हितकारक वचन भी यदि अन्य एक, दो या तीन गुणोसे हीन हो तो वह वाणीका तप नहीं है।

पू०—तो फिर वह वाणीका तप कौन-सा है?

उ०—जो वचन सत्य हो और उद्वेग करनेवाला न हो तथा प्रिय और हितकर भी हो, वह वाणीसम्बन्धी परम तप है। जैसे, 'हे वत्स! तू शान्त हो, स्वाध्याय और योगमे स्थित हो, इससे तेरा कल्याण होगा' इत्यादि वचन है। तथा यथाविधि स्वाध्यायका अभ्यास करना भी वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनःप्रसादो मनसः प्रशान्तिः स्वच्छतापादनं मनसः प्रसादः । सौम्यत्वं यत् सौमनस्यम् आहुः मुखादिप्रसादकार्या अन्तःकरणस्य वृत्तिः, मौनं वाक्संयमः अपि मनःसंयमपूर्वको भवति इति कार्येण कारणम् उच्यते मनःसंयमो मौनम् इति । आत्मविनिग्रहो मनोनिरोधः सर्वतः सामान्यरूप आत्मविनिग्रहो वाग्विषयस्य एव मनसः संयमो मौनम् इति विशेषः । भावसंशुद्धिः परैः व्यवहारकाले अमायावित्वं भावसंशुद्धिः इति एतत् तपो मानसम् उच्यते ॥ १६ ॥

मनका प्रसाद अर्थात् मनकी परम शान्ति—स्वच्छता सम्पादन कर लेना, सौम्यता—जिसको सुमनसता कहते हैं वह मुखादिको प्रसन्न करनेवाली अन्तःकरणकी शुद्ध-वृत्ति, मौन—अन्तःकरणका संयम, क्योंकि वाणीका संयम भी मनःसंयमपूर्वक ही होता है, अतः कार्यसे कारण कहा जाता है, मनका निरोध अर्थात् सब ओरसे साधारणभावसे मनका निग्रह और भली प्रकार भावकी शुद्धि अर्थात् दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमे छल-कपटसे रहित होना, यह मानसिक तप कहलाता है । केवल वाणीविषयक मनके संयमका नाम मौन है और सामान्यभावसे संयम करनेका नाम आत्मनिग्रह है—यह भेद है ॥ १६ ॥

यथोक्तं कायिकं वाचिकं मानसं च तपः तप्तं नरैः सत्त्वादिभेदेन कथं त्रिविधं भवति इति उच्यते—

उपर्युक्त कायिक, वाचिक और मानसिक तप मनुष्योंद्वारा किये जानेपर, सात्त्विक आदि भेदोंसे तीन प्रकारके कैसे होते है ? सो बतलाते है—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या परया प्रकृष्टया तप्तम् अनुष्ठितं तपः तत् प्रकृतं त्रिविधं त्रिप्रकारम् अधिष्ठानं नरैः अनुष्ठातृभिः अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षारहितैः युक्तैः समाहितैः यद् ईदृशं तपः तत् सात्त्विकं सत्त्वनिर्वृत्तं परिचक्षते कथयन्ति शिष्टाः ॥ १७ ॥

जिसका प्रकरण चल रहा है वह, तीन प्रकारका कायिक, वाचिक और मानसिक तप, जो फलाकाङ्क्षारहित और समाहितचित्त पुरुषोंद्वारा उत्तम श्रद्धापूर्वक—आस्तिकबुद्धिपूर्वक किया जाता है, ऐसे उस तपको श्रेष्ठ पुरुष सात्त्विक—सत्त्वगुणजनित कहते हैं ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

सत्कारमानपूजार्थं **सत्कारः साधुकारः साधुः अयं तपस्वी ब्राह्मण इति एवम् अर्थं मानो माननं प्रत्युत्थानाभिवादनादिः तदर्थं पूजा पादप्रक्षालनार्चनाशयितृत्वादिः तदर्थं च** तपः **सत्कारमानपूजार्थं** दम्भेन च एव यत् क्रियते **तपः** तद् इह प्रोक्तं **कथितं** राजसं चलं **कादाचित्कफलत्वेन** अध्रुवम् ॥ १८ ॥

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये किया जाता है---यह बड़ा श्रेष्ठ पुरुष है, तपस्वी है, ब्राह्मण है। इस प्रकार जो बडाई की जाती है उसका नाम सत्कार है। (आते देखकर) खड़े हो जाना तथा प्रणाम आदि करना–ऐसे सम्मानका नाम मान है। पैर धोना, अर्चन करना, भोजन कराना इत्यादिका नाम पूजा है। इन सबके लिये जो तप किया जाता है और जो दम्भसे किया जाता है, वह तप यहाँ राजसी कहा गया है। तथा अनिश्चित फलवाला होनेसे नाशवान् और अनित्य भी कहा गया है ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

मूढग्राहेण **अविवेकनिश्चयेन** आत्मनः पीडया क्रियते यत् तपः परस्य उत्सादनार्थं **विनाशार्थं** वा तत् तामसं **तप** उदाहृतम् ॥ १९ ॥

जो तप अपने शरीरको पीड़ा पहुँचाकर या दूसरेका बुरा करनेके लिये मूढतापूर्वक आग्रहसे अर्थात् अज्ञानपूर्वक निश्चयसे किया जाता है, वह तामसी तप कहा गया है ॥ १९ ॥

इदानीं दानभेद उच्यते—

अब दानके भेद कहे जाते हैं—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

दातव्यम् इति **एवं मनः कृत्वा** यद् दानं दीयते अनुपकारिणे **प्रत्युपकारासमर्थाय समर्थाय अपि निरपेक्षं दीयते** देशे **पुण्ये कुरुक्षेत्रादौ** काले **संक्रान्त्यादौ** पात्रे च **षडङ्गविद्वेदपारगे इत्यादौ** तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

जो दान 'देना ही उचित है' मनमे ऐसा विचार करके अनुपकारीको, जो कि प्रत्युपकार करनेमे समर्थ न हो, यदि समर्थ हो तो भी जिससे प्रत्युपकार चाहा न गया हो, ऐसे अधिकारीको दिया जाता है तथा जो कुरुक्षेत्र आदि पुण्यभूमिमे, संक्रान्ति आदि पुण्यकालमे और छहो अङ्गोके सहित वेदको जाननेवाले ब्राह्मण आदि श्रेष्ठ पात्रको दिया जाता है वह दान सात्त्विक कहा गया है ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

यत् तु दानं प्रत्युपकारार्थं **काले तु अयं मां प्रत्युपकरिष्यति इति एवम् अर्थं** फलं वा **अस्य दानस्य मे भविष्यति अदृष्टम् इति तद्** उद्दिश्य पुनः दीयते च परिक्लिष्टं **खेदसंयुक्तं** तद् राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

जो दान प्रत्युपकारके लिये अर्थात् कालान्तरमे यह मेरा प्रत्युपकार करेगा, इस अभिप्रायसे अथवा इस दानसे मुझे परलोकमे फल मिलेगा ऐसे उद्देश्य-से क्लेश—खेदपूर्वक दिया जाता है, वह राजस कहा गया है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अदेशकाले **अपुण्ये देशे म्लेच्छाशुच्यादि-सङ्कीर्णे अकाले पुण्यहेतुत्वेन अप्रख्याते संक्रान्त्यादिविशेषरहिते** अपात्रेभ्यः **च मूर्ख-तस्करादिभ्यो देशादिसम्पत्तौ** च असत्कृतं **प्रिय-वचनपादप्रक्षालनपूजादिरहितम्** अवज्ञातं **पात्र-परिभवयुक्तं** यद् दानं तत् तामसम् उदाहृतम् ॥२२॥

जो दान अयोग्य देश-कालमे अर्थात् अशुद्ध वस्तुओ और म्लेच्छादिसे युक्त पापमय देशमे, तथा पुण्यके हेतु बतलाये हुए संक्रान्ति आदि विशेषता-से रहित कालमे और मूर्ख, चोर आदि अपात्रोंको दिया जाता है तथा जो अच्छे देश-कालादिमे भी बिना सत्कार किये—प्रिय वचन, पाद-प्रक्षालन और पूजादि सम्मानसे रहित तथा पात्रका अपमान करते हुए दिया जाता है, वह तामस कहा गया है २२

यज्ञदानतपःप्रभृतीनां **सादुगुण्यकरणाय अयम् उपदेश उच्यते—**

यज्ञ, दान और तप आदिको सद्गुणसम्पन्न बनानेके लिये यह उपदेश दिया जाता है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ओ तत्सद् इति **एष** निर्देशो **निर्दिश्यते अनेन इति निर्देशः** त्रिविधो **नामनिर्देशो** ब्रह्मण स्मृतः **चिन्तितो वेदान्तेषु ब्रह्मविद्भिः ।** ब्राह्मणा. तेन **निर्देशेन त्रिविधेन** वेदाः च यज्ञाः च विहिता **निर्मिताः** पुरा **पूर्वम्** इति **निर्देशस्तुत्यर्थम् उच्यते ॥ २३ ॥**

ओम्, तत्, सत् यह तीन प्रकारका ब्रह्मका निर्देश है । जिससे कोई वस्तु बतलायी जाय उसका नाम निर्देश है, अतः यह ब्रह्मका तीन प्रकारका नाम है, ऐसा वेदान्तमे ब्रह्मज्ञानियोंद्वारा माना गया है । पूर्वकालमे इस तीन प्रकारके नामसे ही ब्राह्मण, वेद और यज्ञ–ये सब रचे गये हैं । यह ब्रह्मके नामकी स्तुति करनेके लिये कहा जाता है ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तस्माद् ओम् इति उदाहृत्य **उच्चार्य** यज्ञदानतपःक्रिया **यज्ञादिस्वरूपाः क्रियाः** प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः **शास्त्रचोदिताः** सततं **सर्वदा** ब्रह्मवादिनां **ब्रह्मवदनशीलानाम्** ॥ २४ ॥

इसलिये वेदका प्रवचन—पाठ करनेवाले ब्राह्मणोंकी शास्त्र-विधिसे कही हुई यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ ब्रह्मके 'ओम्' इस नामका उच्चारण करके ही सर्वदा आरम्भ की जाती हैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

तद् इति अनभिसंधाय **तद् इति ब्रह्माभिधानम् उच्चार्य अनभिसंधाय च कर्मणः** फलं यज्ञतपःक्रिया **यज्ञक्रियाः च तपःक्रियाः च यज्ञतपःक्रिया** दानक्रियाः च विविधा **क्षेत्रहिरण्यप्रदानादिलक्षणाः** क्रियन्ते **निर्वर्त्यन्ते** मोक्षकाङ्क्षिभिः **मोक्षार्थिभिः मुमुक्षुभिः** ॥ २५ ॥

'तत्' ऐसे इस ब्रह्मके नामका उच्चारण करके और कर्मोंके फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ और तपरूप तथा दान अर्थात् भूमि, सोना आदिका दान करनारूप क्रियाएँ मोक्षको चाहनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा की जाती हैं ॥ २५ ॥

ओंतच्छब्दयोः विनियोग उक्तः अथ इदानीं सच्छब्दस्य विनियोगः कथ्यते—

ओम् और तत्-शब्दका प्रयोग तो कहा गया अब सत्-शब्दका प्रयोग कहा जाता है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

सद्भावे **असतः सद्भावे यथा अविद्यमानस्य पुत्रस्य जन्मनि तथा** साधुभावे **असद्वृत्तस्य असाधोः सद्वृत्तता साधुभावः तस्मिन् साधुभावे** च सद् इति एतद् **अभिधानं ब्रह्मणः** प्रयुज्यते **तत्र उच्यते अभिधीयते** प्रशस्ते कर्मणि **विवाहादौ च** तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते **प्रयुज्यते इति एतत्** ॥ २६ ॥

अविद्यमान वस्तुके सद्भावमें यानी जैसे अविद्यमान पुत्रादिके उत्पन्न होनेमें, तथा साधुभावमें अर्थात् बुरे आचरणोंवाले असाधु पुरुषका जो सदाचारयुक्त हो जाना है, उसमें, 'सत्' ऐसे इस ब्रह्मके नामका प्रयोग किया जाता है अर्थात् वहाँ 'सत्' शब्द कहा जाता है तथा हे पार्थ ! विवाह आदि माङ्गलिक कर्मोंमें भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है अर्थात् (उनमें भी) 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञे **यज्ञकर्मणि या स्थितिः** तपसि **च या स्थितिः** दाने च **या** स्थितिः **सा** च सद् इति उच्यते **विद्वद्भिः**, कर्म च एव तदर्थीयम् **अथवा यस्य अभिधानत्रयं प्रकृतं तदर्थीयं यज्ञदान-तपोऽर्थीयम् ईश्वरार्थीयम् इति एतत्** । सद् इति एव अभिधीयते । **तद् एतद् यज्ञतपआदिकर्म असात्त्विकं विगुणम् अपि श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मणः अभिधानत्रयप्रयोगेण सगुणं सात्त्विकं संपादितं भवति** ॥ २७ ॥

जो यज्ञकर्ममे स्थिति है, जो तपमे स्थिति है और जो दानमे स्थिति है, वह भी 'सत् है' ऐसा विद्वानोद्वारा कहा जाता है । तथा उन यज्ञादिके लिये जो कर्म है अथवा जिसके तीन नामोका प्रकरण चल रहा है, उस ईश्वरके लिये जो कर्म है, वह भी 'सत् है' यही कहा जाता है । इस प्रकार किये हुए यज्ञ और तप आदि कर्म, यदि असात्त्विक और विगुण हो तो भी श्रद्धापूर्वक परमात्माके तीनो नामोके प्रयोगसे सगुण और सात्त्विक बना लिये जाते है ॥ २७ ॥

तत्र च सर्वत्र श्रद्धाप्रधानतया सर्वं संपाद्यते यस्मात् तस्मात्—

क्योकि सभी जगह श्रद्धाकी प्रधानतासे ही सब कुछ किया जाता है, इसलिये—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

अश्रद्धया हुतं **हवनं कृतं** दत्तं च **ब्राह्मणेभ्यः अश्रद्धया**, तपः तप्तम् **अनुष्ठितम् अश्रद्धया, तथा अश्रद्धया एव** कृतं यत् **स्तुतिनमस्कारादि तत् सर्वम्** असद् इति उच्यते **मत्प्राप्तिसाधनमार्ग-बाह्यत्वात्** पार्थ । न च तद् **बह्वायासम् अपि** प्रेत्य **फलाय** नो **अपि इहार्थं साधुभिः निन्दितत्वाद् इति** ॥ २८ ॥

बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, बिना श्रद्धाके ब्राह्मणोंको दिया हुआ दान, तपा हुआ तप, तथा और भी जो कुछ बिना श्रद्धाके किया हुआ स्तुति-नमस्कारादि कर्म है वह सब, हे पार्थ ! मेरी प्राप्तिके साधनमार्गसे बाह्य होनेके कारण असत् है, ऐसा कहा जाता है । क्योकि वह बहुत परिश्रमयुक्त होनेपर भी साधु पुरुषोद्वारा निन्दित होनेके कारण न तो मरनेके पश्चात् फल देनेवाला होता है और न इस लोकमे ही सुखदायक होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्कर-भगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

ॐ

अष्टादशोऽध्यायः

सर्वस्य एव गीताशास्त्रस्य अर्थः अस्मिन् अध्याये उपसंहृत्य सर्वः च वेदार्थो वक्तव्य इति एवम् अर्थः अयम् अध्याय आरभ्यते ।

सर्वेषु हि अतीतेषु अध्यायेषु उक्तः अर्थः अस्मिन् अध्याये अवगम्यते । अर्जुनः तु संन्यास-त्यागशब्दार्थयोः एव विशेषं बुभुत्सुः उवाच—

इस अध्यायमे समस्त गीता-शास्त्रका आशय और वेदोका सम्पूर्ण तात्पर्य इकट्ठा करके कहना है, इस अभिप्रायसे यह अठारहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है ।

इस अध्यायमे पहलेके सभी अध्यायोमे कहा हुआ अभिप्राय मिलता है । तथापि अर्जुन केवल संन्यास और त्याग—इन दो शब्दोके अर्थोंका भेद जाननेकी इच्छासे ही प्रश्न करता है—

अर्जुन बोला—

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

संन्यासस्य संन्यासशब्दार्थस्य इति एतद् हे महाबाहो तत्त्वं तस्य भावः तत्त्वं याथात्म्यम् इति एतद् इच्छामि वेदितुं ज्ञातुं त्यागस्य च त्यागशब्दार्थस्य इति एतद् हृषीकेश पृथग् इतरेतरविभागतः । केशिनिषूदन ।

केशिनामा हयच्छद्मा असुरः तं निषूदितवान् भगवान् वासुदेवः तेन तन्नाम्ना सम्बोध्यते अर्जुनेन ॥ १ ॥

हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! मैं संन्यासका अर्थात् संन्यास-शब्दके अर्थका और त्यागका अर्थात् त्याग-शब्दके अर्थका तत्त्व—यथार्थ स्वरूप अलग-अलग विभागपूर्वक जानना चाहता हूँ ।

भगवान् वासुदेवने छलसे घोडेका रूप धारण करनेवाले केशि नामक असुरको मारा था, इसलिये वे उस (केशिनिषूदन) नामसे अर्जुनद्वारा सम्बोधित किये गये हैं ॥ १ ॥

तत्र तत्र निर्दिष्टौ संन्यासत्यागशब्दौ न निर्लुण्ठितार्थौ पूर्वेषु अध्यायेषु अतः अर्जुनाय पृष्टवते तन्निर्णयाय—

पहले अध्यायोंमें जिनका जगह-जगह निर्देश किया गया है, वे संन्यास और त्याग—दोनों शब्द स्पष्टार्थयुक्त नहीं हैं, इसलिये (उनका स्पष्ट अर्थ जाननेकी इच्छासे) पूछनेवाले अर्जुनको उनका निर्णय सुनानेके लिये श्रीभगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

काम्यानाम् अश्वमेधादीनां कर्मणां न्यासं परित्यागं संन्यास संन्यासशब्दार्थम् अनुष्ठेयत्वेन प्राप्तस्य अननुष्ठानं कवयः पण्डिताः केचिद् विदुः विजानन्ति ।

नित्यनैमित्तिकानाम् अनुष्ठीयमानानां सर्वकर्मणाम् आत्मसंबन्धितया प्राप्तस्य फलस्य परित्यागः सर्वकर्मफलत्यागः तं प्राहुः कथयन्ति त्यागं त्यागशब्दार्थं विचक्षणाः पण्डिताः ।

यदि काम्यकर्मपरित्यागः फलपरित्यागो वा अर्थो वक्तव्यः सर्वथा अपि त्यागमात्रं संन्यासत्यागशब्दयोः एकः अर्थो न घटपटशब्दौ इव जात्यन्तरभूतार्थौ ।

ननु नित्यनैमित्तिकानां कर्मणां फलम् एव नास्ति इति आहुः कथम् उच्यते तेषां फलत्याग इति । यथा वन्ध्यायाः पुत्रत्यागः ।

न एष दोषः, नित्यानाम् अपि कर्मणां भगवता फलवत्त्वस्य इष्टत्वात् । वक्ष्यति हि भगवान् *'अनिष्टमिष्टम्'* इति *'न तु सन्यासिनाम्'* इति च । संन्यासिनाम् एव हि केवलं कर्मफलासम्बन्धं दर्शयन् असंन्यासिनां नित्यकर्मफलप्राप्तिम् *'भवत्यत्यागिना प्रेत्य'* इति दर्शयति ॥ २ ॥

कितने ही बुद्धिमान्—पण्डित लोग, अश्वमेधादि सकाम कर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं अर्थात् कर्तव्यरूपसे प्राप्त (शास्त्रविहित) सकाम कर्मोंके न करनेको संन्यास शब्दका अर्थ समझते है ।

कुछ विचक्षण पण्डितजन अनुष्ठान किये जानेवाले नित्य नैमित्तिक सम्पूर्ण कर्मोंके, अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले फलका, परित्याग करनारूप जो सर्व-कर्म-फल-त्याग है, उसे ही त्याग कहते है, अर्थात् 'त्याग' शब्दका वे ऐसा अभिप्राय बतलाते है ।

कहनेका अभिप्राय, चाहे काम्य कर्मोंका (स्वरूपसे) त्याग करना हो और चाहे समस्त कर्मोंका फल छोड़ना ही हो, सभी प्रकारसे संन्यास और त्याग इन दोनों शब्दोका अर्थ तो, एकमात्र त्याग ही है । ये दोनो शब्द 'घड़ा' और 'वस्त्र' आदि शब्दोंकी भाँति भिन्न जातीय अर्थके बोधक नहीं हैं ।

पू०—जब ऐसा कहा जाता है, कि नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका तो फल ही नहीं होता, फिर यहाँ वन्ध्याके पुत्रत्यागकी भाँति, उनके फलका त्याग करनेके लिये कैसे कहा जाता है ?

उ०—नित्यकर्मोंका भी फल होता है—यह बात भगवान्को इष्ट है, इसलिये यह दोष नहीं है । क्योकि भगवान् स्वयं कहेगे कि **'मरनेके बाद कर्मोंका अच्छा-बुरा और मिला हुआ फल असंन्यासियोंको होता है', 'संन्यासियोंको नहीं'** इस प्रकार वहाँ केवल संन्यासियोके लिये कर्मफलका अभाव दिखाकर, असन्यासियोंके लिये कर्मफलकी प्राप्ति अवश्यम्भावी दिखलायेंगे ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

त्याज्यं त्यक्तव्यं दोषवद् दोषः अस्य अस्ति इति दोषवत् । किं तत् कर्म बन्धहेतुत्वात् सर्वम् एव । अथवा दोषो यथा रागादिः त्यज्यते तथा त्याज्यम् इति एके प्राहुः मनीषिणः पण्डिताः सांख्यादिदृष्टिम् आश्रिता अधिकृतानां कर्मिणाम् अपि इति ।

तत्र एव यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम् इति च अपरे ।

कर्मिण एव अधिकृतान् अपेक्ष्य एते विकल्पा न तु ज्ञाननिष्ठान् व्युत्थायिनः संन्यासिनः अपेक्ष्य ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां निष्ठा मया पुरा प्रोक्ता इति कर्माधिकाराद् अपोद्धृता ये न तान् प्रति चिन्ता ।

ननु *'कर्मयोगेन योगिनाम्'* इति अधिकृताः पूर्वं विभक्तनिष्ठा अपि इह सर्वशास्त्रोपसंहारप्रकरणे यथा विचार्यन्ते तथा सांख्या अपि ज्ञाननिष्ठा विचार्यन्ताम् इति ।

न, तेषां मोहदुःखनिमित्तत्यागानुपपत्तेः ।

न कायक्लेशनिमित्तानि दुःखानि सांख्या आत्मनि पश्यन्ति इच्छादीनां क्षेत्रधर्मत्वेन एव दर्शितत्वात् । अतः ते न कायक्लेशदुःखभयात् कर्म परित्यजन्ति ।

न अपि ते कर्माणि आत्मनि पश्यन्ति

कितने ही सांख्यादि मतावलम्बी पण्डितजन कहते हैं कि जिसमे दोष हो वह दोषवत् है । वह क्या है ? कि बन्धनके हेतु होनेके कारण सभी कर्म दोषयुक्त हैं, इसलिये कर्म करनेवाले कर्माधिकारी मनुष्योंके लिये भी वे त्याज्य हैं, अथवा जैसे राग-द्वेष आदि दोष त्यागे जाते हैं, वैसे ही समस्त कर्म भी त्याज्य है ।

इसी विषयमे दूसरे विद्वान् कहते है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेयोग्य नहीं है ।

ये सब विकल्प, कर्म करनेवाले कर्माधिकारियोको लक्ष्य करके ही किये गये हैं । समस्त भोगोंसे विरक्त ज्ञाननिष्ठ, संन्यासियोंको लक्ष्य करके नहीं ।

(अभिप्राय यह कि) 'सांख्ययोगियोकी निष्ठा ज्ञान-योगके द्वारा मैं पहले कह चुका हूँ' इस प्रकार जो (संन्यासी) कर्माधिकारसे अलग कर दिये गये हैं उनके विषयमे यहाँ कोई विचार नहीं करना है ।

पू०—'कर्मयोगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे कही गयी है' इस कथनसे जिनकी निष्ठाका विभाग पहले किया जा चुका है, उन कर्माधिकारियोके सम्बन्धमे, जिस प्रकार यहाँ गीताशास्त्रके उपसंहारप्रकरणमे फिर विचार किया जाता है, वैसे ही, सांख्यनिष्ठावाले संन्यासियोंके विषयमे भी तो किया जाना उचित ही है ।

उ०—नहीं, क्योकि उनका त्याग मोह या दुःखके निमित्तसे होनेवाला नहीं हो सकता ।

(भगवान्ने क्षेत्राध्यायमें) इच्छा और द्वेष आदिको शरीरके ही धर्म बतलाया है इसलिये सांख्यनिष्ठ संन्यासी शारीरिक पीडाके निमित्तसे होनेवाले दुःखोंको आत्मामे नहीं देखते । अतः वे शारीरिक क्लेशजन्य दुःखके भयसे कर्म नहीं छोड़ते ।

तथा वे आत्मामें कर्मोंका अस्तित्व भी नहीं देखते, जिससे कि उनके द्वारा मोहसे नियत कर्मोंका परित्याग किया जा सकता हो ।

गुणानां कर्म न एव किंचित् करोति इति हि ते संन्यसन्ति । *'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य'* इत्यादिभिः हि तत्त्वविदः संन्यासप्रकार उक्तः ।

तस्माद् ये अन्ये अधिकृताः कर्मणि अनात्मविदो येषां च मोहात् त्यागः संभवति कायक्लेशभयात् च ते एव तामसाः त्यागिनो राजसाः च इति निन्द्यन्ते कर्मिणाम् अनात्मज्ञानां कर्मफलत्यागस्तुत्यर्थम् ।

'सर्वारम्भपरित्यागी' 'मौनी' 'संतुष्टो येन केनचित्' 'अनिकेतः स्थिरमतिः' इति गुणातीतलक्षणे च परमार्थसंन्यासिनो विशेषितत्वात् । वक्ष्यति च *'ज्ञानस्य या परा निष्ठा'* इति । तस्माद् ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनो न इह विवक्षिताः ।

कर्मफलत्याग एव सात्त्विकत्वेन गुणेन तामसत्वाद्यपेक्षया संन्यास उच्यते न मुख्यः सर्वकर्मसंन्यासः ।

सर्वकर्मसंन्यासासंभवे च *'न हि देहभृता'* इति हेतुवचनाद् मुख्य एव इति चेत् ।

न, हेतुवचनस्य स्तुत्यर्थत्वात् । यथा *'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'* इति कर्मफलत्यागस्तुतिः एव यथोक्तानेकपक्षानुष्ठानाशक्तिमन्तम् अर्जुनम् अज्ञं प्रति विधानात्, तथा इदम् अपि

'सारे कर्म गुणोके हैं, मै कुछ भी नहीं करता' ऐसा समझकर ही वे कर्मसंन्यास करते है, क्योंकि **'सब कर्मोंको मनसे त्यागकर'** इत्यादि वाक्योद्वारा तत्त्वज्ञानियोके संन्यासका प्रकार (ऐसा ही) बतलाया गया है ।

अतः जो अन्य आत्मज्ञानरहित कर्माधिकारी मनुष्य है, जिनके द्वारा मोहपूर्वक या शारीरिक क्लेशके भयसे कर्मोंका त्याग किया जाना सम्भव है, वे ही तामस और राजस त्यागी है । ऐसा कहकर, आत्मज्ञानरहित कर्माधिकारियोके कर्म-फल-त्यागकी स्तुति करनेके लिये, उन राजस-तामस त्यागियोंकी निन्दा की जाती है ।

क्योकि **'सर्वारम्भपरित्यागी' 'मौनी' 'संतुष्टो येन केनचित्' 'अनिकेतः स्थिरमतिः'** इत्यादि विशेषणोसे (बारहवे अध्यायमे) और गुणातीतके लक्षणोमे भी यथार्थ संन्यासीको पृथक् करके कहा गया है, तथा **'ज्ञानकी जो परानिष्ठा है'** इस प्रकरणमे भी यही बात कहेगे, इसलिये यहॉ यह विवेचन ज्ञाननिष्ठ संन्यासियोके विषयमे नहीं है ।

कर्मफलत्याग (रूप संन्यास) ही सात्त्विकतारूप गुणसे युक्त होनेके कारण यहॉ तामस-राजस त्यागकी अपेक्षा गौणरूपसे संन्यास कहा जाता है । यह (सात्त्विक त्याग) सर्वकर्मसंन्यासरूप मुख्य संन्यास नहीं है ।

पू०—**'न हि देहभृता'** इत्यादि हेतुयुक्त कथनसे यह पाया जाता है, कि स्वरूपसे सर्व कर्मोका संन्यास असम्भव है, अत. कर्मफलत्याग ही मुख्य सन्यास है ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योकि यह हेतुयुक्त कथन कर्मफलत्यागकी स्तुतिके लिये है । जिस प्रकार पूर्वोक्त अनेक साधनोका अनुष्ठान करनेमे असमर्थ और आत्मज्ञानरहित अर्जुनके लिये विहित होनेके कारण **'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** यह कहना कर्मफलत्यागकी

'न हि देहभृता शक्यम्' इति कर्मफलत्याग-स्तुत्यर्थं वचनम् ।

न सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य न एव कुर्वन् न कारयन् आस्ते इति अस्य पक्षस्य अपवादः केनचिद् दर्शयितुं शक्यः ।

तस्मात् कर्मणि अधिकृतान् प्रति एव एष संन्यासत्यागविकल्पः । ये तु परमार्थदर्शिनः सांख्याः तेषां ज्ञाननिष्ठायाम् एव सर्वकर्म-संन्यासलक्षणायाम् अधिकारो न अन्यत्र इति न ते विकल्पार्हाः ।

तथा उपपादितम् अस्माभिः *'वेदाविनाशिनम्'* इति अस्मिन् प्रदेशे तृतीयादौ च ॥ ३ ॥

स्तुतिमात्र है । वैसे ही **'न हि देहभृता शक्यम्'** यह कहना भी कर्मफलत्यागकी स्तुतिके लिये ही है।

क्योंकि 'सब कर्मोंको मनसे छोड़कर न करता हुआ और न कराता हुआ रहता है' इस पक्षका अपवाद, किसीके द्वारा भी दिखलाया जाना सम्भव नहीं है ।

सुतरां यह संन्यास और त्याग-सम्बन्धी विकल्प, कर्माधिकारियोंके विषयमें ही है । जो यथार्थ ज्ञानी सांख्ययोगी हैं, उनका केवल सर्वकर्मसंन्यासरूप ज्ञाननिष्ठामें ही अधिकार है, अन्यत्र नहीं, अतः वे विकल्पके पात्र नहीं हैं ।

यही सिद्धान्त हमने **'वेदाविनाशिनम्'** इस श्लोककी व्याख्यामें और तीसरे अध्यायके आरम्भमें सिद्ध किया है ॥ ३ ॥

तत्र एतेषु विकल्पभेदेषु—

इन विकल्पभेदोंमें—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

निश्चयं शृणु अवधारय मे मम वचनात् तत्र त्यागे त्यागसंन्यासविकल्पे यथादर्शिते भरतसत्तम भरतानां साधुतम ।

त्यागो हि त्यागसंन्यासशब्दवाच्यो हि यः अर्थः स एक एव इति अभिप्रेत्य आह त्यागो हि इति । पुरुषव्याघ्र त्रिविधः त्रिप्रकारः तामसादिप्रकारैः संप्रकीर्तितः शास्त्रेषु सम्यक् कथितः ।

यस्मात् तामसादिभेदेन त्यागसंन्यास-शब्दवाच्यः अर्थः अधिकृतस्य कर्मिणः अनात्मज्ञस्य त्रिविधः संभवति न परमार्थ-

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठतम अर्जुन ! उस पूर्वदर्शित त्यागके विषयमें, अर्थात् त्याग-संन्यास-सम्बन्धी विकल्पोंके विषयमें, तू मेरा निश्चय सुन, अर्थात् मेरे वचनोंसे कहा हुआ तत्त्व भली प्रकार समझ ।

त्याग और संन्यास-शब्दका जो वाच्यार्थ है वह एक ही है, इस अभिप्रायसे केवल त्यागके नामसे ही (प्रश्नका) उत्तर देते हैं । हे पुरुषसिंह ! (उस) त्यागका शास्त्रोंमें तामस आदि तीन प्रकारके भेदोंसे भली प्रकार निरूपण किया गया है ।

जिससे कि आत्मज्ञानरहित कर्माधिकारी—कर्मी पुरुषका ही 'त्याग-संन्यास-शब्दका वाच्यार्थ (संन्यास) तामस आदि भेदोंसे तीन प्रकारका होना सम्भव है, परमार्थज्ञानीका नहीं' यह अभिप्राय

तत्त्वं न अन्यो वक्तुं समर्थः तस्माद् निश्चयं परमार्थशास्त्रार्थविषयम् अध्यवसायम् ऐश्वरं शृणु ॥ ४ ॥

यथार्थ तत्त्व बतलानेको दूसरा कोई समर्थ नहीं है, अतः तू मुझ ईश्वरका शास्त्रोंके यथार्थ अभिप्रायसे युक्त निश्चय सुन ॥ ४ ॥

कः पुनः असौ निश्चय इति अत आह—

वह निश्चय क्या है ? इसपर कहते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञो दानं तप इति एतत् **त्रिविधं** कर्म न त्याज्यं **न त्यक्तव्यं** कार्यं **करणीयम्** एव तत् । **कस्माद्** यज्ञो दानं तपः च एव पावनानि **विशुद्धिकारणानि** मनीषिणां **फलानभिसन्धीनाम्** इति एतत् ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तप, ये तीन प्रकारके कर्म त्यागनेयोग्य नहीं है, अर्थात् इन तीनोंका त्याग करना उचित नहीं है, इन्हे तो करना ही चाहिये । क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये तीनों बुद्धिमानोको अर्थात् फल-कामना-रहित पुरुषोंको, पवित्र करनेवाले है ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

एतानि अपि तु कर्माणि **यज्ञदानतपांसि पावनानि उक्तानि** सङ्गम् **आसक्तिं तेषु** त्यक्त्वा, फलानि च **तेषां त्यक्त्वा परित्यज्य** कर्तव्यानि इति **अनुष्ठेयानि** इति मे **मम** निश्चितं मतम् उत्तमम् ।

'निश्चयं शृणु मे तत्र' इति प्रतिज्ञाय पावनत्वं च हेतुम् उक्त्वा एतानि अपि कर्माणि कर्तव्यानि इति एतद् निश्चितं मतम् उत्तमम् इति प्रतिज्ञातार्थोपसंहार एव न अपूर्वार्थं वचनम् एतानि अपि इति प्रकृतसन्निकृष्टार्थतोपपत्तेः ।

जो पवित्र करनेवाले बतलाये गये हैं, ऐसे ये यज्ञ, दान और तपरूप कर्म भी तद्विषयक आसक्ति और फलका त्याग करके ही किये जाने चाहिये, अर्थात् आसक्ति और फलके त्यागपूर्वक ही इनका अनुष्ठान करना उचित है । यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।

'इस विषयमें मेरा निश्चय सुन' इस प्रकार प्रतिज्ञा करके और (उनकी कर्तव्यतामे) पावनत्वरूप हेतु बतलाकर जो ऐसा कहना है कि, 'ये कर्म किये जाने चाहिये' 'यह मेरा निश्चित उत्तम मत है' यह प्रतिज्ञा किये हुए विषयका उपसंहार ही है, किसी अपूर्व विषयका वर्णन नहीं है, क्योंकि 'एतानि' शब्दका आशय प्रकरणमे अत्यन्त निकटवर्ती विषयको ही लक्ष्य कराना होता है ।

सासङ्गस्य फलार्थिनो बन्धहेतव एतानि अपि कर्माणि मुमुक्षोः कर्तव्यानि इति अपि-शब्दस्य अर्थो न तु अन्यानि कर्माणि अपेक्ष्य एतानि अपि इति उच्यते ।

आसक्तियुक्त और फलेच्छुक मनुष्योंके लिये यद्यपि ये (यज्ञ, दान और तपरूप) कर्म बन्धनके कारण हैं, तो भी मुमुक्षुको (फल-आसक्तिसे रहित होकर) करने चाहिये, यही 'अपि' शब्दका अभिप्राय है। यहाँ (यज्ञ, दान और तपसे अतिरिक्त) अन्य (काम्य) कर्मोंको लक्ष्य करके 'एतानि' के साथ 'अपि'शब्दका प्रयोग नहीं है ।

अन्ये वर्णयन्ति नित्यानां कर्मणां फलाभावात् सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च इति न उपपद्यते । एतानि अपि इति यानि काम्यानि कर्माणि नित्येभ्यः अन्यानि एतानि अपि कर्तव्यानि किमुत यज्ञदानतपांसि नित्यानि इति ।

कुछ अन्य टीकाकार कहते हैं, कि नित्यकर्मोंके फलका अभाव होनेके कारण-उनको फल और आसक्ति छोड़कर कर्तव्य बतलाना नहीं बन सकता, (अतः) 'एतान्यपि' इस पदका अभिप्राय यह है कि जो नित्यकर्मोंसे अतिरिक्त काम्य कर्म हैं, वे भी करने चाहिये, फिर यज्ञ, दान और तपरूप नित्य-कर्मोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ।

तद् असत्, नित्यानाम्, अपि कर्मणां फलवत्त्वस्य उपपादितत्वात् । *'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि'* इत्यादि वचनेन ।

यह अर्थ (करना) ठीक नहीं, क्योंकि **'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि'** इत्यादि वचनोंसे 'नित्य-कर्मोंका भी फल होता है' यह सिद्ध किया गया है ।

नित्यानि अपि कर्माणि बन्धहेतुत्वाशङ्कया जिहासोः मुमुक्षोः कुतः काम्येषु प्रसङ्गः ।

नित्यकर्मोंको भी बन्धनकारक होनेकी आशङ्कासे छोड़नेकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुकी प्रवृत्ति काम्य-कर्मोंमें कैसे हो सकती है ?

'दूरेण ह्यवरं कर्म' इति च निन्दितत्वात् *'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र'* इति च काम्यकर्मणां बन्धहेतुत्वस्य निश्चितत्वात्, *'त्रैगुण्यविषया वेदाः'* *'त्रैविद्या मां सोमपाः'* *'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'* इति च दूरव्यवहितत्वात् च न काम्येषु एतानि अपि इति व्यपदेशः ॥ ६ ॥

इसके सिवा **'सकाम कर्म अत्यन्तनिकृष्ट हैं'** इस कथनमें काम्यकर्मोंकी निन्दा की जानेके कारण और **'यज्ञार्थ कर्मके अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धनकारक हैं'** इस कथनसे काम्यकर्म बन्धन-कारक माने जानेके कारण, एवं **'वेद त्रिगुणात्मक (संसार) को विषय करनेवाले हैं' 'तीनों वेदोंको जाननेवाले सोमरस पीनेवाले' 'पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आ जाते हैं'** ऐसा कहा जानेके कारण और साथ ही काम्यकर्मोंका विषय बहुत दूर व्यवधानयुक्त होनेके कारण भी (यह सिद्ध होता है कि) 'एतान्यपि' यह कथन काम्यकर्मोंके विषयमें नहीं है ॥ ६ ॥

तस्माद् अज्ञस्य अधिकृतस्य मुमुक्षोः—

अतः आत्मज्ञानरहित कर्माधिकारी मुमुक्षुके लिये—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

नियतस्य तु नित्यस्य सन्यास. परित्यागः कर्मणो न उपपद्यते अज्ञस्य पावनत्वस्य इष्टत्वात् । मोहाद् अज्ञानात् तस्य नियतस्य परित्यागः ।

नियतं च अवश्यं कर्तव्यं त्यज्यते च इति विप्रतिषिद्धम् अतो मोहनिमित्तः परित्यागः तामसः परिकीर्तितो मोहः च तम इति ॥ ७ ॥

विहित—नित्यकर्मोंका संन्यास यानी परित्याग करना, नहीं बन सकता । क्योंकि अज्ञानीके लिये नित्यकर्म शुद्धिके हेतु माने गये हैं । अतः मोहसे अज्ञानपूर्वक (किया हुआ) उन नित्यकर्मोंका परित्याग (तामस कहा गया है) ।

नियत अवश्य कर्तव्यको कहते है, फिर उसका त्याग किया जाना अत्यन्त विरुद्ध है, अतः यह मोहनिमित्तक त्याग तामस कहा गया है । मोह ही तम है, यह प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

किं च—

तथा—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

दु:खम् इति एव यत् कर्म कायक्लेशभयात् शरीरदुःखभयात् त्यजेत् परित्यजेत् स कृत्वा राजसं रजोनिर्वृत्तं त्यागं न एव त्यागफलं ज्ञानपूर्वकस्य सर्वकर्मत्यागस्य फलं मोक्षाख्यं न लभेद् न एव लभते ॥ ८ ॥

समस्त कर्म दु:खरूप है, ऐसा मानकर जो कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्मोंको छोड़ बैठता है, वह (ऐसा) राजस त्याग करके, त्यागका फल अर्थात् ज्ञानपूर्वक किये हुए सर्वकर्मसंन्यासका मोक्षरूप फल, नहीं पाता ॥ ८ ॥

कः पुनः सात्त्विकः त्यागः—

तो फिर सात्त्विक त्याग कौन-सा है ?

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

कार्यं कर्तव्यम् इति एव यत् कर्म नियतं नित्यं क्रियते निर्वर्त्यते हे अर्जुन सङ्गं त्यक्त्वा फलं च एव ।

हे अर्जुन ! करना चाहिये—कर्तव्य है, ऐसा समझकर, जो नित्यकर्म आसक्ति और फल छोड़कर सम्पादन किये जाते हैं ।

नित्यानां कर्मणां फलवत्त्वे भगवद्वचनं प्रमाणं अवोचाम । अथवा यद्यपि फलं न श्रूयते नित्यस्य कर्मणः तथापि नित्यं कर्म कृतम् आत्मसंस्कारम् प्रत्यवायपरिहारं वा फलं करोति आत्मन इति कल्पयति एव अज्ञः, तत्र ताम् अपि कल्पनां निवारयति फलं त्यक्त्वा इति अनेन, अतः साधु उक्तं सङ्गं त्यक्त्वा फलं च इति ।

नित्यकर्मोंका फल होता है, इस विषयमे पहले भगवान्‌के वचनोंका प्रमाण दे चुके है। अथवा यो समझो कि यद्यपि नित्यकर्मोंका फल नहीं सुना जाता है, तो भी अज्ञ मनुष्य ऐसी कल्पना कर ही लेता है कि किया हुआ नित्यकर्म अन्तःकरणकी शुद्धि या प्रत्यवायकी निवृत्तिरूप फल देता है, सुतरा 'फलं त्यक्त्वा' इस कथनसे ऐसी कल्पनाका भी निषेध करते हैं । अतः 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं च' यह कहना बहुत ही उचित है ।

स त्यागो नित्यकर्मसु सङ्गफलपरित्यागः सात्त्विकः सत्त्वनिर्वृत्तो मतः अभिमतः ।

वह त्याग अर्थात् नित्यकर्मोंमे आसक्ति और फलका त्याग सात्त्विक—सत्त्वगुणसे किया हुआ त्याग माना गया है ।

ननु कर्मपरित्यागः त्रिविधः संन्यास इति च प्रकृतः तत्र तामसो राजसः च उक्तः त्यागः कथम् इह सङ्गफलत्यागः, तृतीयत्वेन उच्यते यथा त्रयो ब्राह्मणा आगताः तत्र षडङ्गविदौ द्वौ क्षत्रियः तृतीय इति तद्वत् ।

पू०—तीन प्रकारका कर्मपरित्याग संन्यास है, यह प्रकरण है । उसमे तामस और राजस तो त्याग बतलाये गये परन्तु तीसरे (सात्त्विक) त्यागकी जगह (कर्मोंका त्याग न कहकर) आसक्ति और फलका त्याग कैसे कहते हैं ? जैसे कोई कहे कि तीन ब्राह्मण आये है, उनमे दो तो वेदके छहो अङ्गोंको जाननेवाले है और तीसरा क्षत्रिय है, उसीके समान यह कथन भी प्रकरणविरुद्ध है ।

न एष दोषः, त्यागसामान्येन स्तुत्यर्थत्वात् । अस्ति हि कर्मसंन्यासस्य फलाभिसंधित्यागस्य च त्यागत्वसामान्यं तत्र राजसतामसत्वेन कर्मत्यागनिन्दया कर्मफलाभिसंधित्यागः सात्त्विकत्वेन स्तूयते *'स त्यागः सात्त्विको मतः'* इति ॥ ९ ॥

उ०—यह दोष नहीं है, क्योंकि त्यागमात्रकी समानतासे कर्मफलत्यागकी स्तुतिके लिये ऐसा कहा है । कर्मसंन्यासकी और फलासक्तिके त्यागकी, त्यागमात्रमे तो समानता है ही । उनमे (स्वरूपसे) कर्मोंके त्यागको राजस और तामस त्याग बतलाकर उसकी निन्दा करके, **'स त्यागः सात्त्विको मतः'** इस कथनसे कर्मफल और आसक्तिके त्यागको सात्त्विक त्याग बतलाकर उसकी स्तुति की जाती है ॥ ९ ॥

यः तु अधिकृतः सङ्गं त्यक्त्वा फलाभिसंधिं च नित्यं कर्म करोति तस्य फलरागादिना अकलुषीक्रियमाणम् अन्तःकरणं नित्यैः च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुध्यति ।

जो अधिकारी, आसक्ति और फलवासना छोड़कर नित्यकर्म करता है, उसका फलासक्ति आदि दोषोंसे दूषित न किया हुआ अन्तःकरण, नित्यकर्मोंके अनुष्ठानद्वारा संस्कृत होकर **विशुद्ध हो जाता है** ।

विशुद्धं प्रसन्नम् आत्मालोचनक्षमं भवति। तस्य एव नित्यकर्मानुष्ठाने न विशुद्धान्तःकरणस्य आत्मज्ञानाभिमुखस्य क्रमेण यथा तन्निष्ठा स्यात् तद् वक्तव्यम् इति आह—

विशुद्ध और प्रसन्न अन्त.करण ही आध्यात्मिक विषयकी आलोचनामे समर्थ होता है। अतः इस प्रकार नित्यकर्मोके अनुष्ठानसे जिसका अन्तः-करण विशुद्ध हो गया है एवं जो आत्मज्ञानके अभिमुख है, उसकी उस आत्मज्ञानमें जिस प्रकार क्रमसे स्थिति होती है, वह कहनी है, इसलिये कहते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

न द्वेष्टि अकुशलम् अशोभनं काम्यं कर्म शरीरारम्भद्वारेण संसारकारणं किम् अनेन इति एवम्।

कुशले शोभने नित्ये कर्मणि सत्त्वशुद्धि-ज्ञानोत्पत्तितन्निष्ठाहेतुत्वेन मोक्षकारणम् इदम् इति एवं न अनुषज्जते तत्र अपि प्रयोजनम् अपश्यन् अनुषङ्गं प्रीतिं न करोति इति एतत्।

कः पुनः असौ, त्यागी पूर्वोक्तेन सङ्गफल-परित्यागेन तद्वान् त्यागी यः कर्मणि सङ्गं त्यक्त्वा तत्फलं च नित्यकर्मानुष्ठायी स त्यागी।

कदा पुनः असौ, अकुशलं कर्म न द्वेष्टि कुशले च न अनुषज्जते इति उच्यते—

सत्त्वसमाविष्टो यदा सत्त्वेन आत्मानात्म-विवेकविज्ञानहेतुना समाविष्टः संव्याप्तः संयुक्त इति एतत्।

अत एव च मेधावी मेधया आत्मज्ञान-लक्षणया प्रज्ञया संयुक्तः तद्वान् मेधावी मेधावित्वाद् एव छिन्नसंशय. छिन्नः अविद्या-कृतः संशयो यस्य आत्मस्वरूपावस्थानम् एव परं निःश्रेयससाधनं न अन्यत् किञ्चिद् इति एवं निश्चयेन छिन्नसंशयः।

अकुशल—काम्यकर्मोंसे (वह) द्वेष नहीं करता अर्थात् काम्यकर्म पुनर्जन्म देनेवाले होनेके कारण संसारके कारण है, इनसे मुझे क्या प्रयोजन है, इस प्रकार उनसे द्वेष नहीं करता।

कुशल—शुभ—नित्यकर्मोंमे आसक्त नहीं होता। अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञानकी उत्पत्ति और उसमे स्थितिके हेतु होनेसे नित्यकर्म मोक्षके कारण हैं, इस प्रकार उनमे आसक्त नहीं होता। यानी उनमे भी अपना कोई प्रयोजन न देखकर प्रीति नहीं करता।

वह कौन है ? त्यागी, जो कि पूर्वोक्त आसक्ति और फलके त्यागसे सम्पन्न है अर्थात् कर्मोंमे आसक्ति और उनका फल छोडकर नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला है, ऐसा त्यागी।

ऐसा पुरुष किस अवस्थामे, काम्यकर्मोंसे द्वेष नहीं करता और नित्यकर्मोंमे आसक्त नहीं होता ? सो कहते हैं—

जब कि वह सात्त्विक भावसे युक्त होता है। अर्थात् आत्म-अनात्म-विषयक विवेक ज्ञानके हेतु-स्वरूप सत्त्वगुणसे भरपूर—भली प्रकार व्याप्त होता है।

इसीलिये वह मेधावी है अर्थात् आत्मज्ञानरूप बुद्धिसे युक्त है। मेधावी होनेके कारण ही छिन्नसशय है—अविद्याजनित संशयसे रहित है। अर्थात् आत्मस्वरूपमे स्थित हो जाना ही परम कल्याणका साधन है, और कुछ नहीं, इस निश्चयके कारण संशयरहित हो चुका है।

यः अधिकृतः पुरुषः पूर्वोक्तेन प्रकारेण कर्मयोगानुष्ठानेन क्रमेण संस्कृतात्मा सन् जन्मादिविक्रियारहितत्वेन निष्क्रियम् आत्मानम् आत्मत्वेन संबुद्धः, सः *'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' 'नैव कुर्वन्न कारयन् आसीनः'* नैष्कर्म्यलक्षणां ज्ञाननिष्ठाम् अश्नुते ।

इति एतत् पूर्वोक्तस्य कर्मयोगस्य प्रयोजनम् अनेन श्लोकेन उक्तम् ॥ १० ॥

जो अधिकारी पुरुष, पूर्वोक्त प्रकारसे कर्मयोगके अनुष्ठानद्वारा क्रमसे विशुद्धान्तःकरण होकर, जन्मादि विकारोंसे रहित और क्रियारहित आत्माको भली प्रकार अपना स्वरूप समझ गया है, वह **'समस्त कर्मोंको मनसे त्यागकर' 'न कुछ करता और न कराता हुआ रहनेवाला'** (आत्मज्ञानी) निष्कर्मतारूप ज्ञाननिष्ठाको भोगता है ।

इस प्रकार इस श्लोकद्वारा यह पूर्वोक्त कर्मयोगका फल बतलाया गया है ॥ १० ॥

यः पुनः अधिकृतः सन् देहात्माभिमानित्वेन देहभृद् अज्ञः अबाधितात्मकर्तृत्वविज्ञानतया अहं कर्ता इति निश्चितबुद्धिः तस्य अशेषकर्मपरित्यागस्य अशक्यत्वात् कर्मफलत्यागेन चोदितकर्मानुष्ठाने एव अधिकारो न तत्त्यागे इति एतम् अर्थं दर्शयितुम् आह—

परन्तु जो पुरुष कर्माधिकारी है और शरीरमें आत्माभिमान रखनेवाला होनेके कारण देहधारी अज्ञानी है, आत्मविषयक कर्तृत्व-ज्ञान नष्ट न होनेके कारण जो 'मैं करता हूँ' ऐसी निश्चित बुद्धिवाला है उससे कर्मका अशेष त्याग होना असम्भव होनेके कारण, उसका कर्मफलत्यागके सहित विहित कर्मोंके अनुष्ठानमें ही अधिकार है, उनके त्यागमें नहीं । यह अभिप्राय दिखलानेके लिये कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

न हि यस्माद् देहभृता देहं बिभर्ति इति देहभृद् देहात्माभिमानवान् देहभृद् उच्यते न हि विवेकी स हि *'वेदाविनाशिनम्'* इत्यादिना कर्तृत्वाधिकाराद् निवर्तितः अतः तेन देहभृता अज्ञेन न शक्यं त्यक्तुं संन्यसितुं कर्माणि अशेषतो निःशेषेण । कस्माद् यः तु अज्ञः अधिकृतो नित्यानि कर्माणि कुर्वन् कर्मफलत्यागी कर्मफलाभिसंधिमात्रसंन्यासी स त्यागी इति अभिधीयते कर्मी अपि सन् इति स्तुत्यभिप्रायेण ।

देहधारी—देहको धारण करे सो देहधारी, इस व्युत्पत्तिके अनुसार शरीरमें आत्माभिमान रखनेवाला देहभृत् कहा जाता है, विवेकी नहीं । क्योंकि **'वेदाविनाशिनम्'** इत्यादि श्लोकोंसे वह (विवेकी) कर्तापनके अधिकारसे अलग कर दिया गया है । अतः (यह अभिप्राय समझना चाहिये कि) जिस कारण उस देहधारी—अज्ञानीसे समस्त कर्मोंका पूर्णतया त्याग किया जाना सम्भव नहीं है, इसलिये जो तत्त्वज्ञानरहित अधिकारी, 'नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ उन कर्मोंके फलका त्यागी है, अर्थात् कर्मफलकी वासनामात्रको छोड़नेवाला है, वह कर्म करनेवाला होनेपर भी स्तुतिके अभिप्रायसे 'त्यागी' कहा जाता है ।

तस्मात् परमार्थदर्शिना एव अदेहभृता देहात्मभावरहितेन अशेषकर्मसंन्यासः शक्यते कर्तुम् ॥ ११ ॥

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि देहात्माभिमानसे रहित परमार्थज्ञानीके द्वारा ही निःशेषभावसे कर्म-संन्यास किया जा सकता है ॥ ११ ॥

किं पुनः तत् प्रयोजनं यत् सर्वकर्मपरित्यागात् स्याद् इति उच्यते—

सर्व कर्मोंका त्याग करनेसे जो फल होता है, वह क्या है ? इसपर कहते हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२ ॥

अनिष्टं नरकतिर्यगादिलक्षणम् इष्टं देवादिलक्षणं मिश्रम् इष्टानिष्टसंयुक्तं मनुष्यलक्षणं च एवं त्रिविधं त्रिप्रकारं कर्मणो धर्माधर्मलक्षणस्य फलम् ।

बाह्यानेककारकव्यापारनिष्पन्नं सद् अविद्याकृतम् इन्द्रजालमायोपमं महामोहकरं प्रत्यगात्मोपसर्पि इव फल्गुतया लयम् अदर्शनं गच्छति इति फलम् इति फलनिर्वचनम् ।

तद् एतद् एवं लक्षणं फलं भवति अत्यागिनाम् अज्ञानां कर्मिणाम् अपरमार्थसंन्यासिनां प्रेत्य शरीरपाताद् ऊर्ध्वम् । न तु परमार्थसंन्यासिना परमहंसपरिव्राजकानां केवलज्ञाननिष्ठानां क्वचित् ।

न हि केवलसम्यग्दर्शननिष्ठा अविद्यादिसंसारबीजं न उन्मूलयन्ति कदाचिद् इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अनिष्ट—नरक और पशु-पक्षी आदि योनिरूप इष्ट—देवयोनिरूप तथा मिश्र—इष्ट और अनिष्टमिश्रित मनुष्ययोनिरूप, इस प्रकार यह पुण्य पापरूप कर्मोंका फल तीन प्रकारका होता है ।

जो पदार्थ बाह्य कर्ता, कर्म, क्रिया आदि अनेक कारकोंद्वारा निष्पन्न हुआ हो और बाजीगरकी मायाके समान, अविद्याजनित, महामोहकारक हो, एवं जीवात्माके आश्रित-सा प्रतीत होता हो और साररहित होनेके कारण तत्काल ही लय–नष्ट हो जाता हो, उसका नाम फल है । यह फल शब्दकी व्याख्या है ।

ऐसा यह तीन प्रकारका फल, अत्यागियोंको अर्थात् परमार्थसंन्यास न करनेवाले कर्मनिष्ठ अज्ञानियोंको ही, मरनेके पीछे मिलता है । केवल ज्ञाननिष्ठामें स्थित परमहंस-परिव्राजक वास्तविक संन्यासियोंको, कभी नहीं मिलता ।

क्योंकि (वे) केवल सम्यग्ज्ञाननिष्ठ पुरुष, संसारके बीजरूप अविद्यादि दोषोंका मूलोच्छेद नहीं करते, ऐसा कभी नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

अतः परमार्थदर्शिन एव अशेषकर्मसंन्यासित्वं सम्भवति अविद्याध्यारोपितत्वाद् आत्मनि क्रियाकारकफलानां न तु अज्ञस्य अधिष्ठा-

इसलिये क्रिया, कारक और फल आदि आत्मामें अविद्यासे आरोपित होनेके कारण परमार्थदर्शी (आत्मज्ञानी) ही सम्पूर्ण कर्मोंका अशेषतः त्यागी हो सकता है । कर्म करनेवाले अधिष्ठान (शरीर)

नादीनि क्रियाकर्तॄणि कारकाणि आत्मत्वेन पश्यतः अशेषकर्मसंन्यासः सम्भवति। तद् एतद् उत्तरैः श्लोकैः दर्शयति—

कर्ता-क्रिया आदि कारकोंको, आत्मभावसे देखनेवाला अज्ञानी, सम्पूर्ण कर्मोंका अशेषतः त्याग नहीं कर सकता। यह बात अगले श्लोकसे दिखलाते हैं—

पञ्चेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

पञ्च इमानि **वक्ष्यमाणानि** हे महाबाहो कारणानि **निर्वर्तकानि** निबोध मे **मम इति**।

उत्तरत्र चेतःसमाधानार्थं वस्तुवैषम्यप्रदर्शनार्थं च तानि कारणानि ज्ञातव्यतया स्तौति।

सांख्ये **ज्ञातव्याः पदार्थाः संख्यायन्ते यस्मिन् शास्त्रे तत् सांख्यं वेदान्तः।** कृतान्ते **इति तस्य एव विशेषणं कृतम् इति कर्म उच्यते तस्य अन्तः कृतस्य परिसमाप्तिः यत्र स कृतान्तः कर्मान्त इति एतत्।** *'यावानर्थ उदपाने' 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'* **इति आत्मज्ञाने सञ्जाते सर्वकर्मणां निवृत्तिं दर्शयति।**

अतः तस्मिन् आत्मज्ञानार्थे सांख्ये कृतान्ते वेदान्ते प्रोक्तानि **कथितानि** सिद्धये **निष्पत्त्यर्थं** सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

हे महाबाहो! इन—आगे कहे जानेवाले पाँच कारणोंको अर्थात् कर्मके साधनोंको, तू मुझसे जान।

अगले उपदेशमें अर्जुनके चित्तको लगानेके लिये और अधिष्ठानादिके ज्ञानकी कठिनता दिखानेके लिये, उन पाँचों कारणोंको जाननेयोग्य बतलाकर, उनकी स्तुति करते हैं।

जिस शास्त्रमें जाननेयोग्य पदार्थोंकी संख्या (गणना) की जाय उसका नाम सांख्य अर्थात् वेदान्त है। कृतान्त भी उसीका विशेषण है। 'कृत' कर्मको कहते हैं, जहाँ उसका अन्त अर्थात् जहाँ कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है वह 'कृतान्त' है—यानी कर्मोंका अन्त है। **'यावानर्थ उदपाने' 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'** इत्यादि वचन भी आत्मज्ञान उत्पन्न होनेपर समस्त कर्मोंकी निवृत्ति दिखलाते हैं।

इसलिये (कहते हैं कि) उस आत्मज्ञानप्रद कृतान्त—सांख्यमें यानी वेदान्तशास्त्रमें समस्त कर्मोंकी सिद्धिके लिये कहे हुए (उन पाँच कारणोंको तू मुझसे सुन)॥ १३॥

कानि तानि इति उच्यते—

वे (पाँच कारण) कौन-से हैं? सो बतलाते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

अधिष्ठानम् **इच्छाद्वेषसुखदुःखज्ञानादीनाम् अभिव्यक्तेः आश्रयः अधिष्ठानं शरीरम्** तथा कर्ता **उपाधिलक्षणो भोक्ता,** करणं च **श्रोत्रादिकं**

अधिष्ठान—इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख और ज्ञान आदिकी अभिव्यक्तिका आश्रय शरीर, कर्ता—उपाधिस्वरूप भोक्ता जीव, भिन्न-भिन्न प्रकारके करण—शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाले श्रोत्रादि अलग-अलग बारहों करण, नाना प्रकारकी

शब्दाद्युपलब्धये पृथग्विधं नानाप्रकारं द्वादशसंख्यम्, विविधाः च पृथक् चेष्टा वायवीयाः प्राणापानाद्याः, दैवं च एव दैवम् एव च अत्र एतेषु चतुर्षु पञ्चमं पञ्चानां पूरणम् आदित्यादि चक्षुराद्यनुग्राहकम् ॥ १४ ॥

चेष्टाएँ—श्वास-प्रश्वास आदि अलग-अलग वायु-सम्बन्धी क्रियाएँ और इन चारोंके साथ पाँचवाँ—पाँचकी संख्याको पूर्ण करनेवाला कारण दैव है। अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके अनुग्राहक सूर्यादि देव है ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

शरीरवाङ्मनोभिः यत् कर्म त्रिभिः एतैः प्रारभते निर्वर्तयति नरो न्याय्यं वा धर्म्यं शास्त्रीयम्, विपरीतं वा अशास्त्रीयम् अधर्म्यम्। यत् च अपि निमिषितचेष्टादि जीवनहेतुः तद् अपि पूर्वकृतधर्माधर्मयोः एव कार्यम् इति न्याय्यविपरीतयोः एव ग्रहणेन गृहीतम्। पञ्च एते यथोक्ताः तस्य सर्वस्य एव कर्मणो हेतवः कारणानि।

मन, वाणी और शरीरसे अर्थात् इन तीनोंके द्वारा, मनुष्य जो कुछ न्याययुक्त—धर्ममय—शास्त्रीय अथवा धर्म-विरुद्ध—अशास्त्रीय कर्म करता है, उन सबके ये उपर्युक्त पाँच हेतु यानी कारण हैं। जीवनके लिये जो कुछ आँख खोलने-मूँदने आदिकी भी चेष्टाएँ की जाती हैं, वे भी, पहले किये हुए पुण्य और पापका ही परिणाम है। अतः न्याय और विपरीत (अन्याय) के ग्रहणसे, ऐसी समस्त चेष्टाओंका भी ग्रहण हो जाता है।

ननु अधिष्ठानादीनि सर्वकर्मणां कारणानि कथम् उच्यते शरीरवाङ्मनोभिः कर्म प्रारभते इति।

पू०—जब कि अधिष्ठानादि ही समस्त कर्मोंके कारण है, तब यह कैसे कहा जाता है कि मन, वाणी और शरीरसे कर्म करता है?

न एष दोषः, विधिप्रतिषेधलक्षणं सर्वं कर्म शरीरादित्रयप्रधानं तदङ्गतया दर्शनश्रवणादि च जीवनलक्षणं त्रिधा एव राशीकृतम् उच्यते शरीरादिभिः आरभते इति, फलकाले अपि तत्प्रधानैः भुज्यते इति पञ्चानाम् एव हेतुत्वं न विरुध्यते ॥ १५ ॥

उ०—यह दोष नहीं है। विहित और निषेधरूप सारे कर्म शरीर, वाणी और मन इन्हीं तीनोंकी प्रधानतासे होनेवाले है, तथा देखना-सुनना आदि जीवननिमित्तक चेष्टाएँ भी उन्हीं कर्मोंकी अंगभूत हैं, इसलिये समस्त कर्मोंको तीन भागोंमे बाँटकर ऐसा कहते है कि जो कुछ भी शरीर आदिद्वारा कर्म करता है। (क्योंकि) फलभोगके समय भी शरीर आदि प्रधान कारणोंद्वारा ही फल भोगा जाता है। सुतरां उपर्युक्त अधिष्ठानादि पाँच कारणोंकी हेतुता ठीक है, इसमे विरोध नहीं है ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

तत्र इति प्रकृतेन संबध्यते, एवं सति, एवं यथोक्तैः पञ्चभिः हेतुभिः निर्वर्त्ये सति कर्मणि। तत्र एवं सति इति दुर्मतित्वस्य हेतुत्वेन संबध्यते* । तत्र तेषु आत्मानम् अनन्यत्वेन अविद्यया परिकल्प्य तैः क्रियमाणस्य कर्मणः अहम् एव कर्ता इति कर्तारम् आत्मानं केवलं शुद्धं तु यः पश्यति अविद्वान्, कस्मात्, वेदान्ताचार्योपदेशन्यायैः अकृतबुद्धित्वाद् असंस्कृतबुद्धित्वात्।

यः अपि देहादिव्यतिरिक्तात्मवादी अन्यम् आत्मानम् एव केवलं कर्तारं पश्यति असौ अपि अकृतबुद्धिः एव अतः अकृतबुद्धित्वाद् न स पश्यति आत्मनः तत्त्वं कर्मणो वा इत्यर्थः।

अतः दुर्मतिः कुत्सिता विपरीता दुष्टा अजस्रं जननमरणप्रतिपत्तिहेतुभूता मतिः अस्य इति दुर्मतिः स पश्यन् अपि न पश्यति, यथा तैमिरिकः अनेकं चन्द्रम्, यथा वा अभ्रेषु धावत्सु चन्द्रं धावन्तम्, यथा वा वाहने उपविष्टः अन्येषु धावत्सु आत्मानं धावन्तम् ॥ १६ ॥

'तत्र' शब्द प्रकरणसे सम्बन्ध जोड़ता है। ऐसा होनेसे, यानी पहले बतलाये हुए पाँच कारणोंद्वारा ही समस्त कर्म सिद्ध होते हैं, इसलिये, जो अज्ञानी पुरुष, वेदान्त और आचार्यके उपदेशद्वारा तथा तर्कद्वारा सस्कृतबुद्धि न होनेके कारण, उन अधिष्ठानादि पाँचो कारणोंके साथ अविद्यासे आत्माकी एकता मानकर, उनके द्वारा किये हुए कर्मोंका 'मैं ही कर्ता हूँ' इस प्रकार केवल–शुद्ध आत्माको (उन कर्मोंका) कर्ता समझता है, (वह वास्तवमें कुछ भी नहीं समझता)।

तथा आत्माको शरीरादिसे अलग माननेवाला भी, जो शरीरादिसे अलग केवल आत्माको ही कर्ता समझता है, वह भी अकृतबुद्धि ही है। अतः असंस्कृतबुद्धि होनेके कारण वह भी वास्तवमें आत्माका या कर्मका तत्त्व नहीं समझता, यह अभिप्राय है।

इसलिये वह दुर्बुद्धि है। जिसकी बुद्धि कुत्सित, विपरीत, दुष्ट और बारम्बार जन्म-मरण देनेमें कारणरूप हो उसे दुर्बुद्धि कहते हैं, ऐसा मनुष्य देखता हुआ भी वास्तवमें नहीं देखता। जैसे तिमिररोगवाला अनेक चन्द्र देखता है, या जैसे बालक दौड़ते हुए बादलोंमें चन्द्रमाको दौड़ता हुआ देखता है, अथवा जैसे (पालकी आदि) किसी सवारीपर चढ़ा हुआ मनुष्य दूसरोंके चलनेमें अपना चलना समझता है (वैसा ही उसका समझना है)॥ १६ ॥

कः पुनः सुमतिः यः सम्यक् पश्यति इति उच्यते—

तो फिर जो वास्तवमें देखता है (ऐसा) सुबुद्धि कौन है? इसपर कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

यस्य **शास्त्राचार्योपदेशन्यायसंस्कृतात्मनो न भवति** अहंकृतः **अहं कर्ता इति एवंलक्षणो** भावो **भावना प्रत्यय एते एव पञ्चाधिष्ठानादयः अविद्यया आत्मनि कल्पिताः सर्वकर्मणां कर्तारो न अहम्, अहं तु तद्व्यापाराणां साक्षिभूतः** *'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः परः'* *(मु० उ० २ । १ । २)* **केवलः अविक्रिय इति एवं पश्यति इति एतत् ।**

शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे तथा न्यायसे जिसका अन्तःकरण भलीप्रकार शुद्ध–संस्कृत हो गया है, ऐसे जिस पुरुषके अन्त.करणमे 'मै कर्ता हूँ' इस प्रकारकी भावना—प्रतीति नहीं होती, जो ऐसा समझता है कि 'अविद्यासे आत्मामे अध्यारोपित, ये अधिष्ठानादि पाँच हेतु ही समस्त कर्मोंके कर्ता हैं, मै नहीं हूँ, मै तो केवल उनके व्यापारोंका साक्षीमात्र, **'प्राणोंसे रहित, मनसे रहित, शुद्ध, श्रेष्ठ, अक्षरसे भी पर'** केवल और अक्रिय आत्मस्वरूप हूँ ।'

बुद्धिः **अन्तःकरणं** यस्य **आत्मन उपाधिभूता** न लिप्यते **न अनुशायिनी भवति इदम् अहम् अकार्षं तेन अहं नरकं गमिष्यामि इति एवं यस्य बुद्धिः न लिप्यते स सुमतिः स पश्यति ।**

तथा जिसकी बुद्धि यानी आत्माका उपाधिस्वरूप अन्तःकरण, लिप्त नहीं होता—अनुताप नहीं करता, यानी 'मैंने अमुक कार्य किया है उससे मुझे नरकमें जाना पड़ेगा, इस प्रकार जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह सुबुद्धि है; वही वास्तवमे देखता है ।

हत्वा अपि स इमान् लोकान् **सर्वान् प्राणिन इत्यर्थः ।** न हन्ति **हननक्रियां न करोति** न निबध्यते **न अपि तत्कार्येण अधर्मफलेन संबध्यते ।**

ऐसा ज्ञानी इन समस्त लोकोंको अर्थात् सब प्राणियोंको मारकर भी (वास्तवमे) नहीं मारता अर्थात् हननक्रिया नहीं करता और उसके परिणामसे अर्थात् पापके फलसे भी नहीं बँधता ।

ननु हत्वा अपि न हन्ति इति विप्रतिषिद्धम्

उच्यते यद्यपि स्तुतिः ।

पू०—यद्यपि यह (ज्ञानकी) स्तुति है, तो भी यह कहना सर्वथा विपरीत है कि 'मारकर भी नहीं मारता ।'

न एष दोषः, लौकिकपारमार्थिकदृष्ट्यपेक्षया तदुपपत्तेः ।

उ०—यह दोष नहीं है, क्योंकि लौकिक और पारमार्थिक इन दो दृष्टियोंकी अपेक्षासे ऐसा कहना बन सकता है ।

देहाद्यात्मबुद्धया हन्ताहम् इति लौकिकीं दृष्टिम् आश्रित्य हत्वा अपि इति आह, यथादर्शितां पारमार्थिकीं दृष्टिम् आश्रित्य न हन्ति न निबध्यते इति तद् उभयम् उपपद्यते एव ।

शरीर आदिमें आत्मबुद्धि करके 'मै मारनेवाला हूँ' ऐसा माननेवाले लौकिक मनुष्योंकी दृष्टिका आश्रय लेकर 'मारकर भी' यह कहा है और पूर्वोक्त पारमार्थिक दृष्टिका आश्रय लेकर 'न मारता है और न बँधता है' यह कहा है । इस प्रकार ये दोनों कथन बन सकते हैं ।

ननु अधिष्ठानादिभिः संभूय करोति एव आत्मा *'कर्तारमात्मानं केवलं तु'* इति केवल-शब्दप्रयोगात् ।

पू०—**'कर्तारमात्मानं केवलं तु'** इस कथनमे केवल-शब्दका प्रयोग होनेसे यह पाया जाता है कि आत्मा (अकेला कर्म नहीं करता, पर) अधिष्ठान आदि अन्य हेतुओंके साथ सम्मिलित होकर निःसन्देह कर्म करता है ।

न एष दोष आत्मनः अविक्रियस्वभावत्वे अधिष्ठानादिभिः संहतत्वानुपपत्तेः ।

उ०—यह दोष नहीं है, क्योंकि अविक्रिय-स्वभाव होनेके कारण, आत्माका अधिष्ठानादिसे संयुक्त होना, नहीं बन सकता ।

विक्रियावतो हि अन्यैः संहननं संभवति संहत्य वा कर्तृत्वं स्यात् ।

विकारवान् वस्तुका ही अन्य पदार्थोंके साथ संघात हो सकता है और विकारी पदार्थ ही संहत होकर कर्ता बन सकता है ।

न तु अविक्रियस्य आत्मनः केनचित् संहननम् अस्ति इति न संभूय कर्तृत्वम् उपपद्यते । अतः केवलत्वम् आत्मनः स्वाभाविकम् इति केवलशब्दः अनुवादमात्रम् ।

निर्विकार आत्माका, न तो किसीके साथ सयोग हो सकता है और न संयुक्त होकर उसका कर्तृत्व ही बन सकता है । इसलिये (यह समझना चाहिये कि) आत्माका केवलत्व स्वाभाविक है, अतः यहाँ 'केवल' शब्दका अनुवादमात्र किया गया है ।

अविक्रियत्वं च आत्मनः श्रुतिस्मृतिन्याय-प्रसिद्धम् । *'अविकार्योऽयमुच्यते' 'गुणैरेव कर्माणि क्रियन्ते' 'शरीरस्थोऽपि न करोति'* इत्यादि असकृद् उपपादितं गीतासु एव तावत् । श्रुतिषु च *'ध्यायतीव लेलायतीव'* (छा० उ० ७ । ६ । १) इति एवम् आद्यासु ।

आत्माका अविक्रियत्व श्रुति-स्मृति और न्यायसे प्रसिद्ध है । गीतामे भी **'यह विकाररहित कहलाता है' 'सब कर्म गुणोंसे ही किये जाते हैं' 'आत्मा शरीरमे स्थित हुआ भी नहीं करता'** इत्यादि वाक्योंद्वारा अनेक बार प्रतिपादित है और **'मानो ध्यान करता है, मानो चेष्टा करता है'** इस प्रकारकी श्रुतियोंमें भी प्रतिपादित है ।

न्यायतः च निरवयवम् अपरतन्त्रम् अविक्रियम् आत्मतत्त्वम् इति राजमार्गः ।

तथा न्यायसे भी यही सिद्ध होता है, क्योंकि आत्मतत्त्व अवयवरहित, स्वतन्त्र और विकार-रहित है । ऐसा मानना ही राजमार्ग है ।

विक्रियावत्त्वाभ्युपगमे अपि आत्मनः स्वकीया एव विक्रिया स्वस्य भवितुम् अर्हति । न अधिष्ठानादीनां कर्माणि आत्मकर्तृकाणि स्युः । न हि परस्य कर्म परेण अकृतम् आगन्तुम्

यदि आत्माको विकारवान् माने तो भी इसका स्वकीय विकार ही अपना हो सकता है । अधिष्ठा-नादिके किये हुए कर्म आत्म-कर्तृक नहीं हो सकते क्योंकि अन्यके कर्मोंको बिना किये ही अन्यके पल्ले बाँध देना उचित नहीं है । जो अविद्यासे आरोपित किये जाते हैं, वे वास्तवमे उसके

यथा रजतत्वं न शुक्तिकायाः। यथा वा तलमलवत्त्वं बालैः गमितम् अविद्यया न आकाशस्य। तथा अधिष्ठानादिविक्रिया अपि तेषाम् एव इति न आत्मनः।

तस्माद् युक्तम् उक्तम् अहंकृतत्वबुद्धिलेपाभावाद् विद्वान् न हन्ति न निबध्यते इति।

'*नायं हन्ति न हन्यते*' इति प्रतिज्ञाय '*न जायते*' इत्यादिहेतुवचनेन अविक्रियत्वम् आत्मन उक्त्वा '*वेदाविनाशिनम्*' इति विदुषः कर्माधिकारनिवृत्तिं शास्त्रादौ संक्षेपत उक्त्वा मध्ये प्रसारितां च तत्र तत्र प्रसङ्गं कृत्वा इह उपसंहरति शास्त्रार्थपिण्डीकरणाय विद्वान् न हन्ति न निबध्यते इति।

एवं च सति देहभृत्त्वाभिमानानुपपत्तौ अविद्याकृताशेषकर्मसंन्यासोपपत्तेः संन्यासिनाम् अनिष्टादि त्रिविधं कर्मणः फलं न भवति इति उपपन्नं तद्विपर्ययात् च इतरेषां भवति इति एतत् च अपरिहार्यम् इति एष गीताशास्त्रस्य अर्थ उपसंहृतः।

स एष सर्ववेदार्थसारो निपुणमतिभिः पण्डितैः विचार्य प्रतिपत्तव्य इति तत्र तत्र प्रकरणविभागेन दर्शितः अस्माभिः शास्त्रन्यायानुसारेण ॥ १७ ॥

जैसे सीपमें आरोपित चाँदीपन सीपका नहीं होता एवं जैसे मूर्खोंद्वारा आकाशमें आरोपित की हुई तलमलीनता आकाशकी नहीं हो सकती, वैसे ही अधिष्ठानादि पाँच हेतुओंके विकार भी उनके ही हैं, आत्माके नहीं।

सुतरां यह ठीक ही कहा है कि 'मैं कर्ता हूँ' ऐसी भावनाका और बुद्धिके लेपका अभाव होनेके कारण, पूर्ण ज्ञानी 'न मारता है और न बँधता है।'

दूसरे अध्यायमें **'यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है'** इस प्रकार प्रतिज्ञा करके, **'न जायते'** इत्यादि हेतुयुक्त वचनोंसे आत्माका अविक्रियत्व बतलाकर, फिर 'वेदाविनाशिनम्' इस श्लोकसे उपदेशके आदिमें विद्वान्‌के लिये संक्षेपमें कर्माधिकारकी निवृत्ति कहकर, जगह-जगह, प्रसङ्ग लाकर, बीच-बीचमें जिसका विस्तार किया गया है, ऐसी कर्माधिकारकी निवृत्तिका, अब शास्त्रके अर्थका संग्रह करनेके लिये 'विद्वान् न मारता है और न बँधता है' इस कथनसे उपसंहार करते हैं।

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि, विद्वान्‌में देहधारीपनका अभिमान न होनेके कारण उसके अविद्या-कर्तृक समस्त कर्मोंका संन्यास हो सकता है, इसलिये संन्यासियोंको अनिष्ट आदि तीन प्रकारके कर्मफल नहीं मिलते। साथ ही यह भी अनिवार्य है, कि दूसरे (कर्माधिकारी) इससे विपरीत होते हैं। इस कारण उनको तीन प्रकारके कर्मफल (अवश्य) मिलते हैं। इस प्रकार यह गीताशास्त्रके अर्थका उपसंहार किया गया।

ऐसा यह समस्त वेदोंके अर्थका सार, निपुणबुद्धिवाले पण्डितोंद्वारा विचारपूर्वक धारण किया जाने योग्य है। इस विचारसे हमने जगह-जगह प्रकरणोंका विभाग करके, शास्त्र-न्यायानुसार इस तत्त्वको दिखलाया है ॥ १७ ॥

अथ इदानीं कर्मणां प्रवर्तकम् उच्यते—

इस प्रकार शास्त्रके आशयका उपसंहार करके अब कर्मोंका प्रवर्तक बतलाया जाता है—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥

ज्ञानं ज्ञायते अनेन इति सर्वविषयम् अविशेषेण उच्यते। तथा ज्ञेयं ज्ञातव्यं तद् अपि सामान्येन एव सर्वम् उच्यते। तथा परिज्ञाता उपाधिलक्षणः अविद्याकल्पितो भोक्ता इति एतत् त्रयम् एषाम् अविशेषेण सर्वकर्मणां प्रवर्तिका त्रिविधा त्रिप्रकारा कर्मचोदना।

ज्ञान—जिसके द्वारा कोई पदार्थ जाना जाय। यहाँ ज्ञान शब्दसे सामान्य-भावसे सर्व पदार्थविषयक ज्ञान कहा गया है। वैसे ही ज्ञेय अर्थात् जाननेमें आनेवाला पदार्थ, यह भी सामान्य भावसे समस्तका ही वर्णन है। तथा परिज्ञाता अर्थात् उपाधियुक्त अविद्याकल्पित भोक्ता, इस प्रकार जो यह इन तीनोंका समुदाय है, यही सामान्य-भावसे समस्त कर्मोंकी प्रवर्तक तीन प्रकारकी 'कर्मचोदना' है।

ज्ञानादीनां हि त्रयाणां संनिपाते हानोपादानादिप्रयोजनः सर्वकर्मारम्भः स्यात्।

क्योंकि उक्त ज्ञान आदि तीनोंके सम्मिलित होनेपर ही त्याग और ग्रहण आदि जिनके प्रयोजन है, ऐसे समस्त कर्मोंका आरम्भ होता है।

ततः पञ्चभिः अधिष्ठानादिभिः आरब्धं वाङ्मनःकायाश्रयभेदेन त्रिधा राशीभूतं त्रिषु करणादिषु संगृह्यते इति एतद् उच्यते—

अब अधिष्ठानादि पाँच हेतुओंसे जिसकी उत्पत्ति है, तथा मन, वाणी और शरीररूप आश्रयोंके भेदसे जिसके तीन वर्ग किये गये हैं, ऐसे समस्त कर्म, करण आदि तीन कारकोंमें संगृहीत हैं। यह बात बतलायी जाती है—

करणं क्रियते अनेन इति बाह्यं श्रोत्रादि, अन्तःस्थं बुद्ध्यादि, कर्म ईप्सिततमं कर्तुः क्रियया व्याप्यमानम्, कर्ता करणानां व्यापारयिता उपाधिलक्षण इति त्रिविधः त्रिप्रकारः कर्मसंग्रहः।

'करण'—जिसके द्वारा कर्म किया जाय, अर्थात् श्रोत्रादि दस बाह्य इन्द्रियाँ और बुद्धि आदि चार अन्तःकरण। 'कर्म'—जो कर्ताका अत्यन्त इष्ट हो और क्रियाद्वारा सम्पादन किया जाय। 'कर्ता'—श्रोत्रादि करणोंको अपने-अपने व्यापारमें नियुक्त करनेवाला उपाधिस्वरूप जीव। इस प्रकार यह त्रिविध कर्मसंग्रह है।

संगृह्यते अस्मिन् इति संग्रहः कर्मणः संग्रहः कर्मसंग्रहः। कर्म एषु हि त्रिषु समवैति तेन अयं त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥

जिसमें कुछ संगृहीत किया जाय उसका नाम संग्रह है, अतः कर्मोंके संग्रहका नाम कर्मसंग्रह है; क्योंकि इन तीन कारकोंमें ही कर्म संगृहीत है। इसलिये यह तीन प्रकारका कर्मसंग्रह है॥ १८॥

अथ इदानीं क्रियाकारकफलानां सर्वेषां गुणात्मकत्वात् सत्त्वरजस्तमोगुणभेदतः त्रिविधो भेदो वक्तव्य इति आरभ्यते—

क्रिया, कारक और फल सभी त्रिगुणात्मक है, अतः सत्त्व, रज और तम इन तीनो गुणोके भेदसे उन सबका त्रिविध भेद बतलाना है। सो आरम्भ करते है—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

ज्ञानं कर्म च, कर्म क्रिया, न कारकं पारिभाषिकम् ईप्सिततमं कर्म, कर्ता च निर्वर्तकः क्रियाणां त्रिधा एव अवधारणं गुणव्यतिरिक्तजात्यन्तराभावप्रदर्शनार्थं गुणभेदतः सत्त्वादिभेदेन इत्यर्थः, प्रोच्यते कथ्यते गुणसंख्याने कापिले शास्त्रे,

यहाँ कर्म शब्दका अर्थ क्रिया है, कर्ताका अत्यन्त इष्ट पारिभाषिक शब्द कारकरूप कर्म नहीं। ज्ञान, कर्म और कर्ता अर्थात् क्रिया करनेवाला—ये तीनों ही, गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमे अर्थात् कपिलमुनिप्रणीत शास्त्रमे, गुणोके भेदसे यानी सात्त्विक आदि भेदसे, प्रत्येक तीन-तीन प्रकारके बतलाये गये हैं। यहाँ त्रिधाके साथ एव शब्द जोड़कर यह आशय प्रकट किया गया है, कि उक्त तीनो पदार्थ गुणोंसे अतिरिक्त अन्य जातिके नहीं हैं,

तद् अपि गुणसंख्यानं शास्त्रं गुणभोक्तृविषये प्रमाणम् एव परमार्थब्रह्मैकत्वविषये यद्यपि विरुध्यते।

वह गुणोकी संख्या करनेवाला कापिलशास्त्र यद्यपि परमार्थ-ब्रह्मकी एकताके विषयमे (भगवान्के सिद्धान्तसे) विरुद्ध है तो भी गुणोंके भोक्ता (जीव) के विषयमे तो प्रमाण है ही।

ते हि कापिला गुणगौणव्यापारनिरूपणे अभियुक्ता इति तत् शास्त्रम् अपि वक्ष्यमाणार्थस्तुत्यर्थत्वेन उपादीयते इति न विरोधः।

वे कापिलसांख्यके अनुयायी, गुण और गुणके व्यापारका निरूपण करनेमे निपुण हैं। इसलिये उनका शास्त्र भी आगे कहे हुए अभिप्रायकी स्तुति करनेके लिये प्रमाणरूपसे ग्रहण किया जाता है, सुतरा कोई विरोध नहीं है।

यथावद् यथान्यायं यथाशास्त्रं शृणु तानि अपि ज्ञानादीनि तद्भेदजातानि गुणभेदकृतानि शृणु वक्ष्यमाणे अर्थे मनः समाधिं कुरु इत्यर्थः ॥ १९ ॥

उनको अर्थात् ज्ञान, कर्म और कर्ताको तथा गुणोके अनुसार किये हुए उनके सात्त्विक आदि समस्त भेदोको, तू यथावत्—जैसा शास्त्रमे न्यायानुसार कहा है उसी प्रकार सुन; अर्थात् आगे कही जानेवाली बातमे चित्त लगा ॥ १९ ॥

ज्ञानस्य तु तावत् त्रिविधत्वम् उच्यते—

पहले (तीन श्लोकोंद्वारा) ज्ञानके तीन भेद कहे जाते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

सर्वभूतेषु अव्यक्तादिस्थावरान्तेषु भूतेषु येन ज्ञानेन एकं भावं वस्तु भावशब्दो वस्तुवाची एकम् आत्मवस्तु इत्यर्थः । अव्ययं न व्येति स्वात्मना धर्मैः वा कूटस्थनित्यम् इत्यर्थः । ईक्षते येन ज्ञानेन पश्यति ।

तं च भावम् अविभक्त प्रतिदेहं विभक्तेषु देहभेदेषु न विभक्तं तद् आत्मवस्तु व्योमवद् निरन्तरम् इत्यर्थः । तद् ज्ञानम् अद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकं सम्यग्दर्शनं विद्धि इति ।

यानि द्वैतदर्शनानि असम्यग्भूतानि राजसानि तामसानि च इति न साक्षात् संसारोच्छित्तये भवन्ति ॥ २० ॥

जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य, अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतोंमे एकभाव—एक आत्मवस्तु, जो कि अपने स्वरूपसे या धर्मसे कभी क्षय नहीं होता, ऐसा अविनाशी और कूटस्थ नित्यतत्त्व देखता है । यहाँ भाव शब्द वस्तु-वाचक है ।

तथा (जिस ज्ञानके द्वारा) उस आत्मतत्त्वको अलग-अलग प्रत्येक शरीरमे विभागरहित अर्थात् आकाशके समान समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको अर्थात् अद्वैतभावसे आत्मसाक्षात्कार कर लेनेको तू सात्त्विक ज्ञान—पूर्ण ज्ञान जान ।

जो द्वैतदर्शनरूप अयथार्थ ज्ञान है, वे राजस-तामस है, अतः वे संसारका उच्छेद करनेमे साक्षात् हेतु नहीं हैं ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

पृथक्त्वेन तु भेदेन प्रतिशरीरम् अन्यत्वेन यद् ज्ञानं नानाभावान् भिन्नान् आत्मनः पृथग्विधान् पृथक्प्रकारान् भिन्नलक्षणान् इत्यर्थः । वेत्ति विजानाति यद् ज्ञानं सर्वेषु भूतेषु । ज्ञानस्य कर्तृत्वासंभवाद् येन ज्ञानेन वेत्ति इत्यर्थः तद् ज्ञानं विद्धि राजसं रजोनिर्वृत्तम् ॥ २१ ॥

और जो ज्ञान, सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भिन्न-भिन्न भावोंको, आत्मासे अलग विलक्षण पृथक् रूपसे देखता है, अर्थात् प्रत्येक शरीरमे अलग-अलग अपनेसे दूसरा आत्मा समझता है, उस ज्ञानको तू राजस यानी रजोगुणसे उत्पन्न हुआ जान । ज्ञानमे कर्तापन होना असम्भव है, इसलिये 'जो ज्ञान देखता है' इसका आशय यह है कि 'जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य देखता है' ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

यत् तु ज्ञानं कृत्स्नवत् समस्तवत् सर्वविषयम् इव एकस्मिन् कार्ये देहे बहिः वा प्रतिमादौ सक्तम् एतावान् एव आत्मा ईश्वरो वा न अतः परम् अस्ति इति यथा नग्नक्षपणकादीनां शरीरानुवर्ती देहपरिमाणो जीव ईश्वरो वा पाषाणदार्वादिमात्र इति एवम् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् ।

जो ज्ञान, किसी एक कार्यमे, शरीरमे या शरीरसे बाहर प्रतिमादिमे, सर्ववस्तुविषयक सम्पूर्ण ज्ञानकी भाँति आसक्त है, अर्थात् (यह समझता है कि) यह आत्मा या ईश्वर इतना ही है इससे परे और कुछ भी नहीं है, जैसे दिगम्बर जैनियोका (माना हुआ) आत्मा शरीरमे रहनेवाला और शरीरके बराबर है और पत्थर या काष्ठ (की प्रतिमा) मात्र ही ईश्वर है, इसी प्रकार जो ज्ञान किसी एक कार्यमे ही आसक्त है ।

अहेतुकं हेतुवर्जितं निर्युक्तिकम् अतत्त्वार्थवद् यथाभूतः अर्थः तत्त्वार्थः सः अस्य ज्ञेयभूतः अस्ति इति तत्त्वार्थवद् न तत्त्वार्थवद् अतत्त्वार्थवद् अहेतुकत्वाद् एव अल्पं च अल्पविषयत्वाद् अल्पफलत्वाद् वा तत् तामसम् उदाहृतम् । तामसानां हि प्राणिनाम् अविवेकिनाम् ईदृशं ज्ञानं दृश्यते ॥ २२ ॥

तथा जो हेतुरहित—युक्तिरहित और तत्त्वार्थसे भी रहित है । यथार्थ अर्थका नाम तत्त्वार्थ है, ऐसा तत्त्वार्थ जिस ज्ञानका ज्ञेय हो, वह ज्ञान तत्त्वार्थ-युक्त होता है और जो तत्त्वार्थ-युक्त न हो वह अतत्त्वार्थवत् अर्थात् तत्त्वार्थसे रहित होता है । एवं जो हेतुरहित होनेके कारण ही अल्प है अथवा अल्पविषयक होनेसे या अल्प फलवाला होनेसे अल्प है, वह ज्ञान तामस कहा गया है, क्योंकि अविवेकी तामसी प्राणियोमे ही ऐसा ज्ञान देखा जाता है ॥ २२ ॥

अथ कर्मणः त्रैविध्यम् उच्यते—

अब कर्मके तीन भेद कहे जाते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

नियतं नित्यं सङ्गरहितम् आसक्तिवर्जितम् अरागद्वेषतः कृतं रागप्रयुक्तेन द्वेषप्रयुक्तेन च कृतं रागद्वेषतः कृतं तद्विपरीतं कृतम् अरागद्वेषतः कृतम् अफलप्रेप्सुना फलं प्रेप्सति इति फलप्रेप्सुः फलतृष्णः तद्विपरीतेन अफलप्रेप्सुना कर्त्रा कृतं कर्म यत् तत् सात्त्विकम् उच्यते ॥ २३ ॥

जो कर्म नियत—नित्य है तथा सङ्ग—आसक्तिसे रहित है और फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया है, वह सात्त्विक कहा जाता है । जो कर्म रागसे या द्वेषसे प्रेरित होकर किया जाता है, वह राग-द्वेषसे किया हुआ कहलाता है और जो उससे विपरीत है वह बिना राग-द्वेषके किया हुआ है । जो कर्ता कर्मफलको चाहता है, वह कर्मफलप्रेप्सु अर्थात् कर्मफलकी तृष्णावाला होता है और जो उससे विपरीत है वह कर्मफलको न चाहनेवाला है ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

यत् तु कामेप्सुना फलप्रेप्सुना इत्यर्थः कर्म साहंकारेण वा—

साहंकारेण इति न तत्त्वज्ञानापेक्षया । किं तर्हि लौकिकश्रोत्रियनिरहंकारापेक्षया । यो हि परमार्थनिरहंकार आत्मविद् न तस्य कामेप्सुत्वबहुलायासकर्तृत्वप्राप्तिः अस्ति ।

सात्त्विकस्य अपि कर्मणः अनात्मवित् साहंकारः कर्ता किम् उत राजसतामसयोः ।

लोके अनात्मविद् अपि श्रोत्रियो निरहंकार उच्यते निरहंकारः अयं ब्राह्मण इति । तस्मात् तदपेक्षया एव साहंकारेण वा इति उक्तम् । पुनः शब्दः पादपूरणार्थः ।

—क्रियते बहुलायासं कर्त्रा महता आयासेन निर्वर्त्यते तत् कर्म राजसम् उदाहृतम् ॥ २४ ॥

जो कर्म, भोगरूप फलकी इच्छावाले पुरुषद्वारा या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा (किया जाता है) ।

इस श्लोकमे 'साहंकारेण' पद तत्त्वज्ञानकी अपेक्षासे नहीं है । तो क्या है ? वेद-शास्त्रको जाननेवाले लौकिक निरहंकारीकी अपेक्षासे है, क्योंकि जो वास्तविक निरहंकारी आत्मवेत्ता है, उसमे तो फलेच्छुकता और बहुत परिश्रमयुक्त कर्तृत्वकी आशंका ही नहीं हो सकती ।

सात्त्विक कर्मका भी कर्ता, आत्मतत्त्वको न जाननेवाला अहंकारयुक्त मनुष्य ही होता है, फिर राजस-तामस-कर्मोंके कर्ताकी तो बात ही क्या है ?

संसारमे आत्मतत्त्वको न जाननेवाला भी, वेद-शास्त्रका ज्ञाता पुरुष निरहंकारी कहा जाता है । जैसे 'अमुक ब्राह्मण निरहंकारी है' ऐसा प्रयोग होता है । सुतरां ऐसे पुरुषकी अपेक्षासे ही इस श्लोकमे 'साहंकारेण वा' यह वचन कहा गया है । 'पुनः' शब्द पाद पूर्ण करनेके लिये है ।

तथा जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त है, अर्थात् करनेवाला जिसको बहुत परिश्रमसे कर पाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अनुबन्धं पश्चाद् भावि यद् वस्तु सः अनुबन्ध उच्यते तं च अनुबन्धम्, क्षयं यस्मिन् कर्मणि क्रियमाणे शक्तिक्षयः अर्थक्षयो वा स्यात् तं क्षयं हिंसां प्राणिपीडाम् अनपेक्ष्य च पौरुषं पुरुषकारं शक्नोमि इदं कर्म समापयितुम् इति

अनुबन्धको—अन्तमे होनेवाला जो परिणाम है उसे अनुबन्ध कहते हैं, उसको, क्षयको—कर्मके करनेमे जो शक्तिका या धनका क्षय होना है उसको, हिंसाको—प्राणियोंकी पीड़ाको और पौरुषको—'अमुक कर्मको मैं समाप्त कर सकता हूँ, ऐसी अपनी सामर्थ्यको, इस प्रकार अनुबन्धसे लेकर

एवम् आत्मसामर्थ्यम् इति एतानि अनुबन्धादीनि अनपेक्ष्य पौरुषान्तानि मोहाद् अविवेकत आरभ्यते कर्म यत् तत् तामसं तमोनिर्वृत्तम् उच्यते ॥ २५ ॥

पौरुषतकके इन समस्त भावोंकी अपेक्षा न करके—इनकी परवा न करके, जो कर्म, मोहसे—अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस—तमोगुणपूर्वक किया हुआ कहा जाता है ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

मुक्तसङ्गो मुक्तः परित्यक्तः सङ्गो येन स मुक्तसङ्गः अनहंवादी न अहंवदनशीलो धृत्युत्साहसमन्वितो धृतिः धारणम् उत्साह उद्यमः ताभ्यां समन्वितः संयुक्तो धृत्युत्साहसमन्वितः, सिद्ध्यसिद्ध्योः क्रियमाणस्य कर्मणः फलसिद्धौ असिद्धौ च सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः केवलं शास्त्रप्रमाणप्रयुक्तो न फलरागादिना यः स निर्विकार उच्यते । एवंभूतः कर्ता यः स सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

जो कर्ता मुक्तसङ्ग है—जिसने आसक्तिका त्याग कर दिया है, जो निरहंवादी है—जिसका 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे कहनेका स्वभाव नहीं रह गया है, जो धृति और उत्साहसे युक्त है—धृति यानी धारणाशक्ति और उत्साह यानी उद्यम—इन दोनोंसे जो युक्त है, तथा जो किये हुए कर्मके फलकी सिद्धि होने या न होनेमें निर्विकार है । जो ऐसा कर्ता है, वह सात्त्विक कहा जाता है । जो केवल शास्त्रप्रमाणसे ही कर्ममें प्रयुक्त होता है, फलेच्छा या आसक्ति आदिसे नहीं, वह निर्विकार कहा जाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

रागी रागः अस्य अस्ति इति रागी, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलार्थी लुब्धः परद्रव्येषु संजाततृष्णः तीर्थादौ च स्वद्रव्यापरित्यागी । हिंसात्मकः परपीडास्वभावः अशुचिः बाह्यान्तःशौचवर्जितो हर्षशोकान्वित इष्टप्राप्तौ हर्षः अनिष्टप्राप्तौ इष्टवियोगे च शोकः ताभ्यां हर्षशोकाभ्याम् अन्वितः संयुक्तः तस्य एव च कर्मणः संपत्तिविपत्त्योः हर्षशोकौ स्यातां ताभ्यां संयुक्तो यः कर्ता स राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो कर्त्ता रागी है—जिसमें राग यानी आसक्ति विद्यमान है, जो कर्मफलको चाहनेवाला है—कर्मफलकी इच्छा रखता है, जो लोभी यानी दूसरोंके धनमें तृष्णा रखनेवाला है और तीर्थादि (उपयुक्त देशकाल) में भी अपने धनको खर्च करनेवाला नहीं है ।

तथा जो हिंसात्मक—दूसरोंको कष्ट पहुँचानेके स्वभाववाला, अशुचि—बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारकी शुद्धिसे रहित और हर्ष-शोकसे लिप्त यानी इष्ट पदार्थकी प्राप्तिमें हर्ष एवं अनिष्टकी प्राप्ति और इष्टके वियोगमें होनेवाला शोक-इन दोनों प्रकारके भावोंसे युक्त है,—ऐसे पुरुषको ही कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें हर्ष-शोक हुआ करते हैं, अतः जो कर्ता उन दोनोंसे युक्त है, वह राजस कहा जाता है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अयुक्तः असमाहितः, प्राकृतः अत्यन्तासंस्कृतबुद्धिः बालसमः, स्तब्धो दण्डवद् न नमति कस्मैचित्, शठो मायावी शक्तिगूहनकारी, नैष्कृतिकः परवृत्तिच्छेदनपरः, अलसः अप्रवृत्तिशीलः कर्तव्येषु अपि, विषादी सर्वदा अवसन्नस्वभावः, दीर्घसूत्री च कर्तव्यानां दीर्घप्रसारणो यद् अद्य श्वो वा कर्तव्यं तद् मासेन अपि न करोति, यः च एवंभूतः कर्ता स तामस उच्यते ॥ २८ ॥

जो कर्ता अयुक्त है—जिसका चित्त समाहित नहीं है, जो बालकके समान प्राकृत—अत्यन्त संस्कारहीन बुद्धिवाला है, जो स्तब्ध है—दण्डकी भाँति किसीके सामने नहीं झुकता, जो शठ अर्थात् अपनी सामर्थ्यको गुप्त रखनेवाला कपटी है, जो नैष्कृतिक—दूसरोकी वृत्तिका छेदन करनेमे तत्पर और आलसी है—जिसका कर्तव्य-कार्यमे भी प्रवृत्त होनेका स्वभाव नहीं है, जो विषादी—सदा शोकयुक्त स्वभाववाला और दीर्घसूत्री है—कर्तव्यमे बहुत विलम्ब करनेवाला है अर्थात् आज या कल कर लेनेयोग्य कार्यको महीनेभरमे भी समाप्त नहीं कर पाता, जो ऐसा कर्ता है वह तामस कहा जाता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

बुद्धेः भेदं धृतेः च एव भेदं गुणतः सत्त्वादिगुणतः त्रिविधं शृणु इति सूत्रोपन्यासः, प्रोच्यमानं कथ्यमानम् अशेषेण निरवशेषतो यथावत् पृथक्त्वेन विवेकतो धनंजय ।

दिग्विजये मानुषं दैवं च प्रभूतं धनम् अजयत् तेन असौ धनंजयः अर्जुनः ॥२९॥

हे धनञ्जय ! बुद्धिके और धृतिके भी सत्त्वादि गुणोके अनुसार तीन-तीन प्रकारके भेद तू विभागपूर्वक सम्पूर्णतासे यथावत् कहे हुए सुन । यह सूत्ररूपसे कहना है ।

दिग्विजयके समय अर्जुनने मनुष्योका और देवोका बहुत-सा धन जीता था, इसलिये उसका नाम धनञ्जय हुआ ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

प्रवृत्तिं च प्रवृत्तिः प्रवर्तनं बन्धहेतुः कर्ममार्गः निवृत्तिं च निवृत्तिः मोक्षहेतुः संन्यासमार्गः बन्धमोक्षसमानवाक्यत्वात् प्रवृत्तिनिवृत्ती कर्मसंन्यासमार्गौ इति अवगम्यते ।

जो बुद्धि, प्रवृत्तिको—बन्धनके हेतुरूप कर्ममार्गको और निवृत्तिको—मोक्षके हेतुरूप संन्यासमार्गको जानती है । बन्ध और मोक्षके साथ प्रवृत्ति और निवृत्तिकी समानवाक्यता है, इससे यह निश्चय होता है कि प्रवृत्ति और निवृत्तिका अर्थ कर्ममार्ग और संन्यासमार्ग ही है ।

कार्याकार्ये **विहितप्रतिषिद्धे कर्तव्याकर्तव्ये करणाकरणे इति एतत्, कस्य, देशकालाद्यपेक्षया दृष्टादृष्टार्थानां कर्मणाम् ।**

भयाभये **बिभेति अस्माद् इति भयं तद्विपरीतम् अभयं भयं च अभयं च भयाभये दृष्टादृष्टविषययोः भयाभययोः कारणे इत्यर्थः ।**

बन्धं **सहेतुकं** मोक्षं च **सहेतुकं** या वेत्ति **विजानाति** बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।

तत्र ज्ञानं बुद्धेः वृत्तिः बुद्धिः तु वृत्तिमती । धृतिः अपि वृत्तिविशेष एव बुद्धेः ॥ ३० ॥

तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको—विधि और प्रतिषेधको, यानी करनेयोग्य और न करनेयोग्यको (भी जानती है) । यह कहना किसके सम्बन्धमें है ? देश-काल आदिकी अपेक्षासे जिनके दृष्ट और अदृष्ट फल होते हैं, उन कर्मोंके सम्बन्धमें ।

तथा जो बुद्धि भय और अभयको–(जानती है) । जिससे मनुष्य भयभीत होता है, उसका नाम भय है और उससे विपरीतका नाम अभय है; उन दोनोंको, यानी दृष्टादृष्ट-विषयक जो भय और अभय है उन दोनोंके कारणोंको जानती है, एवं हेतुसहित बन्धन और मोक्षको भी जानती है, हे पार्थ ! वह बुद्धि सात्त्विकी है ।

पहले जो ज्ञान कहा गया है, वह बुद्धिकी एक वृत्तिविशेष है और बुद्धि वृत्तिवाली है । धृति भी बुद्धिकी वृत्तिविशेष ही है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

यया धर्मं **शास्त्रचोदितम्** अधर्मं च **तत्प्रतिषिद्धं** कार्यं च अकार्यम् एव च **पूर्वोक्ते एव कार्याकार्ये** अयथावद् **न यथावत् सर्वतो निर्णयेन न** प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

हे पार्थ ! जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य शास्त्रविहित धर्मको और शास्त्रप्रतिषिद्ध अधर्मको, एवं पूर्वोक्त कर्तव्य और अकर्तव्यको, यथार्थरूपसे—सर्वतोभावसे निर्णयपूर्वक, नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

अधर्मं **प्रतिषिद्धं** धर्मं **विहितम्** इति या मन्यते **जानाति** तमसा आवृता **सती** सर्वार्थान् **सर्वान् एव ज्ञेयपदार्थान्** विपरीतान् च **विपरीतान् एव विजानाति** बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! जो तमोगुणसे आवृत हुई बुद्धि अधर्मको–निषिद्ध कार्यको, धर्म मान लेती है, यानी शास्त्रविहित मान लेती है, तथा जाननेयोग्य अन्यान्य समस्त पदार्थोंको भी, जो विपरीत ही समझती है, वह तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

धृत्या यया अव्यभिचारिण्या इति व्यवहितेन संबन्धः, धारयते किम्, मनःप्राणेन्द्रियक्रिया मनः च प्राणाः च इन्द्रियाणि च मनःप्राणेन्द्रियाणि तेषां क्रियाः चेष्टाः ता उच्छास्त्रमार्गप्रवृत्तेः धारयति । धृत्या हि धार्यमाणा उच्छास्त्रविषया न भवन्ति । योगेन समाधिना अव्यभिचारिण्या नित्यसमाध्यनुगतया इत्यर्थः ।

एतद् उक्तं भवति अव्यभिचारिण्या धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रिया धारयमाणो योगेन धारयति इति । या एवंलक्षणा धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

'धृति' शब्दके साथ दूर पड़े हुए 'अव्यभिचारिणी' शब्दका सम्बन्ध है । जिस अव्यभिचारिणी धृतिके द्वारा, अर्थात् सदा समाधिमे लगी हुई जिस धारणा-के द्वारा, समाधियोगसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी सब क्रियाएँ धारण की जाती हैं, अर्थात् मन, प्राण और इन्द्रियोकी सब चेष्टाएँ जिसके द्वारा शास्त्र-विरुद्ध प्रवृत्तिसे रोकी जाती है, (वह धृति सात्त्विकी है) । (सात्त्विकी) धृतिद्वारा धारण की हुई (इन्द्रियाँ) ही शास्त्रविरुद्ध विषयमे प्रवृत्त नहीं होतीं ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि धारण करनेवाला मनुष्य, जिस अव्यभिचारिणी धृतिके द्वारा समाधियोगसे मन, प्राण और इन्द्रियोकी चेष्टाओंको धारण किया करता है, हे पार्थ ! वह इस प्रकारकी धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धर्मः च कामः च अर्थः च धर्मकामार्थाः तान् धर्मकामार्थान् धृत्या यया धारयते मनसि नित्यकर्तव्यरूपान् अवधारयते हे अर्जुन ।

प्रसङ्गेन यस्य यस्य धर्मादेः धारणप्रसङ्गः तेन तेन प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी च भवति यः पुरुषः तस्य धृतिः या सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! जिस धृतिके द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थोंको धारण करता है, अर्थात् जिस धृतिद्वारा मनुष्य इन सबको मनमे अवश्यकर्तव्य-रूपसे निश्चय किया करता है ।

तथा जिस-जिस धर्म, अर्थ आदिके धारण करनेका प्रसङ्ग आता है, उस-उस प्रसङ्गसे ही जो मनुष्य फल चाहनेवाला है, हे पार्थ ! उसकी जो धृति है वह राजसी होती है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥ ३५ ॥

यया स्वप्नं **निद्रां** भयं **त्रासं** शोक विषादम् **अवसादं विषण्णतां** मद **विषयसेवाम् आत्मनो बहु मन्यमानो मत्त इव मदम्** एव च **मनसि नित्यम् एव कर्तव्यरूपतया कुर्वन्** न विमुञ्चति **धारयति एव** दुर्मेधाः **कुत्सितमेधाः पुरुषो यः तस्य** धृतिः **या** सा तामसी मता ॥ ३५ ॥

जिस धृतिके द्वारा मनुष्य स्वप्न – निद्रा, भय—त्रास, शोक—दुःख और मदको नहीं छोड़ता । अर्थात् विषय-सेवनको ही अपने लिये बहुत बडा पुरुषार्थ मानकर उन्मत्तकी भाँति मदको ही मनमे सदा कर्तव्यरूपसे समझता हुआ जो कुत्सित बुद्धिवाला मनुष्य इन सबको नहीं छोड़ता । यानी धारण ही किये रहता है । उसकी जो धृति है, वह तामसी मानी गयी है ॥ ३५ ॥

गुणभेदेन क्रियाणां कारकाणां च त्रिधा भेद उक्तः अथ इदानीं फलस्य च सुखस्य त्रिधा भेद उच्यते—

गुण-भेदके अनुसार क्रियाओ और कारकोके तीन-तीन प्रकारके भेद कहे; अब फलस्वरूप सुखके तीन तरहके भेद कहे जाते है—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

सुखं तु इदानीं त्रिविध शृणु **समाधानं कुरु इति एतद्** मे भरतर्षभ ।

अभ्यासात् **परिचयाद् आवृत्ते** रमते **रतिं प्रतिपद्यते** यत्र **यस्मिन् सुखानुभवे** दुःखान्तं च **दुःखावसानं दुःखोपशमं च** निगच्छति **निश्चयेन प्राप्नोति** ॥ ३६ ॥

हे भरतर्षभ ! अब तू मुझसे तीन तरहके सुखको भी सुन, अर्थात् सुननेके लिये चित्तको समाहित कर ।

जिस सुखमे मनुष्य अभ्याससे रमता है अर्थात् जिस सुखके अनुभवमे वारम्बार आवृत्ति करनेसे मनुष्यका प्रेम हुआ करता है और जहाँ मनुष्य (अपने) दुःखोका अन्त पाता है अर्थात् जहाँ उसके सारे दुःखोकी निःसन्देह निवृत्ति हो जाया करती है ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

यत् तत् **सुखम्** अग्रे **पूर्वं प्रथमसंनिपाते ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भे अत्यन्तायासपूर्वकत्वाद्** विषम् इव **दुःखात्मकं भवति**, परिणामे **ज्ञानवैराग्यादिपरिपाकजं सुखम्** अमृतोपमम् ।

जो ऐसा सुख है, वह पहले-पहल—ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधिके आरम्भकालमे, अत्यन्त श्रम-साध्य होनेके कारण, विषके सदृश—दुःखात्मक होता है । परन्तु परिणाममे वह ज्ञान-वैराग्यादिके परिपाकसे उत्पन्न हुआ सुख, अमृतके समान है ।

तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं **विद्वद्भिः आत्मनो बुद्धिः आत्मबुद्धिः आत्मबुद्धेः प्रसादो नैर्मल्यं सलिलवत् स्वच्छता ततो जातम्** आत्मबुद्धिप्रसादजम् **आत्मविषया वा आत्मावलम्बना वा बुद्धिः आत्मबुद्धिः तत्प्रसादप्रकर्षाद् वा जातम् इति एतत् तस्मात् सात्त्विकं तत्** ॥३७॥

वह आत्म-बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न हुआ सुख, विद्वानोंद्वारा सात्त्विक बतलाया गया है। अपनी बुद्धिका नाम आत्मबुद्धि है, उसका जो जलकी भाँति स्वच्छ निर्मल हो जाना है, वह आत्मबुद्धि-प्रसाद है, उससे उत्पन्न हुआ सुख आत्मबुद्धि-प्रसादजन्य सुख है। अथवा, आत्मविषयक या आत्माको अवलम्बन करनेवाली बुद्धिका नाम आत्मबुद्धि है, उसके प्रसादकी अधिकतासे उत्पन्न सुख आत्मबुद्धिप्रसादसे उत्पन्न है, इसीलिये वह सात्त्विक है॥ ३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तत् **सुखं जायते** अग्रे **प्रथमक्षणे** अमृतोपमम् **अमृतसमं** परिणामे विषम् इव **बलवीर्यरूपप्रज्ञामेधाधनोत्साहहानिहेतुत्वाद् अधर्मतज्जनितनरकादिहेतुत्वात् च परिणामे तदुपभोगविपरिणामान्ते विषम् इव** तत् सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न होता है, वह पहले—प्रथम क्षणमें, अमृतके सदृश होता है, परन्तु परिणाममें विषके समान है। अभिप्राय यह है कि बल, वीर्य, रूप, बुद्धि, मेधा, धन और उत्साहकी हानिका कारण होनेसे, तथा अधर्म और उससे उत्पन्न नरकादिका हेतु होनेसे, वह परिणाममें—अपने उपभोगका अन्त होनेके पश्चात्, विषके सदृश होता है, अतः ऐसा सुख राजस माना गया है॥ ३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

यद् अग्रे च अनुबन्धे च **अवसानोत्तरकाले** सुखं मोहनं **मोहकरम्** आत्मनो निद्रालस्यप्रमादोत्थं **निद्रा च आलस्यं च प्रमादः च इति एतेभ्यः समुत्तिष्ठति इति निद्रालस्यप्रमादोत्थं** तत् तामसम् उदाहृतम्॥ ३९॥

जो सुख आरम्भमें और परिणाममें भी अर्थात् उपभोगके पीछे भी, आत्माको मोहित करनेवाला होता है, तथा निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ है, अर्थात् जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद—इन तीनोंसे उत्पन्न होता है, वह सुख तामस कहा गया है॥ ३९॥

अथ इदानीं प्रकरणोपसंहारार्थः श्लोक आरभ्यते—

इसके उपरान्त अब प्रकरणका उपसंहार करनेवाला श्लोक कहा जाता है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

न तद् अस्ति **तद् न अस्ति** पृथिव्या वा **मनुष्यादि सत्त्वं प्राणिजातम् अन्यद् वा अप्राणिजातं** दिवि देवेषु वा पुनः सत्त्वं प्रकृतिजैः **प्रकृतितो जातैः** एभिः त्रिभिः गुणैः **सत्त्वादिभिः** मुक्तं **परित्यक्तं** यत् स्याद् **भवेद् न तद् अस्ति इति पूर्वेण संबन्धः ॥ ४० ॥**

ऐसा कोई सत्त्व, अर्थात् मनुष्यादि प्राणी या अन्य कोई भी प्राणरहित वस्तुमात्र, पृथिवीमें, स्वर्गमें अथवा देवताओंमें भी नहीं है, जो कि इन प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सत्त्वादि तीनों गुणोंसे मुक्त अर्थात् रहित हो। 'ऐसा कोई नहीं है' इस पूर्वके पदसे इस वाक्यका सम्बन्ध है ॥ ४० ॥

सर्वः संसारः क्रियाकारकफललक्षणः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकः अविद्यापरिकल्पितः समूलः अनर्थ उक्तो वृक्षरूपकल्पनया च *'ऊर्ध्वमूलम्'* इत्यादिना ।

क्रिया, कारक और फल ही जिसका स्वरूप है, ऐसा यह सारा संसार सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका ही विस्तार है, अविद्यासे कल्पित है और अनर्थरूप है, (पंद्रहवें अध्यायमें) वृक्षरूपकी कल्पना करके **'ऊर्ध्वमूलम्'** इत्यादि वाक्योंद्वारा मूलसहित इसका वर्णन किया गया है ।

तं च *'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ततः पदं तत् परिमार्गितव्यम्'* इति च उक्तम् ।

तथा यह भी कहा है कि **'उसको दृढ़ असङ्गशस्त्रद्वारा छेदन करके उसके पश्चात् उस परम पदको खोजना चाहिये ।'**

तत्र च सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वात् संसारकारणनिवृत्त्यनुपपत्तौ प्राप्तायां यथा तन्निवृत्तिः स्यात् तथा वक्तव्यम् ।

उसमें यह शंका होती है कि तब तो सब कुछ तीनों गुणोंका ही कार्य होनेसे संसारके कारणकी निवृत्ति नहीं हो सकती । इसलिये जिस उपायसे उसकी निवृत्ति हो, वह बतलाना चाहिये ।

सर्वः च गीताशास्त्रार्थ उपसंहर्तव्य एतावान् एव च सर्वो वेदस्मृत्यर्थः पुरुषार्थम् इच्छद्भिः अनुष्ठेय इति एवम् अर्थं च ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् इत्यादिः आरभ्यते—

तथा सम्पूर्ण गीताशास्त्रका इस प्रकार उपसंहार भी किया जाना चाहिये कि 'परम पुरुषार्थकी सिद्धि चाहनेवालोंके द्वारा अनुष्ठान किये जानेयोग्य यह इतना ही समस्त वेद और स्मृतियोंका अभिप्राय है' अतः इस अभिप्रायसे ये 'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' इत्यादि श्लोक आरम्भ किये जाते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणाः च क्षत्रियाः च विशः च ब्राह्मणक्षत्रियविशः तेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च शूद्राणाम् असमासकरणम् एकजातित्वे सति वेदे अनधिकारात्, हे परंतप कर्माणि प्रविभक्तानि इतरेतरविभागेन व्यवस्थापितानि ।

केन, स्वभावप्रभवैः गुणैः स्वभाव ईश्वरस्य प्रकृतिः त्रिगुणात्मिका माया सा प्रभवो येषां गुणानां ते स्वभावप्रभवाः तैः, शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि ब्राह्मणादीनाम् ।

अथवा ब्राह्मणस्वभावस्य सत्त्वगुणः प्रभवः कारणम्, तथा क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रजः प्रभवः, वैश्यस्वभावस्य तमउपसर्जनं रजः प्रभवः, शूद्रस्वभावस्य रजउपसर्जनं तमः प्रभवः प्रशान्त्यैश्वर्येहामूढतास्वभावदर्शनात् चतुर्णाम् ।

अथवा जन्मान्तरकृतसंस्कारः प्राणिनां वर्तमानजन्मनि स्वकार्याभिमुखत्वेन अभिव्यक्तः स्वभावः स प्रभवो येषां गुणानां ते स्वभावप्रभवा गुणाः ।

गुणप्रादुर्भावस्य निष्कारणत्वानुपपत्तेः स्वभावः कारणम् इति कारणविशेषोपादानम् ।

हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंके और शूद्रोंके भी कर्म विभक्त किये हुए हैं अर्थात् परस्पर विभागपूर्वक निश्चित किये हुए हैं । ब्राह्मणादिके साथ शूद्रोको मिलाकर—समास करके न कहनेका अभिप्राय यह है कि शूद्र द्विज न होनेके कारण वेद-पठनमे उनका अधिकार नहीं है ।

किसके द्वारा विभक्त किये गये हैं ? स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोके द्वारा । स्वभाव यानी ईश्वरकी प्रकृति—त्रिगुणात्मिका माया, वह माया जिन गुणोंके प्रभवका यानी उत्पत्तिका कारण है, ऐसे स्वभावप्रभव गुणोके द्वारा ब्राह्मणादिके, शम आदि कर्म विभक्त किये गये हैं ।

अथवा यों समझो कि ब्राह्मणस्वभावका कारण सत्त्वगुण है, वैसे ही क्षत्रियस्वभावका कारण सत्त्वमिश्रित रजोगुण है, वैश्यस्वभावका कारण तमोमिश्रित रजोगुण है और शूद्रस्वभावका कारण रजोमिश्रित तमोगुण है । क्योकि उपर्युक्त चारों वर्णोंमे (गुणोके अनुसार) क्रमसे शान्ति, ऐश्वर्य, चेष्टा और मूढ़ता—ये अलग-अलग स्वभाव देखे जाते है ।

अथवा यो समझो कि प्राणियोंके जन्मान्तरमे किये हुए कर्मोंके संस्कार, जो वर्तमान जन्ममे अपने कार्यके अभिमुख होकर व्यक्त हुए है, उनका नाम स्वभाव है । ऐसा स्वभाव जिन गुणोकी उत्पत्तिका कारण है, वे स्वभावप्रभव गुण है ।

गुणोंका प्रादुर्भाव विना कारणके नहीं बन सकता । इसलिये 'स्वभाव उनकी उत्पत्तिका कारण है' यह कहकर कारणविशेषका प्रतिपादन किया गया है ।

एवं स्वभावप्रभवैः प्रकृतिप्रभवैः सत्त्वरजस्तमोभिः गुणैः स्वकार्यानुरूपेण शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि ।

इस प्रकार स्वभावसे उत्पन्न हुए अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंद्वारा अपने-अपने कार्यके अनुरूप शमादि कर्म विभक्त किये गये हैं ।

ननु शास्त्रप्रविभक्तानि शास्त्रेण विहितानि ब्राह्मणादीनां शमादीनि कर्माणि कथम् उच्यते सत्त्वादिगुणप्रविभक्तानि इति ।

पू०—ब्राह्मणादि वर्णोंके शम आदि कर्म तो शास्त्रद्वारा विभक्त हैं, अर्थात् शास्त्रद्वारा निश्चित किये गये हैं; फिर यह कैसे कहा जाता है, कि सत्त्व आदि तीनों गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं ?

न एष दोषः, शास्त्रेण अपि ब्राह्मणादीनां सत्त्वादिगुणविशेषापेक्षया एव शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि न गुणानपेक्षया एव इति शास्त्रप्रविभक्तानि अपि कर्माणि गुणप्रविभक्तानि इति उच्यन्ते ॥ ४१ ॥

उ०—यह दोष नहीं है, क्योंकि शास्त्रद्वारा भी ब्राह्मणादिके शमादि कर्म सत्त्वादि गुण-भेदोंकी अपेक्षासे ही विभक्त किये गये है, बिना गुणोंकी अपेक्षासे नहीं । अतः शास्त्रद्वारा विभक्त किये हुए भी कर्म, गुणोंद्वारा विभक्त किये गये है, ऐसा कहा जाता है ॥ ४१ ॥

कानि पुनः तानि कर्माणि इति उच्यन्ते—

वे कर्म कौन-से है ? यह बतलाया जाता है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शमो दमः च **यथाव्याख्यातार्थौ**, तपो **यथोक्तं शारीरादि**, शौचं **व्याख्यातम्**, क्षान्तिः **क्षमा**, आर्जवम् **ऋजुता** एव च ज्ञानं विज्ञानम्, आस्तिक्यम् **अस्तिभावः श्रद्दधानता आगमार्थेषु** ब्रह्मकर्म **ब्राह्मणजातेः कर्म ब्रह्मकर्म** स्वभावजम् । **यद् उक्तम्** *'स्वभावप्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि'* **इति तद् एव उक्तं स्वभावजम् इति ॥ ४२ ॥**

जिनके अर्थकी व्याख्या पहले की जा चुकी है, वे शम और दम तथा पहले कहा हुआ शारीरिकादि-भेदसे तीन प्रकारका तप, एवं पूर्वोक्त (दो प्रकारका) शौच, क्षान्ति—क्षमा, आर्जव—अन्तःकरणकी सरलता तथा ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता अर्थात् शास्त्रके वचनोंमें श्रद्धा-विश्वास, ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म है अर्थात् ब्राह्मणजातिके कर्म हैं ।

जो बात 'स्वभावजन्य गुणोंसे कर्म विभक्त किये गये है' इस वाक्यसे कही थी, वही यहाँ 'स्वभावजम्' पदसे कही गयी है ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शौर्यं शूरस्य भावः । तेज: प्रागल्भ्यम् । धृतिः धारणं सर्वावस्थासु अनवसादो भवति यया धृत्या उत्तम्भितस्य । दाक्ष्यं दक्षस्य भावः सहसा प्रत्युत्पन्नेषु कार्येषु अव्यामोहेन प्रवृत्तिः । युद्धे च अपि अपलायनम् अपराङ्मुखीभावः शत्रुभ्यः ।

दानं देयेषु मुक्तहस्तता । ईश्वरभावः च ईश्वरस्य भावः प्रभुशक्तिप्रकटीकरणम् ईशितव्यान् प्रति ।

क्षात्रकर्म क्षत्रियजातेः विहितं कर्म क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शौर्य—शूरवीरता, तेज—दूसरोंसे न दबनेका स्वभाव, धृति—धारणाशक्ति, जिस शक्तिसे उत्साहित हुए मनुष्यका सभी अवस्थाओंमें अनवसाद (नाश या शोकका अभाव) होता है, दक्षता—सहसा प्राप्त हुए बहुत-से कार्योंमें बिना घबड़ाहटके प्रवृत्त होनेका स्वभाव तथा युद्धमें न भागना—शत्रुको पीठ न दिखानेका भाव ।

दान—देनेयोग्य पदार्थोंको खुले हाथ देनेका स्वभाव और ईश्वरभाव यानी जिनका शासन करना है, उनके प्रति प्रभुत्व प्रकट करना ।

ये सब क्षत्रियोंके कर्म अर्थात् क्षत्रियजातिके लिये विहित उनके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं कृषिः च गौरक्ष्यं च वाणिज्यं च कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं कृषिः भूमेः विलेखनं गौरक्ष्यं गा रक्षति इति गोरक्षः तद्भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यं वाणिज्यं वणिक्कर्म क्रयविक्रयादिलक्षणं वैश्यकर्म वैश्यजातेः कर्म वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यात्मकं शुश्रूषास्वभावं कर्म शूद्रस्य अपि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य—भूमिमें हल चलानेका नाम 'कृषि' है, गौओंकी रक्षा करनेवाला 'गोरक्ष' है, उसका भाव 'गौरक्ष्य' यानी पशुओंको पालना है तथा क्रय-विक्रयरूप वणिक्-कर्मका नाम 'वाणिज्य' है—ये तीनों वैश्यकर्म हैं अर्थात् वैश्यजातिके स्वाभाविक कर्म हैं ।

वैसे ही शूद्रका भी, परिचर्यात्मक अर्थात् सेवा-रूप कर्म, स्वाभाविक है ॥ ४४ ॥

एतेषां जातिविहितानां कर्मणां सम्यगनुष्ठितानां स्वर्गप्राप्तिः फलं स्वभावतः ।

'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलधर्मायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' (*आ० सू०* २।२।२।३) इत्यादिस्मृतिभ्यः पुराणे च वर्णिनाम् आश्रमिणां च लोकफलभेदविशेषस्मरणात् ।

जातिके उद्देश्यसे कहे हुए इन कर्मोंका भली-प्रकार अनुष्ठान किये जानेपर स्वर्गकी प्राप्तिरूप स्वाभाविक फल होता है ।

क्योंकि 'अपने कर्मोंमें तत्पर हुए वर्णाश्रमावलम्बी मरकर, परलोकमें कर्मोंका फल भोगकर, बचे हुए कर्मफलके अनुसार श्रेष्ठ देश, काल, जाति, कुल, धर्म, आयु, विद्या, आचार, धन, सुख और मेधा आदिसे युक्त जन्म ग्रहण करते हैं' इत्यादि स्मृति-वचन हैं और पुराणमें भी वर्णाश्रमियोंके लिये अलग-अलग लोक प्राप्तिरूप फलभेद बतलाया गया है।

कारणान्तरात् तु इदं वक्ष्यमाणं फलम्—

परन्तु दूसरे कारणसे (उनका प्रकारान्तरसे अनुष्ठान करनेपर) यह अब बतलाया जानेवाला फल होता है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

स्वे स्वे **यथोक्तलक्षणभेदे** कर्मणि अभिरतः **तत्परः** संसिद्धिं **स्वकर्मानुष्ठानाद् अशुद्धिक्षये सति कायेन्द्रियाणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां** लभते **प्राप्नोति** नरः **अधिकृतः पुरुषः ।**

किं स्वकर्मानुष्ठानत एव साक्षात् संसिद्धिः । न, कथं तर्हि स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा **येन प्रकारेण** विन्दति तत् शृणु ॥ ४५ ॥

कर्माधिकारी मनुष्य, उक्त लक्षणोंवाले अपने-अपने कर्मोंमे अभिरत—तत्पर हुआ, संसिद्धि लाभ करता है अर्थात् अपने कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे अशुद्धिका क्षय होनेपर, शरीर और इन्द्रियोंकी ज्ञाननिष्ठाकी योग्यतारूप सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।

तो क्या अपने कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे ही साक्षात् संसिद्धि मिल जाती है ? नहीं । तो किस तरह मिलती है ? अपने कर्मोंमे तत्पर हुआ मनुष्य, जिस प्रकार सिद्धि लाभ करता है, वह तू सुन ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

यतो **यस्मात्** प्रवृत्तिः **उत्पत्तिः चेष्टा वा यस्माद् अन्तर्यामिण ईश्वरात्** भूतानां **प्राणिनां स्याद्** येन **ईश्वरेण** सर्वम् इदं **जगत्** ततं **व्याप्तम्,** स्वकर्मणा **पूर्वोक्तेन प्रतिवर्णं** तम् **ईश्वरम्** अभ्यर्च्य **पूजयित्वा आराध्य केवलं ज्ञाननिष्ठा-योग्यतालक्षणां** सिद्धिं विन्दति मानवो **मनुष्यः** ॥ ४६ ॥

जिस अन्तर्यामी ईश्वरसे समस्त प्राणियोंकी प्रवृत्ति यानी उत्पत्ति या चेष्टा होती है और जिस ईश्वरसे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस ईश्वरको प्रत्येक वर्णके लिये पहले बतलाये हुए अपने कर्मोंद्वारा पूजकर—उसकी आराधना करके मनुष्य केवल ज्ञाननिष्ठाकी योग्यतारूप सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

यत एवम् अतः—

ऐसा होनेके कारण—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

श्रेयान् **प्रशस्यतरः स्वो धर्मः** स्वधर्मो विगुणः **अपि इति अपिशब्दो द्रष्टव्यः,*** परधर्मात् स्वनुष्ठितात् स्वभावनियतं **स्वभावेन नियतम्, यद् उक्तम्** *'स्वभावजम्'* **इति तद् एव उक्तं स्वभावनियतम् इति, यथा विषजातस्य इव कृमेः विषं न दोषकरं तथा स्वभावनियतं** कर्म कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषं **पापम्** ॥ ४७ ॥

अपना गुणरहित भी धर्म, दूसरेके भली प्रकार अनुष्ठान किये हुए धर्मसे श्रेष्ठतर है। जैसे विषमें उत्पन्न हुए कीडेके लिये विष दोषकारक नहीं होता, उसी प्रकार स्वभावसे नियत किये हुए कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता। जो बात पहले **'स्वभावजम्'** इस पदसे कही थी, वही यहाँ 'स्वभावनियतम्' इस पदसे कही गयी है। स्वभावसे नियत कर्मका नाम स्वभावनियत है ॥ ४७ ॥

स्वभावनियतं कर्म कुर्वाणो विषजात इव कृमिः किल्बिषं न आप्नोति इति उक्तम् । परधर्मः च भयावह इति । अनात्मज्ञः च न हि कश्चित् क्षणम् अपि अकर्मकृत् तिष्ठति इति, अतः—

उपर्युक्त श्लोकमें यह बात कही कि स्वभावनियत कर्मोंको करनेवाला मनुष्य, विषमें जन्मे हुए कीड़ेकी भाँति पापको प्राप्त नहीं होता, तथा (तीसरे अध्यायमें) यह भी कहा है कि दूसरेका धर्म भयावह है और 'कोई भी अज्ञानी बिना कर्म किये क्षणभर भी नहीं रह सकता।' इसलिये—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

सहजं **सह जन्मना एव उत्पन्नं सहजं किं तत्** कर्म कौन्तेय सदोषम् अपि **त्रिगुणत्वाद्** न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा **आरभ्यन्ते इति आरम्भाः सर्वकर्माणि इति एतत् प्रकरणात् । ये केचिद् आरम्भाः स्वधर्माः परधर्माः च ते सर्वे** हि **यस्मात् त्रिगुणात्मकत्वम् अत्र हेतुः त्रिगुणात्मकत्वाद्** दोषेण धूमेन **सहजेन** अग्निः इव आवृता ।

सहजस्य कर्मणः स्वधर्माख्यस्य परित्यागेन परधर्मानुष्ठाने अपि दोषाद् न एव मुच्यते, भयावहः च परधर्मः । न च शक्यते अशेषतः त्यक्तुम् अज्ञेन कर्म यतः तस्माद् न त्यजेद् इत्यर्थः ।

जो जन्मके साथ उत्पन्न हो उसका नाम सहज है। वह क्या है? कर्म। हे कौन्तेय! त्रिगुणमय होनेके कारण जो दोषयुक्त है, ऐसे दोषयुक्त भी अपने सहज-कर्मको नहीं छोड़ना चाहिये।

क्योंकि सभी आरम्भ—जो आरम्भ किये जाते हैं उनका नाम आरम्भ है, अतः यहाँ प्रकरणके अनुसार सर्वारम्भका तात्पर्य समस्त कर्म है। सो स्वधर्म या परधर्मरूप जो कुछ भी कर्म हैं, वे सभी तीनों गुणोंके कार्य हैं। अतः त्रिगुणात्मक होनेके कारण, साथ जन्मे हुए धुएँसे अग्निकी भाँति दोषसे आवृत है।

अभिप्राय यह है कि स्वधर्म नामक सहज-कर्मका परित्याग करनेसे और परधर्मका ग्रहण करनेसे भी, दोषसे छुटकारा नहीं हो सकता और परधर्म भयावह भी है; तथा अज्ञानीद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंका पूर्णतया त्याग होना सम्भव भी नहीं है; सुतरां सहज-कर्मको नहीं छोड़ना चाहिये।

* भाष्यकार विगुण शब्दके बाद 'अपि' वाक्यशेष मानते हैं इसलिये भाषामें अपि शब्दका अर्थ कर दिया गया है।

किम् अशेषतः त्यक्तुम् अशक्यं कर्म इति न त्यजेत् किं वा सहजस्य कर्मणः त्यागे दोषो भवति इति।

(यहाँ यह विचार करना चाहिये कि) क्या कर्मोंका अशेषतः त्याग होना असम्भव है, इसलिये उनका त्याग नहीं करना चाहिये, अथवा सहज कर्मका त्याग करनेमें दोष है इसलिये?

किं च अतः?

पू०—इससे क्या सिद्ध होगा?

यदि तावद् अशेषतः त्यक्तुम् अशक्यम् इति न त्याज्यं सहजं कर्म एवं तर्हि अशेषतः त्यागे गुण एव स्याद् इति सिद्धं भवति।

उ०—यदि यह बात हो कि अशेषतः त्याग होना अशक्य है इसलिये सहज-कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, तब तो यही सिद्ध होगा कि कर्मोंका अशेषतः त्याग करनेमें गुण ही है।

सत्यम् एवम् अशेषतः त्याग एव न उपपद्यते इति चेत्।

पू०—यह ठीक है, परन्तु यदि कर्मोंका पूर्णतया त्याग हो ही नहीं सकता (तो फिर गुण दोषकी बात ही क्या है?)

किं नित्यप्रचलितात्मकः पुरुषो यथा सांख्यानां गुणाः किं वा क्रिया एव कारकं यथा बौद्धानां पञ्च स्कन्धाः क्षणप्रध्वंसिनः, उभयथा अपि कर्मणः अशेषतः त्यागो न भवति।

उ०—तो क्या सांख्यवादियोंके गुणोंकी भाँति आत्मा सदा चलन-स्वभाववाला है? अथवा बौद्ध-मतावलम्बियोंके प्रतिक्षणमें नष्ट होनेवाले (रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्काररूप) पञ्च स्कन्धोंकी भाँति क्रिया ही कारक है? इन दोनों ही प्रकारोंसे कर्मोंका अशेषतः त्याग नहीं हो सकता।

अथ तृतीयः अपि पक्षो यदा करोति तदा सक्रियं वस्तु यदा न करोति तदा निष्क्रियं वस्तु तद् एव। तत्र एवं सति शक्यं कर्म अशेषतः त्यक्तुम्।

हाँ, तीसरा एक पक्ष और भी है कि जब आत्मा कर्म करता है तब तो वह सक्रिय होता है और जब कर्म नहीं करता, तब वही निष्क्रिय होता है, ऐसा मान लेनेसे कर्मोंका अशेषतः त्याग भी हो सकता है।

अयं तु अस्मिन् तृतीये पक्षे विशेषो न नित्यप्रचलितं वस्तु न अपि क्रिया एव कारकं किं तर्हि व्यवस्थिते द्रव्ये अविद्यमाना क्रिया उत्पद्यते विद्यमाना च विनश्यति। शुद्धं द्रव्यं शक्तिमद् अवतिष्ठते इति एवम् आहुः काणादाः तद् एव च कारकम् इति।

इस तीसरे पक्षमें यह विशेषता है, कि न तो आत्मा नित्य चलन-स्वभाववाला माना गया है, और न क्रियाको ही कारक माना गया है, तो फिर क्या है, कि अपने स्वरूपमें स्थित द्रव्यमें ही अविद्यमान क्रिया उत्पन्न हो जाती है और विद्यमान क्रियाका नाश हो जाता है? शुद्ध द्रव्य, क्रियाकी शक्तिसे युक्त होकर स्थित रहता है और वही कारक है। इस प्रकार वैशेषिकमतावलम्बी कहते हैं।

अस्मिन् पक्षे को दोष इति ?

अयम् एव तु दोषो यतः तु अभागवतं मतम् इदम् ।

कथं ज्ञायते ?

यत आह भगवान् *'नासतो विद्यते भावः'* इत्यादि । काणादानां हि असतो भावः सतः च अभाव इति इदं मतम् ।

अभागवतत्वे अपि न्यायवत् चेत् को दोष इति चेत् ।

उच्यते, दोषवत् तु इदं सर्वप्रमाण-विरोधात् ।

कथम् ?

यदि तावद् द्व्यणुकादि द्रव्यं प्राग् उत्पत्तेः अत्यन्तम् एव असद् उत्पन्नं च स्थितं कंचित् कालं पुनः अत्यन्तम् एव असत्त्वम् आपद्यते । तथा च सति असद् एव सद् जायते अभावो भावो भवति भावः च अभाव इति ।

तत्र अभावो जायमानः प्राग् उत्पत्तेः शश-विषाणकल्पः समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्यं कारणम् अपेक्ष्य जायते इति ।

न च एवम् अभाव उत्पद्यते कारणं वा अपेक्षते इति शक्यं वक्तुम् असतां शशविषाणादीनाम् अदर्शनात् ।

भावात्मकाः चेद् घटादय उत्पद्यमानाः किंचिद् अभिव्यक्तिमात्रकारणम् अपेक्ष्य उत्पद्यन्ते इति शक्यं प्रतिपत्तुम् ।

पू०—इस पक्षमें क्या दोष है ?

उ०—इसमें प्रधान दोष तो यही है कि यह मत भगवान्‌को मान्य नहीं है ।

पू०—यह कैसे जाना जाता है ?

उ०—इसीलिये कि भगवान् तो **'असत् वस्तुका कभी भाव नहीं होता'** इत्यादि वचन कहते हैं और वैशेषिक-मतवादी असत्‌का भाव और सत्‌का अभाव मानते है ।

पू०—भगवान्‌का मत न होनेपर भी यदि न्याय-युक्त हो तो इसमें क्या दोष है ?

उ०—बतलाते है (सुनो) सब प्रमाणोंसे इस मत-का विरोध होनेके कारण भी यह मत दोषयुक्त है ।

पू०—किस प्रकार ?

उ०—यदि यह माना जाय कि द्व्यणुक आदि द्रव्य उत्पत्तिसे पहले अत्यन्त असत् हुए ही उत्पन्न हो जाते है और किञ्चित् काल स्थित रहकर फिर अत्यन्त ही असत् भावको प्राप्त हो जाते है, तब तो यही मानना हुआ कि असत् ही सत् हो जाता है अर्थात् अभाव भाव हो जाता है और भाव अभाव हो जाता है ।

अर्थात् (यह मानना हुआ कि) उत्पन्न होनेवाला अभाव, उत्पत्तिसे पहले शश-शृङ्गकी भाँति सर्वथा असत् होता हुआ ही, समवायि, असमवायि और निमित्त नामक तीन कारणोंकी सहायतासे उत्पन्न होता है ।

परन्तु अभाव इस प्रकार उत्पन्न होता है अथवा कारणकी अपेक्षा रखता है—यह कहना नहीं बनता, क्योंकि खरगोशके सींग आदि असत् वस्तुओंमें ऐसा नहीं देखा जाता ।

हाँ, यदि यह माना जाय कि उत्पन्न होनेवाले घटादि भावरूप हैं और वे अभिव्यक्तिके किसी कारणकी सहायतासे उत्पन्न होते हैं, तो यह माना जा सकता है ।

किं च असतः च सद्भावे सतः च असद्भावे न क्वचित् प्रमाणप्रमेयव्यवहारे विश्वासः कस्यचित् स्यात् । सत् सद् एव असद् असद् एव इति निश्चयानुपपत्तेः ।

तथा असत्का सत् और सत्का असत् होना मान लेनेपर तो, किसीका प्रमाण-प्रमेय-व्यवहारमे कहीं विश्वास ही नहीं रहेगा । क्योंकि ऐसा मान लेनेसे फिर यह निश्चय नहीं होगा कि सत् सत् ही है और असत् असत् ही है ।

किं च उत्पद्यते इति द्व्यणुकादेः द्रव्यस्य स्वकारणसत्तासम्बन्धम् आहुः । प्रागुत्पत्तेः च असत् पश्चात् स्वकारणव्यापारम् अपेक्ष्य स्वकारणैः परमाणुभिः सत्तया च समवायलक्षणेन संबन्धेन संबध्यते संबद्धं सत् कारणसमवेतं सद् भवति ।

इसके सिवा वे 'उत्पन्न होता है' इस वाक्यसे द्व्यणुक आदि द्रव्यका अपने कारण और सत्तासे सम्बन्ध होना बतलाते है अर्थात् उत्पत्तिसे पहले कार्य असत् होता है, फिर अपने कारणके व्यापारकी अपेक्षासे (सहायतासे) अपने कारणरूप परमाणुओसे और सत्तासे समवायरूप सम्बन्धके द्वारा संगठित हो जाता है और संगठित होकर कारणसे मिलकर सत् हो जाता है ।

तत्र वक्तव्यं कथम् असतः सत् कारणं भवेत् संबन्धो वा केनचित् । न हि वन्ध्यापुत्रस्य सत्ता संबन्धो वा कारणं वा केनचित् प्रमाणतः कल्पयितुं शक्यम् ।

इसपर उनको बतलाना चाहिये कि असत्का कारण सत् कैसे हो सकता है ? और असत्का किसीके साथ सम्बन्ध भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि वन्ध्यापुत्रकी सत्ता, उसका किसी सत् पदार्थके साथ सम्बन्ध अथवा उसका कारण, किसीके भी द्वारा प्रमाणपूर्वक सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

ननु न एव वैशेषिकैः अभावस्य संबन्धः कल्प्यते द्व्यणुकादीनां हि द्रव्याणां स्वकारणेन समवायलक्षणः संबन्धः सताम् एव उच्यते इति ।

पू०—वैशेषिक-मतवादी अभावका सम्बन्ध नहीं मानते । वे तो भावरूप द्व्यणुक आदि द्रव्योंका ही अपने कारणके साथ समवायरूप सम्बन्ध बतलाते हैं ।

न; संबन्धात् प्राक् सत्त्वानभ्युपगमात् । न हि वैशेषिकैः कुलालदण्डचक्रादिव्यापारात् प्राग् घटादीनाम् अस्तित्वम् इष्यते । न च मृद एव घटाद्याकारप्राप्तिम् इच्छन्ति । ततः च असत् एव संबन्धः पारिशेष्याद् इष्टो भवति ।

उ०—यह बात नहीं है । क्योंकि (उनके मतमे) कार्य-कारणका सम्बन्ध होनेसे पहले कार्यकी सत्ता नहीं मानी गयी । अर्थात् वैशेषिक-मतावलम्बी कुम्हार और दण्ड-चक्र आदिकी क्रिया आरम्भ होनेसे पहले घट आदिका अस्तित्व नहीं मानते और यह भी नहीं मानते कि मिट्टीको ही घटादिके आकारकी प्राप्ति हुई है । इसलिये अन्तमें असत्का ही सम्बन्ध मानना सिद्ध होता है ।

ननु असतः अपि समवायलक्षणः संबन्धो न विरुद्धः ।

पू०—असत्का भी समवायरूप सम्बन्ध होना विरुद्ध नहीं है ।

न, वन्ध्यापुत्रादीनाम् अदर्शनात् ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वन्ध्या-पुत्र आदिका किसीके साथ सम्बन्ध नहीं देखा जाता ।

घटादेः एव प्रागभावस्य स्वकारणसंबन्धो भवति न वन्ध्यापुत्रादेः अभावस्य तुल्यत्वे अपि इति विशेषः अभावस्य वक्तव्यः ।

अभावकी समानता होनेपर भी यदि कहो कि घटादिके प्रागभावका ही अपने कारणके साथ सम्बन्ध होता है, वन्ध्यापुत्रादिके अभावका नहीं, तो इनके अभावोंका भेद बतलाना चाहिये ।

एकस्य अभावो द्वयोः अभावः सर्वस्य अभावः प्रागभावः प्रध्वंसाभाव इतरेतराभावः अत्यन्ताभाव इति लक्षणतो न केनचिद् विशेषो दर्शयितुं शक्यः ।

एकका अभाव, दोका अभाव, सबका अभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव इन लक्षणोंसे कोई भी अभावकी विशेषता नहीं दिखला सकता ।

असति च विशेषे घटस्य प्रागभाव एव कुलालादिभिः घटभावम् आपद्यते संबध्यते च भावेन कपालाख्येन स्वकारणेन सर्वव्यवहारयोग्यः च भवति न तु घटस्य एव प्रध्वंसाभावः अभावत्वे सति अपि इति प्रध्वंसाद्यभावानां न क्वचिद् व्यवहारयोग्यत्वं प्रागभावस्य एव द्व्यणुकादिद्रव्याख्यस्य उत्पत्त्यादिव्यवहारार्हत्वम् इति एतद् असमञ्जसम् अभावत्वाविशेषाद् अत्यन्तप्रध्वंसाभावयोः इव ।

फिर किसी प्रकारकी विशेषता न होते हुए भी यह कहना कि घटका प्रागभाव ही कुम्हार आदिके द्वारा घटभावको प्राप्त होता है, तथा उसका कपाल-नामक अपने कारणरूप भावसे सम्बन्ध होता है, और वह सब व्यवहारके योग्य भी होता है । परन्तु उसी घटका जो प्रध्वंसाभाव है, वह अभावत्वमें समान होनेपर भी सम्बन्धित नहीं होता । इस तरह प्रध्वंसादि अभावोंको किसी भी अवस्थामें व्यवहारके योग्य न मानना और केवल द्व्यणुक आदि द्रव्य-नामक प्रागभावको ही उत्पत्ति आदि व्यवहारके योग्य मानना, असमञ्जसरूप ही है । क्योंकि अत्यन्ताभाव और प्रध्वंसाभावके समान ही प्रागभाव-का भी अभावत्व है, उसमें कोई विशेषता नहीं है ।

ननु न एव अस्माभिः प्रागभावस्य भावापत्तिः उच्यते ।

पू०—हमने प्रागभावका भावरूप होना नहीं बतलाया है ।

भावस्य एव हि तर्हि भावापत्तिः यथा घटस्य घटापत्तिः पटस्य वा पटापत्तिः । एतद् अपि अभावस्य भावापत्तिवद् एव प्रमाणविरुद्धम् ।

उ०—तब तो तुमने भावका ही भावरूप हो जाना कहा है, जैसे घटका घटरूप हो जाना, वस्त्रका वस्त्ररूप हो जाना; परन्तु यह भी अभावके भावरूप होनेकी भाँति ही प्रमाण-विरुद्ध है ।

सांख्यस्य अपि यः परिणामपक्षः सः अपि अपूर्वधर्मोत्पत्तिविनाशाङ्गीकरणाद् वैशेषिकपक्षाद् न विशिष्यते ।

साख्य-मतावलम्बियोंका जो परिणामवाद है, उसमें अपूर्व धर्मकी उत्पत्ति और विनाश स्वीकार किया जानेके कारण, वह भी (इस विषयमें) वैशेषिक-मतसे कुछ विशेषता नहीं रखता ।

अभिव्यक्तितिरोभावाङ्गीकरणे अपि अभिव्यक्तितिरोभावयोः विद्यमानत्वाविद्यमानत्वनिरूपणे पूर्ववद् एव प्रमाणविरोधः ।

एतेन कारणस्य एव संस्थानम् उत्पत्त्यादि इति एतद् अपि प्रत्युक्तम् ।

पारिशेष्यात् सद् एकम् एव वस्तु अविद्यया उत्पत्तिविनाशादिधर्मैः नटवद् अनेकधा विकल्प्यते इति इदं भागवतं मतम् उक्तम् '*नासतो विद्यते भावः*' इति अस्मिन् श्लोके । सत्प्रत्ययस्य अव्यभिचाराद् व्यभिचारात् च इतरेषाम् इति ।

कथं तर्हि आत्मनः अविक्रियत्वे अशेषतः कर्मणः त्यागो न उपपद्यते इति ।

यदि वस्तुभूता गुणा यदि वा अविद्याकल्पिताः तद्धर्मः कर्म तदा आत्मनि अविद्याध्यारोपितम् एव इति अविद्वान् न हि कश्चित् क्षणमपि अशेषतः त्यक्तुं शक्नोति इति उक्तम् ।

विद्वान् तु पुनः विद्यया अविद्यायां निवृत्तायां शक्नोति एव अशेषतः कर्म परित्यक्तुम् अविद्याध्यारोपितस्य शेषानुपपत्तेः ।

न हि तैमिरिकदृष्ट्या अध्यारोपितस्य द्विचन्द्रादेः तिमिरापगमे शेषः अवतिष्ठते ।

अभिव्यक्ति (प्रकट होना) और तिरोभाव (छिप जाना) स्वीकार करनेसे भी, अभिव्यक्ति और तिरोभावकी विद्यमानता और अविद्यमानताका निरूपण करनेमे, पहलेकी भॉति ही प्रमाणसे विरोध होगा ।

इस विवेचनसे 'कारणका कार्यरूपमे स्थित होना ही उत्पत्ति आदि है' ऐसा निरूपण करनेवाले मतका भी खण्डन हो जाता है ।

इन सब मतोंका खण्डन हो जानेपर अन्तमे यही सिद्ध होता है कि 'एक ही सत्य तत्त्व (आत्मा) अविद्याद्वारा नटकी भॉति उत्पत्ति, विनाश आदि धर्मोंसे अनेक रूपमे कल्पित होता है ।' यही भगवान्का अभिप्राय **'नासतो विद्यते भावः'** इस श्लोकमे बतलाया गया है । क्योकि सत्प्रत्ययका व्यभिचार नहीं होता और अन्य (असत्) प्रत्ययोंका व्यभिचार होता है (अतः सत् ही एकमात्र तत्त्व है) ।

पू०—यदि (भगवान्के मतमे) आत्मा निर्विकार है तो (वे) यह कैसे कहते है कि 'अशेषतः कर्मोंका त्याग नहीं हो सकता ?'

उ०—शरीर-इन्द्रियादिरूप गुण चाहे सत्य वस्तु हो, चाहे अविद्याकल्पित हो, जब कर्म उन्हींका धर्म है, तब आत्मामे तो वह अविद्याध्यारोपित ही है । इस कारण 'कोई भी अज्ञानी अशेषतः कर्मोंका त्याग क्षणभर भी नहीं कर सकता' यह कहा गया है ।

परन्तु विद्याद्वारा अविद्या निवृत्त हो जानेपर ज्ञानी तो कर्मोंका अशेषतः त्याग कर ही सकता है । क्योकि अविद्या नष्ट होनेके उपरान्त, अविद्यासे अध्यारोपित वस्तुका अंश बाकी नहीं रह सकता ।

(यह प्रत्यक्ष ही है कि) तिमिर-रोगसे विकृत हुई दृष्टिद्वारा अध्यारोपित दो चन्द्रमा आदिका कुछ भी अंश, तिमिर-रोग नष्ट हो जानेपर, शेष नहीं रहता ।

एवं च सति इदं वचनम् उपपन्नम् *'सर्वकर्माणि मनसा'* इत्यादि *'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'* *'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'* इति च ॥ ४८ ॥

सुतरां **'सब कर्मोंको मनसे छोड़कर'** इत्यादि कथन ठीक ही हैं। तथा **'अपने-अपने कर्मोंमें लगे हुए मनुष्य संसिद्धिको प्राप्त होते हैं'** **'मनुष्य अपने कर्मोंसे उसकी पूजा करके सिद्धि प्राप्त करता है'**—ये कथन भी ठीक हैं ॥४८॥

या च कर्मजा सिद्धिः उक्ता ज्ञाननिष्ठा-योग्यतालक्षणा तस्याः फलभूता नैष्कर्म्यसिद्धिः ज्ञाननिष्ठालक्षणा वक्तव्या इति श्लोक आरभ्यते—

ज्ञाननिष्ठाकी योग्यताप्राप्तिरूप जो कर्म-जनित सिद्धि कही गयी है, उसकी फलभूत ज्ञान-निष्ठारूप नैष्कर्म्यसिद्धि भी कही जानी चाहिये। इसलिये अगला श्लोक आरम्भ किया जाता है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

असक्तबुद्धिः असक्ता सङ्गरहिता बुद्धिः अन्तःकरणं यस्य सः असक्तबुद्धिः सर्वत्र पुत्रदारादिषु आसक्तिनिमित्तेषु ।

जो सर्वत्र असक्तबुद्धि है—पुत्र, स्त्री आदि जो आसक्तिके स्थान हैं, उन सबमें जिसका अन्तः-करण आसक्तिसे—प्रीतिसे रहित हो चुका है।

जितात्मा जितो वशीकृत आत्मा अन्तःकरणं यस्य स जितात्मा ।

जो जितात्मा है—जिसका आत्मा यानी अन्तः-करण जीता हुआ है अर्थात् वशमें किया हुआ है।

विगतस्पृहो विगता स्पृहा तृष्णा देहजीवित-भोगेषु यस्मात् स विगतस्पृहः ।

जो स्पृहारहित है—शरीर, जीवन और भोगोंमें भी जिसकी स्पृहा—तृष्णा नष्ट हो गयी है।

य एवंभूत आत्मज्ञः स नैष्कर्म्यसिद्धिं निर्गतानि कर्माणि यस्माद् निष्क्रियब्रह्मात्म-संबोधात् स निष्कर्मा तस्य भावो नैष्कर्म्यं नैष्कर्म्यं च तत् सिद्धिः च सा नैष्कर्म्यसिद्धिः नैष्कर्म्यस्य वा सिद्धिः निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणस्य सिद्धिः निष्पत्तिः तां नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां प्रकृष्टां कर्मजसिद्धिविलक्षणां सद्योमुक्त्यवस्थानरूपां संन्यासेन सम्यग्दर्शनेन तत्पूर्वकेण वा सर्वकर्म-संन्यासेन अधिगच्छति प्राप्नोति । तथा च उक्तम् *'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य नैव कुर्वन्न कारयन्नास्ते'* इति ॥ ४९ ॥

जो ऐसा आत्मज्ञानी है, वह परम नैष्कर्म्य-सिद्धिको (प्राप्त करता है)। निष्क्रिय ब्रह्म ही आत्मा है यह ज्ञान होनेके कारण जिसके सर्वकर्म निवृत्त हो गये हैं वह 'निष्कर्मा' है। उसके भाव-का नाम 'नैष्कर्म्य' है और निष्कर्मतारूप सिद्धिका नाम 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है। अथवा निष्क्रिय आत्मस्वरूपसे स्थित होनारूप निष्कर्मताका सिद्ध होना ही 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है। ऐसी जो कर्मजनित सिद्धिसे विलक्षण और सद्योमुक्तिमें स्थित होनारूप उत्तम सिद्धि है, उसको संन्यासके द्वारा, यानी यथार्थ ज्ञानसे अथवा ज्ञानपूर्वक सर्व-कर्मसंन्यासके द्वारा, लाभ करता है; ऐसा ही कहा भी है कि **'सब कर्मोंको मनसे छोड़कर न करता हुआ और न करवाता हुआ रहता है'** ॥ ४९ ॥

पूर्वोक्तेन स्वकर्मानुष्ठानेन ईश्वराभ्यर्चनरूपेण जनितां प्रागुक्तलक्षणां सिद्धिं प्राप्तस्य उत्पन्नात्मविवेकज्ञानस्य केवलात्मज्ञाननिष्ठारूपा नैष्कर्म्यलक्षणा सिद्धिः येन क्रमेण भवति तद् वक्तव्यम् इति आह—

पूर्वोक्त स्वधर्मानुष्ठानद्वारा ईश्वरार्चनरूप साधनसे उत्पन्न हुई, ज्ञाननिष्ठा-प्राप्तिकी योग्यतारूप सिद्धिको, जो प्राप्त कर चुका है और जिसमें आत्मविषयक विवेकज्ञान उत्पन्न हो गया है, उस पुरुषको, जिस क्रमसे केवल आत्म-ज्ञाननिष्ठारूप नैष्कर्म्यसिद्धि मिलती है, वह (क्रम) बतलाना है, अतः कहते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

सिद्धिं प्राप्तः स्वकर्मणा ईश्वरं समभ्यर्च्य तत्प्रसादजां कायेन्द्रियाणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिं प्राप्तः सिद्धिं प्राप्त इति तदनुवाद उत्तरार्थः ।

सिद्धिको प्राप्त हुआ, अर्थात् अपने कर्मोंद्वारा ईश्वरकी पूजा करके, उसकी कृपासे उत्पन्न हुई शरीर और इन्द्रियोंकी ज्ञाननिष्ठा-प्राप्तिकी योग्यतारूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष—यह पुनरुक्ति आगे कहे जानेवाले वचनोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये है ।

किं तद् उत्तरं यदर्थः अनुवाद इति उच्यते ।

वे आगे कहे जानेवाले वचन कौन-से हैं जिनके लिये पुनरुक्ति है ? सो बतलाते है—

यथा येन प्रकारेण ज्ञाननिष्ठारूपेण ब्रह्म परमात्मानम् आप्नोति तथा तं प्रकारं ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिक्रमं मे मम वचनाद् निबोध त्वं निश्चयेन अवधारय इति एतत् ।

जिस ज्ञाननिष्ठारूप प्रकारसे (साधक) ब्रह्मको—परमात्माको पाता है, उस प्रकारको, यानी ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिके क्रमको, तू मेरे वचनोंसे निश्चयपूर्वक समझ ।

किं विस्तरेण, न इति आह समासेन एव संक्षेपेण एव हे कौन्तेय । यथा ब्रह्म प्राप्नोति तथा निबोध इति अनेन या प्रतिज्ञाता ब्रह्मप्राप्तिः ताम् इदंतया दर्शयितुम् आह निष्ठा ज्ञानस्य या परा इति, निष्ठा पर्यवसानं परिसमाप्तिः इति एतत् । कस्य, ब्रह्मज्ञानस्य या परा परिसमाप्तिः ।

क्या (उसका) विस्तारपूर्वक (वर्णन करेंगे ?) इसपर कहते हैं कि नहीं । हे कौन्तेय ! समाससे अर्थात् संक्षेपसे ही, जिस क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, उसे समझ । इस वाक्यसे जिस ब्रह्म-प्राप्तिके लिये प्रतिज्ञा की थी, उसे इदंरूपसे (स्पष्ट) दिखानेके लिये कहते हैं कि ज्ञानकी जो परानिष्ठा है उसको सुन । अन्तिम अवधि—परिसमाप्तिका नाम निष्ठा है । ऐसी जो ब्रह्मज्ञानकी परमावधि है (उसको सुन) ।

कीदृशी सा, यादृशम् आत्मज्ञानम् । कीदृक् तत्, यादृश आत्मा । कीदृशः असौ, यादृशो भगवता उक्त उपनिषद्वाक्यैः च न्यायतः च ।

वह (ब्रह्मज्ञानकी निष्ठा) कैसी है ? जैसा कि आत्मज्ञान है । वह कैसा है ? जैसा आत्मा है । वह (आत्मा) कैसा है ? जैसा भगवान्‌ने बतलाया है, तथा जैसा उपनिषद्वाक्योंद्वारा कहा गया है और जैसा न्यायसे सिद्ध है ।

ननु विषयाकारं ज्ञानं न विषयो न अपि आकारवान् आत्मा इष्यते क्वचित् ।

पू०—ज्ञान विषयाकार होता है, परन्तु आत्मा न तो कहीं भी विषय माना जाता है और न आकारवान् ही ।

ननु *'आदित्यवर्णम्' 'भारूपः' 'स्वयंज्योतिः'* इति आकारवत्त्वम् आत्मनः श्रूयते ।

उ०—किन्तु **'आदित्यवर्ण' 'प्रकाशस्वरूप' 'स्वयंज्योति'** इस तरह आत्माका आकारवान् होना तो श्रुतिमे कहा है ।

न, तमोरूपत्वप्रतिषेधार्थत्वात् तेषां वाक्यानाम् । द्रव्यगुणाद्याकारप्रतिषेधे आत्मनः तमोरूपत्वे प्राप्ते तत्प्रतिषेधार्थानि *'आदित्यवर्णम्'* इत्यादिवाक्यानि, *'अरूपम्'* इति च विशेषतो रूपप्रतिषेधात् । अविषयत्वात् च *'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।'* (*श्वे० उ० ४ । २०*) *'अशब्दमस्पर्शम्'* (*क० उ० १ । ३ । १५*) इत्याद्यैः ।

पू०—यह कहना ठीक नहीं, क्योकि वे वाक्य तमःस्वरूपत्वका निषेध करनेके लिये कहे गये हैं । अर्थात् आत्मामें द्रव्यगुण आदिके आकारका प्रतिषेध करनेपर जो आत्माके अन्धकाररूप माने जानेकी आशंका होती है, उसका प्रतिषेध **करने**के लिये ही **'आदित्यवर्णम्'** इत्यादि वाक्य हैं । क्योकि **'अरूपम्'** आदि वाक्योंसे विशेषतः रूपका प्रतिषेध किया गया है और **'इसका (आत्माका) रूप इन्द्रियोंके सामने नहीं ठहरता, इसको (आत्माको) कोई भी आँखोंसे नहीं देख सकता' 'यह अशब्द है, अस्पर्श है'** इत्यादि वचनोंसे भी आत्मा किसीका विषय नहीं है, यह बात कही गयी है ।

तस्माद् आत्माकारं ज्ञानम् इति अनुपपन्नम् ।

सुतरां 'जैसा आत्मा है वैसा ही ज्ञान है' यह कहना युक्तियुक्त नहीं है ।

कथं तर्हि आत्मनो ज्ञानम् । सर्वं हि यद्विषयं ज्ञानं तत्तदाकारं भवति निराकारः च आत्मा इति उक्तम् । ज्ञानात्मनोः च उभयोः निराकारत्वे कथं तद्भावनानिष्ठा इति ।

तब फिर आत्माका ज्ञान कैसे होता है ? क्योकि सभी ज्ञान, जिसको विषय करते हैं उसीके आकारवाले होते है और 'आत्मा निराकार है' ऐसा कहा है । फिर ज्ञान और आत्मा दोनो निराकार होनेसे उसमे भावना और निष्ठा कैसे हो सकती है ?

न, अत्यन्तनिर्मलत्वस्वच्छत्वसूक्ष्मत्वोपपत्तेः आत्मनो बुद्धेः च आत्मसमनैर्मल्याद्युपपत्तेः आत्मचैतन्याकाराभासत्वोपपत्तिः ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्माका अत्यन्त निर्मलत्व, स्वच्छत्व और सूक्ष्मत्व सिद्ध है और बुद्धिका भी आत्माके सदृश निर्मलत्व आदि सिद्ध है, इसलिये उसका आत्मचैतन्यके आकारसे आभासित होना बन सकता है ।

बुद्ध्याभासं मनः तदाभासानि इन्द्रियाणि इन्द्रियाभासः च देहः अतो लौकिकैः देहमात्रे एव आत्मदृष्टिः क्रियते ।

बुद्धिसे आभासित मन, मनसे आभासित इन्द्रियाँ और इन्द्रियोसे आभासित स्थूल शरीर है । इसलिये सासारिक मनुष्य देहमात्रमे ही आत्मदृष्टि करते हैं ।

देहचैतन्यवादिनः च लोकायतिकाः चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति आहुः, तथा अन्ये इन्द्रियचैतन्यवादिनः । अन्ये मनश्चैतन्य-वादिनः । अन्ये बुद्धिचैतन्यवादिनः ।

देहात्मवादी लोकायतिक, 'चेतनताविशिष्ट शरीर ही आत्मा है' ऐसा कहते हैं, दूसरे, इन्द्रियोंको चेतन कहनेवाले है, तथा कोई मनको और कोई बुद्धिको चेतन कहनेवाले है ।

ततः अपि अन्तरव्यक्तम् अव्याकृताख्यम् अविद्यावस्थम् आत्मत्वेन प्रतिपन्नाः केचित् ।

कितने ही, उस बुद्धिके भी भीतर व्याप्त, अव्यक्तको—अव्याकृतसज्ञक अविद्यावस्थ (चिदाभास) को आत्मरूपसे समझनेवाले हैं ।

सर्वत्र हि बुद्ध्यादिदेहान्ते आत्मचैतन्याभासता आत्मभ्रान्तिकारणम् इति ।

बुद्धिसे लेकर शरीरपर्यन्त सभी जगह आत्मचैतन्यका आभास ही उनमे आत्माकी भ्रान्तिका कारण है ।

अत आत्मविषयं ज्ञानं न विधातव्यम्, किं तर्हि, नामरूपाद्यनात्माध्यारोपणनिवृत्तिः एव कार्या न आत्मचैतन्यविज्ञानम्, अविद्याध्यारोपितसर्वपदार्थाकारैः एव विशिष्टतया गृह्यमाणत्वात् ।

अतः (यह सिद्ध हुआ कि) आत्मविषयक ज्ञान विधेय नहीं है । तो क्या विधेय है ? नामरूप आदि अनात्मा वस्तुओका जो आत्मामे अध्यारोप है उसकी निवृत्ति ही कर्तव्य है । आत्मचैतन्यका विज्ञान प्राप्त करना नहीं है । क्योकि ज्ञान, अविद्याद्वारा आरोपित समस्त पदार्थोंके आकारमे ही विशेषरूपसे ग्रहण किया हुआ है ।

अत एव हि विज्ञानवादिनो बौद्धा विज्ञानव्यतिरेकेण वस्तु एव न अस्ति इति प्रतिपन्नाः प्रमाणान्तरनिरपेक्षतां च स्वसंविदितत्वाभ्युपगमेन ।

यही कारण है कि विज्ञानवादी बौद्ध 'विज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ही नहीं है' इस प्रकार मानते है । और उस ज्ञानको स्वसवेद्य माननेके कारण प्रमाणान्तरकी आवश्यकता नहीं मानते ।

तस्माद् अविद्याध्यारोपणनिराकरणमात्रं ब्रह्मणि कर्तव्यं न तु ब्रह्मज्ञाने यत्नः अत्यन्तप्रसिद्धत्वात् ।

सुतरा ब्रह्ममे जो अविद्याद्वारा अध्यारोप किया गया है, उसका निराकरणमात्र कर्तव्य है । ब्रह्मज्ञानके लिये प्रयत्न कर्तव्य नहीं है, क्योकि ब्रह्म तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है ।

अविद्याकल्पितनामरूपविशेषाकारापहृतबुद्धित्वाद् अत्यन्तप्रसिद्धं सुविज्ञेयम् आसन्नतरम् आत्मभूतम् अपि अप्रसिद्धं दुर्विज्ञेयम् अतिदूरम् अन्यद् इव च प्रतिभाति अविवेकिनाम् ।

ब्रह्म यद्यपि अत्यन्त प्रसिद्ध, सुविज्ञेय, अति समीप और आत्मस्वरूप है तो भी वह विवेकरहित मनुष्योको, अविद्याकल्पित नामरूपके भेदसे उनकी बुद्धि भ्रमित हो जानेके कारण, अप्रसिद्ध, दुर्विज्ञेय, अति दूर और दूसरा-सा प्रतीत हो रहा है ।

बाह्याकार निवृत्तबुद्धीनां तु लब्धगुर्वात्मप्रसादानां न अतः परं सुखं सुप्रसिद्धं सुविज्ञेयं

परन्तु जिनकी बाह्याकार बुद्धि निवृत्त हो गयी है जिन्होने गुरु और आत्माकी कृपा लाभ कर ली है, उनके लिये इससे अधिक सुप्रसिद्ध, सुविज्ञेय,

स्वासन्नम् अस्ति। तथा च उक्तम् *'प्रत्यक्षावगमं धर्म्यम्'* इत्यादि।

केचित् तु पण्डितंमन्या निराकारत्वाद् आत्मवस्तु न उपैति बुद्धिः अतो दुःसाध्या सम्यग्ज्ञाननिष्ठा इति आहुः।

सत्यम् एवम्, गुरुसंप्रदायरहितानाम् अश्रुतवेदान्तानाम् अत्यन्तबहिर्विषयासक्तबुद्धीनां सम्यक्प्रमाणेषु अकृतश्रमाणाम्, तद्विपरीतानां तु लौकिकग्राह्यग्राहकद्वैतवस्तुनि सद्बुद्धिः नितरां दुःसंपाद्या आत्मचैतन्यव्यतिरेकेण वस्त्वन्तरस्य अनुपलब्धेः।

यथा च एतद् एवम् एव न अन्यथा इति अवोचाम। उक्तं च भगवता—*'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः'* इति।

तस्माद् बाह्याकारभेदबुद्धिनिवृत्तिः एव आत्मस्वरूपालम्बने कारणम्। न हि आत्मा नाम कस्यचित् कदाचिद् अप्रसिद्धः प्राप्यो हेय उपादेयो वा।

अप्रसिद्धे हि तस्मिन् आत्मनि अस्वार्थाः सर्वाः प्रवृत्तयः प्रसज्येरन्। न च देहाद्यचेतनार्थत्वं शक्यं कल्पयितुम्। न च सुखार्थं सुखं दुःखार्थं वा दुःखम् आत्मावगत्यवसानार्थत्वात् च सर्वव्यवहारस्य।

तस्माद् यथा स्वदेहस्य परिच्छेदाय न प्रमाणान्तरापेक्षा ततः अपि आत्मनः अन्तर-

सुखस्वरूप और अपने समीप कुछ भी नहीं है। **'प्रत्यक्ष-उपलब्ध धर्ममय'** इत्यादि वाक्योंसे भी यही बात कही गयी है।

कितने ही अपनेको पण्डित माननेवाले यों कहते है, कि आत्मतत्त्व निराकार होनेके कारण उसको बुद्धि नहीं पा सकती; अतः सम्यक् ज्ञान-निष्ठा दुःसाध्य है।

ठीक है, जो गुरु-परम्परासे रहित हैं, जिन्होंने वेदान्त-वाक्योंको (विधिपूर्वक) नहीं सुना है, जिनकी बुद्धि सांसारिक विषयोमे अत्यन्त आसक्त हो रही है, जिन्होंने यथार्थ ज्ञान करानेवाले प्रमाणोंमे परिश्रम नहीं किया है, उनके लिये यही बात है। परन्तु जो उनसे विपरीत हैं, उनके लिये तो, लौकिक ग्राह्य-ग्राहक भेदयुक्त वस्तुओमे सद्भाव सम्पादन करना (इनको सत्य समझना) अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उनको आत्मचैतन्यसे अतिरिक्त दूसरी वस्तुकी उपलब्धि ही नहीं होती।

यह ठीक इसी तरह है, अन्यथा नहीं है। यह बात हम पहले सिद्ध कर आये है और भगवान्‌ने भी कहा है कि **'जिसमें सब प्राणी जागते हैं, ज्ञानी मुनिकी वही रात्रि है'** इत्यादि।

सुतरां आत्मस्वरूपके अवलम्बनमे, बाह्य नानाकार भेदबुद्धिकी निवृत्ति ही कारण है। क्योकि आत्मा कभी किसीके भी लिये अप्रसिद्ध, प्राप्तव्य, त्याज्य या उपादेय नहीं हो सकता।

आत्माको अप्रसिद्ध मान लेनेपर तो सभी प्रवृत्तियोको निरर्थक मानना सिद्ध होगा। इसके सिवा न तो यह कल्पना की जा सकती है कि अचेतन शरीरादिके लिये (सब कर्म किये जाते हैं) और न यही कि सुखके लिये सुख है या दुःखके लिये दुःख है। क्योंकि सारे व्यवहारका प्रयोजन अन्तमें आत्माके ज्ञानका विषय बन जाना है।

इसलिये, जैसे अपने शरीरको जाननेके लिये अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है; वैसे ही आत्मा उससे भी अधिक अन्तरतम होनेके कारण

तमत्वात् तदवगतिं प्रति न प्रमाणान्तरापेक्षा इति आत्मज्ञाननिष्ठा विवेकिनां सुप्रसिद्धा इति सिद्धम् ।

येषाम् अपि निराकारं ज्ञानम् अप्रत्यक्षं तेषाम् अपि ज्ञानवशा एव ज्ञेयावगतिः इति ज्ञानम् अत्यन्तं प्रसिद्धं सुखादिवद् एव इति अभ्युपगन्तव्यम् ।

जिज्ञासानुपपत्तेः च । अप्रसिद्धं चेद् ज्ञानं ज्ञेयवद् जिज्ञास्येत । तथा ज्ञेयं घटादिलक्षणं ज्ञानेन ज्ञाता व्याप्तुम् इच्छति तथा ज्ञानम् अपि ज्ञानान्तरेण ज्ञाता व्याप्तुम् इच्छेत् । न च एतद् अस्ति ।

अतः अत्यन्तप्रसिद्धं ज्ञानं ज्ञाता अपि अत एव प्रसिद्ध इति । तस्माद् ज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः किं तु अनात्मबुद्धिनिवृत्तौ एव । तस्माद् ज्ञाननिष्ठा सुसंपाद्या ॥ ५० ॥

आत्माको जाननेके लिये प्रमाणान्तरकी आवश्यकता नहीं है, अतः यह सिद्ध हुआ कि विवेकियोंके लिये आत्मज्ञाननिष्ठा सुप्रसिद्ध है ।

जिनके मतमें ज्ञान निराकार और अप्रत्यक्ष है उनको भी, ज्ञेयका बोध (अनुभव) ज्ञानके ही अधीन होनेके कारण, सुखादिकी तरह ही ज्ञान अत्यन्त प्रसिद्ध है, यह मान लेना चाहिये ।

तथा ज्ञानको जाननेके लिये जिज्ञासा नहीं होती इसलिये भी (यह मान लेना चाहिये कि ज्ञान प्रत्यक्ष है) यदि ज्ञान अप्रत्यक्ष होता, तो अन्य ज्ञेय वस्तुओंकी तरह उसको भी जाननेके लिये इच्छा की जाती, अर्थात् जैसे ज्ञाता (पुरुष) घटादिरूप ज्ञेय पदार्थोंका ज्ञानके द्वारा अनुभव करना चाहता है, उसी तरह उस ज्ञानको भी अन्य ज्ञानके द्वारा जाननेकी इच्छा करता, परन्तु यह बात नहीं है ।

सुतरां ज्ञान अत्यन्त प्रत्यक्ष है और इसीलिये ज्ञाता भी अत्यन्त ही प्रत्यक्ष है । अतः ज्ञानके लिये प्रयत्न कर्तव्य नहीं है, किन्तु अनात्मबुद्धिकी निवृत्तिके लिये ही कर्तव्य है, इसीलिये ज्ञाननिष्ठा सुसंपाद्य है ॥ ५० ॥

सा इयं ज्ञानस्य परा निष्ठा उच्यते कथं कार्या इति—

वह ज्ञानकी परा निष्ठा किस प्रकार करनी चाहिये ? सो कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

बुद्ध्या अध्यवसायात्मिकया विशुद्धया मायारहितया युक्तः संपन्नो धृत्या धैर्येण आत्मानं कार्यकरणसंघातं नियम्य च नियमनं कृत्वा वशीकृत्य शब्दादीन् शब्द आदिः येषां ते शब्दादयः तान् विषयान् त्यक्त्वा । सामर्थ्यात् शरीरस्थितिमात्रान् केवलान् मुक्त्वा ततः

विशुद्ध—कपटरहित निश्चयात्मिका बुद्धिसे संपन्न पुरुष, धैर्यसे कार्य-करणके संघातरूप आत्माको (शरीरको) संयम करके—वशमें करके शब्दादि विषयोंको, अर्थात् शब्द जिनका आदि है ऐसे सभी विषयोंको छोड़कर, प्रकरणके अनुसार यहाँ यह अभिप्राय है, कि केवल शरीर-स्थितिमात्रके लिये जिन विषयोंकी आवश्यकता

अधिकान् सुखार्थान् त्यक्त्वा इत्यर्थः । शरीरस्थित्यर्थत्वेन प्राप्तेषु च रागद्वेषौ व्युदस्य च परित्यज्य ॥ ५१ ॥

है, उनसे अतिरिक्त सुखभोगके लिये जो अधिक विषय हैं, उन सबको छोड़कर तथा शरीरस्थितिके निमित्त प्राप्त हुए विषयोंमें भी, राग-द्वेषका अभाव करके—त्याग करके ॥ ५१ ॥

ततः—

उसके बाद—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

विविक्तसेवी अरण्यनदीपुलिनगिरिगुहादीन् विविक्तान् देशान् सेवितुं शीलम् अस्य इति विविक्तसेवी । लघ्वाशी लघ्वशनशीलः । विविक्तसेवालघ्वशनयोः निद्रादिदोषनिवर्तकत्वेन चित्तप्रसादहेतुत्वाद् ग्रहणम् ।

विविक्त देशका सेवन करनेवाला—अर्थात् वन, नदी-तीर, पहाड़की गुफा आदि एकान्त देशका सेवन करना ही जिसका स्वभाव है ऐसा, और हलका आहार करनेवाला होकर, 'एकान्त-सेवन' और 'हलका भोजन' यह दोनों निद्रादि दोषोंके निवर्तक होनेसे चित्तकी स्वच्छतामें हेतु हैं, इसलिये इनका ग्रहण किया गया है ।

यतवाक्कायमानसो वाक् च कायः च मानसं च यतानि संयतानि यस्य ज्ञाननिष्ठस्य स ज्ञाननिष्ठो यतिः यतवाक्कायमानसः स्यात् । एवम् उपरतसर्वकरणः सन्,

तथा मन, वाणी और शरीरको वशमें करनेवाला होकर, अर्थात् जिस ज्ञाननिष्ठ यतिके काया, मन और वाणी तीनों जीते हुए होते हैं वह 'यतवाक्कायमानस' होता है—इस प्रकार सब इन्द्रियोंको कर्मोंसे उपराम करके,

ध्यानयोगपरो ध्यानम् आत्मस्वरूपचिन्तनं योग आत्मविषये एव एकाग्रीकरणं तौ ध्यानयोगौ परत्वेन कर्तव्यौ यस्य स ध्यानयोगपरः । नित्यं नित्यग्रहणं मन्त्रजपाद्यन्यकर्तव्याभावप्रदर्शनार्थम् ।

तथा नित्य ध्यानयोगके परायण रहता हुआ, आत्मस्वरूप-चिन्तनका नाम ध्यान है और आत्मामें चित्तको एकाग्र करनेका नाम योग है, यह दोनों प्रधानरूपसे जिसके कर्तव्य हों उसका नाम ध्यानयोगपरायण है, उसके साथ नित्य पदका ग्रहण मन्त्र-जप आदि अन्य कर्तव्योंका अभाव दिखानेके लिये किया गया है ।

वैराग्यं विरागभावो दृष्टादृष्टेषु विषयेषु वैतृष्ण्यं समुपाश्रितः सम्यग् उपाश्रितो नित्यम् एव इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

तथा इस लोक और परलोकके भोगोंमें तृष्णाका अभावरूप जो वैराग्य है, उसके आश्रित होकर अर्थात् सदा वैराग्यसम्पन्न होकर ॥ ५२ ॥

किं च—

तथा—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

अहंकारम् अहंकरणम् अहंकारो देहेन्द्रियादिषु तम्, बलं सामर्थ्यं कामरागादियुक्तं न इतरत् शरीरादिसामर्थ्यं स्वाभाविकत्वेन त्यागस्य अशक्यत्वात् । दर्पो नाम हर्षानन्तरभावी धर्मातिक्रमहेतुः *'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति'* इति स्मरणात् तं च ।

अहंकार, बल और दर्पको छोड़कर—शरीर-इन्द्रियादिमे अहंभाव करनेका नाम 'अहंकार' है । कामना और आसक्तिसे युक्त जो सामर्थ्य है उसका नाम 'बल' है, यहाँ शरीरादिकी साधारण सामर्थ्यका नाम बल नहीं है, क्योंकि वह स्वाभाविक है इसलिये उसका त्याग अशक्य है, हर्षके साथ होनेवाला और धर्म-उल्लङ्घनका कारण जो गर्व है उसका नाम 'दर्प' है क्योंकि स्मृतिमे कहा है कि **'हर्षयुक्त पुरुष दर्प करता है, दर्प करनेवाला धर्मका उल्लङ्घन किया करता है'** इत्यादि ।

कामम् इच्छां क्रोधं द्वेषं परिग्रहम् इन्द्रियमनोगतदोषपरित्यागे अपि शरीरधारणप्रसङ्गेन धर्मानुष्ठाननिमित्तेन वा बाह्यः परिग्रहः प्राप्तः तं च विमुच्य परित्यज्य,

तथा इच्छाका नाम काम है, द्वेषका नाम क्रोध है, इनका और परिग्रहका भी त्याग करके अर्थात् इन्द्रिय और मनमे रहनेवाले दोषोका त्याग करनेके पश्चात् भी, शरीर-धारणके प्रसङ्गसे या धर्मानुष्ठानके निमित्तसे, जो बाह्य संग्रहकी प्राप्ति होती है उसका भी परित्याग करके,

परमहंसपरिव्राजको भूत्वा, देहजीवनमात्रे अपि निर्गतममभावो निर्ममः अत एव शान्त उपरतः । यः संहृतायासो यतिः ज्ञाननिष्ठो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय कल्पते समर्थो भवति ॥ ५३ ॥

तथा परमहंस परिव्राजक (संन्यासी) होकर, एवं देहजीवनमात्रमे भी ममतारहित और इसीलिये जो शान्त—उपरतियुक्त है, ऐसा जो सब परिश्रमोंसे रहित ज्ञाननिष्ठ यति है, वह ब्रह्मरूप होनेके योग्य होता है ॥ ५३ ॥

अनेन क्रमेण—

इस क्रमसे—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

ब्रह्मभूतो ब्रह्मप्राप्तः प्रसन्नात्मा लब्धाध्यात्मप्रसादो न शोचति किंचिद् अर्थवैकल्यम् आत्मनो वैगुण्यं च उद्दिश्य न शोचति न संतप्यते न काङ्क्षति ।

ब्रह्मको प्राप्त हुआ, प्रसन्नात्मा अर्थात् जिसको अध्यात्मप्रसाद लाभ हो चुका है ऐसा पुरुष, न शोक करता है और न आकाङ्क्षा ही करता है । अर्थात् न तो किसी पदार्थकी हानिके, या निज-सम्बन्धी विगुणताके उद्देश्यसे सन्ताप करता है और न किसी वस्तुको चाहता ही है ।

ब्रह्मभूतस्य अयं स्वभावः अनूद्यते न शोचति न काङ्क्षति इति ।

'न शोचति न काङ्क्षति' इस कथनसे ब्रह्मभूत पुरुषके स्वभावका अनुवादमात्र किया गया है ।

न हि अप्राप्तविषयाकाङ्क्षा ब्रह्मविद उपपद्यते । न हृष्यति इति वा पाठः ।

सम. सर्वेषु भूतेषु आत्मौपम्येन सर्वेषु भूतेषु सुखं दुःखं वा समम् एव पश्यति इत्यर्थो न आत्मसमदर्शनम् इह तस्य वक्ष्यमाणत्वात् *'भक्त्या मामभिजानाति'* इति ।

एवंभूतो ज्ञाननिष्ठो मद्भक्तिं मयि परमेश्वरे भक्तिं भजनं पराम् उत्तमां ज्ञानलक्षणां चतुर्थीं लभते *'चतुर्विधा भजन्ते माम्'* इति उक्तम् ॥५४॥

क्योंकि ब्रह्मवेत्तामे अप्राप्त विषयोंकी आकाङ्क्षा बन ही नहीं सकती । अथवा 'न काङ्क्षति' की जगह 'न हृष्यति' ऐसा पाठ समझना चाहिये ।

तथा जो सब भूतोंमे सम है, अर्थात् अपने सदृश सब भूतोंमे सुख और दु.खको जो समान देखता है । इस वाक्यमे आत्माको समभावसे देखना नहीं कहा है, क्योंकि वह तो **'भक्त्या मामभिजानाति'** इस पदसे आगे कहा जायगा ।

ऐसा ज्ञाननिष्ठ पुरुष, मुझ परमेश्वरकी भजनरूप पराभक्तिको पाता है, अर्थात् **'चतुर्विधा भजन्ते माम्'** इसमे जो चतुर्थ भक्ति कही गयी है उसको पाता है ॥ ५४ ॥

ततो ज्ञानलक्षणया—

उसके बाद उस ज्ञानलक्षणा—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् अहम् उपाधिकृतविस्तरभेदो यः च अहं विध्वस्तसर्वोपाधिभेद उत्तमपुरुष आकाशकल्पः तं माम् अद्वैतं चैतन्यमात्रैकरसम् अजम् अजरम् अमरम् अभयम् अनिधनं तत्त्वतः अभिजानाति ।

ततो माम् एवं तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं माम् एव ।

न अत्र ज्ञानानन्तरप्रवेशक्रिये भिन्ने विवक्षिते ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् इति, किं तर्हि, फलान्तराभावज्ञानमात्रम् एव, *'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'* इति उक्तत्वात् ।

ननु विरुद्धम् इदम् उक्तं ज्ञानस्य या परा निष्ठा तया माम् अभिजानाति इति । कथं विरुद्धम् इति चेद् उच्यते, यदा एव यस्मिन्

भक्तिसे मैं जितना हूँ और जो हूँ, उसको तत्त्वसे जान लेता है । अभिप्राय यह है कि मै जितना हूँ, यानी उपाधिकृत विस्तारभेदसे जितना हूँ और जो हूँ, यानी वास्तवमे समस्त उपाधिभेदसे रहित, उत्तमपुरुष और आकाशकी तरह (व्याप्त) जो मैं हूँ, उस अद्वैत, अजर, अमर, अभय और निधनरहित मुझको तत्त्वसे जान लेता है ।

फिर मुझे इस तरह तत्त्वसे जानकर तत्काल मुझमे ही प्रवेश कर जाता है ।

यहाँ 'ज्ञात्वा' 'विशते तदनन्तरम्' इस कथनसे ज्ञान और उसके अनन्तर प्रवेशक्रिया, यह दोनो भिन्न-भिन्न विवक्षित नही हैं । तो क्या है ? फलान्तरके अभावका ज्ञानमात्र ही विवक्षित है । क्योंकि **'क्षेत्रज्ञ भी तू मुझे ही समझ'** ऐसे कहा गया है ।

पू०—यह कहना विरुद्ध है कि ज्ञानकी जो परा निष्ठा है उससे मुझे जानता है । यदि कहो कि विरुद्ध कैसे है तो बतलाते हैं, जब ज्ञाताको

विषये ज्ञानम् उत्पद्यते ज्ञातुः तदा एव तं विषयम् अभिजानाति ज्ञाता इति न ज्ञाननिष्ठां ज्ञानावृत्तिलक्षणाम् अपेक्षते इति । ततः च ज्ञानेन न अभिजानाति ज्ञानावृत्त्या तु ज्ञाननिष्ठया अभिजानाति इति ।

जिस विषयका ज्ञान होता है, वह उसी समय उस विषयको जान लेता है, ज्ञानकी बारम्बार आवृत्ति करनारूप ज्ञाननिष्ठाकी अपेक्षा नहीं करता । इसलिये 'वह (ज्ञेय पदार्थको) ज्ञानसे नहीं जानता, ज्ञानावृत्तिरूप ज्ञाननिष्ठासे जानता है' यह कहना विरुद्ध है ।

न एष दोषो ज्ञानस्य स्वात्मोत्पत्तिपरिपाकहेतुयुक्तस्य प्रतिपक्षविहीनस्य यद् आत्मानुभवनिश्चयावसानत्वं तस्य निष्ठाशब्दाभिलापात् ।

उ०—यह दोष नहीं है, क्योंकि अपनी उत्पत्ति और परिपाकके हेतुओंसे युक्त, एवं विरोधरहित ज्ञानका जो अपने स्वरूपानुभवमें निश्चयरूपसे पर्यवसान—स्थित हो जाना है, उसीको निष्ठा शब्दसे कहा गया है ।

शास्त्राचार्योपदेशेन ज्ञानोत्पत्तिपरिपाकहेतुं सहकारिकारणं बुद्धिविशुद्ध्यादि अमानित्वादि च अपेक्ष्य जनितस्य क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वज्ञानस्य कर्त्रादिकारकभेदबुद्धिनिबन्धनसर्वकर्मसंन्याससहितस्य स्वात्मानुभवनिश्चयरूपेण यद् अवस्थानं सा परा ज्ञाननिष्ठा इति उच्यते ।

अभिप्राय यह, कि ज्ञानकी उत्पत्ति और परिपाकके हेतु, जो विशुद्ध-बुद्धि आदि और अमानित्वादि सहकारी कारण हैं, उनकी सहायतासे, शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न हुआ, जो 'मैं कर्ता हूँ, मेरा यह कर्म है' इत्यादि कारकभेदबुद्धिजनित समस्त कर्मोंके संन्याससहित क्षेत्रज्ञ और ईश्वरकी एकताका ज्ञान है, उसका जो अपने स्वरूपके अनुभवमें निश्चयरूपसे स्थित रहना है, उसे 'परा ज्ञान-निष्ठा' कहते हैं ।

सा इयं ज्ञाननिष्ठा आर्तादिभक्तित्रयापेक्षया परा चतुर्थी भक्तिः इति उक्ता । तया परया भक्त्या भगवन्तं तत्त्वतः अभिजानाति । यदनन्तरम् एव ईश्वरक्षेत्रज्ञभेदबुद्धिः अशेषतो निवर्तते । अतो ज्ञाननिष्ठालक्षणया भक्त्या माम् अभिजानाति इति वचनं न विरुध्यते ।

वही यह ज्ञाननिष्ठा 'आर्त' आदि तीन भक्तियोंकी अपेक्षासे चतुर्थ परा भक्ति कही गयी है । उस (ज्ञान-निष्ठारूप) परा भक्तिसे भगवान्‌को तत्त्वसे जानता है जिससे उसी समय ईश्वर और क्षेत्रज्ञविषयक भेदबुद्धि पूर्णरूपसे निवृत्त हो जाती है । इसलिये ज्ञाननिष्ठारूप भक्तिसे मुझे जानता है यह कहना विरुद्ध नहीं होता ।

अत्र च सर्वं निवृत्तिविधायि शास्त्रं वेदान्तेतिहासपुराणस्मृतिलक्षणम् अर्थवद् भवति ।

ऐसा मान लेनेसे वेदान्त, इतिहास, पुराण और स्मृतिरूप समस्त निवृत्तिविधायक शास्त्र, सार्थक हो जाते हैं अर्थात् उन सबका अभिप्राय सिद्ध हो जाता है ।

'विदित्वा व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृह०उ० ३ । ५ । १) *'तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः'* (ना०उ० २ । ७९) *'न्यास एवात्यरेचयत्'* (ना० उ० २ । ७८) इति संन्यासः कर्मणां न्यासो

'आत्माको जानकर (तीनों तरहकी एषणाओंसे) विरक्त होकर फिर भिक्षाचरण करते हैं,' 'पुरुषार्थका अन्तरंग साधन होनेके कारण संन्यास ही इन सब तपोंमें अधिक कहा गया है', 'अकेला संन्यास ही उन सबको उल्लंघन कर जाता है,' कर्मोंके त्यागका नाम संन्यास है,

'वेदानिमं च लोकममुं च परित्यज्य' (आप० ध० १ । २३ । १३) 'त्यज धर्ममधर्मं च' (महा० शां० ३२९ । ४०) इत्यादि । इह च दर्शितानि वाक्यानि ।

न च तेषां वाक्यानाम् आनर्थक्यं युक्तम् ।

न च अर्थवादत्वं स्वप्रकरणस्थत्वात् ।

प्रत्यगात्माविक्रियस्वरूपनिष्ठत्वात् च मोक्षस्य । न हि पूर्वसमुद्रं जिगमिषोः प्रातिलोम्येन प्रत्यक्समुद्रं जिगमिषुणा समानमार्गत्वं संभवति ।

प्रत्यगात्मविषयप्रत्ययसंतानकरणाभिनिवेशः च ज्ञाननिष्ठा । सा च प्रत्यक्समुद्रगमनवत् कर्मणा सहभावित्वेन विरुध्यते ।

पर्वतसर्षपयोः इव अन्तरवान् विरोधः प्रमाणविदां निश्चितः । तस्मात् सर्वकर्मसंन्यासेन एव ज्ञाननिष्ठा कार्या इति सिद्धम् ॥ ५५ ॥

'वेदोंको तथा इस लोक और परलोकको परित्याग करके' 'धर्म-अधर्मको छोड़' इत्यादि शास्त्रवाक्य है । तथा यहाँ भी (संन्यासपरक) बहुत-से वचन दिखाये गये हैं ।

उन सब वचनोंको व्यर्थ मानना उचित नहीं और अर्थवादरूप मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि वे अपने प्रकरणमें स्थित हैं ।

इसके सिवा अन्तरात्माके अविक्रियस्वरूपमें निश्चयरूपसे स्थित हो जाना ही मोक्ष है । इसलिये भी (पूर्वोक्त बात ही सिद्ध होती है) । क्योंकि पूर्वसमुद्रपर जानेकी इच्छावालेका उसके प्रतिकूल पश्चिमसमुद्रपर जानेकी इच्छावालेके साथ समान मार्ग नहीं हो सकता ।

अन्तरात्मविषयक प्रतीतिका निरन्तरता रखनेके आग्रहका नाम 'ज्ञाननिष्ठा' है । उसका कर्मोंके साथ रहना (पूर्वकी ओर जानेकी इच्छावालेके लिये) पश्चिमसमुद्रकी ओर जानेकी मार्गकी भाँति, विरुद्ध है ।

प्रमाणवेत्ताओंने उनका पर्वत और राईके समान भेद निश्चित किया है । सुतरां यह सिद्ध हुआ कि सर्वकर्म संन्यासपूर्वक ही ज्ञाननिष्ठा करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

स्वकर्मणा भगवतः अभ्यर्चनभक्तियोगस्य सिद्धिप्राप्तिः फलं ज्ञाननिष्ठायोग्यता । यन्निमित्ता ज्ञाननिष्ठा मोक्षफलावसाना स भगवद्भक्तियोगः अधुना स्तूयते शास्त्रार्थोपसंहारप्रकरणे शास्त्रार्थनिश्चयदार्ढ्याय—

अपने कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनारूप भक्ति-योगकी सिद्धि, अर्थात् फल, ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता है । जिस (भक्ति-योग) से होनेवाली ज्ञाननिष्ठा, अन्तमें मोक्षरूप फल देनेवाली होती है, उस भगवद्भक्ति-योगकी अब शास्त्राभिप्रायके उपसंहार-प्रकरणमें, शास्त्र-अभिप्रायके निश्चयको दृढ़ करनेके लिये स्तुति की जाती है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

सर्वकर्माणि प्रतिषिद्धानि अपि सदा कुर्वाणः अनुतिष्ठन् मद्व्यपाश्रयः अहं वासुदेव ईश्वरो

सदा सब कर्मोंको करनेवाला अर्थात् निषिद्ध कर्मोंको भी करनेवाला जो मद्व्यपाश्रय भक्त है—जिसका

व्यपाश्रयो यस्य स मद्व्यपाश्रयो मय्यर्पित-सर्वात्मभाव इत्यर्थः । सः अपि मत्प्रसादाद् **मम ईश्वरस्य प्रसादाद्** अवाप्नोति शाश्वत **नित्यं वैष्णवं** पदम् अव्ययम् ॥ ५६ ॥

मै वासुदेव ही पूर्ण आश्रय हूँ, ऐसा मुझे ही अपना सब कुछ अर्पण कर देनेवाला जो भक्त है, वह भी मुझ ईश्वरके अनुग्रहसे, विष्णुके शाश्वत—नित्य—अविनाशी पदको प्राप्त कर लेता है ॥ ५६ ॥

यस्माद् एवं तस्मात्—

जब कि यह बात है इसलिये—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

चेतसा **विवेकबुद्ध्या** सर्वकर्माणि **दृष्टादृष्टार्थानि** मयि **ईश्वरे** संन्यस्य *'यत्करोषि यदश्नासि'* **इति उक्तन्यायेन** मत्परः **अहं वासुदेवः परो यस्य तव स त्वं मत्परः सन्** बुद्धियोग **मयि समाहितबुद्धित्वं बुद्धियोगः तं बुद्धियोगम्** उपाश्रित्य **आश्रयः अनन्यशरणत्वं** मच्चित्तो **मयि एव चित्तं यस्य तव स त्वं मच्चित्तः** सततं **सर्वदा** भव ॥ ५७ ॥

तू दृष्ट और अदृष्ट फलवाले समस्त कर्मोंको विवेक बुद्धिसे अर्थात् **'यत्करोषि यदश्नासि'** इस श्लोकमे बतलाये हुए भावसे, मुझ ईश्वरमे समर्पण करके, तथा मेरे परायण होकर, अर्थात् मै वासुदेव ही जिसका पर (परमगति) हूँ, ऐसा होकर, मुझमे बुद्धिको स्थिर करनारूप बुद्धि-योगका आश्रय लेकर—बुद्धियोगके अनन्यशरण होकर, निरन्तर मुझमे चित्तवाला हो, अर्थात् जिसका निरन्तर मुझमे ही चित्त रहे, ऐसा हो ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि **सर्वाणि दुस्तराणि संसार-हेतुजातानि** मत्प्रसादात् तरिष्यसि **अतिक्रमिष्यसि ।** अथ चेद् **यदि** त्वं **मदुक्तम्** अहकारात् **पण्डितः अहम् इति** न श्रोष्यसि **न ग्रहीष्यसि ततः त्वं** विनङ्क्ष्यसि **विनाशं गमिष्यसि** ॥ ५८ ॥

मुझमे चित्तवाला होकर तू समस्त कठिनाइयों-को अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारके समस्त कारणों-को मेरे अनुग्रहसे तर जायगा—सबसे पार हो जायगा । परन्तु यदि तू मेरे कहे हुए वचनोको अहंकारसे 'मैं पण्डित हूँ' ऐसा समझकर, नहीं सुनेगा—ग्रहण नहीं करेगा, तो नष्ट हो जायगा—नाशको प्राप्त हो जायगा ॥ ५८ ॥

इदं च त्वया न मन्तव्यं स्वतन्त्रः अहं किमर्थं परोक्तं करिष्यामि इति—

तुझे यह भी नहीं समझना चाहिये, कि मैं स्वतन्त्र हूँ, दूसरेका कहना क्यों करूँ ?—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

यत् **च एतत् त्वम्** अहंकारम् आश्रित्य न योत्स्ये इति **न युद्धं करिष्यामि इति** मन्यसे **चिन्तयसि निश्चयं करोषि** मिथ्या एष व्यवसायो **निश्चयः** ते **तव यस्मात्** प्रकृतिः **क्षत्रस्वभावः** त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

जो तू अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है—ऐसा निश्चय कर रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा सो यह तेरा निश्चय मिथ्या है, क्योंकि तेरी प्रकृति—तेरा क्षत्रिय-स्वभाव तुझे युद्धमे नियुक्त कर देगा ॥५९॥

यस्मात् च—

क्योंकि—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

स्वभावजेन **शौर्यादिना यथोक्तेन** कौन्तेय निबद्धो **निश्चयेन बद्धः** स्वेन **आत्मीयेन** कर्मणा कर्तुं न इच्छसि यत् **कर्म** मोहाद् **अविवेकतः** करिष्यसि अवशः अपि **परवश एव** तत् **कर्म** ॥ ६० ॥

हे कौन्तेय ! तू उपर्युक्त शूरवीरता आदि अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा निबद्ध हुआ—दृढ़तासे बँधा हुआ है, इसलिये जो कर्म तू मोहसे—अविवेकके कारण नहीं करना चाहता है, वही कर्म विवश होकर करेगा ॥ ६० ॥

यस्मात्—

क्योंकि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

ईश्वरः **ईशनशीलो नारायणः** सर्वभूताना **सर्वप्राणिनां** हृद्देशे **हृदयदेशे** अर्जुन **शुक्लान्तरात्मस्वभावो विशुद्धान्तःकरण इति** । *'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च'* (ऋ० सं० ६ । ९ । १) **इति दर्शनात्** । तिष्ठति **स्थितिं लभते** ।

हे अर्जुन ! ईश्वर अर्थात् सबका शासन करनेवाला नारायण समस्त प्राणियोंके हृदयदेशमे स्थित है । जो शुक्ल स्वच्छ-शुद्ध अन्तरात्मा—स्वभाववाला हो अर्थात् पवित्र अन्तःकरणयुक्त हो उसका नाम अर्जुन है, क्योंकि **'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च'** इस कथनमे अर्जुन-शब्द शुद्धताका वाचक देखा गया है ।

स कथं तिष्ठति इति आह—

वह (ईश्वर) कैसे स्थित है ? सो कहते हैं—

भ्रामयन् **भ्रमणं कारयन्** सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि **यन्त्राणि आरूढानि अधिष्ठितानि इव**

समस्त प्राणियोंको, यन्त्रपर आरूढ हुई—चढ़ी हुई कठपुतलियोंकी भाँति, भ्रमाता हुआ—भ्रमण कराता

इति इवशब्दः अत्र द्रष्टव्यः । यथा दारुकृतपुरुषादीनि यन्त्रारूढानि मायया छद्मना भ्रामयन् तिष्ठति इति संबन्धः ॥ ६१ ॥

हुआ स्थित है । यहाँ इव (भाँति) शब्द अधिक समझना चाहिये, अर्थात् जैसे यन्त्रपर आरूढ कठपुतली आदिको (खिलाड़ी) मायासे भ्रमाता हुआ स्थित रहता है, उसी तरह ईश्वर सबके हृदयमें स्थित है, इस प्रकार इसका सम्बन्ध है ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

तम् एव ईश्वरं शरणम् आश्रयं संसारार्तिहरणार्थं गच्छ आश्रय सर्वभावेन सर्वात्मना हे भारत ततः तत्प्रसादाद् ईश्वरानुग्रहात् परां प्रकृष्टां शान्तिं पराम् उपरतिं स्थानं च मम विष्णोः परमं पदम् अवाप्स्यसि शाश्वतं नित्यम् ॥ ६२ ॥

हे भारत ! तू सर्वभावसे उस ईश्वरकी ही शरणमें जा अर्थात् संसारके समस्त क्लेशोंका नाश करनेके लिये मन, वाणी और शरीरद्वारा सब प्रकारसे उस ईश्वरका ही आश्रय ग्रहण कर । फिर उस ईश्वरके अनुग्रहसे परम—उत्तम शान्तिको, अर्थात् उपरतिको और शाश्वत स्थानको अर्थात् मुझ विष्णुके परम नित्यधामको प्राप्त करेगा ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

इति एतत् ते तुभ्यं ज्ञानम् आख्यातं कथितं गुह्याद् गोप्याद् गुह्यतरम् अतिशयेन गुह्यं रहस्यम् इत्यर्थो मया सर्वज्ञेन ईश्वरेण विमृश्य विमर्शनम् आलोचनं कृत्वा एतद् यथोक्तं शास्त्रम् अशेषेण समस्तं यथोक्तं च अर्थजातं यथा इच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

मुझ सर्वज्ञ ईश्वरने तुझसे यह गुह्यसे भी गुह्य अत्यन्त गोपनीय—रहस्ययुक्त ज्ञान कहा है । इस उपर्युक्त शास्त्रको, अर्थात् ऊपर कहे हुए समस्त अर्थको पूर्णरूपसे विचारकर—इसके विषयमें भली-प्रकार आलोचना करके, तेरी जैसी इच्छा हो वैसे ही कर ॥ ६३ ॥

भूयः अपि मया उच्यमानं शृणु—

फिर भी मैं जो कुछ कहता हूँ उसे सुन—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

सर्वगुह्यतमं सर्वगुह्येभ्यः अत्यन्तरहस्यम् उक्तम् अपि असकृद् भूयः पुनः शृणु मे मम परमं प्रकृष्टं वचो वाक्यम् ।

सर्व गुह्योंमें अत्यन्त गुह्य—रहस्ययुक्त मेरे परम उत्तम वचन तू फिर भी सुन, अर्थात् जो वचन मैंने पहले अनेक बार कहे हैं उनको तू फिरसे सुन ।

न भयाद् न अपि अर्थकारणाद् वा वक्ष्यामि किं तर्हि इष्टः प्रियः असि मे मम दृढम् अव्यभिचारेण इति कृत्वा ततः तेन कारणेन वक्ष्यामि कथयिष्यामि ते हितं परं ज्ञानप्राप्तिसाधनम्। तद् हि सर्वहितानां हिततमम् च ॥ ६४ ॥

मैं (जो कुछ कहूँगा वह) भयसे अथवा स्वार्थके लिये नहीं कहूँगा; किन्तु तू मेरा दृढ़ ऐकान्तिक प्रिय है, यह समझकर—केवल इसी कारणसे तेरे हितकी बात अर्थात् परम ज्ञान-प्राप्तिका साधन कहूँगा। क्योंकि यही साधन सब हितोंमें उत्तम हित है ॥ ६४ ॥

किं तद् इति आह—

वे वचन कौन-से हैं ? सो कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

मन्मना भव मच्चित्तो भव मद्भक्तो भव मद्भजनो भव मद्याजी मद्यजनशीलो भव मां नमस्कुरु नमस्कारम् अपि मम एव कुरु।

तू मुझमें मनवाला अर्थात् मुझमें चित्तवाला हो, मेरा भक्त अर्थात् मेरा ही भजन करनेवाला हो और मेरा ही पूजन करनेवाला हो, तथा मुझे ही नमस्कार कर, अर्थात् नमस्कार भी मुझे ही किया कर।

तत्र एवं वर्तमानो वासुदेवे एव सर्वसमर्पितसाध्यसाधनप्रयोजनो माम् एव एष्यसि आगमिष्यसि। सत्यं ते तत्र प्रतिजाने सत्यां प्रतिज्ञां करोमि एतस्मिन् वस्तुनि इत्यर्थः। यतः प्रियः असि मे।

इस प्रकार करता हुआ, अर्थात् मुझ वासुदेवमें ही (अपने) समस्त साध्य, साधन और प्रयोजनको समर्पण करके तू मुझे ही प्राप्त होगा। इस विषयमें मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्रिय है।

एवं भगवतः सत्यप्रतिज्ञत्वं बुद्ध्वा भगवद्भक्तेः अवश्यंभाविमोक्षफलम् अवधार्य भगवच्छरणैकपरायणो भवेद् इति वाक्यार्थः ॥ ६५ ॥

कहनेका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार भगवान्‌को सत्यप्रतिज्ञ जानकर तथा भगवान्‌की भक्तिका फल निःसन्देह—ऐकान्तिक मोक्ष है—यह समझकर, मनुष्यको केवल एकमात्र भगवान्‌की शरणमें ही तत्पर हो जाना चाहिये ॥ ६५ ॥

कर्मयोगनिष्ठायाः परमरहस्यम् ईश्वरशरणताम् उपसंहृत्य अथ इदानीं कर्मयोगनिष्ठाफलं सम्यग्दर्शनं सर्ववेदान्तविहितं वक्तव्यम् इति आह—

कर्मयोगनिष्ठाके परम रहस्य ईश्वरशरणागतिका उपसंहार करके, उसके पश्चात् अब कर्मयोगनिष्ठाका फलस्वरूप, समस्त वेदान्तोंमें कहा हुआ यथार्थ ज्ञान कहना है, इसलिये (भगवान्) बोले—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सर्वधर्मान् **सर्वे च ते धर्माः च सर्वधर्माः तान्। धर्मशब्देन अत्र अधर्मः अपि गृह्यते नैष्कर्म्यस्य विवक्षितत्वात्** *'नाविरतो दुश्चरितात्' (क०उ० १।२।२४)* *'त्यज धर्ममधर्मं च' (महा० शान्ति० ३२९। ४०)* **इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः।**

सर्वधर्मान् परित्यज्य **संन्यस्य सर्वकर्माणि इति एतत्।** माम् एकं **सर्वात्मानं समं सर्वभूतस्थम् ईश्वरम् अच्युतं गर्भजन्मजरामरणविवर्जितम् अहम् एव इति एवम् एकं** शरणं व्रज **न मत्तः अन्यद् अस्ति इति अवधारय इत्यर्थः।**

अहं त्वा **त्वाम् एवं निश्चितबुद्धिं** सर्वपापेभ्यः **सर्वधर्माधर्मबन्धनरूपेभ्यो** मोक्षयिष्यामि **स्वात्मभावप्रकाशीकरणेन। उक्तं च**—*'नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता'* **इति अतो** मा शुचः **शोकं मा कार्षीः इत्यर्थः॥ ६६॥**

समस्त धर्मोंको, अर्थात् जितने भी धर्म हैं उन सबको, यहाँ नैष्कर्म्य (कर्माभाव) का प्रतिपादन करना है इसलिये 'धर्म' शब्दसे अधर्मका भी ग्रहण किया जाता है। **'जो बुरे चरित्रोंसे विरक्त नहीं हुआ' 'धर्म और अधर्म दोनोंको छोड़'** इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे भी यही सिद्ध होता है।

सब धर्मोंको छोड़कर—सर्व कर्मोंका संन्यास करके, मुझ एककी शरणमें आ, अर्थात् मैं जो कि सबका आत्मा, समभावसे सर्व भूतोंमें स्थित, ईश्वर, अच्युत तथा गर्भ, जन्म, जरा और मरणसे रहित हूँ, उस एकके इस प्रकार शरण हो। अभिप्राय यह कि 'मुझ परमेश्वरसे अन्य कुछ है ही नहीं' ऐसा निश्चय कर।

तुझ इस प्रकार निश्चयवालेको मैं अपना स्वरूप प्रत्यक्ष कराके, समस्त धर्माधर्मबन्धनरूप पापोंसे मुक्त कर दूँगा। पहले कहा भी है कि—**'मैं हृदयमें स्थित हुआ प्रकाशमय ज्ञान-दीपकसे (अज्ञान-जनित अन्धकारका) नाश करता हूँ'** इसलिये तू शोक न कर अर्थात् चिन्ता मत कर॥ ६६॥

(शास्त्रके उपसंहारका प्रकरण)

अस्मिन् हि गीताशास्त्रे परं निःश्रेयससाधनं निश्चितं किं ज्ञानं किं कर्म वा आहोस्विद् उभयम् इति।

कुतः सन्देहः?

'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' **इत्यादीनि वाक्यानि केवलाद् ज्ञानाद् निःश्रेयसप्राप्तिं दर्शयन्ति** *'कर्मण्येवाधिकारस्ते' 'कुरु कर्मैव'* **इत्येवमादीनि कर्मणाम् अवश्यकर्तव्यतां दर्शयन्ति।**

एवं ज्ञानकर्मणोः कर्तव्यतोपदेशात् समुच्चितयोः अपि निःश्रेयसहेतुत्वं स्याद् इति भवेत् संशयः।

किं पुनरत्र मीमांसाफलम्।

यह विचार करना चाहिये कि इस गीताशास्त्रमें निश्चय किया हुआ, परम कल्याण (मोक्ष) का साधन ज्ञान है या कर्म, अथवा दोनों?

पू०—यह सन्देह क्यों होता है?

उ०—**'जिसको जानकर अमरता प्राप्त कर लेता है' 'तदनन्तर मुझे तत्त्वसे जानकर मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है'** इत्यादि वाक्य तो केवल ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति दिखला रहे हैं। तथा **'तेरा कर्ममें ही अधिकार है' 'तू कर्म ही कर'** इत्यादि वाक्य कर्मोंकी अवश्य-कर्तव्यता दिखला रहे हैं।

इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनोंकी कर्तव्यताका उपदेश होनेसे ऐसा संशय भी हो सकता है कि सम्भवतः दोनों समुच्चित (मिलकर) ही मोक्षके साधन होंगे।

पू०—परन्तु इस मीमांसाका फल क्या होगा?

ननु एतद् एव एषाम् अन्यतमस्य परमनिःश्रेयससाधनत्वावधारणम् । अतो विस्तीर्णतरं मीमांस्यम् एतत् ।

उ०—यही कि इन तीनोंमेंसे किसी एकको ही परम कल्याणका साधन निश्चय करना । अतः इसकी विस्तारपूर्वक मीमांसा कर लेनी चाहिये ।

(सिद्धान्तका प्रतिपादन)

आत्मज्ञानस्य तु केवलस्य निःश्रेयसहेतुत्वं भेदप्रत्ययनिवर्तकत्वेन कैवल्यफलावसानत्वात् ।

केवल आत्मज्ञान ही परम कल्याण (मोक्ष) का हेतु (साधन) है, क्योंकि भेद-प्रतीतिका निवर्तक होनेके कारण, कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति ही उसकी अवधि है ।

क्रियाकारकफलभेदबुद्धिः अविद्यया आत्मनि नित्यप्रवृत्ता मम कर्म अहं कर्ता अमुष्मै फलाय इदं कर्म करिष्यामि इति इयम् अविद्या अनादिकालप्रवृत्ता ।

आत्मामें क्रिया, कारक और फलविषयक भेद-बुद्धि अविद्याके कारण सदासे प्रवृत्त हो रही है । 'कर्म मेरे हैं, मैं उनका कर्त्ता हूँ, मैं अमुक फलके लिये यह कर्म करता हूँ' यह अविद्या अनादिकालसे प्रवृत्त हो रही है ।

अस्या अविद्याया निवर्तकम् अयम् अहम् अस्मि केवलः अकर्ता अक्रियः अफलो न मत्तः अन्यः अस्ति कश्चिद् इति एवंरूपम् आत्मविषयं ज्ञानम् उत्पद्यमानं कर्मप्रवृत्तिहेतुभूताया भेदबुद्धेः निवर्तकत्वात् ।

'यह केवल, (एकमात्र) अकर्ता, क्रियारहित और फलसे रहित आत्मा मैं हूँ, मुझसे भिन्न और कोई भी नहीं है' ऐसा आत्मविषयक ज्ञान इस अविद्याका नाशक है, क्योंकि यह उत्पन्न होते ही, कर्म-प्रवृत्तिकी हेतुरूप भेदबुद्धिका नाश करनेवाला है ।

तुशब्दः पक्षद्वयव्यावृत्त्यर्थो न केवलेभ्यः कर्मभ्यो न च ज्ञानकर्मभ्यां समुच्चिताभ्यां निःश्रेयसप्राप्तिः इति पक्षद्वयं निवर्तयति ।

उपर्युक्त वाक्यमें 'तु' शब्द दोनों पक्षोंकी निवृत्तिके लिये है अर्थात् मोक्ष न तो केवल कर्मसे मिलता है और न ज्ञान-कर्मके समुच्चयसे ही । इस प्रकार 'तु' शब्द दोनों पक्षोंका खण्डन करता है ।

अकार्यत्वात् च निःश्रेयसस्य कर्मसाधनत्वानुपपत्तिः । न हि नित्यं वस्तु कर्मणा ज्ञानेन वा क्रियते ।

मोक्ष अकार्य अर्थात् स्वतः सिद्ध है, इसलिये कर्मोंको उसका साधन मानना नहीं बन सकता । क्योंकि कोई भी नित्य (स्वतःसिद्ध) वस्तु कर्म या ज्ञानसे उत्पन्न नहीं की जाती ।

केवलं ज्ञानम् अपि अनर्थकं तर्हि ?

पू०—तब तो केवल ज्ञान भी व्यर्थ ही है ?

न अविद्यानिवर्तकत्वे सति दृष्टकैवल्यफलावसानत्वात् । अविद्यातमोनिवर्तकस्य ज्ञानस्य दृष्टं कैवल्यफलावसानत्वम् । रज्ज्वादिविषये सर्पाद्यज्ञानतमोनिवर्तकप्रदीप-

उ०—यह बात नहीं है, क्योंकि अविद्याका नाशक होनेके कारण उसकी मोक्षप्राप्तिरूप फलपर्यन्तता प्रत्यक्ष है । अर्थात् जैसे दीपकके प्रकाशका, रज्जु आदि वस्तुओंमें होनेवाली सर्पादिकी भ्रान्तिको और अन्धकारको, नष्ट कर देना ही फल है और जैसे उस प्रकाशका फल सर्पविषयक

प्रकाशफलवत्, विनिवृत्तसर्पविकल्परज्जु-कैवल्यावसानं हि प्रकाशफलं तथा ज्ञानम् ।

विकल्पको हटाकर, केवल रज्जुको प्रत्यक्ष कराके, समाप्त हो जाता है, वैसे ही अविद्यारूप अन्धकारके नाशक आत्मज्ञानका भी फल, केवल आत्मस्वरूपको प्रत्यक्ष कराके ही समाप्त होता देखा गया है ।

दृष्टार्थानां च छिदिक्रियाग्निमन्थनादीनां व्यापृतकर्त्रादिकारकाणां द्वैधीभावाग्निदर्शनादिफलाद् अन्यफले कर्मान्तरे व्यापारानुपपत्तिः यथा तथा ज्ञाननिष्ठाक्रियायां दृष्टार्थायां व्यापृतस्य ज्ञात्रादिकारकस्य आत्मकैवल्यफलाद् अन्यफले कर्मान्तरे प्रवृत्तिः अनुपपन्ना इति न ज्ञाननिष्ठा कर्मसहिता उपपद्यते ।

जिनका फल प्रत्यक्ष है, ऐसी जो लकडीको चीरना अथवा अरणीमन्थनद्वारा अग्नि उत्पन्न करना आदि क्रियाएँ है, उनमे लगे हुए कर्ता आदि कारकोकी, जैसे अलग-अलग टुकड़े हो जाना, अथवा अग्नि प्रज्वलित हो जाना आदि फलसे अतिरिक्त किसी अन्य फल देनेवाले कर्ममे प्रवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही जिसका फल प्रत्यक्ष है, ऐसी ज्ञाननिष्ठारूप क्रियामे लगे हुए ज्ञाता आदि कारकोकी भी आत्मकैवल्यरूप फलसे अतिरिक्त फलवाले किसी अन्य कर्ममे प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः ज्ञाननिष्ठा कर्मसहित नहीं हो सकती ।

भुज्यग्निहोत्रादिक्रियावत् स्याद् इति चेत् ।

न, कैवल्यफले ज्ञाने क्रियाफलार्थित्वानुपपत्तेः । कैवल्यफले हि ज्ञाने प्राप्ते सर्वतः-संप्लुतोदके फले कूपतडागादिक्रियाफलार्थित्वाभाववत् फलान्तरे तत्साधनभूतायां वा क्रियायाम् अर्थित्वानुपपत्तिः ।

यदि कहो कि भोजन और अग्निहोत्र आदि क्रियाओके समान (इसमे भी समुच्चय) हो सकता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि जिसका फल कैवल्य (मोक्ष) है, उस ज्ञानके प्राप्त होनेके पश्चात् कर्मफलकी इच्छा नहीं रह सकती, जैसे सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर कूप-तालाब आदिकी जलके लिये चाह नहीं रहती उसी प्रकार मोक्ष जिसका फल है, ऐसे ज्ञानकी प्राप्ति होनेके बाद क्षणिक सुखरूप फलान्तरकी या उसकी साधनभूत क्रियाकी इच्छुकता नहीं रह सकती ।

न हि राज्यप्राप्तिफले कर्मणि व्यापृतस्य क्षेत्रप्राप्तिफले व्यापारोपपत्तिः तद्विषयं च अर्थित्वम् ।

क्योंकि जो मनुष्य राज्य प्राप्त करा देनेवाले कर्ममे लगा हुआ है उसकी प्रवृत्ति, क्षेत्र-प्राप्ति ही जिसका फल है ऐसे कर्ममे नहीं होती और उस कर्मके फलकी इच्छा भी नहीं होती ।

तस्माद् न कर्मणः अस्ति निःश्रेयससाधनत्वम् । न च ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोः । न अपि ज्ञानस्य कैवल्यफलस्य कर्मसाहाय्यापेक्षा अविद्यानिवर्तकत्वेन विरोधात् ।

सुतरा यह सिद्ध हुआ, कि परम कल्याणका साधन न तो कर्म है और न ज्ञान-कर्मका समुच्चय ही है । तथा कैवल्य (मोक्ष) ही जिसका फल है, ऐसे ज्ञानको कर्मोंकी सहायता भी अपेक्षित नहीं है । क्योंकि ज्ञान अविद्याका नाशक है इसलिये उसका कर्मोसे विरोध है ।

न हि तमः तमसो निवर्तकम् अतः केवलम् एव ज्ञानं निःश्रेयससाधनम् इति ।

न, नित्याकरणे प्रत्यवायप्राप्तेः कैवल्यस्य च नित्यत्वात् । यत् तावत् केवलज्ञानात् कैवल्यप्राप्तिः इति एतद् असत् । यतो नित्यानां कर्मणां श्रुत्युक्तानाम् अकरणे प्रत्यवायो नरकादिप्राप्तिलक्षणः स्यात् ।

ननु एवं तर्हि कर्मभ्यो मोक्षो नास्ति इति अनिर्मोक्ष एव । न एष दोषः, नित्यत्वाद् मोक्षस्य । नित्यानां कर्मणाम् अनुष्ठानात् प्रत्यवायस्य अप्राप्तिः । प्रतिषिद्धस्य च अकरणाद् अनिष्टशरीरानुपपत्तिः । काम्यानां च वर्जनाद् इष्टशरीरानुपपत्तिः । वर्तमानशरीरारम्भकस्य च कर्मणः फलोपभोगक्षये पतिते अस्मिन् शरीरे देहान्तरोत्पत्तौ च कारणाभावाद् आत्मनो रागादीनां च अकरणात् स्वरूपावस्थानम् एव कैवल्यम् इति अप्रयत्नकैवल्यम् इति ।

अतिक्रान्तानेकजन्मान्तरकृतस्य स्वर्गनरकादिप्राप्तिफलस्य अनारब्धकार्यस्य उपभोगानुपपत्तेः क्षयाभाव इति चेत् ।

न, नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखोपभोगस्य तत्फलोपभोगत्वोपपत्तेः । प्रायश्चित्तवद् वा पूर्वोपात्तदुरितक्षयार्थत्वाद् नित्यकर्मणाम् । आरब्धानां च उपभोगेन एव कर्मणां क्षीणत्वाद् अपूर्वाणां च कर्मणाम् अनारम्भे अयत्नसिद्धं कैवल्यम् इति ।

यह प्रसिद्ध ही है कि अन्धकारका नाशक अन्धकार नहीं हो सकता । इसलिये केवल ज्ञान ही परम कल्याणका साधन है ।

पू०—यह सिद्धान्त ठीक नहीं, क्योंकि नित्यकर्मोंके न करनेसे प्रत्यवाय होता है और मोक्ष नित्य है । भाव यह कि—पहले जो यह कहा गया कि केवल ज्ञानसे ही मोक्ष मिलता है, ठीक नहीं, क्योंकि वेद-शास्त्रमे कहे हुए नित्यकर्मोंके न करनेसे नरकादिकी प्राप्तिरूप प्रत्यवाय होगा ।

यदि कहो कि ऐसा होनेसे तो कर्मोंसे छुटकारा ही न होगा, अतः मोक्षके अभावका प्रसङ्ग आ जायगा, तो ऐसा दोष नहीं है, क्योंकि मोक्ष नित्यसिद्ध है । नित्यकर्मोंका आचरण करनेसे तो प्रत्यवाय न होगा, निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे अनिष्ट (बुरे) शरीरोंकी प्राप्ति न होगी, काम्यकर्मोंका त्याग कर देनेके कारण इष्ट (अच्छे) शरीरोंकी प्राप्ति न होगी, तथा वर्तमान शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका, फलके उपभोगसे क्षय हो जानेपर, इस शरीरका नाश हो जानेके पश्चात्, दूसरे शरीरकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं रहनेसे तथा शरीरसम्बन्धी आसक्ति आदिके न करनेसे, जो स्वरूपमे स्थित हो जाना है वही कैवल्य है, अतः विना प्रयत्नके ही कैवल्य सिद्ध हो जायगा ।

उ०—किन्तु भूतपूर्व अनेक जन्मोंके किये हुए जो स्वर्ग-नरक आदिकी प्राप्तिरूप फल देनेवाले अनेक अनारब्धफल—सञ्चित कर्म है, उनके फलका उपभोग न होनेके कारण, उनका तो नाश नहीं होगा—ऐसा कहे तो ?

पू०—यह बात नहीं है, क्योंकि नित्यकर्मके अनुष्ठानमे होनेवाले परिश्रमरूप दुःखभोगको, उन कर्मोंके फलका उपभोग माना जा सकता है । अथवा प्रायश्चित्तकी भाँति नित्य कर्म भी पूर्वकृत पापका नाश करनेवाले मान लिये जायँगे तथा प्रारब्धकर्मका फलभोगसे नाश हो जायगा, फिर नये कर्मोंका आरम्भ न करनेसे 'कैवल्य' बिना यत्नके सिद्ध हो जायगा ।

न, '*तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय*' (श्वे० उ० ३ । ८) इतिविद्याया अन्यः पन्था मोक्षाय न विद्यते इति श्रुतेः चर्मवत् आकाशवेष्टनासंभववद् अविदुषो मोक्षासंभवश्रुतेः । ज्ञानात् कैवल्यम् आप्नोति इति च पुराणस्मृतेः ।

अनारब्धफलानां पुण्यानां कर्मणां क्षयानुपपत्तेः च । यथा पूर्वोपात्तानां दुरितानाम् अनारब्धफलानां संभवः तथा पुण्यानाम् अपि अनारब्धफलानां स्यात् संभवः । तेषां च देहान्तरम् अकृत्वा क्षयानुपपत्तौ मोक्षानुपपत्तिः ।

धर्माधर्महेतूनां च रागद्वेषमोहानाम् अन्यत्र आत्मज्ञानाद् उच्छेदानुपपत्तेः धर्माधर्मोच्छेदानुपपत्तिः ।

नित्यानां च कर्मणां पुण्यलोकफलश्रुतेः '*वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः*' (आ० सू० २ । २ । २ । ३) इत्यादिस्मृतेः च कर्मक्षयानुपपत्ति ।

ये तु आहुः नित्यानि कर्माणि दुःखरूपत्वाद् पूर्वकृतदुरितकर्मणां फलम् एव न तु तेषां स्वरूपव्यतिरेकेण अन्यत् फलम् अस्ति अश्रुतत्वाद् जीवनादिनिमित्ते च विधानाद् इति ।

न, अप्रवृत्तानां फलदानासंभवात्, दुःखफलविशेषानुपपत्तिः च स्यात् ।

उ०—यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि 'उस (परमात्मा) को जानकर ही मनुष्य मृत्युसे तरता है; मोक्ष-प्राप्तिके लिये दूसरा मार्ग नहीं है' इस प्रकार मोक्षके लिये विद्याके अतिरिक्त अन्य मार्गका अभाव बतलानेवाली श्रुति है । तथा जैसे चमड़ेकी भाँति आकाशको लपेटना असम्भव है, उसी प्रकार अज्ञानीकी मुक्ति असम्भव बतलानेवाली भी श्रुति है, एवं पुराण और स्मृतियोमे भी यही कहा गया है, कि ज्ञानसे ही कैवल्यकी प्राप्ति होती है ।

इसके सिवा (उस सिद्धान्तमे) जिनका फल मिलना आरम्भ नहीं हुआ है ऐसे पूर्वकृत पुण्योके नाशकी उपपत्ति न होनेसे भी, यह पक्ष ठीक नहीं है । अर्थात् जिस प्रकार पूर्वकृत सञ्चित पापोंका होना सम्भव है, उसी प्रकार सञ्चित पुण्योका होना भी सम्भव है ही, अतः देहान्तरको उत्पन्न किये बिना उनका क्षय सम्भव न होनेसे (इस पक्षके अनुसार) मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

इसके सिवा, पुण्य-पापके कारणरूप राग, द्वेष और मोह आदि दोषोका, बिना आत्मज्ञानके मूलोच्छेद होना सम्भव न होनेके कारण भी, पुण्य-पापका उच्छेद होना सम्भव नहीं ।

तथा श्रुतिमे नित्यकर्मोंका पुण्यलोककी प्राप्तिरूप फल बतलाया जानेके कारण और '**अपने कर्मोंमे स्थित वर्णाश्रमावलम्बी**' इत्यादि स्मृतिवाक्योद्वारा भी यही बात कही जानेके कारण भी कर्मोंका क्षय (मानना) सिद्ध नहीं होता ।

तथा जो यह कहते है, कि नित्यकर्म दुःखरूप होनेके कारण पूर्वकृत पापोका फल ही है, उनका अपने स्वरूपसे अतिरिक्त और कोई फल नहीं है, क्योंकि श्रुतिमे उनका कोई फल नहीं बतलाया गया तथा उनका 'विधान जीवननिर्वाह आदिके लिये किया गया है ।' उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो कर्म फल देनेके लिये प्रवृत्त नहीं हुए, उनका फल होना असम्भव है और नित्यकर्मके अनुष्ठानका परिश्रम, अन्य कर्मका फलविशेष है यह बात भी सिद्ध नहीं की जा सकेगी ।

यद् उक्तं पूर्वजन्मकृतदुरितानां कर्मणां फलं नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखं भुज्यते इति तद् असत्। न हि मरणकाले फलदानाय अनङ्कुरीभूतस्य कर्मणः फलम् अन्यकर्मारब्धे जन्मनि उपभुज्यते इति उपपत्तिः।

अन्यथा स्वर्गफलोपभोगाय अग्निहोत्रादिकर्मारब्धे जन्मनि नरककर्मफलोपभोगानुपपत्तिः न स्यात्।

तस्य दुरितदुःखविशेषफलत्वानुपपत्तेः च, अनेकेषु हि दुरितेषु संभवत्सु भिन्नदुःखसाधनफलेषु नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखमात्रफलेषु कल्प्यमानेषु द्वन्द्वरोगादिबाधानिमित्तं न हि शक्यते कल्पयितुं नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखम् एव पूर्वकृतदुरितफलं न शिरसा पाषाणवहनादिदुःखम् इति।

अप्रकृतं च इदम् उच्यते नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखं पूर्वकृतदुरितकर्मफलम् इति।

कथम्,

अप्रसूतफलस्य पूर्वकृतदुरितस्य क्षयो न उपपद्यते इति प्रकृतं तत्र प्रसूतफलस्य कर्मणः फलं नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखम् आह भवान् न अप्रसूतफलस्य इति।

तुमने जो यह कहा, कि पूर्वजन्मकृत पाप कर्मोंका फल, नित्यकर्मोंके अनुष्ठानमे होनेवाले परिश्रमरूप दुःखके द्वारा भोगा जाता है, सो ठीक नहीं। क्योंकि मरनेके समय जो कर्म भविष्यमे फल देनेके लिये अङ्कुरित नहीं हुए उनका फल दूसरे कर्मोंद्वारा उत्पन्न हुए शरीरमें भोगा जाता है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है।

यदि ऐसा न हो, तो स्वर्गरूप फलका भोग करनेके लिये अग्निहोत्रादि कर्मोंसे उत्पन्न हुए जन्ममे, नरकके कारणभूत कर्मोंका फल भोगा जाना भी, युक्तिविरुद्ध नहीं होगा।

इसके सिवा वह (नित्यकर्मके अनुष्ठानमे होनेवाला परिश्रमरूप दुःख) पापोंका फलरूप दु.खविशेष सिद्ध न हो सकनेके कारण भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकारके दुःखसाधनरूप फल देनेवाले, अनेक (सञ्चित) पापोंके होनेकी सम्भावना होते हुए भी, नित्यकर्म अनुष्ठानके परिश्रममात्रको ही उन सबका फल मान लेनेपर, शीतोष्णादि द्वन्द्वोंकी अथवा रोगादिकी पीड़ासे होनेवाले दुःखोंको पापोका फल नहीं माना जा सकेगा। तथा यह हो भी कैसे सकता है, कि नित्यकर्मके अनुष्ठानका परिश्रम ही पूर्वकृत पापोंका फल है, सिरपर पत्थर आदि ढोनेका दु.ख उसका फल नहीं!

इसके सिवा, नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे होनेवाला परिश्रमरूप दु.ख, पूर्वकृत पापोका फल है, यह कहना प्रकरणविरुद्ध भी है।

पू०—कैसे?

उ०—जो पूर्वकृत पाप, फल देनेके लिये अङ्कुरित नहीं हुए है, उनका क्षय नहीं हो सकता ऐसा प्रकरण है, उसमें तुमने, फल देनेके लिये प्रस्तुत हुए पूर्वकृत पापोका ही फल, नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे होनेवाला परिश्रमरूप दु.ख बतलाया है, जो कर्म फल देनेके लिये प्रस्तुत नहीं हुए है, उनका फल नहीं बतलाया।

अथ सर्वम् एव पूर्वकृतं दुरितं प्रसूतफलम् एव इति मन्यते भवान् ततो नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखम् एव फलम् इति विशेषणम् अयुक्तं नित्यकर्मविध्यानर्थक्यप्रसङ्गः च उपभोगेन एव प्रसूतफलस्य दुरितकर्मणः क्षयोपपत्तेः ।

किं च श्रुतस्य नित्यस्य दुःखं कर्मणः चेत् फलम्, नित्यकर्मानुष्ठानायासाद् एव तद् दृश्यते व्यायामादिवत् तद् अन्यस्य इति कल्पनानुपपत्तिः ।

जीवनादिनिमित्ते च विधानाद् नित्यानां कर्मणाम्, प्रायश्चित्तवत् पूर्वकृतदुरितफलत्वानुपपत्तिः । यस्मिन् पापकर्मनिमित्ते यद्विहितं प्रायश्चित्तं न तु तस्य पापस्य तत् फलम् । अथ तस्य एव पापस्य निमित्तस्य प्रायश्चित्तदुःखं फलं जीवनादिनिमित्तम् अपि नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखं जीवनादिनिमित्तस्य एव तत् फलं प्रसज्येत नित्यप्रायश्चित्तयोः नैमित्तिकत्वाविशेषात् ।

किं च अन्यद् नित्यस्य काम्यस्य च अग्निहोत्रादेः अनुष्ठानायासदुःखस्य तुल्यत्वाद् नित्यानुष्ठानायासदुःखम् एव पूर्वकृतदुरितस्य फलं न तु काम्यानुष्ठानायासदुःखम् इति विशेषो न अस्ति इति तद् अपि पूर्वकृतदुरितफलं प्रसज्येत ।

यदि तुम यह मानते हो, कि पूर्वकृत सभी पापकर्म, फल देनेके लिये प्रवृत्त हो चुके हैं, तो फिर नित्यकर्मोंके अनुष्ठानका परिश्रमरूप दु.ख ही उनका फल है, यह विशेषण देना अयुक्त ठहरता है । और नित्यकर्मविधायक शास्त्रको भी व्यर्थ माननेका प्रसङ्ग आ जाता है । क्योंकि फल देनेके लिये अङ्कुरित हुए पापोका तो उपभोगसे ही क्षय हो जायगा (उनके लिये नित्यकर्मोंकी क्या आवश्यकता है) ।

इसके सिवा (वास्तवमे) वेद विहित नित्यकर्मोंसे होनेवाला परिश्रमरूप दुःख यदि कर्मका फल हो तो वह उन (विहित नित्यकर्मों) का ही फल होना चाहिये; क्योकि वह व्यायाम आदिकी भाँति, उनके ही अनुष्ठानसे होता हुआ दिखलायी देता है, अतः यह कल्पना करना कि 'वह किसी अन्य कर्मका फल है' युक्तियुक्त नहीं है ।

नित्यकर्मोंका विधान जीवनादिके लिये किया गया है इसलिये भी नित्यकर्मोंको प्रायश्चित्तकी भाँति पूर्वकृत पापोका फल मानना युक्तियुक्त नहीं है । जिस पापकर्मके लिये जो प्रायश्चित्त विहित है, वह उस पापका फल नहीं है । तथापि यदि ऐसा माने, कि प्रायश्चित्तरूप दु.ख (जिसके लिये प्रायश्चित्त किया जाय) उस पापरूप निमित्तका ही फल होता है, तो जीवनादिके लिये किये जानेवाले नित्यकर्मोंका परिश्रमरूप दुःख भी, जीवन आदि हेतुओका ही फल सिद्ध होगा, क्योंकि नित्य और प्रायश्चित्त ये दोनो ही किसी-न-किसी निमित्तसे किये जानेवाले हैं, इनमे कोई भेद नहीं है ।

इसके सिवा दूसरा दोप यह भी है कि नित्यकर्मके परिश्रमकी और काम्यअग्निहोत्रादि कर्मके परिश्रमकी समानता होनेके कारण, नित्यकर्मका परिश्रम ही पूर्वकृत पापका फल है, काम्य-कर्मानुष्ठानका परिश्रमरूप दुःख उसका फल नहीं है, ऐसा माननेके लिये कोई विशेप कारण नहीं है, अत. वह काम्यकर्मका परिश्रमरूप दु ख भी, पूर्वकृत पापका ही फल माना जायगा ।

तथा च सति नित्यानां फलाश्रवणात् तद्विधानान्यथानुपपत्तेः च नित्यानुष्ठानायासदुःखं पूर्वकृतदुरितफलम् इति अर्थापत्तिकल्पना अनुपपन्ना।

एवं विधानान्यथानुपपत्तेः अनुष्ठानायासदुःखव्यतिरिक्तफलत्वानुमानात् च नित्यानाम्।

विरोधात् च। विरुद्धं च इदम् उच्यते नित्यकर्मणि अनुष्ठीयमाने अन्यस्य कर्मणः फलं भुज्यते इति अभ्युपगम्यमाने स एव उपभोगो नित्यस्य कर्मणः फलम् इति नित्यस्य कर्मणः फलाभाव इति च विरुद्धम् उच्यते।

किं च काम्याग्निहोत्रादौ अनुष्ठीयमाने नित्यम् अपि अग्निहोत्रादि तन्त्रेण एव अनुष्ठितं भवति इति तदायासदुःखेन एव काम्याग्निहोत्रादिफलम् उपक्षीणं स्यात् तत्तन्त्रत्वात्।

अथ काम्याग्निहोत्रादिफलम् अन्यद् एव स्वर्गादि तदनुष्ठानायासदुःखम् अपि भिन्नं प्रसज्येत। न च तद् अस्ति दृष्टविरोधात्। न हि काम्यानुष्ठानायासदुःखात् केवलनित्यानुष्ठानायासदुःखं भिद्यते।

किं च अन्यद् अविहितम् अप्रतिषिद्धं च कर्म तत्कालफलं न तु शास्त्रचोदितं प्रतिषिद्धं वा

ऐसा होनेसे 'नित्यकर्मोंका फल नहीं बतलाया गया है और उनके अनुष्ठानका विधान किया गया है, उस विधानकी अन्य प्रकारसे उपपत्ति न होनेके कारण, नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे होनेवाला दुःख, पूर्वकृत पापोका ही फल है,' इस प्रकारकी जो अर्थापत्तिकी कल्पना की गयी थी, उसका खण्डन हो गया।

इस तरह प्रकारान्तरसे नित्यकर्मोंके विधानकी अनुपपत्ति होनेसे और नित्यकर्मोंका अनुष्ठानसम्बन्धी परिश्रमरूप दु खके सिवा दूसरा फल होता है, ऐसा अनुमान होनेसे भी (यह पक्ष खण्डित हो जाता है)।

इसके सिवा ऐसा माननेमें विरोध होनेके कारण भी (यह पक्ष कट जाता है)। नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए दूसरे कर्मोंका फल भोगा जाता है, ऐसा मान लेनेसे यह कहना होता है कि वह उपभोग ही नित्यकर्मका फल है। और साथ ही यह भी प्रतिपादन करते जाते हो, कि नित्यकर्मका फल नहीं है, अतः यह कथन परस्पर विरुद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त, (तुम्हारे मतानुसार) काम्य-अग्निहोत्रादिका अनुष्ठान करते हुए तन्त्रसे नित्य-अग्निहोत्रादि भी उन्हींके साथ अनुष्ठित हो जाते हैं। अत· उस परिश्रमरूप दुःखभोगसे ही काम्य-अग्निहोत्रादिका फल भी क्षीण हो जायगा, क्योंकि वह उसके अधीन है।

यदि ऐसा माने कि काम्य-अग्निहोत्रादिका स्वर्गादि-प्राप्तिरूप दूसरा ही फल होता है तो उनके अनुष्ठानमें होनेवाले परिश्रमरूप दु·खको भी नित्यकर्मके परिश्रमसे भिन्न मानना आवश्यक होगा। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरुद्ध होनेके कारण यह नहीं हो सकता। क्योंकि काम्यकर्मोंके अनुष्ठानसे होनेवाले परिश्रमरूप दुःखसे, केवल नित्यकर्म-अनुष्ठानमे होनेवाले परिश्रमरूप दुःखका, भेद नहीं है।

इसके सिवा दूसरी बात यह भी है कि जो कर्म न विहित हो और न प्रतिषिद्ध हो, वही तत्काल फल देनेवाला होता है, शास्त्रविहित या प्रतिषिद्ध कर्म तत्काल फल देनेवाला नहीं होता। यदि ऐसा

तत्कालफलम् । भवेद् यदि तदा स्वर्गादिषु अपि अदृष्टफलशासने च उद्यमो न स्यात् ।

होता तो स्वर्ग आदि लोकोका प्रतिपादन करनेमे और अदृष्ट फलोके बतलानेमे शास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं होती ।

अग्निहोत्रादीनाम् एव कर्मस्वरूपाविशेषे अनुष्ठानायासदुःखमात्रेण उपक्षयः । काम्यानां च स्वर्गादिमहाफलत्वम् अङ्गेतिकर्तव्यताद्याधिक्ये तु असति फलकामित्वमात्रेण इति न शक्यं कल्पयितुम् ।

कर्मत्वमे किसी प्रकारका भेद न होनेपर तथा अंग और इतिकर्तव्यता आदिकी कोई विशेषता न होनेपर भी, केवल नित्य-अग्निहोत्रादिका फल तो अनुष्ठानजनित परिश्रमरूप दुःखके उपभोगसे क्षय हो जाता है और फलेच्छुकतामात्रकी अधिकतासे काम्य-अग्निहोत्रादिका स्वर्गादि महाफल होता है, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती ।

तस्माद् न नित्यानां कर्मणाम् अदृष्टफलाभावः कदाचिद् अपि उपपद्यते । अतः च अविद्यापूर्वकस्य कर्मणो विद्या एव शुभस्य अशुभस्य वा क्षयकारणम् अशेषतो न नित्यकर्मानुष्ठानम् ।

सुतरां नित्यकर्मोंका अदृष्ट फल नहीं होता यह बात कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अविद्यापूर्वक होनेवाले सभी शुभाशुभ कर्मोंका, अशेषतः नाश करनेवाला हेतु, विद्या (ज्ञान) ही है, नित्यकर्मका अनुष्ठान नहीं ।

अविद्याकामबीजं हि सर्वम् एव कर्म । तथा च उपपादितम् । अविद्वद्विषयं कर्म विद्वद्विषया च सर्वकर्मसंन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा ।

क्योंकि सभी कर्म, अविद्या और कामनामूलक हैं । ऐसा ही हमने सिद्ध किया है, कि अज्ञानीका विषय कर्म है और ज्ञानीका विषय सर्वकर्मसन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा है ।

'उभौ तौ न विजानीतः' 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' 'ज्ञानयोगेन सांख्याना कर्मयोगेन योगिनाम्' 'अज्ञाना कर्मसङ्गिनाम्' 'तत्त्ववित्तु' 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते' 'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' अर्थाद् अज्ञः करोमि इति ।

'उभौ तौ न विजानीत.' 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' 'अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' 'तत्त्ववित्तु' 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते' 'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इत्यादि वाक्योंके अर्थसे, यही सिद्ध होता है, कि अज्ञानी ही 'मैं कर्म करता हूँ' ऐसा मानता है (ज्ञानी नहीं) ।

आरुरुक्षोः कर्म कारणम् आरूढस्य योगस्थस्य शम एव कारणम् । उदाराः त्रयः अपि अज्ञाः, ज्ञानी तु आत्मा एव मे मतम् ।

आरुरुक्षुके लिये कर्म कर्तव्य बतलाये हैं और आरूढके लिये अर्थात् योगस्थ पुरुषके लिये उपशम कर्तव्य बतलाया है । तथा (ऐसा भी कहा है कि) 'तीनो प्रकारके अज्ञानी भक्त भी उदार हैं, पर ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मैं मानता हूँ ।'

अज्ञाः कर्मिणो गतागतं कामकामा लभन्ते । अनन्याः चिन्तयन्तो मां नित्ययुक्ता यथोक्तम् आत्मानम् आकाशकल्पम् अकल्मषम् उपासते ।

कर्म करनेवाले सकाम अज्ञानी लोग आवागमनको प्राप्त होते हैं और अनन्य भक्त नित्ययुक्त होकर चिन्तन करते हुए आत्मस्वरूप, आकाशके सदृश, शुद्ध निष्पाप परमात्माकी उपासना किया करते हैं ।

'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।' अर्थात् न कर्मिणः अज्ञा उपयान्ति ।

'उनको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं' इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म करनेवाले अज्ञानी भगवान्‌को प्राप्त नहीं होते ।

भगवत्कर्मकारिणो ये युक्ततमा अपि कर्मिणः अज्ञाः ते उत्तरोत्तरहीनफलत्यागावसानसाधनाः ।

भगवदर्थ कर्म करनेवाले जो युक्ततम होनेपर भी कर्मी होनेके नाते अज्ञानी हैं, वे चित्त-समाधानसे लेकर कर्मफलत्यागपर्यन्त उत्तरोत्तर हीन बतलाये हुए साधनोंसे युक्त होते हैं ।

अनिर्देश्याक्षरोपासकाः तु *'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'* इत्यादि आ-अध्यायपरिसमाप्ति उक्तसाधनाः क्षेत्राध्यायाद्यध्यायत्रयोक्तज्ञानसाधनाः च ।

तथा जो अनिर्देश्य अक्षरके उपासक हैं वे 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' आदिसे लेकर, बारहवें अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त बतलाये हुए साधनोंसे सम्पन्न और तेरहवें अध्यायसे लेकर तीन अध्यायोंमें बतलाये हुए ज्ञान-साधनोंसे भी युक्त होते हैं ।

अधिष्ठानादिपञ्चहेतुकसर्वकर्मसंन्यासिनाम् आत्मैकत्वाकर्तृत्वज्ञानवतां परस्यां ज्ञाननिष्ठायां वर्तमानानां भगवत्तत्त्वविदाम् अनिष्टादिकर्मफलत्रयं परमहंसपरिव्राजकानाम् एव लब्धभगवत्स्वरूपात्मैकत्वशरणानां न भवति । भवति एव अन्येषाम् अज्ञानां कर्मिणाम् असंन्यासिनाम् इति एष गीताशास्त्रोक्तस्य कर्तव्याकर्तव्यार्थस्य विभागः ।

अधिष्ठानादि पाँच जिसके कारण हैं, ऐसे समस्त कर्मोंका जो संन्यास करनेवाले हैं, जो आत्माके एकत्व और अकर्तृत्वको जाननेवाले हैं, जो ज्ञानकी परानिष्ठामें स्थित हो गये हैं, जो भगवत्स्वरूप और आत्माके एकत्वज्ञानकी शरण हो चुके हैं ऐसे भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले परमहंस परिव्राजकोंको इष्ट-अनिष्ट और मिश्र—ऐसा त्रिविध कर्मफल नहीं मिलता । इनसे अन्य जो संन्यास न करनेवाले कर्मपरायण अज्ञानी हैं, उनको कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है, यही गीताशास्त्रमें कहे हुए कर्तव्य और अकर्तव्यका विभाग है ।

अविद्यापूर्वकत्वं सर्वस्य कर्मणः असिद्धम् इति चेत् ।

पू०—सभी कर्मोंको अविद्यामूलक मानना युक्तिसङ्गत नहीं है ।

न, ब्रह्महत्यादिवत् । यद्यपि शास्त्रावगतं नित्यं कर्म तथापि अविद्यावत एव भवति ।

उ०—नहीं, ब्रह्महत्यादि निषिद्ध कर्मोंकी भाँति (सभी कर्म अविद्यामूलक हैं) नित्यकर्म यद्यपि शास्त्रप्रतिपादित हैं तो भी वे अविद्यायुक्त पुरुषके ही कर्म हैं ।

यथा प्रतिषेधशास्त्रावगतम् अपि ब्रह्महत्यादिलक्षणं कर्म अनर्थकारणम् अविद्याकामादिदोष-

जैसे प्रतिषेध-शास्त्रसे कहे हुए भी अनर्थके कारणरूप ब्रह्महत्यादि निषिद्ध कर्म अविद्या और कामनादि दोषोंसे युक्त पुरुषके द्वारा ही हो सकते हैं,

वतो भवति अन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः तथा नित्यनैमित्तिककाम्यानि अपि इति ।

व्यतिरिक्तात्मनि अज्ञाते प्रवृत्तिः नित्यादिकर्मसु अनुपपन्ना इति चेत् ।

न, चलनात्मकस्य कर्मणः अनात्मकर्तृकस्य अहं करोमि इति प्रवृत्तिदर्शनात् ।

देहादिसंघाते अहंप्रत्ययो गौणो न मिथ्या इति चेत् । न, तत्कार्येषु अपि गौणत्वोपपत्तेः ।

आत्मीये देहादिसंघाते अहंप्रत्ययो गौणो यथा आत्मीये पुत्रे *'आत्मा वै पुत्र नामासि'* (*तै० सं० २ । ११*) इति, लोके च अपि मम प्राण एव अयं गौः इति तद्वद् न एव अयं मिथ्याप्रत्ययः, मिथ्याप्रत्ययः तु स्थाणुपुरुषयोः अगृह्यमाणविशेषयोः ।

न गौणप्रत्ययस्य मुख्यकार्यार्थत्वम् अधिकरणस्तुत्यर्थत्वाद् लुप्तोपमाशब्देन ।

यथा सिंहो देवदत्तः अग्निः माणवक इति सिंह इव अग्निः इव क्रौर्यपैङ्गल्यादिसामान्यवत्त्वाद् देवदत्तमाणवकाधिकरणस्तुत्यर्थम् एव, न तु सिंहकार्यम् अग्निकार्यं वा गौणशब्दप्रत्यय-

क्योंकि दूसरी तरह उनमे प्रवृत्ति नहीं हो सकती । उसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक और काम्य आदि कर्म भी, अविद्या और कामनासे युक्त मनुष्यसे ही हो सकते है ।

पू०—परन्तु आत्माको शरीरसे पृथक् समझे बिना नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मोंमे प्रवृत्तिका होना असम्भव है ।

उ०—यह कहना ठीक नहीं, क्योकि आत्मा जिसका कर्ता नहीं है ऐसे चलनरूप कर्मंमे (अज्ञानियोकी) 'मै करता हूँ' ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है ।

यदि कहो कि शरीर आदिमे जो अहंभाव है वह गौण है, मिथ्या नहीं है । तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योकि ऐसा माननेसे उनके कार्यमे भी गौणता सिद्ध होगी ।

पू०—जैसे 'हे पुत्र ! तू मेरा आत्मा ही है' इस श्रुतिवाक्यके अनुसार, अपने पुत्रमे 'अहंभाव' होता है तथा संसारमे भी जैसे 'यह गौ मेरा प्राण ही है' इस प्रकार प्रिय वस्तुमे 'अहंभाव' होता देखा जाता है, उसी प्रकार अपने शरीरादि सघातमे भी अहंभाव गौण ही है । यह प्रतीति मिथ्या नहीं है । मिथ्या प्रतीति तो वह है कि जो स्थाणु और पुरुषके भेदको न जानकर स्थाणुमे पुरुषकी प्रतीति होती है ।

उ०—(यह कहना ठीक नहीं, क्योकि) गौण प्रयोग लुप्तोपमा शब्दद्वारा अधिकरणकी स्तुति करनेके लिये होता है, इसलिये गौण प्रतीतिसे मुख्यके कार्यकी सिद्धि नहीं होती ।

जैसे कोई कहे कि देवदत्त सिंह है, या बालक अग्नि है, तो उसका यह कहना, देवदत्त सिंहके सदृश क्रूर और बालक अग्निके समान पिङ्गल(गौर) वर्ण,' इस प्रकारकी समानताके कारण देवदत्त और बालकरूप अधिष्ठानकी स्तुतिके लिये ही है । क्योंकि गौण शब्द या गौण ज्ञानसे कोई सिंहका कार्य (किसीको भक्षण कर जाना) या अग्निका कार्य (किसीको जला डालना)

निमित्तं किंचित् साध्यते, मिथ्याप्रत्ययकार्यं तु अनर्थम् अनुभवति ।

गौणप्रत्ययविषयं च जानाति न एष सिंहो देवदत्तः स्याद् न अयम् अग्निः माणवक इति।

तथा गौणेन देहादिसंघातेन आत्मना कृतं कर्म न मुख्येन अहंप्रत्ययविषयेण आत्मना कृतं स्यात् । न हि गौणसिंहाग्निभ्यां कृतं कर्म मुख्यसिंहाग्निभ्यां कृतं स्यात् । न च क्रौर्येण पैङ्गल्येन वा मुख्यसिंहाग्न्योः कार्यं किंचित् क्रियते स्तुत्यर्थत्वेन उपक्षीणत्वात् ।

स्तूयमानौ च जानीतो न अहं सिंहो न अहम् अग्निः इति, न सिंहस्य कर्म मम अग्नेः च इति, तथा न संघातस्य कर्म मम मुख्यस्य आत्मन इति प्रत्ययो युक्ततरः स्याद् न पुनः अहं कर्ता मम कर्म इति ।

यत् च आहुः आत्मीयैः स्मृतीच्छाप्रयत्नैः कर्महेतुभिः आत्मा करोति इति । न, तेषां मिथ्याप्रत्ययपूर्वकत्वात् । मिथ्याप्रत्ययनिमित्तेष्टानिष्टानुभूतक्रियाफलजनितसंस्कारपूर्वका हि स्मृतीच्छाप्रयत्नादयः ।

यथा अस्मिन् जन्मनि देहादिसंघाताभिमानरागद्वेषादिकृतौ धर्माधर्मौ तत्फलानुभवः च तथा अतीते अतीततरे अपि जन्मनि इति

सिद्ध नहीं किया जा सकता । परन्तु मिथ्या प्रत्ययका कार्य (जन्म-मरणरूप) अनर्थ, (मनुष्य) अनुभव कर रहा है ।

इसके सिवा गौण प्रतीतिके विषयको मनुष्य ऐसा जानता भी है कि वास्तवमे यह देवदत्त सिंह नहीं है और यह बालक अग्नि नहीं है ।

(यदि उपर्युक्त प्रकारसे शरीरादि सघातमे भी आत्मभाव गौण होता तो) शरीरादिके संघातरूप गौण आत्माद्वारा किये हुए कर्म, अहंभावके मुख्य विषय आत्माके किये हुए नहीं माने जाते । क्योंकि गौण सिंह (देवदत्त) और गौण अग्नि (बालक) द्वारा किये हुए कर्म मुख्य सिंह और अग्निके नहीं माने जाते। तथा उस क्रूरता और पिङ्गलताद्वारा कोई मुख्य सिंह और मुख्य अग्निका कार्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे केवल स्तुतिके लिये कहे हुए होनेसे हीनशक्ति हैं ।

जिनकी स्तुति की जाती है वे (देवदत्त और बालक) भी यह जानते हैं कि 'मै सिंह नहीं हूँ,' 'मै अग्नि नहीं हूँ' तथा 'सिंहका कर्म मेरा नहीं है,' 'अग्निका कर्म मेरा नहीं है ।' इसी प्रकार (यदि शरीर आदिमे गौण भावना होती तो) संघातके कर्म मुझ मुख्य आत्माके नहीं है— ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिये थी, ऐसी नहीं कि 'मैं कर्ता हूँ ,' 'मेरे कर्म है' (सुतरा यह सिद्ध हुआ कि शरीरमे आत्मभाव गौण नहीं, मिथ्या है) ।

जो ऐसा कहते हैं कि अपने स्मृति, इच्छा और प्रयत्न इन कर्महेतुओंके द्वारा आत्मा कर्म किया करता है, उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि ये सब मिथ्या प्रतीतिपूर्वक ही होनेवाले हैं । अर्थात् स्मृति, इच्छा और प्रयत्न आदि सब मिथ्या प्रतीतिसे होनेवाले, इष्ट-अनिष्टरूप अनुभूत कर्मफलजनित संस्कारोंको, लेकर ही होते हैं ।

जिस प्रकार इस वर्तमान जन्ममे धर्म, अधर्म और उनके फलोंका अनुभव (सुख-दुःख:, शरीरादि संघातमें आत्मबुद्धि और राग-द्वेषादिद्वारा किये हुए होते हैं, वैसे ही भूतपूर्व जन्ममें और उससे पहलेके जन्मोंमें भी थे ।

अनादिः अविद्याकृतः संसारः अतीतः अनागतः च अनुमेयः ।

ततः च सर्वकर्मसंन्यासाद् ज्ञाननिष्ठायाम् आत्यन्तिकः संसारोपरम इति सिद्धम् । अविद्यात्मकत्वात् च देहाभिमानस्य तन्निवृत्तौ देहानुपपत्तेः संसारानुपपत्तिः ।

देहादिसंघाते आत्माभिमानः अविद्यात्मकः । न हि लोके गवादिभ्यः अन्यः अहं मत्तः च अन्ये गवादय इति जानन् तेषु अहम् इति प्रत्ययं मन्यते कश्चित् ।

अजानन् तु स्थाणौ पुरुषविज्ञानवद् अविवेकतो देहादिसंघाते कुर्याद् अहम् इति प्रत्ययं न विवेकतो जानन् ।

यः तु 'आत्मा वै पुत्र नामासि' (तै०स० २।११) इति पुत्रे अहंप्रत्ययः स तु जन्यजनकसंबन्धनिमित्तो गौणः । गौणेन च आत्मना भोजनादिवत् परमार्थकार्यं न शक्यते कर्तुं गौणसिंहाग्निभ्यां मुख्यसिंहाग्निकार्यवत् ।

अदृष्टविषयचोदनाप्रामाण्याद् आत्मकर्तव्यं गौणैः देहेन्द्रियात्मभिः क्रियते इति चेत् ।

न, अविद्याकृतात्मकत्वात् तेषाम् । न गौणा आत्मानो देहेन्द्रियादयः ।

इस न्यायसे यह अनुमान करना चाहिये कि यह बीता हुआ और आगे होनेवाला (जन्म-मरणरूप) ससार अनादि एव अविद्याकर्तृक ही है ।

इससे यह सिद्ध होता है, कि ज्ञाननिष्ठामे सर्वकर्मोंके सन्याससे ससारकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, क्योकि देहाभिमान अविद्यारूप है अत. उसकी निवृत्ति हो जानेपर शरीरान्तरकी प्राप्ति न होनेके कारण (जन्म-मरणरूप) ससारकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

शरीरादि संघातमे जो आत्माभिमान है वह अविद्यारूप है क्योकि ससारमे भी 'मै गौ आदिसे अन्य हूँ और गौ आदि वस्तुएँ मुझसे अन्य हैं' ऐसा जाननेवाला कोई भी मनुष्य उनमे ऐसी बुद्धि नहीं करता कि 'यह मै हूँ ।'

न जाननेवाला ही स्थाणुमे पुरुषकी भ्रान्तिके समान अविवेकके कारण, शरीरादि सघातमे 'मै हूँ' ऐसा आत्मभाव कर सकता है, पर विवेकपूर्वक जाननेवाला नहीं कर सकता ।

तथा पुत्रमे जो 'हे पुत्र ! तू मेरा आत्मा ही है' ऐसी आत्मबुद्धि है, वह जन्य-जनक-सम्बन्धके कारण होनेवाली गौण बुद्धि है, उस गौण आत्मा (पुत्र) से भोजन आदिकी भाँति कोई मुख्य कार्य नहीं किया जा सकता । जैसे कि गौण सिंह और गौण अग्निरूप देवदत्त और बालकद्वारा, मुख्य सिंह और मुख्य अग्निका कार्य नहीं किया जा सकता ।[1]

पू०—स्वर्गादि अदृष्ट पदार्थोंके लिये कर्मोंका विधान करनेवाली श्रुतिका प्रमाणत्व होनेसे, यह सिद्ध होता है कि शरीर-इन्द्रिय आदि गौण आत्माओंके द्वारा मुख्य आत्माके कार्य किये जाते हैं ।

उ०—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनका आत्मत्व अविद्याकर्तृक है । अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि गौण आत्मा नही है (किन्तु मिथ्या हैं) ।

१. जैसे पुत्रके भोजन करनेसे पिता तृप्त नहीं हो सकता उसी प्रकार गौण आत्मासे मुख्य आत्माका कोई भी कार्य नहीं हो सकता ।

कथं तर्हि ।

मिथ्याप्रत्ययेन एव असङ्गस्य आत्मनः सङ्गत्यात्मत्वम् आपाद्यते तद्भावे भावात् तदभावे च अभावात् ।

अविवेकिनां हि अज्ञानकाले बालानां दृश्यते दीर्घः अहं गौरः अहम् इति देहादिसंघाते अहंप्रत्ययो न तु विवेकिनाम् अन्यः अहं देहादिसंघाताद् इति ज्ञानवतां तत्काले देहादिसंघाते अहंप्रत्ययो भवति ।

तस्माद् मिथ्याप्रत्ययाभावे अभावात् तत्कृत एव न गौणः ।

पृथग्गृह्यमाणविशेषसामान्ययोः हि सिंहदेवदत्तयोः अग्निमाणवकयोः वा गौणः प्रत्ययः शब्दप्रयोगो वा स्याद् न अगृह्यमाणसामान्यविशेषयोः ।

यत् तु उक्तं श्रुतिप्रामाण्याद् इति । न, तत् प्रामाण्यस्य अदृष्टविषयत्वात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपलब्धे हि विषये अग्निहोत्रादिसाध्यसाधनसंबन्धे श्रुतेः प्रामाण्यं न प्रत्यक्षादिविषये अदृष्टदर्शनार्थत्वात् प्रामाण्यस्य ।

तस्माद् न दृष्टमिथ्याज्ञाननिमित्तस्य अहंप्रत्ययस्य देहादिसंघाते गौणत्वं कल्पयितुं शक्यम् ।

पू०—तो फिर (इनमें आत्मभाव) कैसे होता है ?

उ०—मिथ्या प्रतीतिसे ही सङ्गरहित आत्माकी सङ्गति मानकर, इनमें आत्मभाव किया जाता है; क्योंकि उस मिथ्याप्रतीतिके रहते हुए ही उनमें आत्मभावकी सत्ता है, उसके अभावसे आत्मभावनाका भी अभाव हो जाता है ।

अभिप्राय यह कि मूर्ख अज्ञानियोंका ही अज्ञानकालमें 'मैं बड़ा हूँ, मैं गौर हूँ' इस प्रकार शरीर-इन्द्रिय आदिके संघातमें आत्माभिमान देखा जाता है । परन्तु 'मैं शरीरादि संघातसे अलग हूँ' ऐसा समझनेवाले विवेकशीलोंकी, उस समय शरीरादि संघातमें अहं-बुद्धि नहीं होती ।

सुतरां, मिथ्याप्रतीतिके अभावसे देहात्मबुद्धिका अभाव हो जानेके कारण, यह सिद्ध होता है कि शरीरादिमें आत्मबुद्धि अविद्याकृत ही है, गौण नहीं ।

जिनकी समानता और विशेषता अलग-अलग समझ ली गयी है, ऐसे सिंह और देवदत्तमें या अग्नि और बालक आदिमें ही गौण प्रतीति या गौण शब्दका प्रयोग हो सकता है; जिनकी समानता और विशेषता नहीं समझी गयी उनमें नहीं ।

तुमने जो कहा कि श्रुतिको प्रमाणरूप माननेसे यह पक्ष सिद्ध होता है वह भी ठीक नहीं; क्योंकि उसकी प्रमाणता अदृष्टविषयक है । अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उपलब्ध न होनेवाले अग्निहोत्रादिके, साध्य, साधन और सम्बन्धके विषयमें ही श्रुतिकी प्रमाणता है, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उपलब्ध हो जानेवाले विषयोंमें नहीं । क्योंकि श्रुतिकी प्रमाणता अदृष्ट विषयको दिखलानेके लिये ही है (अर्थात् अप्रत्यक्ष विषयको बतलाना ही उसका काम है) ।

सुतरां देहादि-संघातमें, प्रत्यक्ष ही मिथ्या ज्ञानसे होनेवाली अहंप्रतीतिको, गौण मानना नहीं बन सकता ।

न हि श्रुतिशतम् अपि शीतः अग्निः अप्रकाशो वा इति ब्रुवत् प्रामाण्यम् उपैति। यदि ब्रूयात् शीतः अग्निः अप्रकाशो वा इति अथापि अर्थान्तरं श्रुतेः विवक्षितं कल्प्यं प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः न तु प्रमाणान्तरविरुद्धं स्ववचनविरुद्धं वा।

कर्मणो मिथ्याप्रत्ययवत्कर्तृकत्वात् कर्तुः अभावे श्रुतेः अप्रामाण्यम् इति चेत्।

न, ब्रह्मविद्यायाम् अर्थवत्त्वोपपत्तेः।

कर्मविधिश्रुतिवद् ब्रह्मविद्याविधिश्रुतेः। अप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेत्।

न, बाधकप्रत्ययानुपपत्तेः। यथा ब्रह्मविद्याविधिश्रुत्या आत्मनि अवगते देहादिसंघाते अहं प्रत्ययो बाध्यते तथा आत्मनि एव आत्मावगतिः न कदाचित् केनचित् कथंचिद् अपि बाधितुं शक्या फलाव्यतिरेकावगतेः यथा अग्निः उष्णः प्रकाशः च इति।

न च कर्मविधिश्रुतेः अप्रामाण्यम्, पूर्वपूर्वप्रवृत्तिनिरोधेन उत्तरोत्तरापूर्वप्रवृत्तिजननस्य प्रत्यगात्माभिमुख्यप्रवृत्त्युत्पादनार्थत्वात्। मिथ्यात्वे अपि उपायस्य उपेयसत्यतया सत्यत्वम् एव स्याद् यथा अर्थवादानां विधिशेषाणाम्।

क्योंकि 'अग्नि ठण्डा है या अप्रकाशक है' ऐसा कहनेवाली सैकड़ो श्रुतियाँ भी प्रमाणरूप नहीं मानी जा सकतीं। यदि श्रुति ऐसा कहे कि 'अग्नि ठण्डा है अथवा अप्रकाशक है' तो ऐसा मान लेना चाहिये कि श्रुतिको कोई और ही अर्थ अभीष्ट है। क्योंकि अन्य प्रकारसे उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंके विरुद्ध या श्रुतिके अपने वचनोंके विरुद्ध श्रुतिके अर्थकी कल्पना करना उचित नहीं।

पू०—कर्म, मिथ्या ज्ञानयुक्त पुरुषद्वारा ही किये जानेवाले है, ऐसा माननेसे वास्तवमे कर्ताका अभाव हो जानेके कारण श्रुतिकी अप्रमाणता (अनर्थकता) ही सिद्ध होती है ऐसा कहे तो?

उ०—नहीं, क्योंकि ब्रह्मविद्यामे उसकी सार्थकता सिद्ध होती है।

पू०—कर्मविधायक श्रुतिकी भाँति ब्रह्मविद्याविधायक श्रुतिकी अप्रमाणताका प्रसङ्ग आ जायगा, ऐसा माने तो?

उ०—यह ठीक नहीं, क्योंकि उसका कोई बाधक प्रत्यय नहीं हो सकता। अर्थात् जैसे ब्रह्मविद्याविधायक श्रुतिद्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जानेपर, देहादि संघातमे आत्मबुद्धि बाधित हो जाती है, वैसे आत्मामे ही होनेवाला आत्मभावका बोध किसीके द्वारा किसी भी कालमें किसी प्रकार भी बाधित नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह आत्मज्ञान स्वयं ही फल है, उससे भिन्न किसी अन्यफलकी प्राप्ति नहीं है, जैसे अग्नि उष्ण और प्रकाशस्वरूप है।

इसके सिवा (वास्तवमे) कर्मविधायक श्रुति भी अप्रामाणिक नहीं है, क्योंकि वह पूर्व-पूर्व (स्वाभाविक) प्रवृत्तियोको रोक-रोककर उत्तरोत्तर नयी-नयी (शास्त्रीय) प्रवृत्तिको उत्पन्न करती हुई (अन्तमें अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा साधकको) अन्तरात्माके सम्मुख करनेवाली प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। अतः उपाय मिथ्या होते हुए भी, उपेयकी सत्यतासे, उसकी सत्यता ही है; जैसे कि विधिवाक्यके अन्तमे कहे जानेवाले अर्थवादवाक्योंकी सत्यता मानी जाती है।

लोके अपि बालोन्मत्तादीनां पय आदौ पाययितव्ये चूडावर्धनादिवचनम् ।

लोकव्यवहारमे भी (देखा जाता है कि) उन्मत्त और बालक आदिको दूध आदि पिलानेके लिये चोटी बढ़ने आदिकी बात कही जाती है ।

प्रकारान्तरस्थानां च साक्षाद् एव प्रामाण्यसिद्धिः प्राग् आत्मज्ञानाद् देहाभिमाननिमित्तप्रत्यक्षादिप्रामाण्यवत् ।

तथा आत्मज्ञान होनेसे पहले, देहाभिमाननिमित्तक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके प्रमाणत्वकी भाँति प्रकारान्तरमे स्थित (कर्मविधायक) श्रुतियोंकी साक्षात् प्रमाणता भी सिद्ध होती है ।

यत् तु मन्यसे स्वयम् अव्याप्रियमाणः अपि आत्मा संनिधिमात्रेण करोति तद् एव च मुख्यं कर्तृत्वम् आत्मनः यथा राजा युध्यमानेषु योधेषु युध्यते इति प्रसिद्धं स्वयम् अयुध्यमानः अपि संनिधानाद् एव जितः पराजितः च इति च तथा सेनापतिः वाचा एव करोति क्रियाफलसंबन्धः च राज्ञः सेनापतेः च दृष्टः, यथा च ऋत्विक्कर्म यजमानस्य, तथा देहादीनां कर्म आत्मकृतं स्यात् तत्फलस्य आत्मगामित्वात् ।

तुम जो यह मानते हो, कि आत्मा स्वयं क्रिया न करता हुआ भी सन्निधिमात्रसे कर्म करता है, यही आत्माका मुख्य कर्तापन है । जैसे राजा स्वयं युद्ध न करते हुए भी सन्निधिमात्रसे ही अन्य योद्धाओंके युद्ध करनेसे 'राजा युद्ध करता है' ऐसे कहा जाता है तथा 'वह जीत गया, हार गया' ऐसे भी कहा जाता है। इसी प्रकार सेनापति भी केवल वाणीसे ही आज्ञा करता है । फिर भी राजा और सेनापतिका उस क्रियाके फलसे सम्बन्ध होता देखा जाता है । तथा जैसे ऋत्विक्के कर्म यजमानके माने जाते है, वैसे ही देहादि संघातके कर्म आत्मकृत हो सकते हैं, क्योंकि उनका फल आत्माको ही मिलता है ।

यथा च भ्रामकस्य लोहभ्रामयितृत्वाद् अव्यापृतस्य एव मुख्यम् एव कर्तृत्वं तथा च आत्मन इति ।

तथा जैसे भ्रामक (भ्रमण करानेवाला चुम्बक) स्वयं क्रिया नहीं करता, तो भी वह लोहेका चलानेवाला है, इसलिये उसीका मुख्य कर्तापन है, वैसे ही आत्माका मुख्य कर्तापन है ।

तद् असत्, अकुर्वतः कारकत्वप्रसङ्गात् ।

ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योकि ऐसा माननेसे न करनेवालेको कारक माननेका प्रसङ्ग आ जायगा ।

कारकम् अनेकप्रकारम् इति चेत् । न, राजप्रभृतीनां मुख्यस्य अपि कर्तृत्वस्य दर्शनात् । राजा तावत् स्वव्यापारेण अपि युध्यते योधानां योधयितृत्वेन धनदानेन च मुख्यम् एव कर्तृत्वं तथा जयपराजयफलोपभोगे ।

यदि कहो कि कारक तो अनेक प्रकारके होते है, तो भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं; क्योंकि राजा आदिका मुख्य कर्तापन भी देखा जाता है । अर्थात् राजा अपने निजी व्यापारद्वारा भी युद्ध करता है । तथा योद्धाओंसे युद्ध कराने और उन्हें धन देनेसे भी निःसन्देह उसका मुख्य कर्तापन है, उसी प्रकार जय-पराजय आदि फलभोगोंमें भी उसकी मुख्यता है ।

तथा यजमानस्य अपि प्रधानत्यागेन दक्षिणादानेन च मुख्यम् एव कर्तृत्वम् ।

वैसे ही यजमानका भी प्रधान आहुति स्वयं देनेके कारण और दक्षिणा देनेके कारण निःसन्देह मुख्य कर्तृत्व है ।

तस्माद् अव्यापृतस्य कर्तृत्वोपचारो यः स गौण इति अवगम्यते । यदि मुख्यं कर्तृत्वं स्वव्यापारलक्षणं न उपलभ्यते राजयजमानप्रभृतीनां तदा सन्निधिमात्रेण अपि कर्तृत्वं मुख्यं परिकल्प्येत यथा भ्रामकस्य लोहभ्रामणेन न तथा राजयजमानादीनां स्वव्यापारो न उपलभ्यते । तस्मात् संनिधिमात्रेण अपि कर्तृत्वं गौणम् एव ।

इससे यह निश्चित होता है कि क्रियारहित वस्तुमे जो कर्तापनका उपचार है वह गौण है । यदि राजा और यजमान आदिमे स्वव्यापाररूप मुख्य कर्तापन न पाया जाता तो उनका सन्निधिमात्रसे भी मुख्य कर्तापन माना जा सकता था, जैसे कि लोहेको चलानेमे चुम्बकका सन्निधिमात्रसे मुख्य कर्तापन माना जाता है, परन्तु चुम्बककी भाँति राजा और यजमानका स्वव्यापार उपलब्ध न होता हो—ऐसी बात नहीं है । सुतरां सन्निधिमात्रसे जो कर्तापन है वह भी गौण ही है ।

तथा च सति तत्फलसंबन्धः अपि गौण एव स्यात् । न गौणेन मुख्यं कार्यं निर्वर्त्यते । तस्माद् असद् एव एतद् गीयते देहादीनां व्यापारेण अव्यापृत आत्मा कर्ता भोक्ता च स्याद् इति ।

ऐसा होनेसे उसके फलका सम्बन्ध भी गौण ही होगा, क्योंकि गौण कर्ताद्वारा मुख्य कार्य नहीं किया जा सकता । अतः यह मिथ्या ही कहा जाता है कि 'निष्क्रिय आत्मा देहादिकी क्रियासे कर्ता-भोक्ता हो जाता है ।'

भ्रान्तिनिमित्तं तु सर्वम् उपपद्यते । यथा स्वप्ने मायायां च एवम् । न च देहाद्यात्मप्रत्ययभ्रान्तिसंतानविच्छेदेषु सुषुप्तिसमाध्यादिषु कर्तृत्वभोक्तृत्वादिः अनर्थ उपलभ्यते ।

परन्तु भ्रान्तिके कारण सब कुछ हो सकता है । जैसे कि स्वप्न और मायामे होता है । परन्तु शरीरादिमे आत्मबुद्धिरूप अज्ञान-सन्ततिका विच्छेद हो जानेपर, सुषुप्ति और समाधि आदि अवस्थाओमे कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थ उपलब्ध नहीं होता ।

तस्माद् भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्त एव अयं संसारभ्रमो न तु परमार्थ इति सम्यग्दर्शनाद् अत्यन्तम् एव उपरम इति सिद्धम् ॥ ६६ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ, कि यह संसारभ्रम मिथ्या ज्ञान-निमित्तक ही है, वास्तविक नहीं, अतः पूर्ण तत्त्वज्ञानसे उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है ॥ ६६ ॥

सर्वं गीताशास्त्रार्थम् उपसंहृत्य अस्मिन् अध्याये विशेषतः च अन्ते इह शास्त्रार्थदार्ढ्याय संक्षेपत उपसंहारं कृत्वा अथ इदानीं शास्त्रसम्प्रदायविधिम् आह—

इस अठारहवे अध्यायमें समस्त गीताशास्त्रके अर्थका उपसंहार करके फिर विशेषरूपसे इस अन्तिम श्लोकमे शास्त्रके अभिप्रायको दृढ करनेके लिये संक्षेपसे उपसंहार करके, अब शास्त्र-सम्प्रदायकी विधि बतलाते हैं ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

इदं शास्त्रं ते तव हिताय मया उक्तं संसारविच्छित्तये अतपस्काय तपोरहिताय न वाच्यम् इति व्यवहितेन संबध्यते ।

तपस्विने अपि अभक्ताय गुरुदेवभक्तिरहिताय कदाचन कस्यांचिद् अपि अवस्थायां न वाच्यम् ।

भक्तः तपस्वी अपि सन् अशुश्रूषुः यो भवति तस्मै अपि न वाच्यम् ।

न च यो मां वासुदेवं प्राकृतं मनुष्यं मत्वा अभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेन मम ईश्वरत्वम् अजानन् न सहते असौ अपि अयोग्यः तस्मै अपि न वाच्यम् ।

भगवति भक्ताय तपस्विने शुश्रूषवे अनसूयवे च वाच्यं शास्त्रम् इति सामर्थ्याद् गम्यते ।

तत्र मेधाविने तपस्विने वा इति अनयोः विकल्पदर्शनात् शुश्रूषाभक्तियुक्ताय तपस्विने तद्युक्ताय मेधाविने वा वाच्यम् । शुश्रूषाभक्तिवियुक्ताय न तपस्विने न अपि मेधाविने वाच्यम् ।

भगवति असूयायुक्ताय समस्तगुणवते अपि न वाच्यम् । गुरुशुश्रूषाभक्तिमते च वाच्यम् इति एष शास्त्रसम्प्रदायविधिः ॥६७॥

तेरे हितके लिये अर्थात् संसारका उच्छेद करनेके लिये, कहा हुआ यह शास्त्र, तपरहित मनुष्यको नहीं सुनाना चाहिये । इस प्रकार 'वाच्यम्' इस व्यवधानयुक्त पदसे 'न' का सम्बन्ध है ।

तपस्वी होनेपर भी जो अभक्त हो अर्थात् गुरु या देवतामें भक्ति रखनेवाला न हो उसे कभी—किसी अवस्थामें भी नहीं सुनाना चाहिये ।

भक्त और तपस्वी होकर भी जो शुश्रूषु (सुननेका इच्छुक) न हो उसे भी नहीं सुनाना चाहिये ।

तथा जो मुझ वासुदेवको प्राकृत मनुष्य मानकर, मुझमें दोष-दृष्टि करता हो, मुझे ईश्वर न जाननेसे, मुझमे आत्मप्रशंसादि दोषोंका अध्यारोप करके, मेरे ईश्वरत्वको सहन न कर सकता हो वह भी अयोग्य है, उसे भी (यह शास्त्र) नहीं सुनाना चाहिये ।

अर्थापत्तिसे यह निश्चय होता है कि यह शास्त्र भगवान्‌मे भक्ति रखनेवाले, तपस्वी, शुश्रूषायुक्त और दोष-दृष्टिरहित पुरुषको ही सुनाना चाहिये ।

अन्य स्मृतियोमे मेधावीको या तपस्वीको, इस प्रकार इन दोनोका विकल्प देखा जाता है, इसलिये यह समझना चाहिये कि शुश्रूषा और भक्तियुक्त तपस्वीको अथवा इन तीनो गुणोंसे युक्त मेधावीको यह शास्त्र सुनाना चाहिये। शुश्रूषा और भक्तिसे रहित तपस्वी या मेधावी किसीको भी नहीं सुनाना चाहिये ।

भगवान्‌में दोष-दृष्टि रखनेवाला तो यदि सर्वगुणसम्पन्न हो, तो भी उसे नहीं सुनाना चाहिये । गुरु-शुश्रूषा और भक्तियुक्त पुरुषको ही सुनाना चाहिये । इस प्रकार यह शास्त्र-सम्प्रदायकी विधि है ॥ ६७ ॥

संप्रदायस्य कर्तुः फलम् इदानीम् आह—

अब इस शास्त्र-परम्पराको चलानेवालोंके लिये फल बतलाते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

य इमं यथोक्तं परमं निःश्रेयसार्थं केशवार्जुनयोः संवादरूपं ग्रन्थं गुह्यं गोप्यं मद्भक्तेषु मयि भक्तिमत्सु अभिधास्यति वक्ष्यति ग्रन्थतः अर्थतः च स्थापयिष्यति इत्यर्थः । यथा त्वयि मया ।

भक्तेः पुनः ग्रहणात् तद्भक्तिमात्रेण केवलेन शास्त्रसंप्रदाने पात्रं भवति इति गम्यते ।

कथम् अभिधास्यति इति उच्यते—

भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोः शुश्रूषा मया क्रियते इति एवं कृत्वा इत्यर्थः । तस्य इदं फलं माम् एव एष्यति मुच्यते एव अत्र संशयो न कर्तव्यः ॥ ६८ ॥

जो मनुष्य, परम कल्याण जिसका फल है ऐसे इस उपर्युक्त कृष्णार्जुन-संवादरूप अत्यन्त गोप्य गीताग्रन्थको मुझमें भक्ति रखनेवाले भक्तोंमें सुनावेगा—ग्रन्थरूपसे या अर्थरूपसे स्थापित करेगा, अर्थात् जैसे मैने तुझे सुनाया है वैसे ही सुनावेगा—

यहाँ भक्तिका पुनः ग्रहण होनेसे यह पाया जाता है कि मनुष्य केवल भगवान्‌की भक्तिसे ही शास्त्र-प्रदानका पात्र हो जाता है ।

कैसे सुनावेगा, सो बतलाते हैं—

मुझमे पराभक्ति करके, अर्थात् परमगुरु भगवान्‌की मै यह सेवा करता हूँ ऐसा समझकर, (जो इसे सुनावेगा) उसका यह फल है कि वह मुझे ही प्राप्त हो जायगा अर्थात् निःसन्देह मुक्त हो जायगा—इसमे संशय नहीं करना चाहिये ॥ ६८ ॥

किं च—

तथा—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

न च तस्मात् शास्त्रसंप्रदायकृतो मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये कश्चिद् मे मम प्रियकृत्तमः अतिशयेन प्रियकृत् ततः अन्यः प्रियकृत्तमो न अस्ति एव इत्यर्थो वर्तमानेषु । न च भविता भविष्यति अपि काले तस्माद् द्वितीयः अन्यः प्रियतरो भुवि लोके अस्मिन् ॥ ६९ ॥

उस गीताशास्त्रकी परम्परा चलानेवाले भक्तसे बढ़कर, मेरा अधिक प्रिय कार्य करनेवाला, मनुष्योंमें कोई भी नहीं है । अर्थात् वह मेरा अतिशय प्रिय करनेवाला है, वर्तमान मनुष्योंमे उससे बढ़कर प्रियतम कार्य करनेवाला और कोई नहीं है, तथा भविष्यमें भी इस भूलोकमें उससे बढ़कर प्रियतर कोई दूसरा नहीं होगा ॥ ६९ ॥

यः अपि—

जो भी कोई—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

अध्येष्यते च पठिष्यति य इम धर्म्यं धर्माद् अनपेतं संवादरूपं ग्रन्थम् आवयोः तेन इदं कृतं स्यात् । ज्ञानयज्ञेन विधिजपोपांशुमानसानां यज्ञानां ज्ञानयज्ञो मानसत्वाद् विशिष्टतम इति अतः तेन ज्ञानयज्ञेन गीताशास्त्रस्य अध्ययनं स्तूयते ।

फलविधिः एव वा देवतादिविषयज्ञानयज्ञफलतुल्यम् अस्य फलं भवति इति ।

तेन अध्ययनेन अहम् इष्टः पूजितः स्यां भवेयम् इति मे मम मतिः निश्चयः ॥ ७० ॥

जो मनुष्य, हम दोनोंके संवादरूप इस धर्मयुक्त गीताग्रन्थको पढेगा, उसके द्वारा यह होगा कि मैं ज्ञानयज्ञसे (पूजित होऊँगा), विधियज्ञ, जपयज्ञ, उपांशुयज्ञ और मानसयज्ञ—इन चार यज्ञोंमें ज्ञानयज्ञ मानस है इसलिये श्रेष्ठतम है। अतः उस ज्ञानयज्ञकी समानतासे गीताशास्त्रके अध्ययनकी स्तुति करते हैं।

अथवा यों समझो कि यह फल-विधि है यानी इसका फल देवतादिविषयक ज्ञानयज्ञके समान होता है—

उस अध्ययनसे मैं (ज्ञानयज्ञद्वारा) पूजित होता हूँ, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ ७० ॥

अथ श्रोतुः इदं फलम्—

तथा श्रोताको यह (आगे बतलाया जानेवाला) फल मिलता है—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

श्रद्धावान् श्रद्दधानः अनसूयः च असूयावर्जितः सन् इमं ग्रन्थं शृणुयादपि यो नरः अपिशब्दात् किमुत अर्थज्ञानवान् सः अपि पापाद् मुक्तः शुभान् प्रशस्तान् लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् अग्निहोत्रादिकर्मवताम् ॥ ७१ ॥

जो मनुष्य, इस ग्रन्थको श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिरहित होकर केवल सुनता ही है, वह भी पापोंसे मुक्त होकर, पुण्यकारियोंके अर्थात् अग्निहोत्रादि श्रेष्ठकर्म करनेवालोंके, शुभ लोकोंको प्राप्त हो जाता है। अपि-शब्दसे यह पाया जाता है कि अर्थ समझनेवालेकी तो बात ही क्या है ? ॥७१॥

शिष्यस्य शास्त्रार्थग्रहणाग्रहणविवेकबुभुत्सया पृच्छति । तदग्रहणे ज्ञाते पुनः ग्राहयिष्यामि उपायान्तरेण अपि इति प्रष्टुः अभिप्रायः ।

शिष्यने शास्त्रका अभिप्राय ग्रहण किया या नहीं, यह विवेचन करनेके लिये भगवान् पूछते हैं। इसमें पूछनेवालेका यह अभिप्राय है, कि शास्त्रका अभिप्राय श्रोताने ग्रहण नहीं किया है—यह मालूम होनेपर, फिर किसी और उपायसे ग्रहण कराऊँगा ।

यत्नान्तरम् आस्थाय शिष्यः कृतार्थः कर्तव्य इति आचार्यधर्मः प्रदर्शितो भवति—

इसके द्वारा आचार्यका यह कर्तव्य प्रदर्शित किया जाता है, कि दूसरे उपायको स्वीकार करके किसी भी प्रकारसे, शिष्यको कृतार्थ करना चाहिये—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

कच्चित् किम् एतद् मया उक्तं श्रुतं श्रवणेन अवधारितं पार्थ किं त्वया एकाग्रेण चेतसा चित्तेन किं वा प्रमादितम् ।

कच्चिद् अज्ञानसंमोहः अज्ञाननिमित्तः संमोहो विचित्तभावः अविवेकता स्वाभाविकः किं प्रनष्टः । यदर्थः अयं शास्त्रश्रवणायासः तव मम च उपदेष्टृत्वायासः प्रवृत्तः ते तव धनंजय ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! क्या तूने मुझसे कहे हुए इस शास्त्रको एकाग्रचित्तसे सुना—सुनकर बुद्धिमें स्थिर किया ? अथवा सुना-अनसुना कर दिया ?

हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह—स्वाभाविक अविवेकता—चित्तका मूढ़भाव सर्वथा नष्ट हो गया, जिसके लिये कि तेरा यह शास्त्रश्रवण-विषयक परिश्रम और मेरा वक्तृत्वविषयक परिश्रम हुआ है ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

नष्टो मोहः अज्ञानजः समस्तसंसारानर्थहेतुः सागर इव दुस्तरः । स्मृतिः च आत्मतत्त्व-विषया लब्धा । यस्या लाभात् सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । त्वत्प्रसादात् तव प्रसादाद् मया त्वत्प्रसादम् आश्रितेन अच्युत ।

अनेन मोहनाशप्रश्नप्रतिवचनेन सर्वशास्त्रार्थज्ञानफलम् एतावद् एव इति निश्चितं दर्शितं भवति यद् उत अज्ञानसंमोहनाश आत्मस्मृति-लाभः च इति ।

हे अच्युत ! मेरा अज्ञानजन्य मोह, जो कि समस्त संसाररूप अनर्थका कारण था और समुद्रकी भाँति दुस्तर था, नष्ट हो गया है । और हे अच्युत ! आपकी कृपाके आश्रित होकर मैंने आपकी कृपासे आत्मविषयक ऐसी स्मृति भी प्राप्त कर ली है कि जिसके प्राप्त होनेसे समस्त ग्रन्थियाँ—संशय विच्छिन्न हो जाते हैं ।

इस मोहनाशविषयक प्रश्नोत्तरसे यह बात निश्चितरूपसे दिखलायी गयी है कि जो यह अज्ञानजनित मोहका नाश और आत्मविषयक स्मृति-का लाभ है, बस, इतना ही समस्त शास्त्रोंके अर्थ-ज्ञानका फल है ।

तथा च श्रुतौ *'अनात्मवित् शोचामि'* (छा० उ० ७ । १ । ३) इति उपन्यस्य आत्मज्ञाने सर्वग्रन्थिविप्रमोक्ष उक्तः ।

इसी तरह (छान्दोग्य) श्रुतिमें भी 'मैं आत्माको न जाननेवाला शोक करता हूँ' इस प्रकार प्रकरण उठाकर आत्मज्ञान होनेपर समस्त ग्रन्थियोंका विच्छेद बतलाया है ।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' (मु० उ० २ । २ । ८) 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० उ० ७) इति च मन्त्रवर्णः ।

तथा 'हृदयकी ग्रन्थि विच्छिन्न हो जाती है' 'वहाँ एकताका अनुभव करनेवालेको कैसा मोह और कैसा शोक ?' इत्यादि मन्त्रवर्ण भी हैं ।

अथ इदानीं त्वच्छासने स्थितः अस्मि गतसन्देहो मुक्तसंशयः करिष्ये वचनं तव अहं त्वत्प्रसादात् कृतार्थो न मम कर्तव्यम् अस्ति इति अभिप्रायः ॥ ७३ ॥

अब मैं संशयरहित हुआ आपकी आज्ञाके अधीन खड़ा हूँ । मै आपका कहना करूँगा । अभिप्राय यह है कि मैं आपकी कृपासे कृतार्थ हो गया हूँ (अब) मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं है ।

परिसमाप्तः शास्त्रार्थः अथ इदानीं कथासंबन्धप्रदर्शनार्थं संजय उवाच—

शास्त्रका अभिप्राय समाप्त हो चुका । अब कथाका सम्बन्ध दिखलानेके लिये संजय बोला—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

इति एवम् अहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः संवादम् इमं यथोक्तम् अश्रौषं श्रुतवान् अस्मि अद्भुतम् अत्यन्तविस्मयकरं रोमहर्षणं रोमाञ्चकरम् ॥ ७४ ॥

इस प्रकार मैने यह उपर्युक्त अद्भुत—अत्यन्त विस्मयकारक रोमाञ्च करनेवाला श्रीवासुदेव भगवान् और महात्मा अर्जुनका संवाद सुना ॥ ७४ ॥

तं च इमम्—

और इसे—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

व्यासप्रसादात् ततो दिव्यचक्षुर्लाभात् श्रुतवान् एतं संवादं गुह्यम् अहं परं योगं योगार्थत्वात् संवादम् इमं योगम् एव वा योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयं न परम्परातः ॥ ७५ ॥

मैने (भगवान्) व्यासजीकी कृपासे उनसे दिव्यचक्षु पाकर इस परम गुह्य संवादको और परम योगको (सुना) अथवा (यों समझो कि) योगविषयक होनेसे यह संवाद ही योग है, अतः इस संवादरूप योगको मैंने योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे, साक्षात् स्वयं कहते हुए सुना है, परम्परासे नहीं ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हे राजन् धृतराष्ट्र संस्मृत्य संस्मृत्य संवादम् इमम् अद्भुतं केशवार्जुनयोः पुण्यं श्रवणाद् अपि पापहरं श्रुत्वा हृष्यामि च मुहुः मुहुः प्रतिक्षणम् ॥ ७६ ॥

हे राजन् धृतराष्ट्र ! केशव और अर्जुनके इस (परम) पवित्र—सुननेमात्रसे पापोका नाश करनेवाले, अद्भुत संवादको सुनकर और वारम्बार स्मरण करके, मैं प्रतिक्षण वारम्बार हर्षित हो रहा हूँ ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

तत् च संस्मृत्य सस्मृत्य रूपम् अत्यद्भुतं हरेः विश्वरूपं विस्मयो मे महान् हे राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

तथा हे राजन् ! हरिके उस अति अद्भुत विश्वरूपको भी वारम्बार याद करके, मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है और मैं वारम्बार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७७ ॥

किं बहुना—

बहुत कहनेसे क्या ?

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

यत्र यस्मिन् पक्षे योगेश्वरः सर्वयोगानाम् ईश्वरः तत्प्रभवत्वात् सर्वयोगबीजस्य च कृष्णो यत्र पार्थो यस्मिन् पक्षे धनुर्धरो गाण्डीवधन्वा तत्र श्रीः तस्मिन् पाण्डवानां पक्षे विजयः तत्र एव भूतिः श्रियो विशेषो विस्तारो भूतिः ध्रुवा अव्यभिचारिणी नीतिः नय इति एवं मतिः मम इति ॥ ७८ ॥

समस्त योग और उनके बीज उन्हींसे उत्पन्न हुए है अतः भगवान् योगेश्वर हैं। जिस पक्षमे (वे) सब योगोके ईश्वर श्रीकृष्ण है तथा जिस पक्षमे गाण्डीव धनुर्धारी पृथापुत्र अर्जुन है उस पाण्डवोके पक्षमे ही श्री, उसीमे विजय, उसीमे विभूति अर्थात् लक्ष्मीका विशेष विस्तार और वहीं अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यशंकरभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

समाप्तिमगमदिदं गीताशास्त्रम् ।

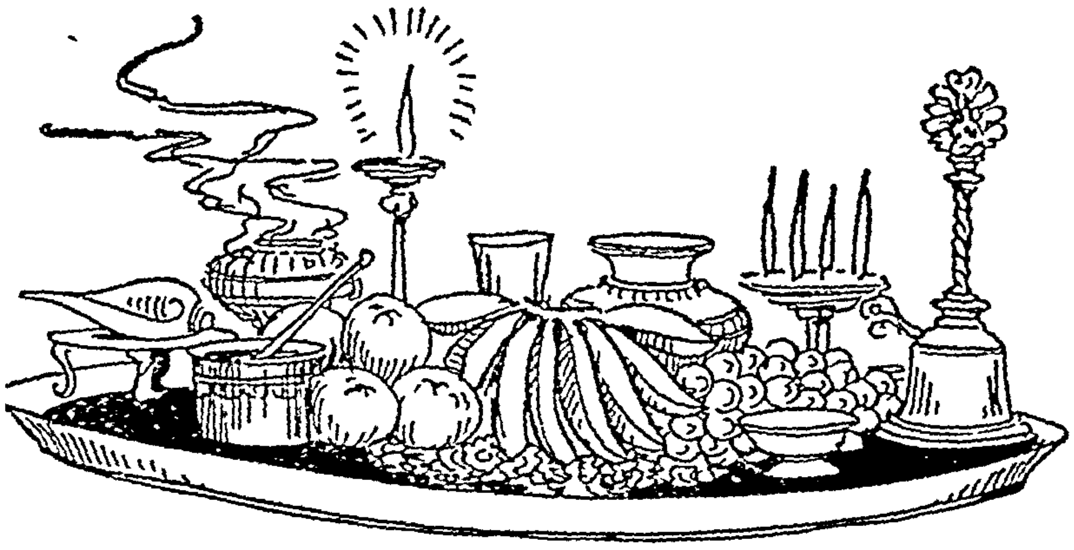

अथ श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकान्तर्गतपदानाम-कारादिवर्णानुक्रमः

पदानि अ० श्लो०

अ.

अकर्तारम् ४—१३; १३—२९
अकर्म ४—१६, १८
अकर्मकृत् ३—५
अकर्मणः ३—८, ८; ४—१७
अकर्मणि २—४७; ४—१८
अकल्मषम् ६—२७
अकारः १०—३३
अकार्यम् १८—३१
अकीर्तिकरम् २—२
अकीर्तिम् २—३४
अकीर्तिः २—३४
अकुर्वत १—१
अकुशलम् १८—१०
अकृतबुद्धित्वात् १८—१६
अकृतात्मानः १५—११
अकृतेन ३—१८
अकृत्स्नविदः ३—२९
अक्रियः ६—१
अक्रोधः १६—२
अक्लेद्यः २—२४
अक्षयम् ५—२१
अक्षयः १०—३३
अक्षरसमुद्भवम् ३—१५
अक्षरम् ८—३, ११; १०—२५; ११—१८, ३७; १२—१, ३
अक्षरः ८—२१; १५—१६, १६
अक्षराणाम् १०—३३
अक्षरात् १५—१८
अखिलम् ४—३३; ७—२९; १५—१२
अगतासून् २—११
अग्निः ४—३७; ८—२४; ९—१६; ११—३९; १८—४८
अग्नौ १५—१२
अग्रे १८—३७, ३८, ३९
अघम् ३—१३
अघायुः ३—१६
अङ्गानि २—५८
अचरम् १३—१५
अचलप्रतिष्ठम् २—७०
अचलम् ६—१३; १२—३
अचलः २—२४
अचला २—५३
अचलाम् ७—२१
अचलेन ८—१०
अचापलम् १६—२
अचिन्त्यरूपम् ८—९
अचिन्त्यम् १२—३
अचिन्त्यः २—२५
अचिरेण ४—३९
अचेतसः ३—३२; १५—११; १७—६
अच्छेद्यः २—२४
अच्युत १—२१; ११—४२; १८—७३
अजस्रम् १६—१९
अजम् २—२१; ७—२५; १०—३, १२
अज. २—२०; ४—६
अजानता ११—४१
अजानन्तः ७—२४; ९—११; १३—२५
अज्ञः ४—४०
अज्ञानजम् १०—११, १४—८
अज्ञानविमोहिताः १६—१५
अज्ञानसम्भूतम् ४—४२
अज्ञानसमोहः १८—७२
अज्ञानम् ५—१५; १३—११; १४—१६, १७; १६—४
अज्ञानाम् ३—२६
अज्ञानेन ५—१५
अणीयासम् ८—९
अणोः ८—९
अतत्त्वार्थवत् १८—२२
अतन्द्रितः ३—२३
अतपस्काय १८—६७
अतः २—१२; ९—२४; १२—८; १३—११; १५—१८
अतितरन्ति १३—२५
अतिनीचम् ६—११
अतिमानः १६—४
अतिमानिता १६—३
अतिरिच्यते २—३४
अतिवर्तते ६—४४; १४—२१
अतिस्वप्नशीलस्य ६—१६
अतीतः १४—२१; १५—१८
अतीत्य १४—२०
अतीन्द्रियम् ६—२१
अतीव १२—२०
अत्यद्भुतम् १८—७७
अत्यन्तम् ६—२८
अत्यर्थम् ७—१७
अत्यश्नतः ६—१६
अत्यागिनाम् १८—१२
अत्युच्छ्रितम् ६—११
अत्येति ८—२८
अत्र १—४, २३; ४—१६; ८—२, ४, ५; १०—७; १८—१४
अथ १—२०, २६; २—२६, ३३; ३—३६; ११—५, ४०; १२—९, ११; १८—५८
अथवा ६—४२; १०—४२; ११—४२
अथो ४—३५
अदक्षिणम् १७—१३
अदम्भित्वम् १३—७
अदाह्यः २—२४
अदृष्टपूर्वम् ११—४५
अदृष्टपूर्वाणि ११—६
अदेशकाले १७—२२
अद्भुतम् ११—२०; १८—७४, ७६
अद्य ४—३; ११—७; १६—१३
अद्रोहः १६—३
अद्वेष्टा १२—१३
अधमाम् १६—२०
अधर्मस्य ४—७
अधर्मम् १८—३१, ३२
अधर्मः १—४०
अधर्माभिभवात् १—४१
अध. १४—१८; १५—२, २
अध·शाखम १५—१

पदानि अ० श्लो०

अधिकतरः १२—५
अधिकम् ६—२२
अधिकः ६—४६, ४६, ४६
अधिकारः २—४७
अधिगच्छति २—६४, ७१; ४—३९; ५—६, २४; ६—१५; १४—१९; १८—४९
अधिदैवतम् ८—४
अधिदैवम् ८—१
अधिभूतम् ८—१, ४
अधियज्ञः ८—२, ४
अधिष्ठानम् ३—४०; १८—१४
अधिष्ठाय ४—६; १५—९
अध्यक्षेण ९—१०
अध्यात्मचेतसा ३—३०
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् १३—११
अध्यात्मनित्याः १५—५
अध्यात्मविद्या १०—३२
अध्यात्मसंज्ञितम् ११—१
अध्यात्मम् ७—२९; ८—१, ३
अध्येष्यते १८—७०
अध्रुवम् १७—१८
अनघ ३—३; १४—६; १५—२०
अनन्त ११—३७
अनन्तबाहुम् ११—१९
अनन्तरम् १२—१२
अनन्तरूप ११—३८
अनन्तरूपम् ११—१६
अनन्तविजयम् १—१६
अनन्तवीर्य ११—४०
अनन्तवीर्यम् ११—१९
अनन्तम् ११—११, ४७
अनन्तः १०—२९
अनन्ताः २—४१

पदानि अ० श्लो०

अनन्यचेताः ८—१४
अनन्यभाक् ९—३०
अनन्यमनसः ९—१३
अनन्यया ८—२२; ११—५४
अनन्येन १२—६
अनन्ययोगेन १३—१०
अनन्याः ९—२२
अनपेक्षः १२—१६
अनपेक्ष्य १८—२५
अनभिष्वङ्गः १३—९
अनभिसंधाय १७—२५
अनभिस्नेहः २—५७
अनयोः २—१६
अनलः ७—४
अनलेन ३—३९
अनवलोकयन् ६—१३
अनवाप्तम् ३—२२
अनश्नतः ६—१६
अनसूयन्तः ३—३१
अनसूयवे ९—१
अनसूयः १८—७१
अनहंकारः १३—८
अनहंवादी १८—२६
अनात्मनः ६—६
अनादित्वात् १३—३१
अनादिमत् १३—१२
अनादिमध्यान्तम् ११—१९
अनादिम् १०—३
अनादी १३—१९
अनामयम् २—५१; १४—६
अनारम्भात् ३—४
अनार्यजुष्टम् २—२
अनावृत्तिम् ८—२३, २६
अनाशिनः २—१८
अनाश्रितः ६—१
अनिकेतः १२—१९
अनिच्छन् ३—३६
अनित्यम् ९—३३

पदानि अ० श्लो०

अनित्याः २—१४
अनिर्देश्यम् १२—३
अनिर्विण्णचेतसा ६—२३
अनिष्टम् १८—१२
अनीश्वरम् १६—८
अनुकम्पार्थम् १०—११
अनुचिन्तयन् ८—८
अनुतिष्ठन्ति ३—३१, ३२
अनुत्तमम् ७—२४
अनुत्तमाम् ७—१८
अनुद्विग्नमनाः २—५६
अनुद्वेगकरम् १७—१५
अनुपकारिणे १७—२०
अनुपश्यति १३—३०; १४—१९
अनुपश्यन्ति १५—१०
अनुपश्यामि १—३१
अनुप्रपन्नाः ९—२१
अनुबन्धम् १८—२५
अनुबन्धे १८—३९
अनुमन्ता १३—२२
अनुरज्यते ११—३६
अनुवर्तते ३—२१
अनुवर्तन्ते ३—२३; ४—११
अनुवर्तयति ३—१६
अनुविधीयते २—६७
अनुशासितारम् ८—९
अनुशुश्रुम १—४४
अनुशोचन्ति २—११
अनुशोचितुम् २—२५
अनुषज्जते ६—४; १८—१०
अनुसततानि १५—२
अनुस्मर ८—७
अनुस्मरन् ८—१३
अनुस्मरेत् ८—९
अनेकचित्तविभ्रान्ताः १६—१६
अनेकजन्मससिद्धः ६—४५

पदानि अ० श्लो०

अनेकदिव्याभरणम् ११—१०
अनेकधा ११—१३
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् ११—१६
अनेकवक्त्रनयनम् ११—१०
अनेकवर्णम् ११—२४
अनेकाद्भुतदर्शनम् ११—१०
अनेन ३—१०, ११; ९—१०; ११—८
अन्तकाले २—७२; ८—५
अन्तगतम् ७—२८
अन्तरम् ११—२०; १३—३४
अन्तरात्मना ६—४७
अन्तरारामः ५—२४
अन्तरे ५—२७
अन्तर्ज्योतिः ५—२४
अन्तवत् ७—२३
अन्तवन्तः २—१८
अन्तम् ११—१६
अन्तः २—१६; १०—१९, २०, ३२, ४०; १३—१५; १५—३
अन्तःशरीरस्थम् १७—६
अन्तःसुखः ५—२४
अन्तःस्थानि ८—२२
अन्तिके १३—१५
अन्ते ७—१९; ८—६
अन्नसभवः ३—१४
अन्नम् १५—१४
अन्नात् ३—१४
अन्यत् २—३१, ४२; ७—२, ७; ११—७,
अन्यत्र ३—९

पदानि अ० श्लो०

अन्यथा १३—११
अन्यदेवताभक्ताः ९—२३
अन्यदेवताः ७—२०
अन्यया ८—२६
अन्यम् १४—१९
अन्यः २—२९, २९; ४—३१; ८-२०; ११—४३; १५—१७; १६—१५; १८—६९
अन्यानि २—२२
अन्यान् ११—३४
अन्यायेन १६—१२
अन्याम् ७—५
अन्ये १—९; ४—२६, २६; ९—१५; १३—२४, २५; १७—४
अन्येभ्यः १३—२५
अन्वशोचः २—११
अन्विच्छ २—४९
अन्विताः ९—२३; १७—१
अपनुद्यात् २—८
अपरस्परसभूतम् १६—८
अपरम् ४—४; ६-२२
अपरा ७—५
अपराजितः १—१७
अपराणि २—२२
अपरान् १६—१४
अपरिग्रहः ६—१०
अपरिमेयाम् १६—११
अपरिहार्ये २—२७
अपरे ४—२५, २५, २७, २८, २९, ३०, १३—२४; १८–३
अपर्याप्तम् १—१०
अपलायनम् १८—४३
अपश्यत् १—२६, ११—१३
अपहृतचेतसाम् २—४४
अपहृतज्ञानाः ७—१५

पदानि अ० श्लो०

अपात्रेभ्यः १७—२२
अपानम् ४—२९
अपाने ४—२९
अपावृतम् २—३२
अपि १—२७, ३५, ३५, ३८; २—५, ८, १६, २६, २९, ३१, ३४, ४०, ५९, ६०, ७२; ३—५, ८, २०, ३१, ३३, ३६, ४—६, ६, १३, १५, १६, १७, २०, २२, ३०, ३६; ५—४, ५, ७, ९, ११; ६—९, २२, २५, ३१, ४४, ४४, ४६, ४७, ७—३, २३, ३०, ८—६; ९—१५, २३, २३,—२५ २९, ३०, ३२, ३२; १०—३७, ३९; ११—२, २६, २९, ३२, ३४, ३७, ३९, ४१, ४२, ४३, ५२. १२—१, १०, १०, ११, १३—२, १७, १९, २२, २३ २५, ३१; १४—२, १५—८, १०, ११, १८, १६—७, १३, १४, १७—७, १०, १२; १८—६, १७, १९, ४३, ४४, ४८, ५६, ६०, ७१, ७१
अपुनरावृत्तिम् ५—१७
अपैशुनम् १६—२
अपोहनम् १५—१५
अप्रकाशः १४—१३
अप्रतिमप्रभाव ११—४३
अप्रतिष्ठम् १६—८
अप्रतिष्ठः ६—३८
अप्रतीकारम् १—४६
अप्रदाय ३—१२

पदानि अ० श्लो०

अप्रमेयम् ११—१७, ४२
अप्रमेयस्य २—१८
अप्रवृत्तिः १४—१३
अप्राप्य ६—३७; ९—३; १६—२०
अप्रियम् ५—२०
अप्सु ७—८
अफलप्रेप्सुना १८—२३
अफलाकाङ्क्षिभिः १७—११, १७
अबुद्धयः ७—२४
अब्रवीत् १—२, २८; ४—१
अभक्ताय १८—६७
अभयम् १०—४; १६—१
अभवत् १—१३
अभविता २—२०
अभावयतः २—६६
अभावः २—१६; १०—४
अभापत ११—१४
अभिक्रमनाशः २—४०
अभिजनवान् १६—१५
अभिजातस्य १६—३, ४
अभिजातः १६—५
अभिजानन्ति ९—२४
अभिजानाति ४ –१४, ७—१३, २५, १८—५५
अभिजायते २—६२; ६—४१; १३—२३
अभितः ५—२६
अभिधास्यति १८ – ६८
अभिधीयते १३—१; १७—२७: १८—११
अभिनन्दति २—५७
अभिप्रवृत्तः ४—२०
अभिभवति १—४०
अभिभूय १४—१०
अभिमुखाः ११—२८
अभिरक्षन्तु १—११

पदानि अ० श्लो०

अभिरतः १८—४५
अभिविज्वलन्ति ११—२८
अभिसन्धाय १७—१२
अभिहिता २—३९
अभ्यधिकः ११—४३
अभ्यर्च्य १८—४६
अभ्यसूयकाः १६—१८
अभ्यसूयति १८—६७
अभ्यसूयन्तः ३—३२
अभ्यहन्यन्त १—१३
अभ्यासयोगयुक्तेन ८—८
अभ्यासयोगेन १२—९
अभ्यासात् १२—१२; १८—३६
अभ्यासे १२—१०
अभ्यासेन ६—३५
अभ्युत्थानम् ४—७
अमलान् १४—१४
अमानित्वम् १३—७
अमितविक्रमः ११—४०
अमी ११—२१, २६, २८
अमुत्र ६—४०
अमूढाः १५—५
अमृतत्वाय २—१५
अमृतस्य १४—२७
अमृतम् ९—१९; १०—१८; १३—१२: १४—२०
अमृतोद्भवम् १०—२७
अमृतोपमम् १८—३७,३८
अमेध्यम् १७—१०
अम्बुवेगाः ११—२८
अम्भसा ५—१०
अम्भसि २—६७
अयज्ञस्य ४—३१
अयतिः ६—३७
अयथावत् १८—३१
अयनेषु १—११
अयशः १०—५
अयम २—१९. २०

पदानि	अ०	श्लो०
		२०, २४, २४, २४, २५, २५, २५, ३०, ५८; ३—९, ३६; ४—३, ३१, ४०; ६—२१, ३३; ७—२५; ८—१९; ११—१; १३—३१; १५—९; १७—३
अयुक्तस्य	२—६६, ६६	
अयुक्तः	५—१२; १८—२८	
अयोगतः	५—६	
अरतिः	१३—१०	
अरागद्वेषतः	१८—२३	
अरिसूदन	२—४	
अर्चितुम्	७—२१	
अर्जुन	२—२, ४५; ३—७; ४—५, ९, ३७; ६—१६, ३२, ४६; ७—१६, २६; ८—१६, २७; ९—१९; १०—३२, ३९, ४२; ११—४७, ५४; १८—९, ३४, ६१	
अर्जुनम्	११—५०	
अर्जुनः	१—४७; २—४, ५४; ३—१, ३६; ४—४, ५—१; ६—३३, ३७, ८—१; १०—१२; ११—१, १५, ३६, ५१, १२—१; १४—२१; १७—१; १८—१, ७३	
अर्थकामान्	२—५	
अर्थव्यपाश्रयः	३—१८	
अर्थसञ्चयान्	१६—१२	
अर्थः	२—४६; ३—१८	
अर्थार्थी	७—१६	
अर्थे	१—३३; २—२७; ३—३४	
अर्पणम्	४—२४	
अर्पितमनोबुद्धिः	८—७; १२—१४	
अर्यमा	१०—२९	
अर्हति	२—१७	
अर्हसि	२—२५, २६, २७, ३०, ३१; ३—२०; ६—३९; १०—१६; ११—४४; १६—२४	
अर्हाः	१—३७	
अलसः	१८—२८	
अलोलुप्त्वम्	१६—२	
अल्पबुद्धयः	१६—९	
अल्पमेधसाम्	७—२३	
अल्पम्	१८—२२	
अवगच्छ	१०—४१	
अवजानन्ति	९—११	
अवज्ञातम्	१७—२२	
अवतिष्ठति	१४—२३	
अवतिष्ठते	६—१८	
अवध्यः	२—३०	
अवनिपालसंघैः	११—२६	
अवरम्	२—४९	
अवशम्	९—८	
अवशः	३—५; ६—४४; ८—१९; १८—६०	
अवशिष्यते	७—२	
अवष्टभ्य	९—८; १६—९	
अवसादयेत्	६—५	
अवस्थातुम्	१—३०	
अवस्थितम्	१५—११	
अवस्थितः	९—४; १३—३२	
अवस्थितान्	१—२२, २७	
अवस्थिताः	१—११, ३३; २—६; ११—३२	
अवहासार्थम्	११—४२	
अवाच्यवादान्	२—३६	
अवाप्तव्यम्	३—२२	
अवाप्तुम्	६—३६	
अवाप्नोति	१५—८; १६—२३; १८—५६	
अवाप्य	२—८	
अवाप्यते	१२—५	
अवाप्स्यथ	३—११	
अवाप्स्यसि	२—३३, ३८, ५३; १२—१०	
अविकम्पेन	१०—७	
अविकार्यः	२—२५	
अविज्ञेयम्	१३—१५	
अविद्वांसः	३—२५	
अविधिपूर्वकम्	९—२३; १६—१७	
अविनश्यन्तम्	१३—२७	
अविनाशि	२—१७	
अविनाशिनम्	२—२१	
अविपश्चितः	२—४२	
अविभक्तम्	१३—१६; १८—२०	
अवेक्षे	१—२३	
अवेक्ष्य	२—३१	
अव्यक्तनिधनानि	२—२८	
अव्यक्तमूर्तिना	९—४	
अव्यक्तसंज्ञके	८—१८	
अव्यक्तम्	७—२४; १२—१, ३; १३—५	
अव्यक्तः	२—२५, ८—२०, २१	
अव्यक्ता	१२—५	
अव्यक्तात्	८—१८, २०	
अव्यक्तादीनि	२—२८	
अव्यक्तासक्तचेतसाम्	१२—५	
अव्यभिचारिणी	१३—१०	
अव्यभिचारिण्या	१८—३३	
अव्यभिचारेण	१४—२६	
अव्ययस्य	२—१७; १४—२७	
अव्ययम्	२—२१; ४—१, १३; ७—१३, २४, २५; ९—२, १३, १८; ११—२, ४; १४—५; १५—१, ५; १८—२०, ५६	
अव्ययः	११—१८; १३—३१, १५—१७	
अव्ययात्मा	४—६	
अव्ययाम्	२—३४	
अव्यवसायिनाम्	२—४१	
अशक्तः	१२—११	
अशमः	१४—१२	
अशस्त्रम्	१—४६	
अशान्तस्य	२—६६	
अशाश्वतम्	८—१५	
अशास्त्रविहितम्	१७—५	
अशुचिव्रताः	१६—१०	
अशुचिः	१८—२७	
अशुचौ	१६—१६	
अशुभात्	४—१६; ९—१	
अशुभान्	१६—१९	
अशुश्रूषवे	१८—६७	
अशेषतः	६—२४, ३९; ७—२; १८—११	
अशेषेण	४—३५; १०—१६; १८—२९, ६३	
अशोच्यान्	२—११	
अशोष्यः	२—२४	
अश्नन्	५—८	
अश्नन्ति	९—२०	
अश्नामि	९—२६	
अश्नासि	९—२७	
अश्नुते	३—४; ५—२१; ६—२८; १३—१२; १४—२०	
अश्रद्दधानः	४—४०	
अश्रद्दधानाः	९—३	
अश्रद्धया	१७—२	

पदानि अ० श्लो०

अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् २—१
अश्रौषम् १८—७४
अश्वत्थम् १५—१, ३
अश्वत्थः १०—२६
अश्वत्थामा १—८
अश्वानाम् १०—२७
अश्विनौ ११—६, २२
अष्टधा ७—४
असक्तबुद्धिः १८—४९
असक्तम् ९—९; १३—१४
असक्तः ३—७, १९, १९, २५
असक्तात्मा ५—२१
असक्तिः १३—९
असङ्गशस्त्रेण १५—३
असतः २—१६
असत् ९—१९; ११—३७; १३—१२, १७—२८
असत्कृतम् १७—२२
असत्कृतः ११—४२
असत्यम् १६—८
असद्ग्राहान् १६—१०
असपत्नम् २—८
असमर्थः १२—१०
असंन्यस्तसकल्पः ६—२
असमूढः ५—२०; १०—३, १५—१९
असमोहः १०—४
असंयतात्मना ६—३६
असशयम् ६—३५; ७—१
असंशयः ८—७, १८—६८
असि ४—३, ३६; ८—२, १०—१७; ११—३८, ४०, ४२, ४३, ५२, ५३; १२—१०, ११; १६—५; १८—६४, ६५
असितः १०—१३
असिद्धौ ४—२२

पदानि अ० श्लो०

असुखम् ९—३३
असृष्टान्नम् १७—१३
असौ ११—२६; १६—१४
अस्ति २—४०, ४२, ६६; ३—२२; ४—३१, ४०; ६—१६, ७—७; ८—५; ९—२९; १०—१८, १९, ३९, ४०; ११—४३; १६—१३, १५, १८—४०
अस्तु २—४७; ३—१९, ११—३१, ३९, ४०
अस्थिरम् ६—२६
अस्मदीयैः ११—२६
अस्माकम् १—७, १०
अस्मात् १—३९
अस्मान् १—३६
अस्माभिः १—३९
अस्मि ७—८, ९, ९, १०, ११, १०—२१, २२, २२, २२, २२, २३, २३, २४, २५, २५, २८, २८, २८, २९, २९, ३०, ३१, ३१, ३१, ३३, ३६, ३६, ३६, ३७, ३८, ३८, ३८, ११—३२, ४५, ५१; १५—१८, १६—१५, १८—५५, ७३
अस्मिन् १—२२, २—१३, ३—३, ८—२, १३—२२, १४—११, १६—६
अस्य २—१७, ४०, ५९, ६५, ६७; ३—१८, ३४, ४०; ६—३९, ९—३, १७; ११—१८, ३८, ४३, ५२; १३—२१, १५—३

पदानि अ० श्लो०

अस्याम् २—७२
अस्वर्ग्यम् २—२
अहत्वा २—५
अहरागमे ८—१८, १९
अहम् १—२२, २३, २—४, ७, १२; ३—२, २३, २४, २७; ४—१, ५, ७, ११, ६—३०, ३३, ३४; ७—२, ६, ८, १०, ११, १२, १७, २१, २५, २६, ८—४, १४; ९—४, ७, १६, १६, १६, १६, १६, १६, १६, १६, १७, १९, १९, १९, २२, २४, २६, २९, २९; १०—१, २, ८, ११, १७, २०, २०, २१, २१, २३, २४, २५, २८, २९, २९, ३०, ३०, ३१, ३२, ३२, ३३, ३३, ३४, ३५, ३५, ३६, ३६, ३७, ३८, ३९, ४२, ११—२३, ४२, ४४, ४६, ४८, ५३, ५४; १२—७, १४—३, ४, २७; १५—१३, १४, १५, १५, १५, १८; १६—१४, १४, १४, १९, १८—६६, ७०, ७४, ७५
अहङ्कारविमूढात्मा ३—२७
अहङ्कारम् १६—१८, १८—५३, ५९
अहङ्कारः ७—४, १३—५
अहङ्कारात् १८—५८
अहङ्कृतः १८—१७
अहः ८—१७, २४
अहिताः २—३६; १६—९
अहिंसा १०—५; १३—७, १६—२; १७—१४

पदानि अ० श्लो०

अहैतुकम् १८—२२
अहो १—४५
अहोरात्रविदः ८—१७
अंशः १५—७
अंशुमान् १०—२१

आ.

आकाशस्थितः ९—६
आकाशम् १३—३२
आख्यातम् १८—६३
आख्याहि ११—३१
आगच्छेत् ३—३४
आगताः ४—१०, १४—२
आगमापायिनः २—१४
आचरतः ४—२३
आचरति ३—२१; १६—२२
आचरन् ३—१९
आचारः १६—७
आचार्य १—३
आचार्यम् १—२
आचार्यान् १—२६
आचार्याः १—३४
आचार्योपासनम् १३—७
आज्यम् ९—१६
आढ्यः १६—१५
आततायिनः १—३६
आतिष्ठ ४—४२
आत्थ ११—३
आत्मकारणात् ३—१३
आत्मतृप्तः ३—१७
आत्मन. ४—४२; ५—१६; ६—५, ५, ६, ११, १९; ८—१२; १०—१८; १६—२१, २२; १७—१९; १८—३९
आत्मना २—५५; ३—४३; ६—५, ६, २०; १०—१५; १३—२४, २८

पदानि	अ० श्लो०
आत्मनि	२—५५; ३—१७; ४—३५, ३८; ५—२१; ६—१८, २०, २६, २९; १३—२४; १५—११
आत्मपरदेहेषु	१६—१८
आत्मबुद्धिप्रसादजम्	१८—३७
आत्मभावस्थः	१०—११
आत्ममायया	४—६
आत्मयोगात्	११—४७
आत्मरतिः	३—१७
आत्मवन्तम्	४—४१
आत्मवश्यैः	२—६४
आत्मवान्	२—४५
आत्मविनिग्रहः	१३—७; १७—१६
आत्मविभूतयः	१०—१६, १९
आत्मविशुद्धये	६—१२
आत्मशुद्धये	५—११
आत्मसम्भाविताः	१६—१७
आत्मसंयमयोगाग्नौ	४—२७
आत्मसंस्थम्	६—२५
आत्मा	६—५, ५, ६, ६, ६; ७—१८; ९—५; १०—२०; १३—३२
आत्मानम्	३—४, ४—७; ६—५, ५, १०, १५, २०, २८, २९; ९—३४, १०—१५; ११—३, ४; १३—२४, २८, २९; १८—१६, ५१
आत्मौपम्येन	६—३२
आत्यन्तिकम्	६—२१
आदत्ते	५—१५
आदर्शः	३—३८
आदिकर्त्रे	११—३७
आदित्यगतम्	१५—१२
आदित्यवत्	५—१६
आदित्यवर्णम्	८—९
आदित्यानाम्	१०—२१
आदित्यान्	११—६
आदिदेवम्	१०—१२
आदिदेवः	११—३८
आदिम्	११—१६
आदिः	१०—२, २०, ३२; १५—३
आदौ	३—४१; ४—४
आद्यन्तवन्तः	५—२२
आद्यम्	८—२८; ११—३१, ४७; १५—४
आधत्स्व	१२—८
आधाय	५—१०; ८—१२
आधिपत्यम्	२—८
आपन्नम्	७—२४
आपन्नाः	१६—२०
आपः	२—२३, ७०; ७—४
आपूर्य	११—३०
आपूर्यमाणम्	२—७०
आप्तुम्	५—६; १२—९
आप्नुयाम्	३—२
आप्नुवन्ति	८—१५
आप्नोति	२—७०; ३—१९; ४—२१; ५—१२; १८—४७, ५०
आब्रह्मभुवनात्	८—१६
आयुधानाम्	१०—२८
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः	१७—८
आरभते	३—७
आरभ्यते	१८—२५
आरम्भः	१४—१२
आरुरुक्षोः	६—३
आर्जवम्	१३—७; १६—१; १७—१४; १८—४२
आर्तः	७—१६
आवयोः	१८—७०
आवर्तते	८—२६
आवर्तिनः	८—१६
आविश्य	१५—१३, १७
आविष्टम्	२—१
आविष्टः	१—२८
आवृतम्	३—३८, ३९; ५—१५
आवृतः	३—३८
आवृता	१८—३२
आवृताः	१८—४८
आवृत्तिम्	८—२३
आवृत्य	३—४०; १३—१३; १४—९
आवेशितचेतसाम्	१२—७
आवेश्य	८—१०; १२—२
आव्रियते	३—३८
आशयात्	१५—८
आशापाशशतैः	१६—१२
आशु	२—६५
आश्चर्यवत्	२—२९, २९, २९
आश्चर्याणि	११—६
आश्रयेत्	१—३६
आश्रितम्	९—११
आश्रितः	१२—११; १५—१४
आश्रिताः	७—१५, ९—१३
आश्रित्य	७—२९; १६—१०; १८—५९
आश्वासयामास	११—५०
आसक्तमनाः	७—१
आसने	६—१२
आसनम्	६—११
आसम्	२—१२
आसाद्य	९—२०
आसीत	२—५४, ६१; ६—१४
आसीनम्	९—९
आसीनः	१४—२३
आसुरनिश्चयान्	१७—६
आसुरम्	७—१५; १६—६
आसुरः	१६—६
आसुराः	१६—७
आसुरी	१६—५
आसुरीषु	१६—१९
आसुरीम्	९—१२; १६—४, २०
आस्तिक्यम्	१८—४२
आस्ते	३—६; ५—१३
आस्थाय	७—२०
आस्थितः	५—४; ६—३१; ७—१८; ८—१२
आस्थिताः	३—२०
आह	१—२१; ११—३५
आहवे	१—३१
आहारः	१७—७
आहाराः	१७—८, ९
आहुः	३—४२; ४—१९; ८—२१; १०—१३; १४—१६; १६—८
आहो	१७—१
इ.	
इक्ष्वाकवे	४—१
इङ्गते	६—१९; १४—२३
इच्छ	१२—९
इच्छति	७—२१
इच्छन्तः	८—११
इच्छसि	११—७; १८—६०, ६३
इच्छा	१३—६
इच्छाद्वेषसमुत्थेन	७—२७
इच्छामि	१—३५;

पदानि अ० श्लो०

११—३, ३१, ४६; १८—१
इज्यते १७—११, १२
इज्यया ११—५३
इतरः ३—२१
इतः ७—५; १४—१
इति १—२५, ४४; २—९, ४२; ३—२७, २८, ४—३, ४, १४, १६; ५—८, ९; ६—२, ८, १८, ३६; ७—४, ६, १२, १९; ८—१३, २१; ९—६; १०—८; ११—४, २१, ४१, ४१, ५०; १३—१, १, ११, १८, २२; १४—५, ११, २३; १५—१७, २०; १६—११, १५, १७—२, ११, १६, २०, २३, २४, २५, २६, २७, २७, २८; १८—३, ३, ६, ८, ९, ११, १८, ३२, ५९, ६३, ६४, ७०, ७४
इदम् १—१०, २१, २८; २—१, २, १०, १७; ३—३१, ३८; ७—२, ५, ७, १३; ८—२२, २८; ९—१, २, ४; १०—४२; ११—१९, २०, २०, ४१, ४७, ४९, ४९, ५१, ५२; १२—२०; १३—१; १४—२; १५—२०; १६—१३, १३, १३, २१; १८—४६, ६७
इदानीम् ११—५१; १८—३६
इन्द्रियकर्माणि ४—२७
इन्द्रियगोचराः १३—५
इन्द्रियग्रामम् ६—२४; १२—४
इन्द्रियस्य ३—३४, ३४
इन्द्रियाग्निषु ४—२६
इन्द्रियाणाम् २—८, ६७, १०—२२
इन्द्रियाणि २—५८, ६०, ६१, ६८; ३—७, ४०, ४१, ४२; ४—२६; ५—९; १३—५; १५—७
इन्द्रियारामः ३—१६
इन्द्रियार्थान् ३—६
इन्द्रियार्थेभ्यः २—५८, ६८
इन्द्रियार्थेषु ५—९; ६—४; १३—८
इन्द्रियेभ्यः ३—४२
इन्द्रियैः २—६४; ५—११
इमम् १—२८; २—३३; ४—१, २; ९—८, ३३; १३—३३; १६—१३; १७—७, १८—६८, ७०, ७४, ७६
इमानि १८—१३
इमान् १०—१६, १८—१७
इमाम् २—३९, ४२
इमाः ३—२४; १०—६
इमे १—३३; २—१२, १८; ३—२४
इमौ १५—१६
इयम् ७—४, ५
इव १—३०; २—१०, ५८, ६७; ३—२, २, ३६; ५—१०; ६—३४, ३८; ७—७; ११—४४, ४४; १३—१६; १५—८, १८—३७, ३८, ४८
इषुभिः २—४
इष्टकामधुक् ३—१०
इष्टम् १८—१२
इष्टः १८—६४, ७०
इष्टानिष्टोपपत्तिषु १३—९
इष्टान् ३—१२
इष्टाः १७—९
इष्ट्वा ९—२०
इह २—५, ५, ४०, ४१, ५०, ३—१६, १८, ३७, ४—२, १२, ३८, ५—१९, २३; ६—४०, ७—२; ११—७, ३२; १५—३; १६—२४; १७—१८, २८

ई.

ईक्षते ६—२९, १८—२०
ईज्यम् ११—४४
ईदृक् ११—४९
ईदृशम् २—३२, ६—४२
ईशम् ११—१५, ४४
ईश्वरभावः १८—४३
ईश्वरम् १३—२८
ईश्वरः ४—६; १५—८, १७; १६—१४; १८—६१
ईहते ७—२२
ईहन्ते १६—१२

उ.

उक्तम् ११—१, ४१; १२—२०; १३—१८; १५—२०
उक्तः १—२४; ८—२१; १३—२२
उक्ताः २—१८
उक्त्वा १—४७; २—९, ९; ११—९, २१, ५०
उग्रकर्माणः १६—९
उग्ररूपः ११—३१
उग्रम् ११—२०
उग्राः ११—३०
उग्रैः ११—४८
उच्चैः १—१२
उच्चैःश्रवसम् १०—२७
उच्छिष्टम् १७—१०
उच्छोषणम् २—८
उच्यते २—२५, ४८, ५५, ५६; ३—६, ४०; ६—३, ३, ४, ८, १८; ८—१, ३; १३—१२, १७, २०, २०; १४—२५; १५—१६; १७—१४, १५, १६, २७, २८; १८—२३, २५, २६, २८
उत १—४०; १४—९, ११
उत्क्रामति १५—८
उत्क्रामन्तम् १५—१०
उत्तमविदाम् १४—१४
उत्तमम् ४—३; ६—२७; ९—२; १४—१; १८—६
उत्तमः १५—१७, १८
उत्तमाङ्गैः ११—२७
उत्तमौजाः १—६
उत्तरायणम् ८—२४
उत्तिष्ठ २—३, ३७; ४—४२; ११—३३
उत्थिता ११—१२
उत्सन्नकुलधर्माणाम् १—४४
उत्सादनार्थम् १७—१९
उत्साद्यन्ते १—४३
उत्सीदेयुः ३—२४
उत्सृजामि ९—१९
उत्सृज्य १६—२३; १७—१
उदपाने २—४६

पदानि अ० श्लो०

उदाराः ७—१८

उदासीनवत् ९—९; १४—२३

उदासीनः १२—१६

उदाहृतम् १३—६; १७—१९, २२; १८—२२, २४, ३९

उदाहृतः १५—१७

उदाहृत्य १७—२४

उद्दिश्य १७—२१

उद्देशतः १०—४०

उद्धरेत् ६—५

उद्भवः १०—३४

उद्यताः १—४५

उद्यम्य १—२०

उद्विजते १२—१५, १५

उद्विजेत् ५—२०

उन्मिषन् ५—९

उपजायते २—६२, ६५; १४—११

उपजायन्ते १४—२

उपजुह्वति ४—२५

उपदेक्ष्यन्ति ४—३४

उपद्रष्टा १३—२२

उपधारय ७—६; ९—६

उपपद्यते २—३, ६—३९; १३—१८; १८—७

उपपन्नम् २—३२

उपमा ६—१९

उपयान्ति १०—१०

उपरतम् २—३५

उपरमते ६—२०

उपरमेत् ६—२५

उपलभ्यते १५—३

उपलिप्यते १३—३२, ३२

उपविश्य ६—१२

उपसगम्य १—२

उपसेवते १५—९

उपहन्याम् ३—२४

उपायतः ६—३६

पदानि अ० श्लो०

उपाविशत् १—४७

उपाश्रिताः ४—१०; १६—११

उपाश्रित्य १४—२; १८—५७

उपासते ९—१४, १५; १२—२, ६; १३—२५

उपेतः ६—३७

उपेताः १२—२

उपेत्य ८—१५, १६

उपैति ६—२७; ८—१०, २८

उपैष्यसि ९—२८

उभयविभ्रष्टः ६—३८

उभयोः १—२१, २४, २७; २—१०, १६; ५—४

उभे २—५०

उभौ २—१९; ५—२; १३—१९

उरगान् ११—१५

उल्बेन ३—३८

उवाच १—१, २, २४, २५, ४७; २—१, १, २, ४, ९, १०, ११, ५४, ५५; ३—१, ३, १०, ३६, ३७; ४—१, ४, ५; ५—१, २; ६—१, ३३, ३५, ३७, ४०; ७—१; ८—१, ३, ९—१; १०—१, १२, १९; ११—१, ५, ९, १५, ३२, ३५, ३६, ४७, ५०, ५१, ५२; १२—१, २; १३—१; १४—१, २१, २२; १५—१; १६—१; १७—१, २; १८—१, २, ७३, ७४

पदानि अ० श्लो०

उशना १०—३७

उषित्वा ६—४१

ऊ.

ऊर्जितम् १०—४१

ऊर्ध्वमूलम् १५—१

ऊर्ध्वम् १२—८; १४—१८; १५—२

ऊष्मपाः ११—२२

ऋ.

ऋक् ९—१७

ऋच्छति २—७२; ५—२९

ऋतम् १०—१४

ऋतूनाम् १०—३५

ऋते ११—३२

ऋद्धम् २—८

ऋषयः ५—२५; १०—१३

ऋषिभिः १३—४

ऋषीन् ११—१५

ए.

एकत्वम् ६—३१

एकत्वेन ९—१५

एकभक्तिः ७—१७

एकया ८—२६

एकस्थम् ११—७, १३; १३—३०

एकस्मिन् १८—२२

एकम् ३—२; ५—१, ४, ५; १०—२५, १३—५; १८—२०, ६६

एकः ११—४२; १३—३३

एका २—४१

एकाकी ६—१०

एकाक्षरम् ८—१३

एकाग्रम् ६—१२

एकाग्रेण १८—७२

एकान्तम् ६—१६

एकांशेन १०—४२

एकेन ११—२०

पदानि अ० श्लो०

एके १८—३

एतत् २—३, ६; ३—३२; ४—३, ४; ६—२६, ३९, ४२; १०—१४; ११—३, ३५; १२—११; १३—१, ६, ११, १८; १५—२०; १६—२१; १७—१६, २६; १८—६३, ७२, ७५

एतद्योनीनि ७—६

एतयोः ५—१

एतस्य ६—३३

एतानि १४—१२, १३; १५—८; १८—६

एतान् १—२२, २५, ३५, ३६; १४—२०, २१, २१, २६

एतावत् १६—११

एताम् १—३; ७—१४; १०—७; १६—९

एति ४—९, ९; ८—६; ११—५५

एते १—२३, ३८; २—१५; ४—३०; ७—१८; ८—२६, २७; ११—३३; १८—१५

एतेन ३—३९; १०—४२

एतेषाम् १—१०

एतैः १—४३; ३—४०; १६—२२

एधांसि ४—३७

एनम् २—१९, १९, २१, २३, २३, २३, २५, २६, २९, २९, २९; ३—३७, ४१; ४—४२; ६—२७; ११—५०; १५—३, ११, ११

पदानि अ० श्लो०

एनाम् २—७२
एभिः ७—१३; १८—४०
एभ्यः ३—१२; ७—१३
एव १—१, ६, ८, ११, ११, १३, १४, १९, २७, ३०, ३४, ३६, ४२; २—५, ६, १२, १२, २४, २८, २९, २९, ४७, ५५; ३—४, १२, १७, १७, १८, २०, २०, २१, २२; ४—३, ११, १५, २०, २४, २५, २५, ३६; ५—८, १३, १५, १८, १९, २२, २३, २४, २७, २८; ६—३, ५, ५, ६, ६, १६, १८, २०, २१, २४, २६, ४०, ४२, ४४; ७—४, १२, १२, १४, १८, १८, १८, २१, २२; ८—४, ५, ६, ७, १०, १८, १९, २३, २८; ९—१२, १६, १७, १९, २३, २४, ३०, ३४; १०—१, ४, ५, ११, १३, १५, २०, ३२, ३३, ३८, ४१, ४१; ११—८, २२, २५, २६, २८, २९, ३३, ३३, ३५, ४०, ४५, ४६, ४६, ४९; १२—४, ६, ८, ८, १३; १३—४, ५, ८, १४, १५, १९, १९, २५, २९, ३०; १४—१०, १३, १७, १७, २२, २३; १५—४, ७, ९, १५, १५, १६; १६—४, ६, १९, २०; १७—२, ३, ६, ११, १२, १५, १८, २७, २७; १८—५, ५, ८, ८, ९, ९, १४, १९, २९, ३१, ३५, ४२, ५०, ६२, ६५, ६८
एवम् १—२४, ४७; २—९, २५, २६, ३८; ३—१६, ४३; ४—२, ९, १५, ३२, ३२, ३५; ६—१५, २८; ९—२१, २८, ३४; ११—३, ९; १२—१; १३—२३, २५, ३४; १५—१९; १८—१६
एवरूपः ११—४८
एवंविधः ११—५३, ५४
एषः ३—१०, ३७, ३७, ४०; १०—४०; १८—५९
एषा २—३९, ७२; ७—१४
एषाम् १—४२
एष्यति १८—६८
एष्यसि ८—७, ९—३४; १८—६५

ऐ.

ऐकान्तिकस्य १४—२७
ऐश्वरम् ९—५, ११—३, ८, ९
ऐरावतम् १०—२७

ओ.

ओजसा १५—१३
ओषधीः १५—१३
ओम् ८—१३; १७—२३, २४
ओंकारः ९—१७

औ.

औषधम् ९—१६

क.

कच्चित् ६—३८; १८—७२, ७२
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः १७—९
कतरत् २—६
कथय १०—१८
कथयतः १८—७५
कथयन्तः १०—९
कथयिष्यन्ति २—३४
कथयिष्यामि १०—१९
कथम् १—३७, ३९; २—४, २१; ४—४; ८—२, २; १०—१७; १४—२१
कदाचन २—४७; १८—६७
कदाचित् २—२०
कपिध्वजः १—२०
कपिलः १०—२६
कमलपत्राक्ष ११—२
कमलासनस्थम् ११—१५
करणम् १८—१४, १८
करिष्यति ३—३३
करिष्यसि २—३३; १८—६०
करिष्ये १८—७३
करुणः १२—१३
करोति ४—२०; ५—१०; ६—१; १३—३१
करोमि ५—८
करोषि ९—२७
कर्णम् ११—३४
कर्णः १—८
कर्तव्यम् ३—२२
कर्तव्यानि १८—६
कर्ता ३—२४, २७; १८—१४, १८, १९, २६, २७, २८
कर्तारम् ४—१३; १४—१९; १८—१६
कर्तुम् १—४५; २—१७; ३—२०; ९—२; १२—११; १६—२४; १८—६०
कर्तृत्वम् ५—१४
कर्म २—४९; ३—५, ८, ८, ९, १५, १९, १९, २४; ४—९, १५, १५, १६, १६, १८, २१, २३, ३३; ५—११; ६—१, ३; ७—२९; ८—१; १६—२४; १७—२७; १८—३, ५, ८, ९, १०, १५, १८, १९, २३, २४, २५, ४४, ४७, ४८
कर्मचोदना १८—१८
कर्मजम् २—५१
कर्मजा ४—१२
कर्मजान् ४—३२
कर्मणः ३—१, ९; ४—१७, १७; १४—१६; १८—७, १२
कर्मणा ३—२०; १८—६०
कर्मणाम् ३—४; ४—१२; ५—१; १४—१२; १८—२
कर्मणि २—४७; ३—१, २२, २३, २५; ४—१८, २०; १४—९; १७—२६; १८—४५
कर्मफलत्यागः १२—१२
कर्मफलत्यागी १८—११

पदानि अ० श्लो०
कर्मफलप्रेप्सुः १८—२७
कर्मफलसंयोगम् ५—१४
कर्मफलहेतुः २—४७
कर्मफलम् ५—१२; ६—१
कर्मफलासङ्गम् ४—२०
कर्मफले ४—१४
कर्मबन्धनः ३—९
कर्मबन्धम् २—३९
कर्मबन्धनैः ९—२८
कर्मभिः ३—३१; ४—१४
कर्मयोगम् ३—७
कर्मयोगः ५—२, २
कर्मयोगेन ३—३, १३—२४
कर्मसङ्गिनाम् ३—२६
कर्मसङ्गिषु १४—१५
कर्मसङ्गेन १४—७
कर्मसमुद्भवः ३—१४
कर्मसंग्रहः १८—१८
कर्मसंज्ञितः ८—३
कर्मसंन्यासात् ५—२
कर्मसु २—५०; ६—४, १७; ९—९
कर्माणि २—४८; ३—२७, ३०; ४—१४, ४१; ५—१०, १४; ९—९; १२—६, १०; १३—२९; १८—६, ११, ४१
कर्मानुबन्धीनि १५—२
कर्मिभ्यः ६—४६
कर्मेन्द्रियाणि ३—६
कर्मेन्द्रियैः ३—७
कर्शयन्तः १७—६
कर्षति १५—७
कलयताम् १०—३०
कलेवरम् ८—५, ६

पदानि अ० श्लो०
कल्पते २—१५; १४—२६; १८—५३
कल्पादौ ९—७
कल्याणकृत् ६—४०
कवयः ४—१६; १८—२
कविम् ८—९
कविः १०—३७
कवीनाम् १०—३७
कश्चन ३—१८; ६—२; ७—२६; ८—२७
कश्चित् २—१७, २९, २९; ३—५, १८; ६—४०; ७—३, ३; १८—६९
कश्मलम् २—२
कस्मात् ११—३७
कस्यचित् ५—१५
कम् २—२१, २१
कन्दर्पः १०—२८
कः ८—२; ११—३१; १६—१५

का.

का १—३६; २—२८, ५४; १७—१
काङ्क्षति ५—३; १२—१७; १४—२२; १८—५४
काङ्क्षन्तः ४—१२
काङ्क्षितम् १—३३
काङ्क्षे १—३२
कामकामाः ९—२१
कामकामी २—७०
कामकारतः १६—२३
कामकारेण ५—१२
कामक्रोधपरायणाः १६—१२
कामक्रोधवियुक्तानाम् ५—२६
कामक्रोधोद्भवम् ५—२३

पदानि अ० श्लो०
कामधुक् १०—२८
कामभोगार्थम् १६—१२
कामभोगेषु १६—१६
कामरागबलान्विताः १७—५
कामरागविवर्जितम् ७—११
कामरूपम् ३—४३
कामरूपेण ३—३९
कामसंकल्पवर्जिताः ४—१९
कामहैतुकम् १६—८
कामम् १६—१०, १८; १८—५३
कामः २—६२; ३—३७; ७—११; १६—२१
कामात्मानः २—४३
कामात् २—६२
कामान् २—५५, ७१; ६—२४; ७—२२
कामाः २—७०
कामेप्सुना १८—२४
कामैः ७—२०
कामोपभोगपरमाः १६—११
काम्यानाम् १८—२
कायक्लेशभयात् १८—८
कायशिरोग्रीवम् ६—१३
कायम् ११—४४
कायेन ५—११
कारणम् ६—३, ३; १३—२१
कारणानि १८—१३
कारयन् ५—१३
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः २—७
कार्यकरणकर्तृत्वे १३—२०
कार्यते ३—५
कार्यम् ३—१७, १९;

पदानि अ० श्लो०
६—१; १८—५, ९, ३१
कार्याकार्यव्यवस्थितौ १६—२४
कार्याकार्ये १८—३०
कार्ये १८—२२
कालम् ८—२३
कालः १०—३०, ३३; ११—३२
कालानलसंनिभानि ११—२५
काले ८—२३; १७—२०
कालेन ४—२, ३८
कालेषु ८—७, २७
काशिराजः १—५
काश्यः १—१७
काम् ६—३७

कि.

किम् १—१, ३२, ३२, ३५; २—३६, ५४, ५४, ५४; ३—१, ३३; ४—१६, १६; ८—१, १, १, १, १; ९—३३; १०—४२; १६—८
किमाचारः १४—२१
किंचन ३—२२
किंचित् ४—२०; ५—८; ६—२५; ७—७; १३—२६
किरीटी ११—३५
किरीटिनम् ११—१७, ४६
किल्बिषम् ४—२१; १८—४७

की.

कीर्तयन्तः ९—१४
कीर्तिम् २—३३
कीर्तिः १०—३४

कु.

कुतः २—२, ६६

पदानि अ० श्लो०

४—३१; ११—४३
कुन्तिभोजः १—५
कुन्तीपुत्रः १—१६
कुरु २—४८; ३—८; ४—१५; १२—११; १८—६३
कुरुक्षेत्रे १—१
कुरुते ३—२१; ४—३७, ३७
कुरुनन्दन २—४१; ६—४३; १४—१३
कुरुप्रवीर ११—४८
कुरुवृद्धः १—१२
कुरुश्रेष्ठ १०—१९
कुरुष्व ९—२७
कुरुसत्तम ४—३१
कुरून् १—२५
कुर्यात् ३—२५
कुर्याम् ३—२४
कुर्वन् ४—२१; ५—७, १३; १२—१०; १८—४७
कुर्वन्ति ३—२५; ५—११
कुर्वाणः १८—५६
कुलक्षयकृतम् १—३८, ३९
कुलक्षये १—४०
कुलघ्नानाम् १—४२, ४३
कुलधर्माः १—४०, ४३
कुलस्य १—४२
कुलस्त्रियः १—४१
कुलम् १—४०
कुले ६—४२
कुशले १८—१०
कुसुमाकरः १०—३५

कू.

कूटस्थम् १२—३
कूटस्थः ६—८; १५—१६

पदानि अ० श्लो०

कूर्मः २—५८

कृ.

कृतकृत्यः १५—२०
कृतनिश्चयः २—३७
कृतम् ४—१५, १५; १७—२८; १८—२३
कृताञ्जलिः ११—१४, ३५
कृतान्ते १८—१३
कृतेन ३—१८
कृत्वा २—३८; ४—२२; ५—२७, २७; ६—१२, २५; ११—३५; १८—८, ६८
कृत्स्नकर्मकृत् ४—१८
कृत्स्नवत् १८—२२
कृत्स्नवित् ३—२९
कृत्स्नस्य ७—६
कृत्स्नम् १—४०; ७—२९; ९—८; १०—४२; ११—७, १३; १३—३३, ३३
कृपणाः २—४९
कृपया १—२८; २—१
कृपः १—८
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम् १८—४४
कृष्ण १—२८, ३२, ४१; ५—१; ६—३४, ३७, ३९; ११—४१; १७—१
कृष्णम् ११—३५
कृष्णः ८—२५; १८—७८
कृष्णात् १८—७५

के.

के १२—१
केचित् ११—२१, २७; १३—२४
केन ३—३६
केनचित् १२—१९
केवलम् ४—२१; १८—१६

पदानि अ० श्लो०

केवलैः ५—११
केशव १—३१; २—५४; ३—१; १०—१४
केशवस्य ११—३५
केशवार्जुनयोः १८—७६
केशिनिषूदन १८—१
केषु १०—१७, १७

कै.

कैः १—२२; १४—२१

कौ.

कौन्तेय २—१४, ३७, ६०; ३—९, ३९; ५—२२; ६—३५; ७—८; ८—६, १६; ९—७, १०, २३, २७, ३१; १३—१, ३१; १४—४, ७; १६—२०, २२; १८—४८, ५०, ६०
कौन्तेयः १—२७
कौमारम् २—१३
कौशलम् २—५०

क्र.

क्रतुः ९—१६

क्रि.

क्रियते १७—१८, १९; १८—९, २४
क्रियन्ते १७—२५
क्रियमाणानि ३—२७; १३—२९
क्रियाभिः ११—४८
क्रियाविशेषबहुलाम् २—४३

क्रू.

क्रूरान् १६—१९;

क्रो.

क्रोधम् १६—१८; १८—५३
क्रोधः २—६२, ३—३७; १६—४, २१

पदानि अ० श्लो०

क्रोधात् २—६३

क्ले.

क्लेदयन्ति २—२३
क्लेशः १२—५

क्लै.

क्लैब्यम् २—३

क्व.

क्वचित् १८—१२

क्ष.

क्षणम् ३—५
क्षत्रकर्म १८—४३
क्षत्रियस्य २—३१
क्षत्रियाः २—३२
क्षमा १०—४, ३४; १६—३
क्षमी १२—१३
क्षयम् १८—२५
क्षयाय १६—९
क्षरम् १५—१८
क्षरः ८—४; १५—१६, १६

क्षा.

क्षान्तिः १३—७; १८—४२
क्षामये ११—४२

क्षि.

क्षिपामि १६—१९
क्षिप्रम् ४—१२; ९—३१

क्षी.

क्षीणकल्मषाः ५—२५
क्षीणे ९—२१

क्षु.

क्षुद्रम् २—३

क्षे.

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः १३—२, ३४
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् १३—२६
क्षेत्रज्ञम् १३—२
क्षेत्रज्ञः १३—१
क्षेत्रम् १३—१, ३, ६, १८, ३३
क्षेत्री १३—३३
क्षेमतरम् १—४६

पदानि अ० श्लो०

ख.

खम् ७—४
खे ७—८

ग.

गच्छ १८—६२
गच्छति ६—३७, ४०
गच्छन् ५—८
गच्छन्ति २—५१; ५—१७; ८—२४; १४—१८, १८; १५—५
गजेन्द्राणाम् १०—२७
गतरसम् १७—१०
गतव्यथः १२—१६
गतसङ्गस्य ४—२३
गतसन्देहः १८—७३
गतः ११—५१
गतागतम् ९—२१
गतासून् २—११
गताः ८—१५; १४—१; १५—४
गतिम् ६—३७, ४५; ७—१८; ८—१३, २१; ९—३२; १३—२८; १६—२०, २२, २३
गतिः ४—१७; ९—१८; १२—५
गती ८—२६
गत्वा १४—१५; १५—६
गदिनम् ११—१७, ४६
गन्तव्यम् ४—२४
गन्तासि २—५२
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः ११—२२
गन्धर्वाणाम् १०—२६
गन्धः ७—९
गन्धान् १५—८
गमः २—३
गम्यते ५—५
गरीयसे ११—३७
गरीयः २—६
गरीयान् ११—४३
गर्भम् १४—३
गर्भः ३—३८
गवि ५—१८
गहना ४—१७

गा.

गाण्डीवम् १—३०
गात्राणि १—२९
गायत्री १०—३५
गाम् १५—१३

गि.

गिराम् १०—२५

गी.

गीतम् १३—४

गु.

गुडाकेश १०—२०; ११—७
गुडाकेशः २—९
गुडाकेशेन १—२४
गुणकर्मविभागयोः ३—२८
गुणकर्मविभागशः ४—१३
गुणकर्मसु ३—२९
गुणतः १८—२९
गुणप्रवृद्धाः १५—२
गुणभेदतः १८—१९
गुणभोक्तृ १३—१४
गुणमयी ७—१४
गुणमयैः ७—१३
गुणसङ्गः १३—२१
गुणसंमूढाः ३—२९
गुणसंख्याने १८—१९
गुणातीतः १४—२५
गुणान् १३—१९, २१; १४—२०, २१, २१, २६
गुणान्वितम् १५—१०
गुणाः ३—२८; १४—५, २३
गुणेषु ३—२८;
गुणेभ्यः १४—१९, १९
गुणैः ३—५, २७; १३—२३; १४—२३, १८—४०, ४१
गुरुणा ६—२२
गुरुः ११—४३
गुरून् २—५, ५
गुह्यतमम् ९—१; १५—२०
गुह्यतरम् १८—६३
गुह्यम् ११—१; १८—६८, ७५
गुह्यात् १८—६३
गुह्यानाम् १०—३८

गृ.

गृणन्ति ११—२१
गृह्णन् ५—९
गृह्णाति २—२२
गृहीत्वा १५—८; १६—१०
गृह्यते ६—३५

गे.

गेहे ६—४१

गो.

गोविन्द १—३२
गोविन्दम् २—९

ग्र.

ग्रसमानः ११—३०
ग्रसिष्णु १३—१६

ग्ला.

ग्लानिः ४—७

घा.

घातयति २—२१

घो.

घोरम् ११—४९; १७—५
घोरे ३—१
घोषः १—१९

घ्न.

घ्नतः १—३५

घ्रा.

घ्राणम् १५—९

च.

च १—१, ४, ४, ५, ५, ५, ६, ६, ६, ८, ८, ८, ८, ८, ९, ११, १३, १३, १४, १६, १७, १७, १७, १७, १८, १८, १९, १९, २५, २७, २९, २९, २९, ३०, ३०, ३१, ३१, ३१, ३२, ३२, ३३, ३३, ३४, ३८, ४२, ४३; २—४, ६, ८, ११, ११, १२, १९ २३, २४, २६, २७, २९ २९, २९, ३१, ३२, ३३, ३४, ३४, ३५, ३६, ४१, ५२, ५८, ६६, ६६; ३—४, ८, १७, १७, १८, २२, २४, ३८, ३९; ४—३, ५, ८, ९, १७, १७, १८, २२, २७, २८, ४०, ४०; ५—१, २, ५, ५, १५, १८—१८, २०, २७; ६—१, १, १, ९, १३, १६, १६, १६, २०, २१, २२, २९, ३०, ३०, ३५, ४३, ४६; ७—४, ९, ९, ९, ११, १२, १२, १६, १७, २२, २६, २६; २९, ३०, ३०; ८—१, २, ४, ५, ७, १०, १२, २३, २८, २८, ९—४, ५, ५, ९, १२, १४, १४, १५, १७, १९, १९, १९, १९, २४, २४, २९; १०—२, ३, ४, ४, ७, ९, ९, ९, १३, १७, १८, २०, २०, २०, २२, २३, २३, २४, २६, २७, २८, २९, २९, ३०, ३०, ३०, ३१, ३२, ३२, ३३, ३४, ३४, ३४, ३८, ३९, ११—२, ५, ७, १५, १५, १७, २०, २२, २२, २२, २२, २४, २५, २५, २६, ३४, ३४,

पदानि अ० श्लो०
३४, ३६, ३६, ३७, ३८,
३८, ३९, ३९, ४२, ४३,
४५, ४८, ४९, ५०, ५३,
५४, ५४; १२—१, ३,
१३, १५, १५, १८, १८;
१३—२, ३, ३, ३, ३,
३, ४, ५, ५, ५, ८, ९
१०, १४, १४, १५, १५,
१५, १५, १६, १६, १६,
१६, १८, १९, १९, १९,
२२, २२, २३, २४, २५,
२९, ३०, ३४, १४—२,
६, १०, १०, १३, १३,
१७, १७, १९, २१, २२,
२२, २२, २६, २७, २७,
२७; १५—२, २, ३, ३,
४, ८, ९, ९, ९, ११,
१२, १३, १३, १५, १५,
१५, १५, १६, १६, १८, १८,
२०; १६—१, १, ४, ४,
४, ६, ७, ७, ७, ११,
१४, १८; १७—२, २,
४, ६, १०, १०, १२, १४,
१५, १५, १८, २०, २०,
२१, २२, २३, २३, २५,
२६, २७, २७, २७, २८,
२८; १८—१, ३, ५, ६,
९, १२, १४, १४, १४,
१९, १९, २२, २५, २८,
२९, ३०, ३०, ३०, ३१,
३१, ३१, ३२, ३५, ३६,
३९, ३९, ४१, ४२, ४३,
४३, ५१, ५१, ५५, ६७,
६७, ६९, ६९, ७०, ७१,
७४, ७६, ७७, ७७,
चक्रहस्तम् ११—४६
चक्रम् ३—१६
चक्रिणम् ११—१७
चक्षुः ५—२७; ११—८; १५—९

पदानि अ० श्लो०
चञ्चलत्वात् ६—३३
चञ्चलम् ६—२६, ३४
चतुर्भुजेन ११—४६
चतुर्विधम् १५—१४
चतुर्विधाः ७—१६
चत्वारः १०—६
चन्द्रमसि १५—१२
चमूम् १—३
चरताम् २—६७
चरति २—७१; ३—३६
चरन् २—६४
चरन्ति ८—११
चरम् १३—१५
चराचरस्य ११—४३
चराचरम् १०—३९
चलति ६—२१
चलम् ६—३५; १७—१८
चलितमानसः ६—३७

चा.

चातुर्वर्ण्यम् ४—१३
चान्द्रमसम् ८—२५
चापम् १—४७

चि.

चिकीर्षुः ३—२५
चित्तम् ६—१८, २०; १२—९
चित्ररथः १०—२६
चिन्तयन्तः ९—२२
चिन्तयेत् ६—२५
चिन्ताम् १६—११
चिन्त्यः १०—१७
चिरात् १२—७
चिरेण ५—६

चू.

चूर्णितैः ११—२७

चे.

चेकितानः १—५
चेत् २—३३; ३—१, २४; ४—३६; ९—३०; १८—५८

पदानि अ० श्लो०
चेतना १०—२२; १३—६
चेतसा ८—८; १८—५७, ७२
चेष्टते ३—३३
चेष्टाः १८—१४

चै.

चैलाजिनकुशोत्तरम् ६—११

च्य.

च्यवन्ति ९—२४

छ.

छन्दसाम् १०—३५
छन्दांसि १५—१
छन्दोभिः १३—४
छलयताम् १०—३६

छि.

छित्त्वा ४—४२; १५—३
छिन्दन्ति २—२३
छिन्नद्वैधाः ५—२५
छिन्नसंशयः १८—१०
छिन्नाभ्रम् ६—३८

छे.

छेत्ता ६—३९
छेत्तुम् ६—३९

ज.

जगतः ७—६; ८—२६; ९—१७, १६—९
जगत् ७—५, १३; ९—४, १०; १०—४२, ११—७, १३, ३०, ३६; १५—१२; १६—८
जगत्पते १०—१५
जगन्निवास ११—२५, ३७, ४५
जघन्यगुणवृत्तस्थाः १४—१८
जनकादयः ३—२०
जनयेत् ३—२६
जनसंसदि १३—१०
जनः ३—२१
जनाधिपाः २—१२
जनानाम् ७—२८

पदानि अ० श्लो०
जनार्दन १—३६, ३९, ४४; ३—१; १०—१८; ११—५१
जनाः ७—१६; ८—१७, २४; ९—२२; १६—७; १७—४, ५
जन्तवः ५—१५
जन्म २—२७; ४—४, ४, ९, ९; ६—४२; ८—१५, १६
जन्मकर्मफलप्रदाम् २—४३
जन्मनाम् ७—१९
जन्मनि १६—२०, २०
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः २—५१
जन्ममृत्युजरादुःखैः १४—२०
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् १३—८
जन्मानि ४—५
जपयज्ञः १०—२५
जयद्रथम् ११—३४
जयः १०—३६
जयाजयौ २—३८
जयेम २—६
जयेयुः २—६
जरा २—१३
जरामरणमोक्षाय ७—२९
जहाति २—५०
जहि ३—४३; ११—३४

जा.

जागर्ति २—६९
जाग्रतः ६—१६
जाग्रति २—६९
जातस्य २—२७
जाताः १०—६
जातिधर्माः १—४३
जातु २—१२; ३—५, २३

पदानि अ० श्लो०

जानन् ८—२७
जानाति १५—१९
जाने ११—२५
जायते १—२९, ४१; २—२०; १४—१५, १५
जायन्ते १४—१२, १३
जाह्नवी १०—३१

जि.

जिगीषताम् १०—३८;
जिघ्रन् ५—८
जिजीविषामः २—६
जिज्ञासुः ६—४४, ७—१६
जितसङ्गदोषाः १५—५
जितः ५—१९; ६—६
जितात्मनः ६—७
जितात्मा १८—४९
जित्वा २—३७; ११—३३
जितेन्द्रियः ५—७

जी.

जीर्णानि २—२२, २२
जीवति ३—१६
जीवनम् ७—९
जीवभूतः १५—७
जीवभूताम् ७—५
जीवलोके १५—७
जीवितेन १—३२

जु.

जुहोषि ९—२७
जुह्वति ४—२६, २६, २७, २९, ३०

जे.

जेतासि ११—३४
जोषयेत् ३—२६

ज्ञा.

ज्ञातव्यम् ७—२
ज्ञातुम् ११—५४
ज्ञातेन १०—४२
ज्ञात्वा ४—१५, १६, ३२, ३५; ५—२९; ७—२;

पदानि अ० श्लो०

१४—१; १६—२४; १८—५५
ज्ञानगम्यम् १३—१७
ज्ञानचक्षुषः १५—१०
ज्ञानचक्षुषा १३—३४
ज्ञानतपसा ४—१०
ज्ञानदीपिते ४—२७
ज्ञानदीपेन १०—११
ज्ञाननिर्धूत-कल्मषाः ५—१७
ज्ञानप्लवेन ४—३६
ज्ञानयज्ञः ४—३३
ज्ञानयज्ञेन ९—१५; १८—७०
ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः १६—१
ज्ञानयोगेन ३—३
ज्ञानवताम् १०—३८
ज्ञानवान् ३—३३; ७—१९
ज्ञानविज्ञान-तृप्तात्मा ६—८
ज्ञानविज्ञान-नाशनम् ३—४१
ज्ञानसङ्गेन १४—६
ज्ञानसंछिन्न-संशयम् ४—४१
ज्ञानस्य १८—५०
ज्ञानम् ३—३९, ४०; ४—३४, ३९, ३९; ५—१५, १६; ७—२; ९—१; १०—४, ३८; १२—१२; १३—२, २, ११, १७, १८; १४—१, २, ९, ११, १७; १५—१५; १८—१८, १९, २०, २१, २१, ४२, ६३
ज्ञानाग्निदग्ध-कर्माणम् ४—१९

पदानि अ० श्लो०

ज्ञानात् १२—१२
ज्ञानानाम् १४—१
ज्ञानावस्थित-चेतसः ४—२३
ज्ञानासिना ४—४२
ज्ञानिनः ३—३९; ४—३४; ७—१७
ज्ञानिभ्यः ६—४६
ज्ञानी ७—१६, १७, १८
ज्ञाने ४—३३
ज्ञानेन ४—३८; ५—१६
ज्ञास्यसि ७—१

ज्ञे.

ज्ञेयम् १—३९; १३—१२, १६, १७, १८; १८—१८
ज्ञेयः ५—३; ८—२

ज्या.

ज्यायसी ३—१
ज्यायः ३—८

ज्यो.

ज्योतिषाम् १०—२१; १३—१७
ज्योतिः ८—२४, २५; १३—१७

ज्व.

ज्वलद्भिः ११—३०
ज्वलनम् ११—२९

झ.

झषाणाम् १०—३१

त.

ततम् २—१७; ८—२२ ९—४; ११—३८; १८—४६
ततः १—१३, १४; २—३३, ३६, ३८; ६—२२, २६, २६, ४३, ४५; ७—२२; ११—४, ९, १४, ४०; १२—९, ११; १३—२८, ३०; १४—३; १५—४; १६—२०,

पदानि अ० श्लो०

तत् १—१०, ४६; २—७, १७, ५७, ५७, ६७; ३—१, २, २१, २१, २१; ४—१६, ३४, ३८; ५—१, ५, १६; ६—२१; ७—१, २३, २९; ८—१, ११, २१, २८; ९—२६, २७; १०—३९, ३९, ४१, ४१; ११—४, ४२, ४२, ४५, ४९; १३—२, ३, ३, १२, १२, १३, १५, १५, १६, १७, २६; १४—७, ८; १५—४, ५, ६, ६, १२; १७—१७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २५, २८; १८—५, २०, २१, २२, २३, २४, २५, ३७, ३७, ३८, ३८, ३९, ४०, ४५, ६०, ७७
तत्परम् ५—१६; ११—३७
तत्परः ४—३९
तत्परायणाः ५—१७
तत्प्रसादात् १८—६२
तत्र १—२६; २—१३, २८; ६—१२, ४३; ८—१८, २४, २५; ११—१३; १४—६; १८—४, १६, ७८
तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनम् १३—११
तत्त्वतः ४—९; ६—२१; ७—३; १०—७; १८—५५, ५५
तत्त्वदर्शिनः ४—३४
तत्त्वदर्शिभिः २—१६
तत्त्ववित् ३—२८; ५—८

पदानि अ० श्लो०
तत्त्वम् १८—१
तत्त्वेन ९—२४, ११—५४
तथा १—८, २६, ३४, ३४, २—१, १३, २२, २६, २९; ३—२५, ३८, ४—११, २८, २९, ३७, ५—२४, ६—७, ७—६, ८—२५; ९—६, ३२, ३३; १०—६, १३, ३५, ११—६, १५, २३, २६, २८, २९, ३४, ४६, ५०, १२—१८, १३—१८, २९, ३२, ३३, १४—१०, १५, १५—३, १६—२१, १७—७, २६; १८—१४, ५०, ६३
तदनन्तरम् १८—५५
तदर्थम् ३—९
तदर्थीयम् १७—२७
तदा १—२, २१, २—५२, ५३, ५५; ४—७; ६—४, १८, ११–१३, १३–३०, १४—११, १४
तदात्मानः ५—१७
तद्बुद्धयः ५—१७
तद्भावभावितः ८—६
तद्वत् २—७०
तद्विदः १३—१
तनुम् ७—२१, ९—११
तन्निष्ठाः ५—१७
तपन्तम् ११—१९
तपसा ११—५३
तपसि १७—२७
तपस्यसि ९—२७
तपस्विभ्यः ६—४६
तपस्विषु ७—९
तपः ७—९; १०—५. १६—१, १७—५, ७, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २८, १८—५, ५, ४२
पदानि अ० श्लो०
तपःसु ८—२८
तपामि ९—१९
तपोभिः ११—४८
तपोयज्ञाः ४—२८
तप्तम् १७—१७, २८
तप्यन्ते १७—५
तमसः ८—९, १३—१७, १४—१६, १७
तमसा १८—३२
तमसि १४—१३, १५
तमः १०—११, १४—५, ८, ९, १०, १०, १०, १७—१
तमोद्वारैः १६—२२
तया २—४४, ७—२२
तयोः ३—३४, ५—२
तरन्ति ७—१४
तरिष्यसि १८—५८
तव १—३, २—३६, ३६, ४—५, १०—४२, ११—१५, १६, २०, २८, २९, ३०, ३१, ३६, ४१, ४७, ५१; १८—७३
तस्मात् १—३७, २—१८, २५, २७, ३०, ३७, ५०, ६८, ३—१५, १९, ४१; ४—१५, ४२, ५—१९, ६—४६, ८–७, २०, २७, ११–३३ ४४, १६—२१, २४, १७—२४, १८—६९, ६९
तस्मिन् १४—३
तस्य १—१२, २—५७, ५८, ६१, ६८, ३—१७, १८, ४—१३; ६— ६, ३०, ३४, ७—२१, २१; ८—१४ ११—१२; १५—२; १८—७, १५
पदानि अ० श्लो०
तस्याम् २—६९
तस्याः ७—२२
तम् २—१, १०; ४—१९; ६—२, २३, ४३, ७—२० २०; ८—६, ६, १०, २१, २३, ९—२१; १०—१०, १३—१, १५—१, ४; १७—१२, १८—४६, ६२

ता.

तात ६—४०
तानि २—६१; ४—५, ९—७, ९; १८—१९
तान् १—७; ७, २७, २—१४; ३—२९, ३२, ४—११, ३२; ७—१२, २२, १६—१९; १७—६
तामसप्रियम् १७—१०
तामसम् १७—१३ १९, २२, १८—२२, २५, ३९
तामस. १८—७, २८
तामसाः ७—१२, १४—१८; १७—४
तामसी १७—२, १८—३२, ३५
तावान् २—४६
तासाम् १४—४
ताम् ७—२१; ८—१७; १७—२

ति.

तितिक्षस्व २—१४
तिष्ठति ३—५, १३—१३; १८—६१
तिष्ठन्तम् १३—२७
पदानि अ० श्लो०
तिष्ठन्ति १४—१८
तिष्ठसि १०—२६

तु.

तु १—२, ७, १०: २—५, १२, १४, १६, १७, ३९, ६४, ३—७, १३, १७, २८, ३२, ४२, ४२, ५—२, ६, १४, १६, ६—६, १६, ३५, ३६, ४५; ७—५, १२, १८, २३, २६, २८; ८—१६, २०, २२, २३; ९—१, १३, २४, २९, १०—४०; ११—८, ५४; १२—३, ६, २०, १३—२५; १४—८, ९, १४, १६, १५—१७, १७—१, ७, १२, २१; १८—६, ७, ११, १२, १६, २१, २२, २४, ३४, ३६;
तुमुलः १—१३, १९
तुल्यनिन्दात्मसस्तुतिः १४—२४
तुल्यनिन्दास्तुतिः १२—१९
तुल्यप्रियाप्रियः १४—२४
तुल्यः १४—२५, २५
तुष्टः २—५५
तुष्टिः १०—५
तुष्यति ६—२०
तुष्यन्ति १०—९

तू.

तूष्णीम् २—९

तृ.

तृप्तिः १०—१८.
तृष्णासङ्गसमुद्भवम् १४— ७

ते.

ते १—७, ३३; २—६, ७, ३४, ३९, ४७, ४७, ५२, ५३; ३—१, ८, ११, १३, ३१· ४—३· १६, ३४; ५—१९, २२: ७—२, १२, १४, २८,

पदानि अ० श्लो०

२९, ३०; ८—११, १७; ९—१, २०, २१, २३, २४, २९, ३२; १०—१, १०, १४, १९; ११—३, ८, २३, २५, २७, ३१, ३७, ३९, ३९, ४०, ४०, ४९; १२—२, ४, २०; १३—२५, ३४; १६—८, १७, २४; १८—५९, ६३, ६४, ६५, ६७, ७२;
तेजस्विनाम् ७—१०; १०—३६
तेजः ७—९, १०, १०—३६, १५—१२, १२, १६—३; १८—४३
तेजोभिः ११—३०
तेजोमयम् ११—४७
तेजोराशिम् ११—१७
तेजोऽशसम्भवम् १०—४१
तेन ३—३८, ४—२४, ५—१५; ६—४४; ११—१, ४६; १७—२३; १८—७०
तेषाम् ५—१६; ७—१७, २३, ९—२२; १०—१०, ११; १२—१, ५, ७, १७—१, ७
तेषु २—६२, ५—२२; ७—१२; ९—४, ९, २९; १६—७

तै.

तैः ३—१२; ५—१९, ७—२०, २०

तो.

तोयम् ९—२६

तौ.

पदानि अ० श्लो०

त्य.

त्यक्तजीविताः १—९
त्यक्तसर्वपरिग्रहः ४—२१
त्यक्तुम् १८—११
त्यक्त्वा १—३३; २—३, ४८, ५१; ४—९, २०; ५—१०, ११, १२; ६—२४; १८—६, ९, ५१
त्यजति ८—६
त्यजन् ८—१३
त्यजेत् १६—२१; १८—८, ४८
त्यागफलम् १८—८
त्यागस्य १८—१
त्यागम् १८—२, ८
त्यागः १६—२; १८—४, ९
त्यागात् १२—१२
त्यागी १८—१०, ११
त्यागे १८—४
त्याज्यम् १८—३, ३, ५

त्र.

त्रयम् १६—२१

त्रा.

त्रायते २—४०

त्रि.

त्रिधा १८—१९
त्रिभिः ७—१३; १६—२२; १८—४०
त्रिविधम् १६—२१; १७—१७; १८—१२, २९, ३६
त्रिविधः १७—७, २३; १८—४, १८
त्रिविधा १७—२; १८—१८
त्रिषु ३—२२

त्री.

त्रीन् १४—२०, २१, २१

त्रै.

त्रैगुण्यविषयाः २—४५
त्रैधर्म्यम् ९—२१
त्रैलोक्यराज्यस्य १—३५

पदानि अ० श्लो०
त्रैविद्याः ९—२०

त्व.

त्वक् १—३०
त्वत्तः ११—२
त्वत्प्रसादात् १८—७३
त्वत्समः ११—४३
त्वदन्यः ६—३९
त्वदन्येन ११—४७, ४८
त्वया ६—३३; ११—१, २०, ३८; १८—७२
त्वयि २—३
त्वरमाणाः ११—२७
त्वम् २—११, १२, २६, २७, ३०, ३३, ३५; ३—८, ४१; ४—४, ५, १५, १०—१५, १६, ४१; ११—३, ४, १८, १८, १८, १८, ३३, ३४, ३७, ३८, ३८, ३९, ४०, ४३, ४९, १८—५८

त्वा.

त्वा २—२; ११—२१, २२, ३२; १८—६६
त्वाम् २—७, ७, ३५; १०—१३, १७, ११—१६, १७, १९, २१, २४, २६, ४२, ४४, ४६; १२—१; १८—५९

द.

दक्षः १२—१६
दक्षिणायनम् ८—२५
दण्डः १०—३८
दत्तम् १७—२८
दत्तान् ३—१२
ददामि १०—१०, ११—८
ददासि ९—२७
दधामि १४—३
दध्मुः १—१८
दध्मौ १—१२, १५
दमयताम् १०—३८

पदानि अ० श्लो०
दमः १०—४; १६—१; १८—४२
दम्भमान-मदान्विताः १६—१०
दम्भः १६—४
दम्भार्थम् १७—१२
दम्भाहङ्कार-संयुक्ताः १७—५
दम्भेन १६—१७; १७—१८
दया १६—२
दर्पः १६—४
दर्पम् १६—१८; १८—५३
दर्शनकाङ्क्षिणः ११—५२
दर्शय ११—४, ४५
दर्शयामास ११—९, ५०
दर्शितम् ११—४७
दश १३—५
दशनान्तरेषु ११—२७
दहति २—२३
दंष्ट्राकरालानि ११—२५, २७

दा.

दाक्ष्यम् १८—४३
दातव्यम् १७—२०
दानक्रियाः १७—२५
दानवाः १०—१४
दानम् १०—५; १६—१, १७—७, २०, २०, २१, २२; १८—५, ४३
दाने १७—२७
दानेन ११—५३
दानेषु ८—२८
दानैः ११—४८
दास्यन्ते ३—१२
दास्यामि १६—१५

दि.

दिवि ९—२०, ११—१२; १८—४०
दिव्यगन्धानुलेपनम् ११—११

पदानि अ० श्लो०
दिव्यमाल्याम्बरधरम् ११—११
दिव्यम् ४—९, ८—८, १०; १०—१२; ११—८
दिव्यानाम् १०—४०
दिव्यानि ११—५
दिव्यानेकोद्यतायुधम् ११—१०,
दिव्यान् ९—२०; ११—१५
दिव्याः १०—१६, १९
दिव्यौ १—१४
दिशः ६—१३, ११—२०, २५, ३६

दी.

दीपः ६—१९
दीप्तविशालनेत्रम् ११—२४
दीप्तहुताशवक्त्रम् ११—१९
दीप्तम् ११—२४
दीप्तानलार्कद्युतिम् ११—१७
दीप्तिमन्तम् ११—१७
दीयते १७—२०, २१, २२
दीर्घसूत्री १८—२८

दु.

दुरत्यया ७—१४
दुरासदम् ३—४३
दुर्गतिम् ६—४०
दुर्निग्रहम् ६—३५
दुर्निरीक्ष्यम् ११—१७
दुर्बुद्धेः १—२३
दुर्मतिः १८—१६
दुर्मेधाः १८—३५
दुर्योधनः १—२
दुर्लभतरम् ६—४२
दुष्कृताम् ४—८
दुष्कृतिनः ७—१५
दुष्टासु १—४१
दुष्पूरम् १६—१०
दुष्पूरेण ३—४३
दुष्प्रापः ६—३६
दुःखतरम् २—३६
दुःखयोनयः ५—२२
दुःखशोकामयप्रदाः १७—९
दुःखसंयोगवियोगम् ६—२३
दुःखहा ६—१७
दुःखम् ५—६, ६—३२; १०—४, १२—५; १३—६, १४—१६; १८—८
दुःखान्तम् १८—३६
दुःखालयम् ८—१५
दुःखेन ६—२२
दुःखेषु २—५६

दू.

दूरस्थम् १३—१५
दूरेण २—४९

दृ.

दृढनिश्चयः १२—१४
दृढव्रताः ७—२८, ९—१४
दृढम् ६—३४, १८—६४
दृढेन १५—३
दृष्टपूर्वम् ११—४७
दृष्टवान् ११—५२, ५३
दृष्टः २—१६
दृष्टिम् १६—९
दृष्ट्वा १—२, २०, २८, २—५९, ११—२० २३, २४, २५, ४५, ४९, ५१

दे.

देव ११—१५, ४४, ४५
देवताः ४—१२
देवदत्तम् १—१५
देवदेव १०—१५
देवदेवस्य ११—१३
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम् १७—१४
देवभोगान् ९—२०
देवयजः ७—२३
देवर्षिः १०—१३
देवर्षीणाम् १०—२६
देवलः १०—१३
देववर ११—३१
देवव्रताः ९—२५
देवम् ११—११, १४
देवानाम् १०—२, २२
देवान् ३—११; ७—२३; ९—२५; ११—१५; १७—४
देवाः ३—११, १२, १०—१४; ११—५२
देवेश ११—२५, ३७, ४५
देवेषु १८—४०
देशे ६—११; १७—२०
देहभृता १८—११
देहभृताम् ८—४
देहभृत् १४—१४
देहवद्भिः १२—५
देहसमुद्भवान् १४—२०
देहम् ४—९, ८—१३, १५—१४
देहान्तरप्राप्तिः २—१३
देहाः २—१८
देहिनम् ३—४०, १४—५, ७
देहिनाम् १७—२
देहिनः २—१३, ५९
देही २—२२, ३०, ५—१३, १४—२०
देहे २—१३, ३०, ८—२, ४; ११—७, १५; १३—२२, ३२, १४—५, ११

दै.

दैत्यानाम् १०—३०
दैवम् ४—२५, १८—१४
दैवः १६—६, ६
दैवी ७—१४. १६—५
दैवीम् ९—१३, १६—३, ५

दो.

दोषवत् १८—३
दोषम् १—३८, ३९
दोषेण १८—४८
दोषैः १—४३

द्या.

द्यावापृथिव्योः ११—२०

द्यू.

द्यूतम् १०—३६

द्र.

द्रक्ष्यसि ४—३५
द्रवन्ति ११—२८, ३६
द्रव्यमयात् ४—३३
द्रव्ययज्ञाः ४—२८
द्रष्टा १४—१९
द्रष्टुम् ११—३, ४, ७, ८, ४६, ४८, ५३, ५४

द्रु.

द्रुपदपुत्रेण १—३
द्रुपदः १—४, १८

द्रो.

द्रोणम् २—४, ११—३४
द्रोणः ११—२६

द्रौ.

द्रौपदेयाः १—६, १८

द्व.

द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः ७—२८
द्वन्द्वमोहेन ७—२७
द्वन्द्वः १०—३३
द्वन्द्वातीतः ४—२२
द्वन्द्वैः १५—५

द्वा.

द्वारम् १६—२१

द्वि.

द्विजोत्तम १—७
द्विविधा ३—३
द्विषतः १६—१९

द्वे.

द्वेषः १३—६
द्वेष्टि २—५७, ५—३, १२—१७, १४—२२ १८—१०
द्वेष्यः ९—२९

द्वौ.

द्वौ १५—१६, १६—६

पदानि अ० श्लो०

ध.

धनमान-
मदान्विताः १६—१७
धनम् १६—१३
धनजय २—४८, ४९; ४—४१; ७—७; ९—९; १२—९; १८—२९, ७२
धनजयः १—१५, १०—३७; ११—१४
धनानि १—३३
धनुर्धरः १८—७८
धनुः १—२०
धर्मकामार्थान् १८—३४
धर्मक्षेत्रे १—१
धर्मसमूढचेताः २—७
धर्मसस्थापनार्थाय ४—८
धर्मस्य २—४०, ४—७, ९—३, १४—२७
धर्मम् १८—३१, ३२
धर्मात्मा ९—३१
धर्माविरुद्धः ७—११
धर्मे १—४०
धर्म्यम् २—३३, ९—२; १८—७०
धर्म्यात् २—३१
धर्म्यामृतम् १२—२०

धा.

धाता ९—१७, १०—३३
धातारम् ८—९
धाम ८—२१, १०—१२; ११—३८, १५—६
धारयते १८—३३, ३४
धारयन् ५—९, ६—१३
धारयामि १५—१३
धार्तराष्ट्रस्य १—२३
धार्तराष्ट्राणाम् १—१९
धार्तराष्ट्रान् १—२०, ३६, ३७
धार्तराष्ट्राः १—४६; २—६
धार्यते ७—५

धी.

धीमता १—३
धीमताम् ६—४२
धीरम् २—१५
धीरः २—१३; १४—२४

धू.

धूमः ८—२५
धूमेन ३—३८, १८—४८

धृ.

धृतराष्ट्रस्य ११—२६
धृतराष्ट्रः १—१
धृतिगृहीतया ६—२५
धृतिम् ११—२४
धृतिः १०—३४; १३—६; १६—३, १८—३३, ३४ ३५, ४३
धृतेः १८—२९
धृत्या १८—३३, ३४, ५१
धृत्युत्साहसमन्वितः १८—२६
धृष्टकेतुः १—५
धृष्टद्युम्नः १—१७,

धे.

धेनूनाम् १०—२८

ध्या.

ध्यानयोगपरः १८—५२
ध्यानम् १२—१२
ध्यानात् १२—१२
ध्यानेन १३—२४
ध्यायतः २—६२
ध्यायन्तः १२—६

ध्रु.

ध्रुवम् २—२७, १२—३
ध्रुवः २—२७
ध्रुवा १८—७८

न.

न १—३०, ३१, ३२, ३२, ३५, ३७, ३८, ३९, २—३, ६, ६, ८, ९, ११, १२, १२, १२, १२, १२, १२, १३, १५, १६, १६, १७, १९, १९, १९, २०, २०, २०, २०, २३, २३, २३, २३, २५, २६, २७, २९, ३०, ३१, ३१, ३३, ३८, ४०, ४०, ४२, ४४, ५७, ५७, ६६, ६६, ६६, ७०, ७२; ३—४, ४, ५, ८, १६, १७, १८, १८, १८, २२, २२, २३, २४, २६, २८, २९, ३२, ३४; ४—५, ९, १४, १४, १४, २०, २१, २२, ३१, ३५, ३८, ४०, ४०, ४०, ४१, ५—३, ३, ४, ६, ७, ८, १०, १३, १३, १४, १४, १४, १५, १५, २०, २०, २२, ६—१, १, २, ४, ४, ५, ११, ११, १६, १६, १६, १६, १९, २१, २२, २२, २५, ३०, ३०, ३३, ३८, ३९, ४०, ४०, ४०; ७—२, ७, १२, १३, १५, २५, २५, २६; ८—५, १५, १६, २०, २१, २७, ९—४, ५, ५, ९, २४, २९, २९, ३१, १०—२, २, ७, १४, १४, १८, १९, ३९, ४०, ११—८, १६, १६, १६, २४, २५, २५, ३१, ३२, ३७, ४३, ४७, ४८, ४८, ४८, ४८, ५३, ५३, ५३, ५३, १२—७, ८, ९, १५, १५, १७, १७, १७, १७, १३—१२, १२, २३, २८, ३१, ३१, ३२, ३२, १४—२, २, १९, २२, २२, २३, २३; १५—३, ३, ३, ३, ४, ६, ६, ६, ६, १०, ११; १६—३, ७, ७, ७, ७, २३, २३, २३; १७—२८, १८—३, ५, ७, ८, १०, १०, ११, १२, १६, १७, १७, १७, १७, ३५, ४०, ४७, ४८, ५४, ५४, ५८, ५९, ६०, ६७, ६७, ६७, ६७, ६९, ६९
नकुलः १—१६
नक्षत्राणाम् १०—२१
नदीनाम् ११—२८
नभः १—१९
नभःस्पृशम् ११—२४
नमस्कुरु ९—३४, १८—६५
नमस्यन्तः ९—१४
नमस्यन्ति ११—३६
नमः ११—३१, ३५, ३९, ३९, ३९, ३९, ४०, ४०
नमेरन् ११—३७
नयेत् ६—२६
नरकस्य १६—२१
नरकाय १—४२
नरके १—४४, १६—१६
नरपुङ्गवः १—५
नरलोकवीराः ११—२८
नरः २—२२, ५—२३; १२—१९; १६—२२; १८—१५, ४५, ७१
नराणाम् १०—२७
नराधमान् १६—१९
नराधमाः ७—१५
नराधिपम् १०—२७
नरैः १७—१७
नवद्वारे ५—१३
नवानि २—२२, २२
नश्यति ६—३८
नश्यत्सु ८—२०
नष्टः ४—२, १८—७३

पदानि अ० श्लो०
नष्टात्मानः १६—९
नष्टान् ३—३२
नष्टे १—४०
नः १—३२, ३३, ३६; २—६, ६

ना.

नागानाम् १०—२९
नानाभावान् १८—२१
नानावर्णाकृतीनि ११—५
नानाविधानि ११—५
नानाशस्त्रप्रहरणाः १—९
नान्यगामिना ८—८
नामयज्ञैः १६—१७
नायकाः १—७
नारदः १०—१३, २६
नारीणाम् १०—३४
नावम् २—६७
नाशनम् १६—२१
नाशयामि १०—११
नाशाय ११—२९, २९
नाशितम् ५—१६
नासाभ्यन्तरचारिणौ ५—२७
नासिकाग्रम् ६—१३

नि.

निगच्छति ९—३१, १८—३६
निगृहीतानि २—६८
निगृह्णामि ९—१९
निग्रहम् ६—३४
निग्रहः ३—३३
नित्यजातम् २—२६
नित्यतृप्तः ४—२०
नित्ययुक्तस्य ८—१४
नित्ययुक्तः ७—१७
नित्ययुक्ताः ९—१४, १२—२
नित्यवैरिणा ३—३९

पदानि अ० श्लो०
नित्यशः ८—१४
नित्यसत्त्वस्थः २—४५
नित्यसन्यासी ५—३
नित्यस्य २—१८
नित्यम् २—२१, २६, ३० ३—१५, ३१, ९—६, १०—९, ११—५२, १३—९, १८—५२
नित्यः २—२०, २४
नित्याभियुक्तानाम् ९—२२
निद्रालस्यप्रमादोत्थम् १८—३९
निधनम् ३—३५
निधानम् ९—१८, ११—१८, ३८
निन्दन्तः २—३६
निबद्धः १८—६०
निबध्नन्ति ४—४१, ९—९, १४—५
निबध्नाति १४—७, ८
निबन्धाय १६—५
निबध्यते ४—२२, ५—१२, १८—१७
निबोध १—७, १८—१३, ५०
निमित्तमात्रम् ११—३३
निमित्तानि १—३१
निमिषन् ५—९
नियतमानसः ६—१५
नियतस्य १८—७
नियतम् १—४४, ३—८, १८—९, २३
नियतात्मभिः ८—२
नियताहाराः ४—३०
नियताः ७—२०
नियमम् ७—२०
नियम्य ३—७, ४१, ६—२६, १८—५१
नियोक्ष्यति १८—५९
नियोजयसि ३—१

पदानि अ० श्लो०
नियोजितः ३—३६
निरग्निः ६—१
निरहंकारः २—७१, १२—१३
निराशीः ३—३०, ४—२१, ६—१०
निराश्रयः ४—२०
निराहारस्य २—५९
निरीक्षे १—२२
निरुद्धम् ६—२०
निरुध्य ८—१२
निर्गुणत्वात् १३—३१
निर्गुणम् १३—१४
निर्देशः १७—२३
निर्दोषम् ५—१९
निर्द्वन्द्वः २—४५, ५—३
निर्ममः २—७१, ३—३०, १२—१३, १८—५३
निर्मलत्वात् १४—६
निर्मलम् १४—१६
निर्मानमोहाः १०—५
निर्योगक्षेमः २—४५
निर्वाणपरमाम् ६—१५
निर्विकारः १८—२६
निर्वेदम् २—५२
निर्वैरः ११—५५
निवर्तते २—५९, ८—२५
निवर्तन्ति १५—४
निवर्तन्ते ८—२१, ९—३; १५—६
निवर्तितुम् १—३९
निवसिष्यसि १२—८
निवातस्थः ६—१९
निवासः ९—१८
निवृत्तानि १४—२२
निवृत्तिम् १६—७, १८—३०
निवेशय १२—८
निशा २—६९, ६९
निश्चयम् १८—४

पदानि अ० श्लो०
निश्चयेन ६—२३
निश्चरति ६—२६
निश्चला २—५३
निश्चितम् २—७, १८—६
निश्चिताः १६—११
निश्चित्य ३—२
निष्ठा ३—३; १७—१; १८—५०
निस्त्रैगुण्यः २—४५
निहताः ११—३३
निहत्य १—३६
निःश्रेयसकरौ ५—२
निःस्पृहः २—७१, ६—१८

नी.

नीतिः १०—३८; १८—७८

नु.

नु १—३५, २—३६

नृ.

नृलोके ११—४८
नृषु ७—८

नै.

नैष्कर्म्यसिद्धिम् १८—४९
नैष्कर्म्यम् ३—४
नैष्कृतिकः १८—२८
नैष्ठिकीम् ५—१२

नो.

नो १७—२८

न्या.

न्याय्यम् १८—१५
न्यासम् १८—२

प.

पक्षिणाम् १०—३०
पचन्ति ३—१३
पचामि १५—१४
पञ्च १३—५, १८—१३, १५
पञ्चमम् १८—१४
पणवानकगोमुखाः १—१३
पण्डितम् ४—१९

पदानि अ० श्लो०
पण्डिताः २—११; ५—४, १८
पतङ्गाः ११—२९
पतन्ति १—४२; १६—१६
पत्रम् ९—२६
पथि ६—३८
पदम् २—५१; ८—११; १५—४, ५; १८—५६
पद्मपत्रम् ५—१०
परतरम् ७—७
परतः ३—४२
परधर्मः ३—३५
परधर्मात् ३—३५; १८—४७
परमम् ८—३, ८, २१; १०—१, १२; ११—१, ९, १८; १५—६; १८—६४, ६८
परमः ६—३२
परमात्मा ६—७, १३—२२, ३१, १५—१७
परमाम् ८—१३, १५, २१; १८—४९
परमेश्वर ११—३
परमेश्वरम् १३—२७
परमेष्वासः १—१७
परया १—२८; १२—२, १७—१७
परस्तात् ८—९
परस्परम् ३—११; १०—९
परस्य १७—१९
परम् २—१२, ५९, ३—११, १९, ४२, ४३; ४—४, ७—१३, २४; ८—१०, २८; ९—११; १०—१२, १२; ११—१८, ३८, ३८, ४७, १३—१२, १७, ३४; १४—१, १९; १८—७५
परतप २—३, ९. ४—२, ५,

१०—४०; ११—५४; १८—४१
परम्पराप्राप्तम् ४—२
परः ४—४०; ८—२०, २२; १३—२२
परा ३—४२; १८—५०
पराणि ३—४२
पराम् ४—३९; ६—४५; ७—५; ९—३२; १३—२८; १४—१, १६—२२, २३; १८—५४, ६२, ६८
परिकीर्तितः १८—७, २७
परिक्लिष्टम् १७—२१
परिग्रहम् १८—५३
परिचक्षते १७—१३, १७
परिचर्यात्मकम् १८—४४
परिचिन्तयन् १०—१७
परिज्ञाता १८—१८
परिणामे १८—३७, ३८
परित्यज्य १८—६६
परित्यागः १८—७
परित्राणाय ४—८
परिदह्यते १—३०
परिदेवना २—२८
परिपन्थिनौ ३—३४
परिप्रश्नेन ४—३४
परिमार्गितव्यम् १५—४
परिशुष्यति १—२९
परिसमाप्यते ४—३३
पर्जन्यः ३—१४
पर्जन्यात् ३—१४
पर्णानि १५—१
पर्यवतिष्ठते २—६५
पर्याप्तम् १—१०
पर्युपासते ४—२५; ९—२२; १२—१, ३, २०
पर्युषितम् १७—१०
पवताम् १०—३१
पवनः १०—३१

पवित्रम् ४—३८; ९—२, १७; १०—१२
पश्य १—३, २५; ९—५; ११—५, ६, ६, ७, ८
पश्यतः २—६९
पश्यति २—२९; ५—५, ५; ६—३०, ३०, ३२; १३—२७, २७, २९, २९; १८—१६, १६
पश्यन् ५—८; ६—२०; १३—२८
पश्यन्ति १—३८, १३—२४; १५—१०, ११, ११
पश्यामि १—३१ ६—३३; ११—१५, १६, १६, १७, १९
पश्येत् ४—१८

पा.

पाञ्चजन्यम् १—१५
पाण्डव ४—३५; ६—२; ११—५५; १४—२२; १६—५
पाण्डवः १—१४, २०; ११—१३,
पाण्डवानाम् १०—३७
पाण्डवानीकम् १—२
पाण्डवाः १—१
पाण्डुपुत्राणाम् १—३
पातकम् १—३८
पात्रे १७—२०
पापकृत्तमः ४—३६
पापयोनयः ९—३२
पापम् १—३६, ४५; २—३३, ३८, ३—३६, ५—१५, ७—२८
पापात् १—३९
पापाः ३—१३
पापेन ५—१०
पापेभ्यः ४—३६

पापेषु ६—९
पाप्मानम् ३—४१
पारुष्यम् १६—४
पार्थ १—२५; २—३, २१, ३२, ३९, ४२, ५५, ७२, ३—१६, २२, २३; ४—११, ३३; ६—४०; ७—१, १०; ८—८, १४, १९, २२, २७, ९—१३, ३२; १०—२४; ११—५, १२—७; १६—४, ६, १७—२६, २८, १८—६, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ७२
पार्थः १—२६, १८—७८
पार्थस्य १८—७४
पार्थाय ११—९
पावकः २—२३, १०—२३; १५—६
पावनानि १८—५

पि.

पितरः १—३४, ४२
पिता ९—१७; ११—४३, ४४, १४—४
पितामहः १—१२, ९—१७
पितामहान् १—२६
पितामहाः १—३४
पितृव्रताः ९—२५
पितॄणाम् १०—२९
पितॄन् १—२६; ९—२५

पी.

पीडया १७—१९

पु.

पुण्यकर्मणाम् ७—२८; १८—७१
पुण्यकृताम् ६—४१
पुण्यफलम् ८—२८
पुण्यम् ९—२०, १८—७६
पुण्यः ७—९
पुण्याः ९—३३

पदानि अ० श्लो०

पुण्ये ९—२१
पुत्रदारगृहादिषु १३—९
पुत्रस्य ११—४४
पुत्रान् १—२६
पुत्राः १—३४, ११—२६
पुनः ४—९, ३५, ५—१; ८—१५, १६, १६, २६, ९—७, ८, ८, ३३, ११—१६, ३९, ४९, ५०, १६—१३, १७-२१, १८—२४, ४०, ७७, ७७
पुमान् २—७१
पुरस्तात् ११—४०
पुरा ३—३, १०, १७—२३
पुराणम् ८—९
पुराणः २—२०, ११—३८
पुराणी १५—४
पुरातनः ४—३
पुरुजित् १—५
पुरुषर्षभ २—१५
पुरुषव्याघ्र १८—४
पुरुषस्य २—६०
पुरुषम् २—१५, ८—८, १०; १०—१२, १३—१९, २३, १५—४
पुरुषः २—२१, ३—४, ८—४, २२, ११—१८, ३८, १३—२०, २१, २२, १५—१७, १७—३
पुरुषाः ९—३
पुरुषोत्तम ८—१, १०—१५, ११—३
पुरुषोत्तमम् १५—१९
पुरुषोत्तमः १५—१८
पुरुषौ १५—१६
पुरे ५—१३
पुरोधसाम् १०—२४
पुष्कलाभिः ११—२१
पुष्णामि १५—१३
पुष्पम् ९—२६
पुष्पिताम् २—४२
पुसः २—६२

पू.

पूजार्हौ २—४
पूज्यः ११—४३
पूतपापाः ९—२०
पूताः ४—१०
पूति १७—१०
पूरुषः ३—१९, ३६
पूर्वतरम् ४—१५
पूर्वम् ११—३३
पूर्वाभ्यासेन ६—४४
पूर्वे १०—६
पूर्वैः ४—१५, १५

पृ.

पृच्छामि २—७
पृथक् १—१८, १८, ५—४, १३—४, १८—१, १४
पृथक्त्वेन ९—१५, १८—२१, २९
पृथग्विधम् १८—१४
पृथग्विधान् १८—२१
पृथग्विधाः १०—५
पृथिवीपते १—१८
पृथिवीम् १—१९
पृथिव्याम् ७—९, १८—४०
पृष्ठतः ११—४०

पौ.

पौण्ड्रम् १—१५
पौत्रान् १—२६
पौत्राः १—३४
पौरुषम् ७—८; १८—२५
पौर्वदेहिकम् ६—४३

प्र.

प्रकाशकम् १४—६
प्रकाशयति ५—१६; १३—३३, ३३
प्रकाशम् १४—२२
प्रकाशः ७—२५, १४—११
प्रकीर्त्या ११—३६
प्रकृतिजान् १३—२१
प्रकृतिजैः ३—५, १८—४०
प्रकृतिसंभवान् १३—१९
प्रकृतिसंभवाः १४—५
प्रकृतिस्थः १३—२१
प्रकृतिस्थानि १५—७
प्रकृतिम् ३—३३, ४—६, ७—५; ९—७, ८, १२, १३, ११-५१, १३-१९, २३
प्रकृतिः ७—४; ९—१०, १३—२०; १८—५९
प्रकृतेः ३—२७, २९, ३३, ९—८
प्रकृत्या ७—२०; १३—२९
प्रजनः १०—२८
प्रजहाति २—५५
प्रजहि ३—४१
प्रजानाति १८—३१
प्रजानामि ११—३१
प्रजापतिः ३—१०, ११—३९
प्रजाः ३—१०, २४, १०—६
प्रज्ञा २-५७, ५८, ६१, ६८
प्रज्ञावादान् २—११
प्रज्ञाम् २—६७
प्रणम्य ११—१४, ३५, ४४
प्रणयेन ११—४१
प्रणवः ७—८
प्रणश्यति २—६३; ६—३०, ९—३१
प्रणश्यन्ति १—४०
प्रणश्यामि ६—३०
प्रणिधाय ११—४४
प्रणिपातेन ४—३४
प्रतपन्ति ११—३०
प्रतापवान् १—१२
प्रति २—४३
प्रतिजानीहि ९—३१
प्रतिजाने १८—६५
प्रतिपद्यते १४—१४
प्रतियोत्स्यामि २—४
प्रतिष्ठा १४—२७
प्रतिष्ठाप्य ६—११
प्रतिष्ठितम् ३—१५
प्रतिष्ठिता २—५७, ५८, ६१, ६८
प्रत्यक्षावगमम् ९—२
प्रत्यनीकेषु ११—३२
प्रत्यवायः २—४०
प्रत्युपकारार्थम् १७—२१
प्रथितः १५—१८
प्रदध्मतुः १—१४
प्रदिष्टम् ८—२८;
प्रदीप्तम् ११—२९
प्रदुष्यन्ति १—४१
प्रद्विषन्तः १६—१८
प्रनष्टः १८—७२
प्रपद्यते ७—१९
प्रपद्ये १५—४
प्रपद्यन्ते ४—११, ७—१४, १५, २०
प्रपन्नम् २—७
प्रपश्य ११—४९
प्रपश्यद्भिः १—३९
प्रपश्यामि २—८
प्रपितामहः ११—३९
प्रभवति ८—१९
प्रभवन्ति ८—१८, १६—९
प्रभवम् १०—२
प्रभवः ७—६, ९—१८; १०—८
प्रभविष्णु १३—१६
प्रभा ७—८
प्रभाषेत २—५४

पदानि अ० श्लो०

प्रभुः ५—१४, ९—१८, २४
प्रभो ११—४; १४—२१
प्रमाणम् ३—२१, १६—२४
प्रमाथि ६—३४
प्रमाथीनि २—६०
प्रमादमोहौ १४—१७
प्रमादः १४—१३
प्रमादात् ११—४१
प्रमादालस्य-निद्राभिः १४—८
प्रमादे १४—९
प्रमुखे २—६
प्रमुच्यते ५—३; १०—३
प्रयच्छति ९—२६
प्रयतात्मनः ९—२६
प्रयत्नात् ६—४५
प्रयाणकाले ७—३०, ८—२, १०;
प्रयाताः ८—२३, २४
प्रयाति ८—५, १३
प्रयुक्तः ३—३६
प्रयुज्यते १७—२६
प्रलपन् ५—९
प्रलयम् १४—१४, १५
प्रलयः ७—६, ९—१८
प्रलयान्ताम् १६—११
प्रलये १४—२
प्रलीनः १४—१५
प्रलीयते ८—१९
प्रलीयन्ते ८—१८
प्रवक्ष्यामि ४—१६; ९—१; १३—१२, १४—१
प्रवक्ष्ये ८—११
प्रवदताम् १०—३२
प्रवदन्ति २—४२, ५—४
प्रवर्तते ५—१४; १०—८
प्रवर्तन्ते १६—१०; १७—२४
प्रवर्तितम् ३—१६
प्रविभक्तम् ११—१३

पदानि अ० श्लो०

प्रविभक्तानि १८—४१
प्रविलीयते ४—२३
प्रविशन्ति २—७०, ७०
प्रवृत्तः ११—३२
प्रवृत्तिम् ११—३१, १४—२२, १६—७; १८—३०
प्रवृत्तिः १४—१२, १५—४, १८—४६
प्रवृत्ते १—२०
प्रवृद्धः ११—३२
प्रवृद्धे १४—१४
प्रवेष्टुम् ११—५४
प्रव्यथितम् ११—२०, ४५
प्रव्यथितान्तरात्मा ११—२४
प्रव्यथिताः ११—२३
प्रशस्ते १७—२६
प्रशान्तमनसम् ६—२७
प्रशान्तस्य ६—७
प्रशान्तात्मा ६—१४
प्रसक्ताः १६—१६
प्रसङ्गेन १८—३४
प्रसन्नचेतसः २—६५
प्रसन्नात्मा १८—५४
प्रसन्नेन ११—४७
प्रसभम् २—६०, ११—४१
प्रसविष्यध्वम् ३—१०
प्रसादये ११—४४
प्रसादम् २—६४
प्रसादे २—६५
प्रसिद्ध्येत् ३—८
प्रसीद ११—२५, ३१, ४५
प्रसृता १५—४
प्रसृताः १५—२
प्रहसन् २—१०
प्रहास्यसि २—३९
प्रहृष्यति ११—३६
प्रहृष्येत् ५—२०
प्रह्लादः १०—३०

प्रा.

प्राकृतः १८—२८

पदानि अ० श्लो०

प्राक् ५—२३
प्राञ्जलयः ११—२१
प्राणकर्माणि ४—२७
प्राणम् ४—२९; ८—१०, १२
प्राणान् १—३३, ४—३०
प्राणापानगती ४—२९
प्राणापानसमायुक्तः १५—१४
प्राणापानौ ५—२७
प्राणायामपरायणाः ४—२९
प्राणिनाम् १५—१४
प्राणे ४—२९
प्राणेषु ४—३०
प्राधान्यतः १०—१९
प्राप्तः १८—५०
प्राप्नुयात् १८—७१
प्राप्नुवन्ति १२—४
प्राप्य २—५७, ७२, ५—२०, २०; ६—४१, ८—२१, २५, ९—३३
प्राप्यते ५—५
प्राप्स्यसि २—३७, १८—६२
प्राप्स्ये १६—१३
प्रारभते १८—१५
प्रार्थयन्ते ९—२०
प्राह ४—१
प्राहुः ६—२, १३—१, १५—१, १८—२, ३

प्रि.

प्रियचिकीर्षवः १—२३
प्रियकृत्तमः १८—६९
प्रियतरः १८—६९
प्रियहितम् १७—१५
प्रियम् ५—२०
प्रियः ७—१७, १७; ९—२९; ११—४४; १२—१४, १५, १६, १७, १९, १७—७, १८—६५,
प्रियाः १२—२०
प्रियायाः ११—४४

प्री.

प्रीतमनाः ११—४९

पदानि अ० श्लो०

प्रीतिपूर्वकम् १०—१०
प्रीतिः १—३६
प्रीयमाणाय १०—१

प्रे.

प्रेतान् १७—४
प्रेत्य १७—२८; १८—१२

प्रो.

प्रोक्तवान् ४—१, ४
प्रोक्तम् ८—१; १३—११; १७—१८; १८—३७
प्रोक्तः ४—३; ६—३३ १०—४०; १६—६
प्रोक्ता ३—३
प्रोक्तानि १८—१३
प्रोच्यते १८—१९
प्रोच्यमानम् १८—२९
प्रोतम् ७—७

फ.

फलहेतवः २—४९
फलम् २—५१; ५—४; ७—२३; ९—२६; १४—१६, १६, १६; १७—१२, २१, २५; १८—९, १२
फलाकाङ्क्षी १८—३४
फलानि १८—६
फले ५—१२
फलेषु २—४७

ब.

बत १—४५
बद्धाः १६—१२
बध्नाति १४—६
बध्यते ४—१४
बन्धम् १८—३०
बन्धात् ५—३
बन्धुः ६—५, ६
बन्धून् १—२७
बभूव २—९
बलवताम् ७—११
बलवत् ६—३४
बलवान् १६—१४

पदानि अ० श्लो०

बलम् १—१०, १०; ७—११; १६—१८; १८—५३
बलात् ३—३६
बहवः १—९; ४—१०, ११—२८
बहिः ५—२७; १३—१५
बहुदंष्ट्राकरालम् ११—२३
बहुधा ९—१५; १३—४
बहुना १०—४२
बहुबाहूरुपादम् ११—२३
बहुमतः २—३५
बहुलायासम् १८—२४
बहुवक्त्रनेत्रम् ११—२३
बहुविधाः ४—३२
बहुशाखाः २—४१
बहूदरम् ११—२३
बहूनाम् ७—१९
बहूनि ४—५; ११—६
बहून् २—३६

बा.

बालाः ५—४
बाह्यस्पर्शेषु ५—२१
बाह्यान् ५—२७

बि.

बिभर्ति १५—१७

बी.

बीजप्रदः १४—४
बीजम् ७—१०; ९—१८, १०—३९

बु.

बुद्धयः २—४१
बुद्धिग्राह्यम् ६—२१
बुद्धिनाशः २—६३
बुद्धिनाशात् २—६३
बुद्धिभेदम् ३—२६
बुद्धिमताम् ७—१०
बुद्धिमान् ४—१८; १५—२०
बुद्धियुक्तः २—५०
बुद्धियुक्ताः २—५१
बुद्धियोगम् १०—१०; १८—५७
बुद्धियोगात् २—४९
बुद्धिसंयोगम् ६—४३
बुद्धिम् ३—२; १२—८
बुद्धिः २—३९, ४१, ४४, ५२, ५३, ६५, ६६; ३—१, ४०, ४२; ७—४, १०; १०—४; १३—५; १८—१७, ३०, ३१, ३२
बुद्धेः ३—४२, ४३; १८—२९
बुद्धौ २—४९
बुद्ध्या २—३९, ५—११; ६—२५; १८—५१
बुद्ध्वा ३—४३; १५—२०
बुधः ५—२२
बुधाः ४—१९; १०—८

बृ.

बृहत्साम १०—३५
बृहस्पतिम् १०—२४

बो.

बोद्धव्यम् ४—१७, १७, १७
बोधयन्तः १०—९

ब्र.

ब्रवीमि १—७
ब्रवीषि १०—१३
ब्रह्म ३—१५, १५; ४—२४, २४, २४, ३१; ५—६, १९; ७—२९; ८—१, ३, १३, २४; १०—१२, १३—१२, ३०; १४—४, १८—५०
ब्रह्मकर्म १८—४२
ब्रह्मकर्मसमाधिना ४—२४
ब्रह्मचर्यम् ८—११, १७—१४
ब्रह्मचारिव्रते ६—१४
ब्रह्मणः ४—३२, ६—३८; ८—१७; ११—३७; १४—२७; १७—२३
ब्रह्मणा ४—२४
ब्रह्मणि ५—१०, १९, २०
ब्रह्मनिर्वाणम् २—७२; ५—२४, २५, २६,
ब्रह्मभूतम् ६—२७
ब्रह्मभूतः ५—२४; १८—५४
ब्रह्मभूयाय १४—२६; १८—५३
ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ५—२१
ब्रह्मवादिनाम् १७—२४
ब्रह्मवित् ५—२०
ब्रह्मविदः ८—२४
ब्रह्मसंस्पर्शम् ६—२८
ब्रह्मसूत्रपदैः १३—४
ब्रह्माग्नौ ४—२४, २५
ब्रह्माणम् ११—१५
ब्रह्मोद्भवम् ३—१५

ब्रा.

ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् १८—४१
ब्राह्मणस्य २—४६
ब्राह्मणाः ९—३३; १७—२३
ब्राह्मणे ५—१८
ब्राह्मी २—७२

ब्रू.

ब्रूहि २—७, ५—१

भ.

भक्तः ४—३; ७—२१; ९—३१
भक्ताः ९—३३, १२—१, २०
भक्तिमान् १२—१७, १९
भक्तियोगेन १४—२६
भक्तिम् १८—६८
भक्तिः १३—१०
भक्त्या ८—१०, २२, ९—१४, २६, २९; ११—५४; १८—५५
भक्त्युपहृतम् ९—२६
भगवन् १०—१४, १७
भजताम् १०—१०
भजति ६—३१; १५—१९
भजते ६—४७; ९—३०
भजन्ति ९—१३, २९
भजन्ते ७—१६, २८; १०—८
भजस्व ९—३३
भजामि ४—११
भयम् १०—४; १८—३५
भयात् २—३५, ४०
भयानकानि ११—२७
भयाभये १८—३०
भयावहः ३—३५
भयेन ११—४५
भरतर्षभ ३—४; ७—११, १६; ८—२३; १३—२६, १४—१२; १८—३६
भरतश्रेष्ठ १७—१२
भरतसत्तम १८—४
भर्ता ९—१८; १३—२२
भव २—४५, ६—४६; ८—२७, ९—३४, ११—३३, ४६, १२—१०, १८—५७, ६५
भवतः ४—४; १४—१७
भवति १—४४, २—६३, ३—१४, ४—७, १२, ६—२, १७, ४२; ७—२३; ९—३१; १४—३, १०, २१; १७—२, ३, ७, १८—१२
भवन्तम् ११—३१
भवन्तः १—११
भवन्ति ३—१४; १०—५, १६—३
भवः १०—४
भवान् १—८; १०—१२; ११—३.

पदानि अ० श्लो०

भवाप्ययौ ११—२
भवामि १२—७
भविता १८—६९
भविष्यताम् १०—३४
भविष्यति १६—१३
भविष्यन्ति ११—३२
भविष्याणि ७—२६
भविष्यामः २—१२
भवेत् १—४६, ११—१२
भस्मसात् ४—३७, ३७

भा.

भारत १—२४; २—१०, १४, १८, २८, ३०; ३—२५, ४—७, ४२; ७—२७, ११—६; १३—२, ३३; १४—३, ८, ९, १०; १५—१९, २०; १६—३, १७—३, १८—६२
भावना २—६६
भावयत ३—११
भावयन्तः ३—११
भावयन्तु ३—११
भावसमन्विताः १०—८
भावसंशुद्धिः १७—१६
भावम् ७—१५, २४; ८—६, ९—११, १८—२०
भावः २—१६, ८—४, २०; १८—१७
भावा. ७—१२, १०—५
भावेषु १०—१७
भावैः ७—१३
भाषसे २—११
भाषा २—५४
भासयते १५—६, १२
भासः ११—१२, ३०
भास्वता १०—११
भाः ११—१२

भि.

भिन्ना ७—४

भी.

भीतभीतः ११—३५
भीतम् ११—५०
भीतानि ११—३६
भीताः ११—२१
भीमकर्मा १—१५
भीमाभिरक्षितम् १—१०
भीमार्जुनसमाः १—४
भीष्मद्रोणप्रमुखतः १—२५
भीष्मम् १—११, २—४, ११—३४
भीष्मः १—८, ११—२६
भीष्माभिरक्षितम् १—१०

भु.

भुक्त्वा ९—२१
भुङ्क्ते ३—१२; १३—२१
भुङ्क्ष्व ११—३३
भुञ्जते ३—१३
भुञ्जानम् १५—१०
भुञ्जीय २—५
भुवि १८—६९

भू.

भूतगणान् १७—४
भूतग्रामम् ९—८, १७—६
भूतग्रामः ८—१९
भूतपृथग्भावम् १३—३०
भूतप्रकृतिमोक्षम् १३—३४
भूतभर्तृ १३—१६
भूतभावन १०—१५
भूतभावनः ९—५
भूतभावोद्भवकरः ८—३
भूतभृत् ९—५
भूतमहेश्वरम् ९—११
भूतविशेषसंघान् ११—१५
भूतसर्गौ १६—६
भूतस्थः ९—५
भूतम् १०—३९
भूतादिम् ९—१३
भूतानि २—२८, ३०, ३४, ६९, ३—१४, ३३; ४—३५, ७—६, २६, ८—२२, ९—५, ६, २५; १५—१३, १६
भूतानाम् ४—६; १०—५, २०, २२, ११—२; १३—१५, १८—४६
भूतिः १८—७८
भूतेज्याः ९—२५
भूतेश १०—१५
भूतेषु ७—११; ८—२०, १३—१६, २७; १६—२; १८—२१, ५४
भूत्वा २—२०, ३५, ४८; ३—३०; ८—१९, १९; ११—५०, १५—१३, १४
भूमिः ७—४
भूमौ २—८
भूयः २—२०; ६—४३, ७—२, १०—१, १८, ११—३५, ३९, ५०; १३—२३; १४—१, १५—४; १८—६४
भूः २—४७

भृ.

भृगुः १०—२५

भे.

भेदम् १७—७; १८—२९
भेर्यः १—१३

भै.

भैक्ष्यम् २—५

भो.

भोक्ता ९—२४, १३—२२
भोक्तारम् ५—२९
भोक्तुम् २—५
भोक्तृत्वे १३—२०
भोक्ष्यसे २—३७
भोगान् २—५, ३—१२
भोगाः १—३३; ५—२२
भोगी १६—१४
भोगैश्वर्यगतिम् २—४३
भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम् २—४४
भोगैः १—३२
भोजनम् १७—१०

भ्र.

भ्रमति १—३०

भ्रा.

भ्रातॄन् १—२६
भ्रामयन् १८—६१

भ्रु.

भ्रुवो. ५—२७; ८—१०

म.

मकरः १०—३१
मच्चित्तः ६—१४, १८—५७, ५८
मच्चित्ताः १०—९
मणिगणाः ७—७
मतम् ३—३१, ३२; ७—१८, १३—२, १८—६
मतः ६—३२, ४६, ४७; ११—१८, १८—९
मता ३—१, १६—५
मताः १२—२
मतिः ६—३६, १८—७०, ७८
मते ८—२६
मत्कर्मकृत् ११—५५
मत्कर्मपरमः १२—१०
मत्तः ७—७, १२; १०—५, ८, १५—१५
मत्परमः ११—५५
मत्परमाः १२—२०
मत्परः २—६१; ६—१४; १८—५७
मत्परायणः ९—३४
मत्पराः १२—६
मत्प्रसादात् १८—५६, ५८
मत्वा ३—२८, १०—८, ११—४१
मत्संस्थाम् ६—१५
मत्स्थानि ९—४, ५, ६
मदनुग्रहाय ११—१
मदर्थम् १२—१०
मदर्थे १—९
मदर्पणम् ९—२७
मदम् १८—३५
मदाश्रय. ७—१
मद्गतप्राणाः १०—९

पदानि अ० श्लो०
मद्गतेन ६—४७
मद्भक्तः ९—३४, ११—५५, १२—१४, १६; १३—१८, १८—६५
मद्भक्ताः ७—२३
मद्भक्तिम् १८—५४
मद्भक्तेषु १८—६८
मद्भावम् ४—१०, ८—५, १४—१९
मद्भावाय १३—१८
मद्भावाः १०—६
मद्याजिनः ९—२५
मद्याजी ९—३४, १८—६५
मद्योगम् १२—११
मद्व्यपाश्रयः १८—५६
मधुसूदन १—३५, २—४, ६—३३, ८—२
मधुसूदनः २—१
मध्यम् १०—२०, ३२, ११—१६
मध्ये १—२१, २४, २—१०, ८—१०, १४—१८
मनवः १०—६
मनवे ४—१
मनसा ३—६, ७, ५—११, १३, ६—२४, ८—१०
मनसः ३—४२
मनः १—३०, २—६०, ६७, ३—४०, ४२, ५—१९, ६—१२, १४, २५, २६, ३४, ३५, ७—४; ८—१२, १०—२२, ११—४५, १२—२, ८; १५—९, १७—११
मनःप्रसादः १७—१६
मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः १८—३३

पदानि अ० श्लो०
मनःषष्ठानि १५—७
मनीषिणः २—५१, १८—३
मनीषिणाम् १८—५
मनुष्यलोके १५—२
मनुष्याणाम् १—४४, ७—३
मनुष्याः ३—२३, ४—११
मनुष्येषु ४—१८, १८—६९
मनुः ४—१
मनोगतान् २—५५
मनोरथम् १६—१३
मन्तव्यः ९—३०
मन्त्रहीनम् १७—१३
मन्त्रः ९—१६
मन्दान् ३—२९
मन्मनाः ९—३४, १८—६५
मन्मयाः ४—१०
मन्यते २—१९, ३—२७, ६—२२, १८—३२
मन्यन्ते ७—२४
मन्यसे २—२६, ११—४, १८—५९
मन्ये ६—३४; १०—१४
मन्येत ५—८
मम १—७, २९, २—८, ३—२३, ४—११; ७—१४, १७, २४, ८—२१; ९—५, ११, १०—७, ४०, ४१, ११—१, ७, ४९, ५२; १३—२, १४—२, ३, १५—६, ७, १८—७८
मया १—२२, ३—३, ४—३, १३, ७—२२, ९—४, १०, १०—१७, ३९, ४०, ११—२, ४, ३३, ३४, ४१, ४७; १५—२०; १६—१३, १४, १५, १८—६३

पदानि अ० श्लो०
मयि ३—३०, ४—३५, ६—३०, ३१, ७—१, ७, १२, ८—७, ९—२९, १२—२, ६, ७, ८, ८, ८, ९, १४, १३—१०, १८—५७, ६८
मरणात् २—३४
मरीचिः १०—२१
मरुतः ११—६, २२
मरुताम् १०—२१
मर्त्यलोकम् ९—२१
मर्त्येषु १०—३
मलेन ३—३८
महतः २—४०
महता ४—२
महति १—४४
महतीम् १—३
महत् १—४५, ११—२३
महद्ब्रह्म १४—३
महद्योनिः १४—४
महर्षयः १०—२, ६
महर्षिसिद्धसङ्घाः ११—२१
महर्षीणाम् १०—२, २५
महात्मनः ११—१२, १८—७४
महात्मन् ११—२०, ३७
महात्मा ७—१९, ११—५०
महात्मानः ८—१५; ९—१३
महानुभावान् २—५
महान् ९—६, १८—७७
महापाप्मा ३—३७
महाबाहुः १—१८
महाबाहो २—२६, ६८, ३—२८, ४३, ५—३, ६, ६—३५, ३८, ७—५, १०—१, ११—२३, १४—५, १८—१, १३
महाभूतानि १३—५
महायोगेश्वरः ११—९

पदानि अ० श्लो०
महारथः १—४, १७
महारथाः १—६; २—३५
महाशङ्खम् १—१५
महाशनः ३—३७
महिमानम् ११—४१
महीकृते १—३५
महीक्षिताम् १—२५
महीपते १—२१
महीम् २—३७
महेश्वरः १३—२२
महेष्वासाः १—४
मंस्यन्ते २—३५

मा.

मा २—३, ४७, ४७, ४७; ११—३४, ४९, ४९, १६—५, १८—६६
माता ९—१७
मातुलान् १—२६
मातुलाः १—३४
मात्रास्पर्शाः २—१४
माधव १—३७
माधवः १—१४
मानवः ३—१७, १८—४६
मानवाः ३—३१
मानसम् १७—१६
मानसाः १०—६
मानापमानयोः ६—७; १२—१८, १४—२५
मानुषम् ११—५१
मानुषीम् ९—११
मानुषे ४—१२
मामकम् १५—१२
मामकाः १—१
मामिकाम् ९—७
मायया ७—१५; १८—६१
माया ७—१४
मायाम् ७—१४
मारुतः २—२३
मार्गशीर्षः १०—३५
मार्दवम् १६—२

पदानि अ० श्लो०

मासानाम् १०—३५
माहात्म्यम् ११—२
माम् १—४६; २—७; ३—१; ४—९, १०, ११, १३, १४, १४; ५—२९, ६—३०, ३१, ४७, ७—१, ३, १०, १३, १४, १५, १६, १८, १९, २३, २४, २५, २६, २८, २९, ३०, ३०, ८—५, ७, ७, १३, १४, १५, १६, ९—३, ९, ११, १३, १४, १४, १५, २०, २२, २३, २४, २५, २८, २९, ३०, ३२, ३३, ३४, ३४; १०—३, ८, ९, १०, १४, २४, २७, ११—८, ५३, ५५; १२—२, ४, ६, ९; १३—२; १४—२६; १५—१९, १९; १६—१८, २०; १७—६; १८—५५, ५५, ६५, ६५, ६६, ६७, ६८;

मि

मित्रद्रोहे १—३८
मित्रारिपक्षयोः १४—२५
मित्रे १२—१८
मिथ्या १८—५९
मिथ्याचारः ३—६
मिश्रम् १८—१२

मु.

मुक्तसङ्गः ३—९; १८—२६
मुक्तस्य ४—२३
मुक्तम् १८—४०
मुक्तः ५—२८; १२—१५; १८—७१
मुक्त्वा ८—५
मुखम् १—२९
मुखानि ११—२५
मुखे ४—३२
मुख्यम् १०—२४
मुच्यन्ते ३—१३, ३१
मुनयः १४—१
मुनिः २—५६; ५—६, २८, १०—२६
मुनीनाम् १०—३७
मुनेः २—६९; ६—३
मुमुक्षुभिः ४—१५
मुहुः १८—७६, ७६
मुह्यति २—१३; ८—२७
मुह्यन्ति ५—१५

मू.

मूढग्राहेण १७—१९
मूढयोनिषु १४—१५
मूढः ७—२५
मूढाः ७—१५; ९—११; १६—२०
मूर्तयः १४—४
मूर्ध्नि ८—१२
मूलानि १५—२

मृ.

मृगाणाम् १०—३०
मृगेन्द्रः १०—३०
मृतस्य २—२७
मृतम् २—२६
मृत्युसंसारवर्त्मनि ९—३
मृत्युसंसारसागरात् १२—७
मृत्युम् १३—२५
मृत्युः २—२७, ९—१९, १०—३४

मे.

मे १—२१, २९, ३०, ४६; २—७; ३—२, २२, ३१, ३२; ४—३, ५, ९, १४; ५—१; ६—३०, ३६, ३९, ४७; ७—४, ५, १८, ९—५, २६, २९, ३१, १०—१, २, १३, १८, १९; ११—४, ५, ८, १८, ३१, ४५, ४६, ४७, ४९; १२—२, १४, १५, १६, १७, १९, २०; १३—३; १६—६, १३; १८—४, ६, १३, ३६, ५०, ६४, ६४, ६५, ६९, ६९, ७०, ७७
मेधाः १०—३४
मेधावी १८—१०
मेरुः १०—२३

मै.

मैत्रः १२—१३

मो.

मोक्षकाङ्क्षिभिः १७—२५
मोक्षपरायणः ५—२८
मोक्षयिष्यामि १८—६६
मोक्षम् १८—३०
मोक्ष्यसे ४—१६; ९—१, २८
मोघकर्माणः ९—१२
मोघज्ञानाः ९—१२
मोघम् ३—१६
मोघाशाः ९—१२
मोदिष्ये १६—१५
मोहकलिलम् २—५२
मोहजालसमावृताः १६—१६
मोहनम् १४—८; १८—३९
मोहयसि ३—२
मोहम् ४—३५; १४—२२
मोहः ११—१; १४—१३; १८—७३
मोहात् १६—१०, १८—७, २५, ६०
मोहितम् ७—१३
मोहिताः ४—१६
मोहिनीम् ९—१२

मौ.

मौनम् १०—३८; १७—१६
मौनी १२—१९

म्रि.

म्रियते २—२०

य.

यक्षरक्षसाम् १०—२३
यक्षरक्षांसि १७—४
यक्ष्ये १६—१५
यच्छ्रद्धः १७—३
यजन्तः ९—१५
यजन्ति ९—२३
यजन्ते ४—१२, ९—२३; १६—१७; १७—१, ४, ४
यजुः ९—१७
यज्ञक्षपितकल्मषाः ४—३०
यज्ञतपसाम् ५—२९
यज्ञतपःक्रियाः १७—२५
यज्ञदानतपःकर्म १८—३, ५
यज्ञदानतपःक्रिया. १७—२४
यज्ञभाविताः ३—१२
यज्ञविदः ४—३०
यज्ञशिष्टामृतभुजः ४—३१
यज्ञशिष्टाशिनः ३—१३
यज्ञम् ४—२५, २५; १७—१२, १३
यज्ञः ३—१४; ९—१६, १६—१; १७—७, ११; १८—५, ५
यज्ञात् ३—१४; ४—३३
यज्ञानाम् १०—२५
यज्ञाय ४—२३
यज्ञार्थात् ३—९
यज्ञाः ४—३२; १७—२३
यज्ञे ३—१५; १७—२७
यज्ञेन ४—२५
यज्ञेषु ८—२८
यज्ञैः ९—२०
यतचित्तस्य ६—१९
यतचित्तात्मा ४—२१ ६—१०
यतचित्तेन्द्रियक्रियः ६—१२
यतचेतसाम् ५—२६

पदानि अ० श्लो०

यततः २—६०
यतता ६—३६
यतताम् ७—३
यतति ७—३
यतते ६—४३
यतवाक्कायमानसः १८—५२
यतन्तः ९—१४; १५—११, ११
यतन्ति ७—२९
यतमानः ६—४५
यतयः ४—२८; ८—११
यतः ६–२६, २६, १३–३, १५—४; १८-४६
यतात्मवान् १२—११
यतात्मा १२—१४
यतात्मानः ५—२५
यतीनाम् ५—२६
यतेन्द्रियमनोबुद्धिः ५—२८
यत् १—४५; २—६, ७, ८, ६७; ३—२१, २१ २१; ४—१६, ३५; ५—१, ५, २१; ६—२१, ४२; ७—२; ८—११, ११, ११, १७, २८, ९—१, २७, २७, २७, २७, २७; १०—१, १४, ३९, ३९, ४१, ४१; ११–१, ७, ३७, ४१, ४२, ४७, ५२; १३—२, ३, ३, ११, १२, १२, १४—१, १५—६, ८, ८, १२, १२, १२; १७—१०, १२, १५, १८, १९, २०, २१, २२, २८, १८—८, ९, १५, २१· २२, २३, २४, २५, ३७, ३८, ३९, ४०, ५९, ६०
यत्प्रभावः १३—३
यत्र ६—२०, २०, २१; ८—२३; १८—३६, ७८, ७८
यथा २—१३, २२; ३—२५, ३८, ३८; ४—११, ३७; ६—१९, ७—१; ९–६; ११–३, २८, २९, ५३; १२—२०; १३—३२, ३३; १८–४५, ५०, ६३
यथाभागम् १—११
यथावत् १८—१९
यदा २—५२, ५३, ५५, ५८; ४—७, ७, ६—४, १८; १३–३०; १४–११, १४, १९
यदि १—३८, ४६, २—६, ३—२३; ६—३२; ११—४, १२
यदृच्छया २—३२
यदृच्छालाभसंतुष्टः ४—२२
यद्वत् २—७०
यद्विकारि १३—३
यन्त्रारूढानि १८—६१
यमः १० —२९; ११—३९
यया २—३९; ७—५; १८—३१, ३३, ३४, ३५
यशः १०—५; ११—३३
यष्टव्यम् १७—११
यस्मात् १२—१५; १५—१८
यस्मिन् ६—२२; १५—४
यस्य २—६१, ६८; ४-१९; ८—२२; १५–१; १८—१७, १७
यस्याम् २—६९
यम् २—१५, ७०; ६—२, २२, ८—६, ६, २१
यः २—१९, १९, २१, ५७, ७१; ३—६, ७, १२, १६, १७, ४२, ४—९, १४, १८, १८; ५—३, ५, १०, २३, २४, २४, २८; ६—१, ३०, ३१, ३२, ३३, ४७; ७—२१, २१; ८—५, ९, १३, १४, २०; ९—२६; १०—३, ७; ११—५५; १२—१४, १५, १५, १६, १७, १७; १३—१, ३, २३, २७, २९, १४—२३, २३, २६, १५—१, १७, १९; १६—२३; १७–३, ११; १८—११, १६, ५५, ६७, ६८, ७०, ७१

या.

या २—६९: १८—३०, ३२, ५०
यातयामम् १७—१०
याति ६—४५; ८—५, ८, १३, २६; १३—२८; १४—१४; १६—२२
यादव ११—४१
यादसाम् १०—२९
यादृक् १३—३
यान् २—६
यान्ति ३—३३; ४—३१, ७—२३, २३, २७, ८—२३; ९—७, २५, २५, २५, २५, ३२, १३—३४; १६—२०
याभिः १०—१६
यावत् १—२२; १३—२६
यावान् २—४६; १८—५५
यास्यसि २—३५; ४—३५
याम् २—४२; ७–२१, २१
याः १४—४

यु.

युक्तचेतसः ७—३०
युक्तचेष्टस्य ६—१७
युक्ततमः ६—४७
युक्ततमाः १२—२
युक्तस्वप्नावबोधस्य ६—१७
युक्तः २—३९, ६१; ३–२६; ४—१८; ५—८, १२, २३; ६—८, १४, १८; ७–२२; ८–१०; १८–५१
युक्तात्मा ७—१८
युक्ताहारविहारस्य ६—१७
युक्ते १—१४
युक्तैः १७—१७
युक्त्वा ९—३४
युगपत् ११—१२
युगसहस्रान्ताम् ८—१७
युगे ४—८, ८
युज्यते १०—७; १७—२६
युज्यस्व २—३८, ५०
युञ्जतः ६—१९
युञ्जन् ६—१५, २८, ७—१
युञ्जीत ६—१०
युञ्ज्यात् ६—१२
युद्धविशारदाः १—९
युद्धम् २—३२
युद्धात् २—३१
युद्धाय २—३७, ३८
युद्धे १—२३, ३३; १८—४३
युधामन्युः १—६
युधि १—४
युधिष्ठिरः १—१६
युध्य ८—७
युध्यस्व २—१८, ३—३०; ११—३४
युयुधानः १—४
युयुत्सवः १—१
युयुत्सुम् १—२८

ये.

ये १—७, २३; ३—१३, ३१, ३२; ४—११;

पदानि अ० श्लो०

५—२२; ७—१२, १२, १४, २९, ३०, ९—२२, २३, २९, ३२; ११—२२, ३२, १२—१, १, २, ३, ६, २०; १३—३४, १७—१, ५
येन २—१७, ३—२; ४—३५; ६—६; ८—२२; १०—१०, १२—१९; १८—२०, ४६
येषाम् १—३३, २—३५; ५—१६, १९; ७—२८, १०—६

यो.

योक्तव्यः ६—२३
योगक्षेमम् ९—२२
योगधारणाम् ८—१२
योगबलेन ८—१०
योगभ्रष्टः ६—४१
योगमायासमावृतः ७—२५
योगयज्ञाः ४—२८
योगयुक्तः ५—६, ७, ८—२७
योगयुक्तात्मा ६—२९
योगवित्तमाः १२—१
योगसञ्ज्ञितम् ६—२३
योगसंन्यस्तकर्माणम् ४—४१
योगसंसिद्धः ४—३८
योगसंसिद्धिम् ६—३७
योगसेवया ६—२०
योगस्थः २—४८
योगस्य ६—४४
योगम् २—५३, ४—१, ४२, ५—१, ५; ६—२, ३, १२, १९, ७—१, ९—५; १०—७, १८, ११—८, १८—७५
योग. २—४८, ५०; ४—२, ३, ६—१६, १७, २३, ३३, ३६
योगात् ६—३७
योगाय २—५०
योगारूढस्य ६—३
योगारूढः ६—४
योगिनम् ६—२७
योगिनः ४—२५; ५—११; ६—१९; ८—१४, २३; १५—११
योगिनाम् ३—३; ६—४२, ४७
योगिन् १०—१७,
योगी ५—२४; ६—१, २, ८, १०, १५, २८, ३१, ३२, ४५, ४६, ४६, ४६; ८—२५, २७, २८; १२—१४
योगे २—३९
योगेन १०—७; १२—६; १३—२४, १८—३३
योगेश्वर ११—४
योगेश्वरः १८—७८
योगेश्वरात् १८—७५
योगैः ५—५
योत्स्यमानान् १—२३
योत्स्ये २—९, १८—५९
योद्धव्यम् १—२२
योद्धुकामान् १—२२
योधमुख्यैः ११—२६
योधवीरान् ११—३४
योधाः ११—३२
योनिषु १६—१९
योनिम् १६—२०
योनिः १४—३

यौ.

यौवनम् २—१३

र.

रक्षांसि ११—३६
रजसः १४—१६, १७
रजसि १४—१२, १५
रजः १४—५, ७, ९, १०, १०, १०; १७—१
रजोगुणसमुद्भवः ३—३७
रणसमुद्यमे १—२२
रणात् २—३५
रणे १—४६; ११—३४
रताः ५—२५; १२—४
रथम् १—२१
रथोत्तमम् १—२४
रथोपस्थे १—४७
रमते ५—२२; १८—३६
रमन्ति १०—९
रविः १०—२१; १३—३३
रसनम् १५—९
रसवर्जम् २—५९
रसः २—५९; ७—८
रसात्मकः १५—१३
रस्याः १७—८
रहसि ६—१०
रहस्यम् ४—३

रा.

राक्षसीम् ९—१२
रागद्वेषवियुक्तैः २—६४
रागद्वेषौ ३—३४; १८—५१
रागात्मकम् १४—७
रागी १८—२७
राजगुह्यम् ९—२
राजन् ११—९, १८—७६, ७७
राजर्षयः ४—२, ९—३३
राजविद्या ९—२
राजसस्य १७—९
राजसम् १७—१२, १८, २१, १८—८, २१, २४, ३८
राजसः १८—२७
राजसाः ७—१२; १४—१८, १७—४
राजसी १७—२; १८—३१, ३४
राजा १—२, १६
राज्यसुखलोभेन १—४५
राज्यम् १—३२, ३३, २—८; ११—३३
राज्येन १—३२
रात्रिम् ८—१७
रात्रिः ८—२५
रात्र्यागमे ८—१८, १९
राधनम् ७—२२
रामः १०—३१

रि.

रिपुः ६—५

रु.

रुद्राणाम् १०—२३
रुद्रादित्याः ११—२२
रुद्रान् ११—६
रुद्ध्वा ४—२९
रुधिरप्रदिग्धान् २—५

रू.

रूपस्य ११—५२
रूपम् ११—३, ९, २०, २३, ४५, ४७, ४९, ४९, ५०, ५१, ५२; १५—३, १८—७७
रूपाणि ११—५
रूपेण ११—४६

रो.

रोमहर्षणम् १८—७४
रोमहर्षः १—२९

ल.

लघ्वाशी १८—५२
लब्धम् १६—१३
लब्ध्वा ४—३९; ६—२२
लब्धा १८—७३
लभते ४—३९; ६—४३, ७—२२, १८—४५, ५४
लभन्ते २—३२, ५—२५; ९—२१
लभस्व ११—३३
लभे ११—२५
लभेत् १८—८
लभ्यः ८—२२

पदानि अ० श्लो०

ला.

लाघवम् २—३५
लाभम् ६—२२
लाभालाभौ २—३८

लि.

लिङ्गैः १४—२१
लिप्यते ५—७, १०, १३—३१; १८—१७
लिम्पन्ति ४—१४

लु.

लुप्तपिण्डोदकक्रियाः १—४२
लुब्धः १८—२७

ले.

लेलिह्यसे ११—३०

लो.

लोकक्षयकृत् ११—३२
लोकत्रयम् ११—२०, १५—१७
लोकत्रये ११—४३
लोकमहेश्वरम् १०—३
लोकसंग्रहम् ३—२०, २५
लोकस्य ५—१४; ११—४३
लोकम् ९—३३; १३—३३
लोकः ३—९, २१; ४—३१, ४०, ७—२५, १०—६; १२—१५
लोकात् १२—१५
लोकान् ६—४१, १०—१६, ११—३०, ३२; १४—१४; १८—१७, ७१
लोकाः ३—२४, ८—१६, ११—२३, २९
लोके २—५, ३—३, ४—१२, ६—४२ १३—१३, १५—१६, १८; १६—६
लोकेषु ३—२२
लोभः १४—१२, १७, १६—२१
लोभोपहतचेतसः १—३८

पदानि अ० श्लो०

व.

वक्तुम् १०—१६
वक्त्राणि ११—२७, २८, २९
वक्ष्यामि ७—२; ८—२३, १०—१; १८—६४
वचनम् १—२, ११—३५, १८—७३
वचः २—१०, १०—१; ११—१, १८—६४,
वज्रम् १०—२८
वद ३—२
वदति २—२९
वदनैः ११—३०
वदन्ति ८—११
वदसि १०—१४
वदिष्यन्ति २—३६
वयम् १—३७, ४५, २—१२
वर ८—४
वरुणः १०—२९, ११—३९
वर्णसंकर-कारकैः १—४३
वर्णसंकरः १—४१
वर्तते ५—२६, ६—३१, १६—२३
वर्तन्ते ३—२८; ५—९; १४—२३
वर्तमान. ६—३१, १३—२३
वर्तमानानि ७—२६
वर्ते ३—२२
वर्तेत ६—६
वर्तेयम् ३—२३
वर्त्म ३—२३, ४—११
वर्षम् ९—१९
वशम् ३—३४, ६—२६
वशात् ९—८
वशी ५—१३
वशे २—६१
वश्यात्मना ६—३६
वसवः ११—२२

पदानि अ० श्लो०

वसूनाम् १०—२३
वसून् ११—६
वहामि ९—२२
वह्निः ३—३८
वः ३—१०, ११, १२

वा.

वा १—३२; २—६, ६, २०, २०, २६, ३७, ३७, ६—३२, ३२, ८—६; १०—४१, ११—४१, १५—१०, १०; १७—१९; २१, १८—१५, १५, २४, ४०, ४०
वाक् १०—३४
वाक्यम् १—२१, २—१, १७—१५
वाक्येन ३—२
वाङ्मयम् १७—१५
वाचम् २—४२
वाच्यम् १८—६७
वादः १०—३२
वादिनः २—४२
वायुः २—६७; ७—४, ९—६, ११—३९, १५—८;
वायोः ६—३४
वार्ष्णेय १—४१, ३—३६
वासवः १०—२२
वासः १—४४
वासांसि २—२२
वासुकिः १०—२८
वासुदेवस्य १८—७४
वासुदेवः ७—१९, १०—३७; ११—५०

वि.

विकम्पितुम् २—३१
विकर्णः १—८
विकर्मणः ४—१७
विकारान् १३—१९

पदानि अ० श्लो०

विक्रान्तः १—६
विगतकल्मषः ६—२८
विगतज्वरः ३—३०
विगतभीः ६—१४
विगतस्पृहः २—५६ १८—४९
विगत. ११—१
विगतेच्छाभयक्रोध. ५—२८
विगुणः ३—३५, १८—४७
विचक्षणाः १८—२
विचालयेत् ३—२९
विचाल्यते ६—२२; १४—२३
विचेतसः ९—१२
विजयम् १—३२
विजय. १८—७८
विजानतः २—४६
विजानीतः २—१९
विजानीयाम् ४—४
विजितात्मा ५—७
विजितेन्द्रियः ६—८
विज्ञातुम् ११—३१
विज्ञानसहितम् ९—१
विज्ञानम् १८—४२
विज्ञाय १३—१८
वितता ४—३२
वित्तेशः १०—२३
विदधामि ७—२१
विदितात्मनाम् ५—२६
विदित्वा २—२५, ८—२८
विदुः ४—२, ७—२९, ३०, ३०, ८—१७, १०—२, १४, १३—३४, १६—७, १८—२
विद्धि २—१७; ३—१५, ३२, ३७; ४—१३, ३२, ३४, ६—२; ७—५, १०, १२; १०—२४, २७, १३—२, १९, १९, २६

पदानि अ० श्लो०

१४—७, ८; १५—१२; १७—६,१२;१८—२०, २१
विघ्नः २—६
विद्यते २—१६, १६, ३१, ४०; ३—१७; ४—३८; ६—४०;८—१६; १६-७
विद्यात् ६—२३;१४—११
विद्यानाम् १०—३२
विद्याविनयसंपन्ने ५—१८
विद्याम् १०—१७
विद्वान् ३—२५, २६
विधानोक्ताः १७—२४
विधिदृष्टः १७—११
विधिहीनम् १७—१३
विधीयते २—४४
विधेयात्मा २—६४
विनङ्क्ष्यसि १८—५८
विनद्य १—१२
विनश्यति ४—४०;८—२०
विनश्यत्सु १३—२७
विना १०—३९
विनाशम् २—१७
विनाशः ६—४०
विनाशाय ४—८
विनियतम् ६—१८
विनियम्य ६—२४
विनिवर्तन्ते २—५९
विनिवृत्तकामाः १५—५
विनिश्चितैः १३—४
विन्दति ४—३८;५—२१; १८—४५, ४६
विन्दते ५—४
विन्दामि ११—२४
विपरिवर्तते ९—१०
विपरीतम् १८—१५
विपरीतानि १—३१
विपरीतान् १८—३२
विपश्चितः २—६०
विभक्तम् १३—१६
विभक्तेषु १८—२०
विभावसौ ७—९
विभुम् १०—१२
विभुः ५—१५
विभूतिभिः १०—१६
विभूतिमत् १०—४१
विभूतिम् १०—७, १८
विभूतीनाम् १०—४०
विभूतेः १०—४०
विमत्सरः ४—२२
विमुक्तः ९—२८; १४—२०, १६—२२
विमुक्ताः १५—५
विमुच्य १८—५३
विमुञ्चति १८—३५
विमुह्यति २—७२
विमूढः ६—३८
विमूढभावः ११—४९
विमूढात्मा ३—६
विमूढाः १५—१०
विमृश्य १८—६३
विमोक्षाय १६—५
विमोक्ष्यसे ४—३२
विमोहयति ३—४०
विराटः १—४, १७
विलग्नाः ११—२७
विवस्वतः ४—४
विवस्वते ४—१
विवस्वान् ४—१
विविक्तदेशसेवित्वम् १३—१०
विविक्तसेवी १८—५२
विविधाः १७—२५; १८—१४
विविधैः १३—४
विवृद्धम् १४—११
विवृद्धे १४—१२, १३
विशते १८—५५
विशन्ति ८—११;९—२१; ११-२१,२७,२८,२९,२९
विशालम् ९—२१
विशिष्टाः १—७
विशिष्यते ३—७; ५—२; ६—९; ७-१७; १२-१२
विशुद्धया १८—५१
विशुद्धात्मा ५—७
विश्वतोमुखम् ९—१५; ११—११
विश्वतोमुखः १०—३३
विश्वमूर्ते ११—४६
विश्वरूप ११—१६
विश्वस्य ११—१८, ३८
विश्वम् ११—१९, ३८, ४७
विश्वे ११—२२
विश्वेश्वर ११—१६
विषमे २—२
विषयप्रवालाः १५—२
विषयान् २—६२, ६४; ४—२६; १५—९; १८—५१
विषयाः २—५९
विषयेन्द्रियसंयोगात् १८—३८
विषम् १८—३७, ३८
विषादम् १८—३५
विषादी १८—२८
विषीदन् १—२८
विषीदन्तम् २—१, १०
विष्टभ्य १०—४२
विष्ठितम् १३—१७
विष्णुः १०—२१
विष्णो ११—२४, ३०
विसर्गः ८—३
विसृजन् ५—९
विसृजामि ९—७,८
विसृज्य १—४७
विस्तरशः ११—२; १६—६
विस्तरस्य १०—१९
विस्तरः १०—४०
विस्तरेण १०—१८
विस्तारम् १३—३०
विस्मयः १८—७७
विस्मयाविष्टः ११—१४
विस्मिताः ११—२२
विहाय २—२२, २२, ७१
विहारशय्यासनभोजनेषु ११—४२
विहितान् ७—२२
विहिताः १७—२३

वी.

वीक्ष्यन्ते ११—२२
वीतरागभयक्रोधाः ४—१०
वीतरागाः ८—११
वीर्यवान् १—५, ६

वृ.

वृकोदरः १—१५
वृजिनम् ४—३६
वृष्णीनाम् १०—३७

वे.

वेगम् ५—२३
वेत्ता ११—३८
वेत्ति २—१९; ४—९; ६—२१;७-३;१०—३, ७, १३—१, २३; १४—१९; १८-२१, ३०
वेत्थ ४—५; १०—१५
वेद २—२१, २९;४—५; ७—२६, २६; १५—१
वेदयज्ञाध्ययनैः ११—४८
वेदवादरताः २—४२
वेदवित् १५—१,१५
वेदविदः ८—११
वेदानाम् १०—२२
वेदान्तकृत् १५—१५
वेदाः २—४५; १७—२३
वेदितव्यम् ११—१८
वेदितुम् १८—१
वेदेषु २—४६; ८—२८
वेदे १५—१८
वेदैः ११—५३; १५—१

पदानि अ० श्लो०

वेद्यम् ९—१७; ११—३८
वेद्यः १५—१५
वेपथुः १—२९
वेपमानः ११—३५

वै.

वैनतेयः १०—३०
वैराग्यम् १३—८, १८—५२
वैराग्येण ६—३५
वैरिणम् ३—३७
वैश्यकर्म १८—४४
वैश्याः ९—३२
वैश्वानरः १५—१४

व्य.

व्यक्तमध्यानि २—२८
व्यक्तयः ८—१८
व्यक्तिम् ७—२४, १०—१४
व्यतितरिष्यति २—५२
व्यतीतानि ४—५
व्यथन्ति १४—२
व्यथयन्ति २—१५
व्यथा ११—४९
व्यथिष्ठाः ११—३४
व्यदारयत् १—१९
व्यनुनादयन् १—१९
व्यपाश्रित्य ९—३२
व्यपेतभीः ११—४९
व्यवसायः १०—३६, १८—५९
व्यवसायात्मिका २—४१, ४४
व्यवसितः ९—३०
व्यवसिताः १—४५
व्यवस्थितान् १—२०
व्यवस्थितौ ३—३४

व्या.

व्यात्ताननम् ११—२४
व्याप्तम् ११—२०
व्यामिश्रेण ३—२
व्याप्य १०—१६
व्यासप्रसादात् १८—७५
व्यासः १०—१३, ३७
व्याहरन् ८—१३

व्यु.

व्युदस्य १८—५१

व्यू.

व्यूढम् १—२
व्यूढाम् १—३

व्र.

व्रज १८—६६
व्रजेत २—५४

श.

शक्नोति ५—२३
शक्नोमि १—३०
शक्नोषि १२—९
शक्यसे ११—८
शक्यम् ११—४; १८—११
शक्यः ६—३६, ११—४८, ५३, ५४
शङ्खम् १—१२
शङ्खाः १—१३
शङ्खान् १—१८
शङ्खौ १—१४
शठः १८—२८
शतशः ११—५
शत्रुत्वे ६—६
शत्रुवत् ६—६
शत्रुम् ३—४३
शत्रुः १६—१४
शत्रून् ११—३३
शत्रौ १२—१८
शनैः ६—२५, २५
शब्दब्रह्म ६—४४
शब्दः १—१३, ७—८
शब्दादीन् ४—२६, १८—५१
शमम् ११—२४
शमः ६—३; १०—४; १८—४२
शरणम् २—४९; ९—१८, १८—६२, ६६
शरीरयात्रा ३—८
शरीरवाङ्मनोभिः १८—१५
शरीरविमोक्षणात् ५—२३
शरीरस्थम् १७—६
शरीरस्थः १३—३१
शरीरम् १३—१, १५—८
शरीराणि २—२२
शरीरिणः २—१८
शरीरे १—२९; २—२०, ११—१३
शर्म ११—२५
शशाङ्कः ११—३९, १५—६
शशिसूर्यनेत्रम् ११—१९
शशिसूर्ययोः ७—८
शशी १०—२१
शश्वत् ९—३१
शस्त्रपाणयः १—४६
शस्त्रभृताम् १०—३१
शस्त्रसंपाते १—२०
शस्त्राणि २—२३
शङ्करः १०—२३
शससि ५—१

शा.

शाखाः १५—२
शाधि २—७
शान्तरजसम् ६—२७
शान्तः १८—५३
शान्तिम् २—७०, ७१, ४—३९, ५—१२, २९, ६—१५, ९—३१; १८—६२
शान्तिः २—६६, १२—१२, १६—२
शारीरम् ४—२१, १७—१४
शाश्वतधर्मगोप्ता ११—१८
शाश्वतस्य १४—२७
शाश्वतम् १०—१२; १८—५६, ६२
शाश्वतः २—२०
शाश्वताः १—४३
शाश्वतीः ६—४१
शाश्वते ८—२६
शास्त्रविधानोक्तम् १६—२४
शास्त्रविधिम् १६—२३; १७—१
शास्त्रम् १५—२०; १६—२४

शि.

शिखण्डी १—१७
शिखरिणाम् १०—२३
शिरसा ११—१४
शिष्यः २—७
शिष्येण १—३

शी.

शीतोष्णसुखदुःखदाः २—१४
शीतोष्णसुखदुःखेषु ६—७; १२—१८

शु.

शुक्लकृष्णे ८—२६
शुक्लः ८—२४
शुचः १६—५, १८—६६
शुचिः १२—१६
शुचीनाम् ६—४१
शुचौ ६—११
शुनि ५—१८
शुभान् १८—७१
शुभाशुभपरित्यागी १२—१७
शुभाशुभफलैः ९—२८
शुभाशुभम् २—५७

शू.

शूद्रस्य १८—४४
शूद्राणाम् १८—४१
शूद्राः ९—३२
शूराः १—४, ९

शृ.

शृणु २—३९, ७—१; १०—१, १३—३, १६—६; १७—२, ७; १८—४, १९, २९, ३६, ४५, ६४
शृणुयात् १८—७१
शृणोति २—२९

पदानि अ० श्लो०

श्रृण्वतः १०—१८
श्रृण्वन् ५—८

शै.

शैब्यः १—५

शो.

शोकसंविग्नमानसः १—४७
शोकम् २—८; १८—३५
शोचति १२—१७, १८—५४
शोचितुम् २—२६, २७, ३०
शोषयति २—२३

शौ.

शौचम् १३—७; १६—३, ७; १७—१४, १८—४२
शौर्यम् १८—४३

श्या.

श्यालाः १—३४

श्र.

श्रद्दधानाः १२—२०
श्रद्धया ६—३७; ७—२१, २२, ९—२३; १२—२, १७—१, १७
श्रद्धा १७—२, ३
श्रद्धामयः १७—३
श्रद्धावन्तः ३—३१
श्रद्धावान् ४-३९, ६-४७; १८—७१
श्रद्धाविरहितम् १७—१३
श्रद्धाम् ७—२१

श्रि.

श्रिताः ९—१२

श्री.

श्रीभगवान् २—२, ११, ५५; ३—३, ३७; ४—१, ५, ५—२, ६—१, ३५, ४०; ७—१; ८—३, ९—१; १०—१, १९, १२—२, १३—१; १४—१, २२; १५—१; १६—१; १७—२; १८—२
श्रीमताम् ६—४१
श्रीमत १०—४१
श्रीः १०—३४, १८—७८

श्रु.

श्रुतवान् १८—७५
श्रुतस्य २—५२
श्रुतम् १८—७२
श्रुतिपरायणाः १३—२५
श्रुतिविप्रतिपन्ना २—५३
श्रुतौ ११—२
श्रुत्वा २—२९; ११—३५; १३—२५

श्रे.

श्रेयः १—३१; २—५, ७, ३१; ३—२, ११, ३५; ५—१; १२—१२; १६—२२
श्रेयान् ३—३५; ४—३३; १८—४७
श्रेष्ठः ३—२१

श्रो.

श्रोतव्यस्य २—५२
श्रोत्रम् १५—९
श्रोत्रादीनि ४—२६
श्रोष्यसि १८—५८

श्व.

श्वपाके ५—१८
श्वशुरान् १—२७
श्वशुराः १—३४
श्वसन् ५—९

श्वे.

श्वेतैः १—१४

ष.

षण्मासाः ८—२४, २५

स.

सक्तम् १८—२२
सक्तः ५—१२
सक्ताः ३—२५
सखा ४—३, ११—४१, ४४
सखीन् १—२६
सखे ११—४१
सख्युः ११—४४
सगद्गदम् ११—३५
सङ्गरहितम् १८—२३
सङ्गवर्जितः ११—५५
सङ्गविवर्जितः १२—१८
सङ्गम् २—४८, ५—१०, ११; १८—६, ९
सङ्गः २—४७, ६२
सङ्गात् २—६२
सङ्ग्रामम् २—३३
सचराचरम् ९—१०, ११—७
सचेताः ११—५१
सच्छब्दः १७—२६
सजते ३—२८
सजन्ते ३—२९
सततयुक्तानाम् १०—१०
सततयुक्ताः १२—१
सततम् ३—१९, ६—१०; ८—१४, ९—१४, १२—१४, १७—२४; १८—५७
सतः २—१६
सति १८—१६
सत् ९—१९; ११—३७, १३—१२, १७—२३, २६, २७, २७
सत्कारमानपूजार्थम् १७-१८
सत्यम् १०—४; १६—२, ७; १७—१५; १८—६५
सत्त्ववताम् १०—३६
सत्त्वसमाविष्टः १८—१०
सत्त्वसंशुद्धिः १६—१
सत्त्वस्थाः १४—१८
सत्त्वम् १०—३६, ४१; १३—२६; १४—५, ६, ९, १०, १०, १०, ११, १७—१; १८—४०
सत्त्वात् १४—१७
सत्त्वानुरूपा १७—३
सत्त्वे १४—१४
सदसत्परम् ११—३७
सदसद्योनिजन्मसु १३—२१
सदा ५—२८, ६—१५, २८; ८—६; १०—१७, १८—५६
सदृशम् ३—३३; ४—३८
सदृशः १६—१५
सदृशी ११—१२
सदोषम् १८—४८
सद्भावे १७—२६
सनातनम् ४—३१, ७—१०
सनातन. २—२४; ८—२०, ११—१८, १५—७
सनातनाः १—४०
सन् ४—६, ६
सन्तः ३—१३
सपत्नान् ११—३४
सप्त १०—६
समक्षम् ११—४२
समग्रम् ४—२३, ७—१ ११—३०
समग्रान् ११—३०
समचित्तत्वम् १३-९
समता १०—५
समतीतानि ७—२६
समतीत्य १४—२६
समत्वम् २-४८
समदर्शिनः ५—१८
समदुःखसुखम् २—१५
समदुःखसुखः १२—१३; १४—२४

पदानि अ० श्लो०
समधिगच्छति ३—४
समनुद्धय: १२—४
समबुद्धिः ६—९
समलोष्टाश्मकाञ्चनः ६—८; १४—२४
समवस्थितम् १३—२८
समवेतान् १—२५
समवेताः १—१
समम् ५—१९, ६—१३, ३२, १३—२७, २८
समन्ततः ६—२४
समन्तात् ११—१७, ३०
सम. २—४८, ४—२२; ९—२९; १२—१८, १८, १८—५४
समागताः १—२३
समाचर ३—९, १९
समाचरन् ३—२६
समाधातुम् १२—९
समाधाय १७—११
समाधिस्थस्य २—५४
समाधौ २—४४, ५३
समाप्नोषि ११—४०
समारम्भाः ४—१९
समासतः १३—१८
समासेन १३—३, ६, १८—५०
समाहर्तुम् ११—३२
समाहित. ६—७
समा. ६—४१
समितिंजय· १—८
समिद्धः ४—३७
समीक्ष्य १—२७
समुद्रम् २—७०; ११—२८
समुद्धर्ता १२—७
समुपस्थितम् १—२८, २—२
समुपाश्रितः १८—५२
समृद्धवेगाः ११—२९, २९
समृद्धम् ११—३३
समे २—३८
समौ ५—२७
सम्यक् ५—४, ८—१०; ९—३०
सरसाम् १०—२४
सर्गः ५—१९
सर्गाणाम् १०—३२
सर्गे ७—२७; १४—२
सर्पाणाम् १०—२८
सर्व ११—४०
सर्वकर्मणाम् १८—१३
सर्वकर्मफलत्यागम् १२—११, १८—२
सर्वकर्माणि ३—२६, ४—३७, ५—१३, १८—५६, ५७
सर्वकामेभ्यः ६—१८
सर्वकिल्बिषैः ३—१३
सर्वक्षेत्रेषु १३—२
सर्वगतम् ३—१५, १३—३२
सर्वगतः २—२४
सर्वगुह्यतमम् १८—६४
सर्वज्ञानविमूढान् ३—३२
सर्वतः २—४६, ११—१६, ४०
सर्वतःपाणिपादम् १३—१३
सर्वत.श्रुतिमत् १३—१३
सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् १३—१३
सर्वतोदीप्तिमन्तम् ११—१७
सर्वत्र २—५७; ६—३०, ३२. १२—४, १३—२८, ३२, १८—४९
सर्वत्रगम् १२—३
सर्वत्रग. ९—६
सर्वत्रसमदर्शनः ६—२९
सर्वथा ६—३१; १३—२३
सर्वदुर्गाणि १८—५८
सर्वदुःखानाम् २—६५
सर्वदेहिनाम् १४—८
सर्वद्वाराणि ८—१२
सर्वद्वारेषु १४—११
सर्वधर्मान् १८—६६
सर्वपापेभ्यः १८—६६
सर्वपापैः १०—३
सर्वभावेन १५—१९, १८—६२
सर्वभूतस्थम् ६—२९
सर्वभूतस्थितम् ६—३१
सर्वभूतहिते ५—२५, १२—४
सर्वभूतात्मभूतात्मा ५—७
सर्वभूतानाम् २—६९. ५—२९, ७—१०, १०—३९, १२—१३, १४—३; १८—६१
सर्वभूतानि ६—२९; ७—२७; ९—४, ७; १८—६१
सर्वभूताशयस्थितः १०—२०
सर्वभूतेषु ३—१८, ७—९; ९—२९, ११—५५, १८—२०
सर्वभृत् १३—१४
सर्वयज्ञानाम् ९—२४
सर्वयोनिषु १४—४
सर्वलोकमहेश्वरम् ५—२९
सर्ववित् १५—१९
सर्ववृक्षाणाम् १०—२६
सर्ववेदेषु ७—८
सर्वशः १—१८, २—५८, ६८; ३—२३, २७, ४—११; १०—२, १३—२९
सर्वसंकल्पसंन्यासी ६—४
सर्वस्य २—३०, ७—२५; ८—९, १०—८; १३—१७; १५—१५, १७—३, ७
सर्वहर. १०—३४
सर्वम् २—१७. ४—३३, ३६, ६—३०; ७—७, १३, १९; ८—२२, २८, ९—४; १०—८, १४; ११—४०; १३—१३, १८—४६
सर्वः ३—५; ११—४०
सर्वाणि २—३०, ६१; ३—३०, ४—५, २७; ७—६; ९—६, १२—६, १५—१६
सर्वान् १—२७; २—५५, ७१, ४—३२, ६—२४, ११—१५, १५
सर्वारम्भपरित्यागी १२—१६; १४—२५
सर्वारम्भाः १८—४८
सर्वार्थान् १८—३२
सर्वाश्चर्यमयम् ११—११
सर्वाः ८—१८, ११—२०. १५—१३
सर्वे १—६, ९, ११, २—१२, ७०, ४—१९, ३०, ७—१८, १०—१३, ११—२२, २६, ३२, ३६; १४—१
सर्वेन्द्रियगुणाभासम् १३—१४
सर्वेन्द्रियविवर्जितम् १३—१४
सर्वेभ्य. ४—३६
सर्वेषाम् १—२५, ६—४७
सर्वेषु १—११, २—४६. ८—७, २०, २७, १३—२७, १८—२१, ५४
सर्वैः १५—१५
सविकारम् १३—६
सविज्ञानम् ७—२
सव्यसाचिन् ११—३३
सशरम् १—४७
सह १—२२ ११—२६, २६, १३—२३

पदानि अ० श्लो०

सहजम् १८—४८
सहदेवः १—१६
सहयज्ञाः ३—१०
सहसा १—१३
सहस्रकृत्वः ११—३९
सहस्रबाहो ११—४६
सहस्रयुगपर्यन्तम् ८—१७
सहस्रशः ११—५
सहस्रेषु ७—३
संकरस्य ३—२४
संकरः १—४२
सकल्पप्रभवान् ६—२४
सख्ये १—४७; २—४
सग्रहेण ८—११
सघात' १३—६
संजय १—१
सजयः १—२, २४, ४७; २—१, ९; ११—९, ३५, ५०, १८—७४
सजनयन् १—१२
संजयति १४—९, ९
संजायते २—६२, १३—२६; १४—१७
सज्ञार्थम् १—७
संतरिष्यसि ४—३६
सतुष्टः ३—१७; १२—१४, १९
सदृश्यन्ते ११—२७
संनियम्य १२—४
सनिविष्टः १५—१५
सन्यसनात् ३—४
संन्यस्य ३—३०; ५—१३; १२—६, १८—५७
सन्यासयोग-युक्तात्मा ९—२८
संन्यासस्य १८—१
सन्यासम् ५—१; ६—२; १८—२
संन्यासः ५—२, ६,

सन्यासिनाम् १८—१२
सन्यासी ६—१
सन्यासेन १८—४९
सपत् १६—५
सपदम् १६—३, ४, ५
सपद्यते १३—३०
संपश्यन् ३—२०
संप्रकीर्तितः १८—४
संप्रतिष्ठा १५—३
सप्रवृत्तानि १४—२२
सप्रेक्ष्य ६—१३
सप्लुतोदके २—४६
सबन्धिनः १—३४
सभवन्ति १४—४
सभवः १४—३
संभवामि ४—६, ८
संभावितस्य २—३४
समोहम् ७—२७
समोहः २—६३
समोहात् २—६३
संयतेन्द्रियः ४—३९
सयमताम् १०—२९
संयमाग्निषु ४—२६
संयमी २—६९
संयम्य २—६१; ३—६, ६—१४; ८—१२
सयाति २—२२; १५—८
सवादम् १८—७०,७४,७६
सवृत्तः ११—५१
संशयस्य ६—३९
सशयम् ४—४२; ६—३९
संशयः ८—५, १०—७; १२—८
सशयात्मनः ४—४०
संशयात्मा ४—४०
सशितव्रताः ४—२८
संशुद्धकिल्बिषः ६—४५
संश्रिताः १६—१८
ससारेषु १६—१९

८—१५, १८—४५
ससिद्धौ ६—४३
सस्तभ्य ३—४३
सस्पर्शजाः ५—२२
सस्मृत्य १८—७६, ७६, ७७, ७७
संहरते २—५८

सः.

सः १—१३,१९,२७; २—१५, २१, ७०, ७१; ३—६, ७, १२, १६,२१, ४२; ४—२, ३, ९, १४, १८, १८, २०; ५—३, ५, १०, २१, २३, २३, २४, २८; ६—१,२३,३०, ३१, ३२, ४४, ४७, ७—१७, १८, १९, २२; ८—५, १०, १३, १९, २०, २२; ९—३०, ३०; १०—३, ७; ११—१४, ५५; १२—१४, १५, १६, १७, १३—३ २३, २७, २९;१४—१०, २५, २६; १५—१,१९; १६—२३; १७—३, ३, ११; १८—८, ९, ११, १६, १७, ७१

सा.

सा २—६९, ६—१९, ११—१२, १७—२, १८—३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५
साक्षात् १८—७५
साक्षी ९—१८
सागरः १०—२४
सात्यकिः १—१७
सात्त्विकप्रियाः १७—८
सात्त्विकम् १४—१६, १७—१७, २०;

सात्त्विकः १७—११; १८—९, २६
सात्त्विकाः ७-१२,१७—४
सात्त्विकी १७—२; १८—३०, ३३
साधर्म्यम् १४—२
साधिभूताधिदैवम् ७—३०
साधियज्ञम् ७—३०
साधुभावे १७—२६
साधुषु ६—९
साधुः ९—३०
साधूनाम् ४—८
साध्याः ११—२२
साम ९—१७
सामर्थ्यम् २—३६
सामवेदः १०—२२
सामासिकस्य १०—३३
साम्नाम् १०—३५
साम्ये ५—१९
साम्येन ६—३३
साहकारेण १८—२४
साख्ययोगौ ५—४
साख्यम् ५—५
साख्यानाम् ३—३
साख्ये २—३९; १८—१३
साख्येन १३—२४
साख्यैः ५—५

सि.

सिद्धये ७—३, १८—१३
सिद्धसघाः ११—३६
सिद्धः १६—१४
सिद्धानाम् ७—३, १०—२६
सिद्धिम् ३—४, ४—१२; १२—१०, १४—१, १६—२३, १८—४५, ४६, ५०
सिद्धिः ४—१२
सिद्धौ ४—२२
सिद्ध्यसिद्ध्योः २—४८

पदानि अ० श्लो०

१८—२६
सिंहनादम् १—१२

सी.

सीदन्ति १—२९

सु.

सुकृतदुष्कृते २—५०
सुकृतस्य १४—१६
सुकृतम् ५—१५
सुकृतिनः ७—१६
सुखदुःखे २—३८
सुखदुःखसंज्ञैः १५—५
सुखदुःखानाम् १३—२०
सुखसङ्गेन १४—६
सुखस्य १४—२७
सुखम् २—६६;—४—४०; ५—३, १३, २१, २१, ६—२१, २७, २८, ३२, १०—४; १३—६, १६—२३;—१८—३६, ३७, ३८, ३९,
सुखानि १—३२, ३३
सुखिनः १—३७, २—३२
सुखी ५—२३; १६—१४
सुखे १४—९
सुखेन ६—२८
सुखेषु २—५६
सुघोषमणिपुष्पकौ १—१६
सुदुराचारः ९—३०
सुदुर्दर्शम् ११—५२
सुदुर्लभः ७—१९
सुदुष्करम् ६—३४
सुनिश्चितम् ५—१
सुरगणाः १०—२
सुरसङ्घाः ११—२१
सुराणाम् २—८
सुरेन्द्रलोकम् ९—२०
सुलभः ८—१४
सुविरूढमूलम् १५—३

पदानि अ० श्लो०

सुसुखम् ९—२
सुहृत् ९—१८
सुहृदम् ५—२९
सुहृदः १—२७
सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ६—९

सू.

सूक्ष्मत्वात् १३—१५
सूतपुत्रः ११—२६
सूत्रे ७—७
सूयते ९—१०
सूर्यसहस्रस्य ११—१२
सूर्यः १५—६

सृ.

सृजति ५—१४
सृजामि ४—७
सृती ८—२७
सृष्टम् ४—१३
सृष्ट्वा ३—१०

से.

सेनयोः १—२१, २४, २७, २—१०
सेनानीनाम् १०—२४
सेवते १४—२६
सेवया ४—३४

सै.

सैन्यस्य १—७

सो.

सोढुम् ५—२३; ११—४४
सोमपाः ९—२०
सोमः १५—१३

सौ.

सौक्ष्म्यात् १३—३२
सौभद्रः १—६, १८
सौमदत्तिः १—८
सौम्यत्वम् १७—१६
सौम्यवपुः ११—५०
सौम्यम् ११—५१

पदानि अ० श्लो०

स्क.

स्कन्दः १०—२४

स्त.

स्तब्धः १८—२८
स्तब्धाः १६—१७

स्तु.

स्तुतिभिः ११—२१
स्तुवन्ति ११—२१

स्ते.

स्तेनः ३—१२

स्त्रि.

स्त्रिय. ९—३२

स्त्री.

स्त्रीषु १—४१

स्था.

स्थाणुः २—२४
स्थानम् ५—५; ८—२८; ९—१८, १८—६२
स्थाने ११—३६
स्थापय १—२१
स्थापयित्वा १—२४
स्थावरजङ्गमम् १३—२६
स्थावराणाम् १०—२५
स्थास्यति २—५३

स्थि.

स्थितप्रज्ञस्य २—५४
स्थितप्रज्ञः २—५५
स्थित्वा २—७२
स्थितधीः २—५४,५६
स्थितम् ५—१९, १३—१६, १५—१०
स्थितः ५—२०, ६—१०, ४,२१,२२;१०—४२, १८—७३
स्थितान् १—२६
स्थिताः ५—१९
स्थितिम् ६—३३
स्थिति. २—७२, १७—२७
स्थितौ १—१४
स्थिरबुद्धि. ५—२०
स्थिरमति. १२—१९
स्थिरम् ६—११, १२—९
स्थिरः ६—१३

पदानि अ० श्लो०

स्थिराम् ६—३३
स्थिराः १७—८

स्थै.

स्थैर्यम् १३—७

स्नि.

स्निग्धाः १७—८

स्प.

स्पर्शनम् १५—९
स्पर्शान् ५—२७

स्पृ.

स्पृशन् ५—८
स्पृहा ४—१४; १४—१२

स्म.

स्म २—३
स्मरति ८—१४
स्मरन् ३—६, ८—५, ६

स्मृ.

स्मृतम् १७—२०, २१; १८—३८
स्मृतः १७—२३
स्मृता ६—१९
स्मृतिभ्रंशात् २—६३
स्मृतिविभ्रमः २—६३
स्मृतिः १०—३४; १५—१५; १८—७३

स्य.

स्यन्दने १—१४

स्या.

स्यात् १—३६; २—७; ३—१७; १०—३९; ११—१२, १५—२०; १८—४०
स्याम १—३७
स्याम् ३—२४; १८—७०

स्यु.

स्युः ९—३२

स्र.

स्रंसते १—३०

स्रो.

स्रोतसाम् १०—३१

स्व.

स्वकर्मणा १८—४६
स्वकर्मनिरत. १८—४५
स्वकम् ११—५०
स्वचक्षुषा ११—८

पदानि अ० श्लो०

स्वजनम् १—२८, ३१, ३७, ४५

स्वतेजसा ११—१९

स्वधर्मम् २—३१, ३३

स्वधर्म. ३—३५, १८—४७

स्वधर्मे ३—३५

स्वधा ९—१६

स्वनुष्ठितात् ३—३५, १८—४७

स्वपन् ५—८

स्वप्नम् १८—३५

स्वबान्धवान् १—३७

स्वभावजम् १८—४२, ४३, ४४, ४४

स्वभावजा १७—२

स्वभावजेन १८—६०

स्वभावनियतम् १८—४७

स्वभावप्रभवैः १८—४१

स्वभावः ५—१४, ८—३

स्वयम् ४—३८, १०—१३, १५; १८—७५

स्वया ७—२०

स्वर्गतिम् ९—२०

स्वर्गद्वारम् २—३२

स्वर्गपरा. २—४३

स्वर्गलोकम् ९—२१

स्वर्गम् २—३७

स्वल्पम् २—४०

स्वस्ति ११—२१

स्वस्थः १४—२४

स्वस्या ३—३३

पदानि अ० श्लो०

स्वम् ६—१३

स्वा.

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः ४—२८

स्वाध्यायः १६—१

स्वाध्यायाभ्यसनम् १७—१५

स्वाम् ४—६; ९—८

स्वे.

स्वे १८—४५, ४५

स्वेन १८—६०

ह.

ह २—९

हतम् २—१९

हतः २—३७, १६—१४

हतान् ११—३४

हत्वा १—३१, ३६, ३७, २—५, ६, १८—१७

हनिष्ये १६—१४

हन्त १०—१९

हन्तारम् २—१९

हन्ति २—१९, २१, १८—१७

हन्तुम् १—३५, ३७, ४५

हन्यते २—१९, २०

हन्यमाने २—२०

हन्युः १—४६

हयैः १—१४

हरति २—६७

हरन्ति २—६०

हरिः ११—९

हरेः १८—७७

हर्षशोकान्वित. १८—२७

हर्षम् १—१२

हर्षामर्षभयोद्वेगैः १२—१५

पदानि अ० श्लो०

हविः ४—२४

हस्तात् १—३०

हस्तिनि ५—१८

हा.

हानिः २—६५

हि.

हि १—११, ३७, ४२; २—५, ८, १५, २७, ३१, ४१, ४९, ५१, ६०, ६१, ६५, ६७; ३—५, ५, ८, १२, १९, २०, २३, ३४; ४—३, ७, १२, १७, ३८; ५—३, १९, २२, ६—२, ४, ५, २७, ३४, ३९, ४०, ४२, ४४; ७—१४, १७, १८, २२, ८—२६; ९—२४, ३०, ३२, १०—२, १४, १६, १८, १९, ११—२, २०, २१, २४, ३१, १२—५, १२; १३—२१, २८; १४—२७, १८—४, ११, ४८

हितकाम्यया १०—१

हितम् १८—६४

हित्वा २—३३

हिनस्ति १३—२८

हिमालयः १०—२५

हिंसात्मकः १८—२७

हिंसाम् १८—२५

पदानि अ० श्लो०

हु.

हुतम् ४—२४; ९—१६; १७—२८

हृ.

हृतज्ञानाः ७—२०

हृत्स्थम् ४—४२

हृदयदौर्बल्यम् २—३

हृदयानि १—१९,

हृदि ८—१२, १३—१७, १५—१५

हृद्देशे १८—६१

हृद्या. १७—८

हृषितः ११—४५

हृषीकेश ११—३६, १८—१

हृषीकेशम् १—२१; २—९

हृषीकेशः १—१५, २४; २—१०

हृष्टरोमा ११—१४

हृष्यति १२—१७

हृष्यामि १८—७६, ७७

हे.

हे ११—४१, ४१, ४१

हेतवः १८—१५

हेतुना ९—१०

हेतुमद्भिः. १३—४

हेतु. १३—२०, २०

हेतोः १—३५

ह्रि.

ह्रियते ६—४४

ह्री.

ह्री. १६—२

समाप्तिमगमदयं श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकान्तर्गतपदानां

वर्णानुक्रमः ।

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी—'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'मे प्रकाशित गीताकी हिंदी-टीकाका सशोधित सस्करण, टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रगीन चित्र ४, मूल्य ४)

श्रीमद्भगवद्गीता—[श्रीशाकरभाष्यका सरल हिंदी-अनुवाद] इसमे मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढने और समझनेमे सुगमता कर दी गयी है। पृष्ठ ५२०, तिरगे चित्र ३, मूल्य २॥)

श्रीमद्भगवद्गीता—[श्रीरामानुजभाष्यका सरल हिंदी-अनुवाद] डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ६०८, तिरगे चित्र ३, सजिल्द, मूल्य २॥)

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एव त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, कपडेकी जिल्द, पृष्ठ ५७२, रगीन चित्र ४, मूल्य १।)

श्रीमद्भगवद्गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सटीक, मोटा टाइप, सचित्र, पृष्ठ ४२४, मूल्य ॥।=), सजिल्द १।)

श्रीमद्भगवद्गीता—[मझली] प्राय सभी विषय १।) वाली न० ४ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ मोटे, पृष्ठ ४६८, रगीन चित्र ४, मूल्य ॥≡), सजिल्द १)

श्रीमद्भगवद्गीता—श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥), सजिल्द ॥।=)

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य ।–), सजिल्द ॥–)

श्रीमद्भगवद्गीता—केवल भाषा, अक्षर मोटे है, पृष्ठ १९२, १ चित्र, मूल्य ।)

श्रीमद्भगवद्गीता—पञ्चरत्न, मूल, सचित्र, गुटका साइज, पृष्ठ १८४, मूल्य ≡)

श्रीमद्भगवद्गीता—साधारण भाषाटीका, पाकेट साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य =)॥, स० ।)॥

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, ताबीजी, साइज २×२॥ इच, पृष्ठ २९६, सजिल्द, मूल्य =)

श्रीमद्भगवद्गीता—विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र मूल्य –)॥

श्रीमद्भगवद्गीता—(अग्रेजी-अनुवादसहित) पाकेट-साइज, सचित्र पृष्ठ ४०४, मूल्य ।), सजिल्द ।=)

डाकखर्च अलग।
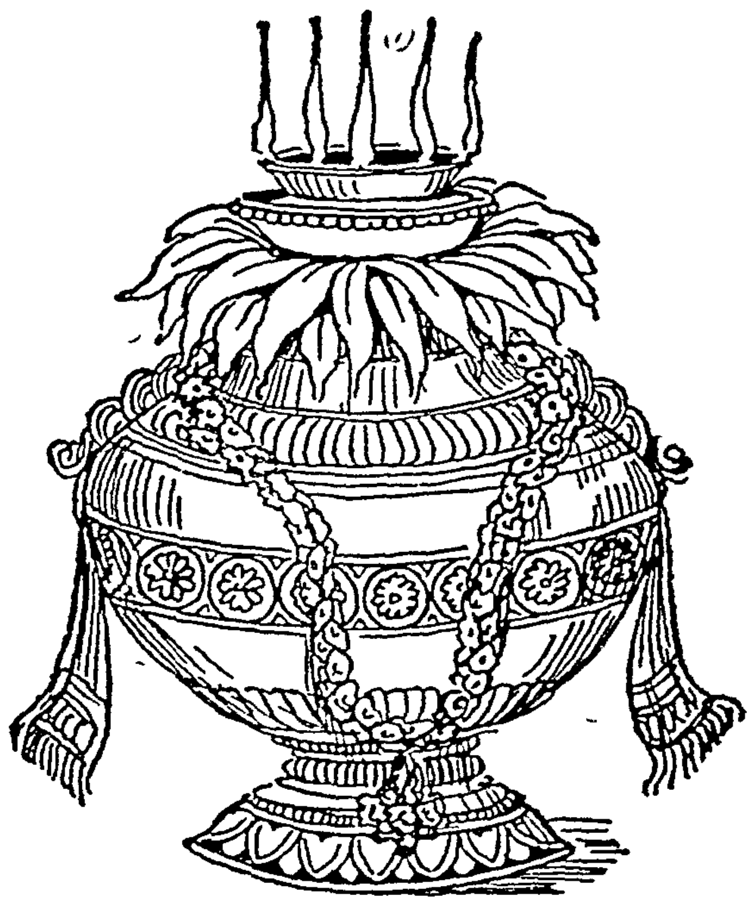
पता—**गीताप्रेस**, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)